भारतीय अस्मिता और राष्ट्रीय चेतना के आधार श्री जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य

सम्पादक

डॉ. विष्णुदत्त राकेश

HG/28
63575
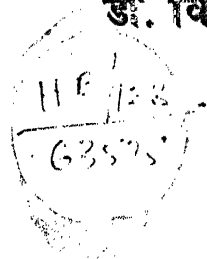
भाष्यकार जगद्गुरु श्री आद्य शंकराचार्य द्वादश
शताब्दी समारोह महासमिति
मानव कल्याण, आश्रम, हरिद्वार

भारतीय अस्मिता और राष्ट्रीय चेतना के आधार श्री जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य

सम्पादक

डा० विष्णुदत्त राकेश

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्रकाशक
श्री कल्याणानंद ब्रह्मचारी
महामंत्री
भाष्यकार जगद्गुरु श्री आद्य शंकराचार्य
द्वादश शताब्दी समारोह महासमिति
मानव कल्याण आश्रम, कनखल, हरिद्वार

प्रकाशन वर्ष : 1989
मूल्य : 450 रुपये

पुस्तक का प्राप्ति-स्थान

1. मानव कल्याण आश्रम
   पो० कनखल, हरिद्वार
2. कैलाश आश्रम
   मुनि की रेती, ऋषिकेश
3. सन्यास आश्रम
   विले पारले, बम्बई
4. वाणी प्रकाशन
   21-ए दरियागंज, नई दिल्ली

मुद्रक

वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली के लिए [illegible] प्रिंटर्स, [illegible]
और चौहान प्रिंटिंग प्रेस, [illegible] दिल्ली

श्री शंकराचार्य द्वादश शताब्दी समिति के पदाधिकारी

संरक्षक

आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी महेशानंद गिरि जी महाराज
महामण्डलेश्वर श्री स्वामी काशिकानंद गिरि जी महाराज
ब्रह्मनिष्ठ श्री तिरुच्चि स्वामी जी महाराज
परमहंस श्री स्वामी वामदेव गिरि जी महाराज

परमाध्यक्ष
श्रृंगेरी पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य श्री स्वामी अभिनवविद्यातीर्थजी महाराज

अध्यक्ष
महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानंद गिरि जी महाराज

सम्मानित अध्यक्ष
आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विश्वदेवानन्द पुरी जी महाराज
आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी कृष्णानंद गिरि जी महाराज
आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी लोकेशानन्द गिरि जी महाराज
आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी मंगलानन्द गिरि जी महाराज
आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी सच्चिदानन्द गिरि जी महाराज
आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्द सरस्वती जी महाराज
आचार्य महामण्डलेश्वर ब्रह्मर्षि श्री प्रकाशानन्द जी महाराज

उपाध्यक्ष
महामण्डलेश्वर त्यागमूर्ति श्री गणेशानन्द पुरी जी महाराज
महामण्डलेश्वर त्यागमूर्ति श्री स्वामी गणेशानन्द गिरिजी महाराज
महामण्डलेश्वर श्री स्वामी महेश्वरानन्द पुरी जी महाराज
महामण्डलेश्वर श्री स्वामी सत्यमित्रानन्द गिरि जी महाराज
महामण्डलेश्वर श्री स्वामी रघुनाथ गिरि जी महाराज
महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विष्णु पुरी जी महाराज
महामण्डलेश्वर श्री स्वामी शिवेन्द्र पुरी जी महाराज

कोषाध्यक्ष
महामण्डलेश्वर श्री स्वामी ब्रह्मानन्द गिरिजी महाराज

महामन्त्री

श्री कल्याणानन्दजी ब्रह्मचारी

मंत्री

श्री स्वामी परमेश्वरानन्द सरस्वतीजी महाराज

श्री महंत गोपालानन्द ब्रह्मचारीजी महाराज

तपोमूर्ति श्री स्वामी ओंकारानन्द गिरिजी महाराज

श्री स्वामी देवनारायणपुरीजी महाराज 'देवस्वामी'

श्री स्वामी विश्वेश्वरानन्द गिरिजी महाराज

श्री स्वामी संशुद्धानन्दजी महाराज

सदस्य

श्री महंत गिरधर नारायणपुरीजी महाराज

श्री महंत बालकृष्णपुरीजी महाराज

श्री महंत शान्ति गिरिजी महाराज

श्री स्वामी नित्यानन्दपुरीजी महाराज

श्री महंत हरिनारायणानन्दजी महाराज

थानापति श्री स्वामी विश्वम्भरभारतीजी महाराज

विषय सूची

प्रथम खण्ड

स्वस्त्यन

श्रुतियों के पर्यायपुरुष नतशिर अभिवन्दन

द्वितीय खण्ड

'जगद्गुरु' भगवान श्री आद्य शंकराचार्य

श्रीमज्जगद्गुरु आद्य शङ्कराचार्यः

ॐ अग्निं मन्द्रं पुरुप्रियं शीरं पावक शोचिषम्
हृद्भिर्मन्द्रेभिरीमहे।

(ऋग्वेद 8, 43, 31)

प्रिय प्रभु को आज, आओ, जगायें रिझायें।
अपना प्यारा, सबका प्यारा, प्रिय से भी प्रिय परम दुलारा।
जग भर की आँखों का तारा, न्यारा शोभा-साज॥
जिसकी मस्ती मस्त बनाती, उर-उर में मधु लहर उठाती॥
हर्षित आनन्दित गति भाती, लाली पुलक समाज॥
जिसकी पावन दीप्ति निराली, कण-कण में क्षण भरने वाली।
नख से शिख तक सुषमाशाली, लाली रही विराज॥
मधुमय प्रमुदित मधुमय उर ले, हर्षोल्लास हृदय में भर ले।
मन्द मस्त मादक गुरु स्वर से, कर ले पूरण काज॥

आचार्य पण्डित मुंशीराम जी शर्मा
डी० लिट्०

ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव यद्भद्रन्तन्न आसुव।

(यजुर्वेद 30/3)

विश्वदेव सविता! करुणाकर दुरित हमारे दूर करो,
मंगलकारी सुखद वृत्तियों के रस से नित हृदय भरो,
हे अनन्त रत्नों के स्वामी बुद्धिविधायक वर दाता;
मृत्यु, रोग, दारिद्रय दुःख हर चिन्मय ज्योतिकलश वितरो॥

ॐ यज्ञं यन्तं मनसा बृहन्तम्, अन्वारोहामि तपसा सयोनिः
उपहूताः अग्ने जरसः परस्तात्, तृतीये नाके सधमादं मदेम॥

(अथर्व वेद 6/122/4)

यज्ञ हेतु जाने वाले शिवसंकल्पी बुध जन के साथ,
तप-समता सम्पन्न किए मन पकड़ूं अग्निदेव का हाथ,
देहाध्यास मुक्त हो निर्मल ज्ञान शिखर पर चरण धरूँ,
उस सर्वोच्च मुक्ति पद आपक ज्योतिब्रह्म में रमण करूँ।

डा० विष्णुदत्त राकेश, डी० लिट्०

ईश-प्रार्थना

करुणानिधे ! प्रभो ! नो, दोषं क्षमस्व भगवन् !
सुचिरात् प्रसुप्तदेशं, परिबोधयाशु भगवन् !
भुवि भूतसर्वभाषा परिपूरिताभिलाषा।
श्वासतीव देवभाषा, तां पालयस्व भगवन् !
आसीत् कदाचिदेषा, वाणी विशुद्ध-वेषा।
अधुनापि नामशेषा, तामाश्रयस्व भगवन् !
देशे स्वतन्त्रतायाः प्राचीनसभ्यतायाः।
समयं समर्चतायाः पुनरानयस्व भगवन् !

वैदिकदशशान्तिमन्त्राः

ॐ शन्नो मित्रश्शं वरुणश्शन्नो भवत्वर्यमा। शन्नो इन्द्रो बृहस्पतिश्शन्नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षम्ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्याम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु अवतु मामवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ॥1॥

(तै० उपनिषद्)

मित्र (प्राणवृत्ति और दिन का अभिमानी देव) हमारे लिए सुखरूप हो। (अपानवृत्ति और रात्रि का अभिमानी देव) वरुण हमारे लिए सुखप्रद हो। (नेत्र और सूर्य का अभिमानी) अर्यमा हमारे लिए सुखा-वह हो। (बलाभिमानी) इन्द्र तथा (वाणी और बुद्धि का अभिमानी) बृहस्पति हमारे लिए शान्तिवाहक हो और विस्तृत पादोंवाला (पादाभिमानी) विष्णु देवता सुखदायक हो (समस्त कर्मों का फल वायु के अधीन होने से) ब्रह्मरूप वायु को नमस्कार है। हे वायो ! तुम्हें नमस्कार है। तुम्हीं प्रत्यक्ष ब्रह्मरूप हो। अतः मैं तुम्हीं को प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा। तुम्हीं को (शास्त्र एवं स्वकर्तव्यानुसार निश्चित अर्थ रूप) ऋत कहूँगा। और (शरीर-वाणी से सम्पादन किये जाने वाले कार्य रूप) सत्य भी मैं तुम्हीं को कहूँगा। अतः आप (मुझ विद्यार्थी को विद्या प्रदान कर) मेरी रक्षा करो ! (वक्तृत्व सामर्थ्य प्रदान कर) ब्रह्म के निरूपण करने वाले आचार्य की भी रक्षा करो, मेरी रक्षा करो एवं वक्ता की रक्षा करो। त्रिविध ताप की शान्ति हो ॥1॥

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै। ॐ शांतिश्शांतिश्शांतिः ॥2॥

वह परमात्मा हम (आचार्य और शिष्य एवं वक्ता और श्रोता) दोनों की साथ-साथ रक्षा करे। हम दोनों का साथ-साथ पालन करे। हम दोनों साथ-साथ विद्याजन्य सामर्थ्य का सम्पादन करें। हम दोनों का अधीत (ज्ञान) तेजस्वी हो और हम (कभी भी परस्पर) विद्वेष न करें। त्रिविध ताप की शान्ति हो ॥2॥ का० संहितो०

ॐ यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपश्छन्दोभ्योऽध्यमृतात्सम्बभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोत्वमृतस्य देव धारणो भूयासम्। शरीरम्मे विचर्षणञ्जिह्वा मे मधुमत्तमा कर्णाभ्याम्भूरि विश्रुवम्। ब्रह्मणः कोशोसि मेधया पिहितश्श्रुतम्मे गोपाय। ॐ शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ॥3॥ (तै० 1/4 अनुवाक)

जो (प्रणव) वेदों में (श्रेष्ठ होने के कारण ऋषभ) और (सम्पूर्ण वाणी में व्याप्त होने के कारण) सर्वरूप है तथा वेदरूप अमृत से प्रधान रूप में प्रादुर्भूत हुआ है, वह ओंकार (सम्पूर्ण कामनाओं का स्वामी होने से) परमेश्वर मुझे मेधा द्वारा प्रसन्न या सबल करे। हे देव ! मैं अमृतत्व (के हेतुभूत ब्रह्मज्ञान) को धारण करने वाला होऊँ तथा मेरा शरीर योग्य हो। मेरी जिह्वा अतिशय मधुर भाषिणी हो। मैं कानों से

अधिक मात्रा में श्रवण करूँ। हे प्रणव ! तू ब्रह्म का कोश है, (क्योंकि तुझमें ब्रह्म की उपलब्धि होती है) और तू लौकिक बुद्धि से ढका हुआ है (इसीलिए सामान्य बुद्धि वाले पुरुष को तेरे तत्त्व का ज्ञान नहीं होता) मेरे सुने हुए आत्मविज्ञानादि की रक्षा करो। त्रिविध ताप की शान्ति हो ॥3॥

ॐ अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठंगिरेरिव। ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि। द्रविणं सवर्चसं सुमेधाऽमृतोक्षितः। इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्। ॐ शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ॥4॥

(तै० 1/10 अनुवाक)

(अन्तर्यामी रूप से) मैं संसार रूपी वृक्ष का प्रेरक हूँ; मेरी प्रसिद्धि पर्वत-शिखर के समान ऊँची है। (ज्ञान प्रकाशित होने योग्य पवित्र परब्रह्म रूप कारण वाला होने से) मैं ऊर्ध्व पवित्र हूँ। अन्नवान् सूर्य के समान मैं भी विशुद्ध अमृतमय हूँ। मैं दीप्तिमान (आत्मतत्त्वरूप) धन, सुन्दर मेधावाला, अमरणधर्मा तथा अव्यय हूँ या अमृत से सिक्त हूँ यह त्रिशंकु ऋषि का (आत्मैकत्व विज्ञान प्राप्ति के अनन्तर होने वाला) वेदानुवचन है ॥4॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम्पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते। ॐ शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ॥5॥

(शु० यजुर्वेदीये ईशो०)

ॐ वह (निरुपाधिक परब्रह्म) पूर्ण है, और यह (सोपाधिक कार्यब्रह्म भी) पूर्ण है। क्योंकि पूर्ण से पूर्ण आविर्भूत हुआ है। (तथा तत्त्व-साक्षात्कार के समय एवं प्रलय-काल में) पूर्ण (सोपाधिक कार्यब्रह्म) के पूर्णत्व को लेकर (अर्थात् अपने में लीन करके) पूर्ण निरूपाधिक ब्रह्म) ही शेष बचा रहता है। त्रिविध ताप की शान्ति हो ॥5॥

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुश्श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वम्ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा ब्रह्मनिराकरोत्, —अनिराकरणमस्त्वनिराकरणंमेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु। ॐ शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ॥6॥ (सामवेदः)

मेरे अङ्ग पुष्ट होवें, मेरे वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, बल और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ पुष्ट (ब्रह्मबोध के योग्य) होवें। यह सब (दृश्यमान जगत्) उपनिषद् वेद्य ब्रह्म ही है। मैं ब्रह्म का निराकरण न करूँ, और ब्रह्म मेरा निराकरण न करे (अर्थात् मैं ब्रह्म को सदा आत्मभावेन साक्षात् करूँ, उससे कभी भी विमुख न होऊँ और इसके लिए सर्वान्तर्यामी परमात्मा मुझे बल दे ! वह मेरा त्याग न करे)। इस प्रकार हमारा परस्पर अनिराकरण हो, अनिराकरण हो। उपनिषदों में जो धर्म हैं वे आत्मबोध में लगे हुए मुझ साधक में होवें। वे सब मुझमें होवें। त्रिविध ताप की शान्ति हो ॥6॥

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्मएधि वेदस्य म आणीस्थश्श्रुतम्मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि ! तन्मामवतु तद्वक्तारमवत्ववतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ॥7॥ (ऋग्वेदः)

मेरी वाणी मन में प्रतिष्ठित हो और मन वाणी में प्रतिष्ठित हो (अर्थात् मन जैसा निश्चय करे, वाणी वैसे ही बोलें और जैसा वाणी से बोलें मन से वैसे ही चिन्तन हो, दोनों परस्पर अनुकूल रहें)। हे परमात्मन्! तुम मेरे सामने प्रकट हो जाओ, हे वाक् और मन ! मेरे प्रति वेद को लाओ, मेरा श्रवण किया हुआ मुझे न न त्यागे, अधीत शास्त्रों के द्वारा मैं दिन रात को एक कर दूं—अर्थात् दिन-रात अध्ययन चलता रहे। मैं वाचिक सत्य का भाषण करूँ और मानसिक सत्य को ही बोलूं। वे ब्रह्म मेरी रक्षा करे, और वह वक्ता की रक्षा करे, वह मेरी रक्षा करे और वक्ता की रक्षा करे। वक्ता की रक्षा करे। त्रिविध ताप की शान्ति हो ॥7॥

ॐ भद्रन्नोअपिवातय मनः। ॐ शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ॥8॥ (ऋग्वेदः)

हे परमात्मन् ! हमारे मन को कल्याण स्वरूप सदाशिव की ओर अथवा नित्य आनन्द की ओर ही लगाओ। वह मेरी रक्षा करे और त्रिविध ताप की शान्ति हो ॥8॥ (अथर्ववेदः)

ॐ भद्रङ्कर्णेभिश्शृणुयाम देवा भद्रम्पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः। स्वस्ति नः इन्द्रोवृद्धश्रवास्स्वस्ति नः पूषाः विश्ववेदाः। स्वस्तिनस्तार्क्ष्योऽरिष्टनेमिस्स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु। ॐ शान्तिश्शांतिश्शांतिः ॥9॥ (अथर्ववेदः)

हे देवताओ ! (आपकी कृपा से हम) कानों के द्वारा कल्याणप्रद शब्द ही सुनें। आंखों से कल्याण प्रद दृश्य देखें। वैदिक योगादिक कर्म में हम समर्थ होवें तथा दृढ़ अवयवों और शरीरों से स्तुति करने वाले हम लोग केवल देवताओं के हित मात्र के लिए जीवन धारण करें। महान यशस्वी इन्द्रदेव हमारा कल्याण करें। परम ज्ञानवान् पूषादेव हमारा कल्याण करें। सम्पूर्ण आपत्तियों के लिए चक्र के समान घातक गरुड़ हमारा कल्याण करें, तथा देवगुरु बृहस्पति हमारा कल्याण करें, त्रिविध ताप की शान्ति हो ॥9॥

ॐ यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वैवेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं हि देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहम्प्रपद्ये। ॐ शान्तिश्शांतिश्शान्तिः ॥10॥ (श्वेताश्वतरोप०, 6/18)

जिसने सृष्टि के प्रारम्भ में हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया और जो उस ब्रह्मा के लिए वेदों को प्रवृत्त कराता है। अपने बुद्धि के प्रकाशक उस परमात्मदेव की मैं (मुमुक्षुगण) शरण ग्रहण करता हूँ। त्रिविध ताप की शान्ति हो ॥10॥

ॐ नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृभ्यो वंशर्षिभ्यो महद्भ्यो नमो गुरुभ्यः। सर्वोपप्लवरहितः प्रज्ञानघनः प्रत्यगर्थो ब्रह्मैवाहमस्मि ॥

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादि देवों को, वेदान्त विद्या संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्यों को, अपने परम्परागत ऋषियों को नमस्कार है। बड़े-बड़े वेदान्त तत्त्व के वेत्ताओं के प्रति और नारायण से लेकर अस्मदादि गुरुओं के प्रति भूरिशः नमस्कार है। सर्व प्रपंचात्मक व्यष्टि समष्टि उपाधियों से शून्य चिन्मात्र स्वरूप अन्तरात्मा त्वपद का लक्ष्यार्थ तथा ब्रह्म शब्द का लक्ष्यार्थ एक ही है और वही मैं हूँ ॥

ॐ विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरी तुल्यन्निजान्तर्गतम्पश्यन्नात्मनि मायया वहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया। यस्साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयन्तस्मै श्री गुरुमूर्तये नम इदं श्री दक्षिणामूर्तये।

ॐ नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्ति च तत्पुत्रपराशरं च। व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम् ॥2॥ श्रीशङ्कराचार्यमथास्य पद्मपादं च हस्तामलकं च शिष्यम्। तं तोटकं वार्तिककारमन्यानस्मद्गुरून्सन्ततमानतोऽस्मि ॥3॥ श्रुतिस्मृतिपुराणानामलयं करुणालयम्। नमामि भगवत्पादं शङ्करं लोकशङ्करम् ॥4॥ शङ्करं शङ्कराचार्यं केशवं बादरायणम्। सूत्रभाष्यकृतौ वन्दे: भगवन्तौ पुनः पुनः ॥5॥ ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने। व्योमवद्व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः ॥6॥ अशुभानि निराचष्टे तनोति शुभसन्ततिम्। स्मृतिमात्रेण यत्पुंसां ब्रह्म तन्मङ्गलं परम् ॥ अतिकल्याण रूपत्वान्नित्यकल्याणसंश्रयात्। स्मर्तृणां वरदात्वाच्च ब्रह्म तन्मङ्गलं विदुः ॥ ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा। कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ तस्मान्माङ्गलिकावुभाविति ॥

यैरिमे गुरुभिः पूर्वं पदवाक्यप्रमाणतः।
व्याख्याताः सर्ववेदान्तास्तान्नित्यं प्रणतोऽस्म्यहम् ॥
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

श्रीः

भाष्यकाराः श्रीशंकरभगवत्पादाः आचार्यतल्लजाः ।

श्रृंगगिरि जगद्गुरु श्री सन्निधानम् श्री भारतीतीर्थ श्री चरणाः ॥

सर्वतन्त्रस्वतन्त्राः श्रीमच्छंकरभगवत्पादाचार्याः प्रस्थानत्रय भाष्यकारत्वेन सर्वैरपि विद्वद्भिः संस्तुता आचार्यतल्लजाः । उपनिषदः ब्रह्मसूत्राणि भगवद्गीता चेति त्रितयं प्रस्तानत्रयशब्देन व्यपदिश्यते । तस्यैतस्य प्रस्थानत्रयस्य भगवत्पादीयं भाष्यं अतिगम्भीरं मृदुमधुरपदगुम्फितं चकास्ति ।

॥ ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद निरासः ॥

केवलात् ज्ञानादेव मुक्तिः न कर्मसमुच्चितादिति भगवत्पादाः प्रस्थानत्रयभाष्ये निपुणं निरूपयामासुः । प्रस्थानत्रये ज्ञानकर्मसमुच्चयवादानुकूलतया आभासमानान्यपि वचनानि निपुणं विचार्यमाणे सिद्धान्ताविरोधीन्येवेति भाष्यकृतां सिद्धान्तः । तथाहि भगवद्गीतायां "कर्मण्येवाधिकारस्ते" "कुरुकर्मैव तस्मात्वं" इत्यादिषु प्रदेशेषु कर्म कर्तव्यत्वेन निर्दिष्टं "यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते" "ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा" इत्यादिषु मोक्षसाधनत्वेन ज्ञानमुपदिष्टम् । अतः ज्ञानकर्मणोः समुच्चयो भगवदभिप्रेतः इति स्यात् केषांचित् संशयः । स चायं संशयोभगवत्पादैः उभयोरपि वचनयोः विद्वदविद्वद्विषयकत्वेन व्यवस्थामुपपादयद्भिः परिहृतः । तदुक्तं गीताभाष्ये "तथाचोपादितं अविद्वद्विषयं कर्म विद्वद्विषया च सर्वकर्मसन्यासपूर्विका ज्ञाननिष्ठा" इति । एवमेव ईशावास्योपनिषद्यपि समुच्चय एव ज्ञानकर्मणोः प्रतिपादित इति आपातदर्शितां प्रतीयेत । तत्रापि भगवत्पादैः उभयोरपि वचनयोः भिन्नाधिकारिकतां प्रदर्शयद्भिः सिद्धान्तो वर्णितः ।

॥ जीवेश्वराभेदतत्वनिर्णयः ॥

जीवेश्वरयोः परमार्थतो भेदो नास्तीति भगवत्पादाः सिद्धान्तितवन्तः । सोयं सिद्धान्तः ब्रम्हसूत्रेषु भेदपरतयापरिदृश्यमानानि सूत्राणि प्रमाणयद्भिः कैश्चिदाक्षिप्तः । तथाहि ब्रह्मसूत्रेषु 'भेदव्यपदेशाच्चान्यः' 'अधिकं तु भेदनिर्देशात्' 'नेतरोनुपपत्तेः' इत्यादीनि सूत्राणि जीवेश्वरयोर्भेदं ब्रुवते । कथं तयोरभेदो भगवत्पादोक्तस्संगच्छत इति । तत्र च भगवत्पादैरित्थं समाधानमभिहितम् । योयं भेदस्सूत्रेषु प्रतिभासते स केवलं काल्पनिकः परमार्थतस्तु अभेद एवेति । तथाच सूत्रभाष्ये भगवत्पादीयो ग्रन्थः "परएवात्मा देहेन्द्रियमनोबुध्युपाधिभिः परिच्छिद्यमानो बलैः शारीर इत्युपचर्यते । तदपेक्षयाच कर्मत्वकर्तृत्वादि भेदव्यवहारो न विरुध्यते प्राक्तत्वमसीत्यात्मैकत्वग्रहणात् । गृहीतेत्वात्मैकत्वे बन्धमोक्षादि सर्वव्यवहारपरिसमाप्तिरेव स्यात्" इति ।

॥ जगत्-ब्रह्मानन्यत्व सिद्धान्तः ॥

"तदनन्यत्वमारम्भण शब्दादिभिः" इति सूत्रेण सर्वस्यापि जगतो ब्रह्मानन्यत्वंभगवान् सूत्रकारः सिद्धान्तीचकार । तस्मिन् सिद्धान्ते बहवो वादिनः विप्रतिपद्यन्ते । तथाहि एकं ब्रह्मैव परमार्थसदित्यभ्युपगम्यमाने प्रत्यक्षादीनां भेदनिबन्धनानां प्रमाणानां का गतिः । विधिप्रतिषेधशास्त्रस्य मोक्षशास्त्रस्य च का गतिः ? ब्रह्मभिन्नस्य सर्वस्यापि मिथ्यात्वे श्रुतेरपि मिथ्यात्वमापतितमिति श्रुतिप्रतिपादितस्य आत्मैकत्वस्य सत्यतवं कथं सेत्स्यतीत्यादि । त एत आक्षेपाः भगवता भाष्यकारेण सम्यक्परिहृताः । सर्वेपि प्रत्यक्षादिव्यवहाराः, विधिप्रतिषेधमोक्षशास्त्राणिच प्राग्ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानात् सत्यान्येव । यथा स्वाप्निको व्यवहारः प्रबोधात्प्राक् स्वप्नदशायां सत्य एव प्रतीयते । प्रबोधोत्तरं खलु स्वप्नव्यवहारस्य मिथ्यात्वमध्यवसीयते । एवमेव ब्रह्मासाक्षात्कारात्प्राक्तनस्य प्रत्यक्षादिव्यवहारस्य न किंचित्बाधकम् । असत्येन वेदन्तवाक्येन प्रतिपादितस्य ब्रह्मात्मत्वस्य सत्यत्वं नोपपद्यते इत्यपि न साधु । प्राग्ब्रह्मात्मबोधात् वेदान्तवाक्यस्यासत्यत्वस्यैवासिद्धेः । परमार्थतः असत्यमिति चेत् का क्षतिः । शंकाविषादिना मरणदर्शनात् । असत्येन स्वप्नदर्शनेन सत्यायाः समृद्धे प्रतिपत्तिः

"यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने" इति श्रुत्यैव दर्शिता। अतो न किंचिदनुपपन्नम्।

॥ शबरस्वामि-शंकराचार्यरचित मीमांसाद्वय भाष्य सदृशता अनवद्यता च ॥

भगवत्पादानां सूत्रभाष्यं, शबरस्वामिकृतमीमांसाभाष्यं बहुत्र अनुकरोति। शबरस्वामिनो भाष्यं तु अनवद्यमिति सर्वेषां विदुषां मतम्। तादृशं भगवत्पादीयं भाष्यमपि अनवद्यमित्यत्र न कोपि संशयः।

श्रुतिवाक्यविषय निर्णय परत्वं अधिकरणानां मीमांसाद्वये संदिग्धपदार्थं निर्णयाय भाष्यैकावलम्बनम्।

मीमांसाद्वयोरपि अधिकरणानि प्रायः एकैकंश्रुतिवाक्यमुपादाय तत्रत्य विषयनिर्णयाय प्रवृत्तानीत्य-तिरोहितं दार्शनिकानाम्। तत्र कस्मिन्नधिकरणे किं वाक्यमधिकृत्य चिन्त्यत इत्यत्र भाष्यमेव नः प्रमाणम्। अस्मिन् विषये भगवत्पादानां प्रतिभा सर्वातिशायिनी।

आनन्दमयाधिकरणे हि अन्योन्तर आत्मानन्दमय इति वाक्ये श्रुत आनन्दमय शब्दः जीवंबोधय-त्युत ब्रह्मेति संशये ब्रह्मैवबोधयतीति सिद्धान्त इति बहवो मेनिरे। भाष्यकारोपि तादृशमेव विचारमादौ प्रदर्श्य पश्चात्तस्यासारता प्रतिपाद्य ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठेत्यत्र श्रुतं ब्रह्म आनन्दमयावयवत्वेन निर्दिश्यते उत स्वप्राधा-न्येनेति संशये स्वप्राधान्यैनैवेति तदधिकरण सिद्धान्तं प्रतिपादयामास। अतएव प्राणः इति सूत्रं प्राणशब्दार्थ-निर्णयाय प्रवृत्तिमिति तं निर्विवादम्। कुत्रत्यौयं प्राण शब्द इत्यस्मिन् विषये तु कैश्चिदुक्तं प्राणबन्धनं हि सौम्य मनः प्राणस्य प्राणमित्यादौ श्रुतः प्राणशब्द इति। तदेतदपेशलम्। संशये हि सति तन्निर्णयाय सूत्रापेक्षा। प्राणस्य प्राणमित्यादौ हि संशयस्यावसर एव नास्ति। शब्दभेदात् प्रकरणाच्च। अथस उद्गीथ प्रकरणे श्रुते कतमा सा देवतेति प्राण इतिसेवाचेति वाक्ये प्राणशब्दार्थः क स इति विचिकित्सायां ब्रह्मेति निर्णीतु मिदं सूत्रमिति भाष्यकारो बभाषे। कम्पनात् इति सूत्रं किं वाक्यमधिकृत्य प्रवृत्तमिति विचारे कम्पनशब्द-घटितवाक्यमिति वक्तुं न शक्यते तादृशवाक्यस्यानुपलंभात्। अतः भाष्यकृद्भिः निर्णीतं कम्पनार्थपदघटित-वाक्यमधिकृत्य अत्र विचार इति। तादृशंच वाक्यं यदिदं किंच जगत्सर्वम् प्राणएजति निस्सृतम्। महद्भयं वज्रमुद्यतं यएतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति इति।

॥ ब्रह्मसूत्राधिकरणेषु पूर्वपक्ष-सिद्धान्तप्रदर्शनप्रणालिका क्वचित्तस्याः परिवर्तनं तत्रत्यपूर्वपक्ष-सिद्धान्तस्वरूप-निरूपणंच ॥

अधिकरणेषु आदौ पूर्वपक्षः ततस्सिद्धान्तः प्रदर्श्यते क्वचितु सिद्धान्त एव सूत्रे प्रदर्श्यते पूर्वपक्षस्तु उत्सूत्र एव भवति। परन्तु चतुर्थाध्याये तृतीयपादे कार्याधिकरणे अन्य एव क्रमः अनुस्सृतः। आदौ सिद्धान्तं प्रदर्श्य पश्चात् पूर्वपक्षः प्रदर्शितः। सामान्यतो विलोकने आदौ प्रदर्शित एव पूर्वपक्ष इति पश्चादुक्त एव सिद्धान्त इति प्रतिभाति तथापि तस्मिन्नधिकरणे स क्रमो नादर्तुम् शक्यत इति भाष्यकृद्भिः विस्तरेण प्रतिपादितम्।

॥ माधवीयशंकरदिग्विजये भगवत्पादीयभाष्यस्य प्रशंसा ॥

तदेतत्सर्वमभिप्रेत्यैव माधवाचार्यैः शंकरदिग्विजये उक्तम्—

विद्वज्जालतपः फलं श्रुतिवधूधम्मिल्लमल्लीस्वजं सद्वैयासकसूत्रमुग्धमधुरागण्यातिपुण्योदयम्। वाग्देवी चिरभोग भाग्य विभव प्राग्भारकोशालयं भाष्यं ते निपिबन्ति हन्त न पुनर्येषां भवे संभवः ॥ इति।

प्रार्थना

शास्त्रं शारीरमीमांसा देवो नरचन्द्रशेखरः।
आचार्यश्शंकराचर्याः सन्तु जन्मनि जन्मनि ॥

॥ इति शम् ॥

भारतीय अस्मिता और एकता के उद्धारक ज्योतिर्धर श्री आचार्य शंकर

डा० विष्णुदत्त राकेश
आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

श्री आचार्य शंकर आज से बारह सौ वर्ष पूर्व जितने प्रासंगिक और अनिवार्य थे, आज की अलगाववादी परिस्थितियों में उतने ही अपेक्षित और प्रासंगिक हैं। उनकी मेधा का लोहा उनके बाद के सभी भारतीय तथा पाश्चात्य आचार्य दार्शनिक मानते रहे हैं। रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ, चैतन्य, जीव गोस्वामी, बलदेव विद्याभूषण, भास्कराचार्य, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, दयानन्द, अरविंद तथा विनोबा जैसे भारतीय दार्शनिक उनके सिद्धान्तों के खण्डन-मण्डन में प्रवृत्त होकर भी उनके योगदान के प्रशंसक हैं। विदेशी दार्शनिकों में शोपेनहाकर, सरविलियम जोन्स, विक्टर कज़िन, फ्रेडरिक श्लेगल, देकार्त, स्पिनोज़ा लाइब्निज़ बर्कले, काण्ट, फिक्ते, शेलिंग तथा हेगल शंकर के दृष्टि-सृष्टिवाद, मायावाद, अद्वितीय सत्ता तथा जगत् के मिथ्यात्व सिद्धान्त से किसी न किसी रूप में प्रभावित हैं। आधुनिक दर्शनशास्त्री टेमलिन, रानाडे, राधाकृष्णन, ए० के० राय चौधरी तथा डा० एस० के० दास ने अपने-अपने ग्रंथों में पाश्चात्य दार्शनिकों के साथ शंकर के विचारों का साम्य-वैषम्य प्रस्तुत करते हुए उन्हें अद्वैत वेदांत से प्रभावित बताया है। इतना ही नहीं, हज़रत मुहम्मद की मृत्यु (622 ई०) के बाद इस्लामी दर्शन में भी बाहरी विचारधाराओं के सम्पर्क के परिणामस्वरूप अनेक सम्प्रदाय उठ खड़े हुए। अल्लाफ अबुल हुजैल अल-अल्लाफ (845 ई०) के मोतजला सम्प्रदाय, मुहम्मद बिन् कराम के करामी सम्प्रदाय तथा अबुल हसन अशअरी के अशअरी सम्प्रदाय (873-935 ई०) पर अद्वैत वेदांत की छाया स्पष्ट दिखाई पड़ती है। इस्लाम का व्यापारियों के रूप में आगमन दक्षिणी समुद्र तटों पर 636 ई० में ही हो गया था। सिन्ध पर मुहम्मद बिन कासिम की चढ़ाई 712 ई० में हुई पर भारत के पश्चिमी समुद्र तट पर अरब सौदागर बहुत पहले से आ रहे थे। मोपला लोगों ने इस्लाम स्वीकार कर लिया था। बहुत संभव है कि अरबों के माध्यम से आचार्य शंकर का अद्वैत भारत से बाहर गया। भारतवर्ष से जैसे गणित आदि का ज्ञान अरब लोग यूरोप ले गए, उसी तरह संस्कृत के दर्शन, वैद्यक, ज्योतिष, इतिहास, काव्य अरबी में अनूदित होकर बाहर पहुंचे। सूफियों का तसव्वुफ या इस्लामी रहस्यवाद तथा यती-वृत्ति शंकर के औपनिषदिक मार्ग के ढर्रे की है। मूल इस्लाम में यती-वृत्ति की प्रधानता नहीं है। इस्लाम के बौद्धिक व्याख्याता गज़ाली (1059-1111 ई०) के विचारों पर तो राहुल जैसे विचारकों ने भी

'ईश्वर और जीव के स्वभाव में मौलिक एकता' के सिद्धान्त पर शंकर का प्रभाव स्वीकार किया है। तुहफतुल फिलासफी इसका प्रमाण है। अजीजुद्दीन राजी, अबूयाकूल किन्दी, फाराबी तथा बू० अलीसीना 9वीं शती के दार्शनिक हैं। इन्होंने अद्वैतवेदांत और इस्लामी दर्शन के सिद्धान्तों में पारस्परिक सम्बन्ध प्रदर्शित किया है। अद्वैत के लिए तौहीद, परमसत्य के लिए मुतलक, परम ज्योति के लिए नूर-अल्-नूरिन, मिथ्या के लिए मअलूम-इ-म-अदूम तथा अहं ब्रह्मास्मि के लिए अन्-अल् हक् इसी प्रभाव के परिणाम हैं। सूफियों की यह रहस्यात्मक विचारधारा भारत में आकर पूर्ण भारतीय हो गई। तसव्वुफ के इस रूप पर शंकर के अद्वैत तथा नाथों के हठयोग का पूरा प्रभाव पड़ा।

श्री शंकर के प्रादुर्भाव के समय भारत सांस्कृतिक ह्रास, राजनीतिक पराभव और वैचारिक टुकड़ों में बँटा हुआ था। बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त, वैष्णव, सिद्ध-योग वज्रयान, सहजयान, वाममार्गी तंत्रवाद, कापालिक, नीलपट, आजीवक, चार्वाक तथा लोकयतिक जैसे न जाने कितने अवैदिक मत-मतान्तरों के जाल में हिन्दू जनता फँसी थी। पांचरात्र, सौर, गाणपत्य तथा स्कंद मतों के अनुयाइयों की संख्या भी कम नहीं थी। पुराणों में समय-समय पर जो परिवर्धन और परिवर्तन हुए उसमें भी इन सम्प्रदायों का गहरा हाथ रहा है। ब्राह्म, शैव, वैष्णव, भागवत आदि नामों से ही स्पष्ट है कि पूर्व प्रचलित धार्मिक सम्प्रदायों के कारण ये पुराण रूढ़ हो गए। ऐतिहासिक दृष्टि से 8वीं शती तक इन सम्प्रदायों के ग्रंथों, आचार्यों, प्रचारकों और अनुयाइयों का बोलबाला समूचे भारत में था। महाभारत के शांतिपर्व भीष्मपर्व, वनपर्व, रामायण के अयोध्याकांड, पाणिनि के अष्टाध्यायी, वसेश्वरपुराण, वायुपुराण, सूतसंहिता, वीरशैवप्रदीपिका, श्रीकरभाष्य मार्कण्डेय पुराण, नारदपांचरात्र, कौलोपनिषद् नित्यातंत्र- महानिर्वाणतंत्र तथा शिवभक्ति सिद्धि जैसे ग्रन्थों में इन सम्प्रदायों का विशेष उल्लेख हुआ है। शाक्तों से पूर्व बौद्धों की कुत्सित आचार पद्धति वज्रयान के रूप में कनिष्क के काल प्रथम शती ई० से ही प्रकाश में आ चुकी थी। अभारतीय प्रभाव से उपजी यह उपासना कालान्तर में लकुलीश और कापालिक प्रचण्ड-साधनाओं के रूप में विकसित हुई। 7वीं शती का सम्पूर्ण साहित्य इनके आतंक से आतंकित है। भवभूति का 'मालतीमाधव' मद्यमांसादिसेवन, श्मशान साधना, नरबलि तथा धूलधारण जैसी चर्चाओं का उल्लेख करता है। शंकर के आविर्भाव का भारत स्वच्छन्दभोग, गुह्यसाधना वर्णाश्रम विरोध, पाखण्ड प्रदर्शन तथा हठयोग साधनाओं के प्रचार का जो वीभत्स रूप प्रस्तुत करता है, वह सांस्कृतिक पराभव का सूचक है, उसमें हिन्दुत्व की उदात्त परम्पराओं की झलक नाम मात्र की नहीं है। गुजरात, राजस्थान, पंजाब, मध्यभारत, बिहार, बंगाल, आसाम, नेपाल, सिक्किम, भूटान, महाराष्ट्र सभी इस वज्रयानी तंत्र धर्म के गढ़ थे। "पुराणों द्वारा प्रवर्तित तंत्र विधा की जिन जटिल प्रक्रियाओं का प्रचलन हुआ, गुप्त युग के उत्तरार्द्ध में ही उनमें विकार की मात्रा बलवती हो गई थी, जिसके फलस्वरूप प्रबुद्ध समाज उससे अलग होने लगा था। तांत्रिक उपासना में इस विकृतावस्था को वाममार्गी तंत्रवाद के नाम से कहा गया है, जिसके फलस्वरूप समाज में जादू, टोना, मंत्र, वशीकरण उच्चाटन और नरबलि के अंधविश्वासों का प्रचलन हुआ। उसी के परिणामस्वरूप डाकिनी-शाकिनी, भैरव-भैरवी की विकराल उपासनाएँ प्रचलित हुईं और मांस-मदिरा तथा यौनाचार की स्वतन्त्रता बलवती होती गई। बौद्धमठों में भी इसी वामपंथ का बोलबाला था। "डा० वाचस्पति गैरोला का यह निष्कर्ष हिन्दुत्व के विनाश की करुण झाँकी प्रस्तुत करता है। इतना ही नहीं, जैन और सम्मितीय बौद्धों में 'नीलपट' नाम से एक गर्हित उपसम्प्रदाय का उन्मेष हुआ। स्त्री-पुरुषों के संभोगरत जोड़े एक नीली चादर में लिपटे सार्वजनिक स्थानों पर देखे जा सकते थे। नीलाम्बर धारण कर ये साधक वेश्या, सुरा और उन्मुक्त खानपान को ही अपनी मुक्ति का आधार मानते थे। शंकर ने इन सभी अवैदिक मतों का खण्डन कर पंचदेवोपासना के शुद्ध सात्विक उपासना भाव को प्रतिष्ठित किया। ब्रह्मसूत्र के परमत निराकरण प्रसंग में पांचरात्र, जैन, बौद्ध, सांख्य, शैव, शक्ति सभी मतों का

उन्होंने खण्डन के किया है पर शिव, शाक्त, गणेश, सूर्य तथा विष्णु की उपासना का वैदिक स्वरूप प्रतिपादित कर स्मार्त धर्म की नींव भी शंकर ने ही डाली ।

डा० गैरोला ने ठीक ही लिखा है—'शंकराचार्य वस्तुतः स्मार्त मत के प्रमुख एवं प्रबल समर्थक थे। उनके समय तथा उनसे पूर्व भी ऐसे अनेक भक्तिमत प्रचलित हो चुके थे, जो वर्णाश्रम धर्म के घोर निन्दक थे। शंकराचार्य के उदय के कारण इन वर्णाश्रमविरोधी मतों की परम्परा क्षीण पड़ने लगी थी। उनके प्रौढ़ शास्त्रीय प्रभाव से जप, तप, उपवास, व्रत, यज्ञ, दान, संस्कार, उत्सव, प्रायश्चित आदि परम्परागत आचार-संस्कारों की पुनः स्थापना हुई। उन्होंने विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश और शक्ति इन पंचदेव की उपासना को प्रचलित किया। पंचदेव-उपासना पर आस्था रखने वाला मत ही स्मार्त कहलाया जो कि स्मृतियों पर आधारित था। उन्होंने बहुव्यापी सनातनधर्मी समाज की आस्थाओं तथा परम्पराओं को पुनरुज्जीवित किया। इस प्रकार शंकराचार्य को सनातन धर्म का आधार स्तम्भ माना जाता है।'[1]

श्री शंकर ने ब्रह्माण्ड की 'सामंजस्य' शक्ति के प्रतीक रूप में पंचदेवोपासना को प्रतिपादित किया है। योग की दृष्टि से इन पंचदेवों का सम्बन्ध पंचभूतों से माना गया है।

आकाशस्याधियो विष्णुः अग्नेश्चैव महेश्वरी
वायोसूर्यः क्षितेरीशो जीवनस्य गणाधिपः।

अर्थात् आकाशतत्त्व का स्वामी विष्णु, अग्नितत्त्व की दुर्गा, वायु तत्त्व का सूर्य, पृथ्वी तत्त्व का शिव तथा जल तत्त्व का स्वामी गणेश है। फलतः पंचदेवोपासना का अर्थ है, पंच भूतात्मक सृष्टि के केन्द्र में निहित परमशक्ति या सत्यतत्त्व की उपासना। ब्रह्माण्ड का एक-एक तत्त्व साकार ब्रह्म के एक-एक गुण का मूर्तरूप कहा जा सकता है। इस प्रकार पंचदेवोपासना शंकर अद्वैत की विश्वात्मवादी दृष्टि के अधिक निकट है। पंचदेवों को एक ही शक्ति का मूर्तरूप कहा गया है। गणेश पुराण के बीसवें अध्याय में आया है—

शिवे विष्णो तथा शक्तौ सूर्येऽपि नराधिण,
योऽभेदबुद्धि योगः स सम्यग् योगतमो मतः।

उक्त पंचदेवमण्डल के द्वारा एक ईश्वर तत्त्व की पंचधा अभिव्यक्ति मान कर सर्वात्मवादी उपासना दृष्टि का प्रतिपादन शंकर की मौलिक देन है। विभिन्न सम्प्रदायों में विभाजित भारतीय मानस को एकता के सूत्र में बांध लेने की ऐसी बौद्धिक तथा आध्यात्मिक चेष्टा अन्यत्र नहीं दिखाई पड़ती। भारतीय दर्शन की 'अनेकता में एकता' खोजते रहने की प्रवृत्ति का यह उत्कृष्ट उदाहरण है। इसीलिए नारद पुराण में अनिवार्यतः घोषणा की गई कि सूर्य, गणेश आदि पंचदेवों की उपासना प्रत्येक स्मार्त हिन्दू को करनी चाहिए।

आदित्यं गणनाथं च देवी रुद्रं च केशवम्
पंचदेवतमित्युक्तं सर्वं कर्मसु पूजयेत्।

ब्रह्मवैवर्त, पद्मपुराण, शिवपुराण तथा मैत्रायणी संहिता में भी पंचदेवोपासना का उल्लेख हुआ है। एक सम्प्रदायवाद के विरुद्ध समन्वयवादी दृष्टि ने ही पंचदेवमण्डल को एक स्थान पर रखकर पूजने की प्रेरणा दी। मध्यकालीन भारत में शंकर की यह सबसे बड़ी देन थी। उदासीन सम्प्रदाय के आचार्य श्रीचन्द्र जी महाराज ने पंचदेवोपासना को अपने सम्प्रदाय का आधार बनाया। तुलसीदास ने भी परमवैष्णव होते हुए पंच देवोपासना को महत्व दिया। अयोध्या के लोग 'गनप, गौरि, त्रिपुरारि, तमारि तथा रमारमन' के रूप में पंचदेवोपासना ही करते हैं। श्रीमद्भागवत और रामचरित मानस पर शंकर की दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि शंकर सांस्कृतिक और धार्मिक एकता के प्रबल पक्षधर थे। महानिर्वाण तंत्र में पंचदेवोपासक

1. भारतीय धर्म शाखाएं और उनका इतिहास, पृ० 236-238।

पाँच सम्प्रदायों का उल्लेख हुआ है—

> शाक्ताः शैवा; वैष्णवाश्च सौरा गाणपतस्तथा
> विप्रा विप्रेतराश्चैव सर्वेऽप्यत्राधिकारिणः ।

शंकर के स्तोत्र ग्रंथों में 4 गणेशस्तोत्र, 18 शिवस्तोत्र, 19 देवीस्तोत्र, 10 विष्णुस्तोत्र आनंद लहरी, सौन्दर्य लहरी इसी स्मार्त भावना के प्रतिफल हैं। शंकर प्रणती स्तोत्र वाणीविलास से प्रकाशित 'शंकर ग्रंथावली' में संकलित हैं। इनमें आनन्दलहरी की एक टीका स्वयं आचार्य रचित मानी जाती है। सौन्दर्य-लहरी, तंत्रदर्शन और रूप सौन्दर्य की कवि कल्पनात्मक उक्तियों से परिपूर्ण शीर्ष रचना है जिस पर 35 टीकाएँ सम्प्रति उपलब्ध हैं। इनमें लक्ष्मीधर, कैवल्याश्रम, भास्करराय, कामेश्वरसूरि, अच्युतानन्द तथा विष्णुदेवतीर्थ की टीकाएं प्रमुख हैं।

शंकर ने तांत्रिक मत का उच्छेद न करके उसका पूर्ण रूपान्तरण किया। 'वामाचार' के स्थान पर 'समयाचार' की प्रतिष्ठा की। प्रपंचसार और सौन्दर्यलहरी उनके तंत्र ग्रंथ हैं। प्रपंचसार शंकर की प्रमुख रचना है क्योंकि पद्मपाद ने इसकी 'विवरण' नाम्नी टीका स्वयं लिखी है। 'प्रपंचागम' नामक प्राचीन ग्रंथ की परम्परा की यह कृति है इसकी रचना की प्रेरणा कश्मीर यात्रा के समय मिली। शंकर का लाल उत्तरीय पहनना, रुद्राक्ष-स्फटिक धारण करना तथा त्रिपुर सुन्दरी और श्रीमंत्र की उपासना पर बल देने के पीछे उनके समयाचारी संस्कार ही प्रधान रहे हैं। बाद में अप्पयदीक्षित आचार्य लक्ष्मीधर, नृसिंहानन्दनाथ, भास्करानन्दनाथ तथा उमानन्दनाथ ने शंकर के शाक्त सिद्धान्तों की व्याख्या की। लक्ष्मीधर वारंगल के निवासी थे। इन्होंने वामकेश्वर तंत्र के 64 तंत्रों की सूची का निर्माण कर 'मिश्र' तथा 'समय' नामक तंत्रों की व्याख्या की। तंजौर के सभापण्डित भास्करनाथ। भास्करराय ने वीरवस्यारहस्य लिखकर शाक्तचिंतन की परम्परा को आगे बढ़ाया। भारतीय दर्शन की आगम-निगममूलक दो धाराओं में समन्वय स्थापित करने लिए ही शंकर ने नृसिंहतापनीयोपनिषद' का भाष्य लिखा। शक्ति और शक्तिमान् को अभिन्नता की अनुभूति योग द्वारा हो सकती है अतः योग के छह चक्रों में कुण्डलिनी और आज्ञा दो महाशक्ति के प्रतीक चक्रों के जागरण द्वारा साधना समयाचार का मुख्य अंग है। यौगिक साधना में 'समय' परिभाषिक शब्द है। हृदयाकाश में चक्रभावना के द्वारा शक्ति के साथ अधिष्ठान, अवस्थान, नाम तथा रूप भेद से पाँच प्रकार का साम्य धारण करने वाले शिव ही 'समय' कहे जाते हैं। समयाचार में शिव-शक्ति का सामंजस्य मुख्य ध्येय बिन्दु है। मूलाधार में सुप्त कुण्डलिनी शक्ति का सहस्रार चक्र में अधिष्ठित सदाशिव के साथ ऐक्य करा देना ही इस साधना की चरम परिणति है। सौन्दर्यलहरी में इस सारी प्रक्रिया का निरूपण हुआ है। शंकर के इस चिंतन को बाद में गोरख, कबीर, नानक, दादू आदि सभी निर्गुणियाँ संतों ने स्वीकार किया। योगी अथवा संतमत की चर्चा और साधना पद्धति पर शंकर का पूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है। हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, मराठी, गुजराती, बंगला, असमिया, सिंधी, राजस्थानी, उड़िया, तमिल, तेलगू, कन्नड़, मलयालम आदि भाषाओं के साहित्य पर शंकर का प्रभाव इतना गहरा है कि शंकर मत से भिन्नकर इन भाषाओं के संत साहित्य का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। तमिल के 'अठारह सिद्धर' संतकवि, तेलगू के वेमन वीरब्रह्मम्, कन्नड़ के सर्वज्ञ, मराठी के ज्ञानदेव, नामदेव, वारकरी पंथ के एकनाथ, गुजराती के सहजानन्द, प्रीतमदास, उड़िया के भीमाभाई, पंजाबी के नानक, सिंधी के सामी मेघराज, सामी बच्चोमल कश्मीरी के लल्ल योगेश्वरी तथा शेख नूरुद्दीनवली ने नैतिकता का प्रतिपादन तथा भौतिक जगत् की नश्वरता का चित्रण शंकर के समान ही किया। दक्षिण भारत से उत्तर भारत में कश्मीर तक की यात्रा करते हुए शंकर ने हिन्दुत्व के नवोत्थान का जो स्वर फूंका, भारतीय भाषाओं के साहित्य में उसकी पूर्ण अनुगूंज सुनाई पड़ती है। हिन्दू-मुसलमान संत कवियों की साधनामूलक वाणियाँ शंकर के विचारों से समृद्ध

और संपोषित हैं। उर्दू में सूफी संतकाव्य शंकर की परम्परा में ही विकसित हुआ है। शंकर जिस समन्वयात्मक संस्कृति के पुनरुद्धारक थे, दक्षिण के सूफी कवियों ने दक्खिनी के माध्यम से उसी का प्रचार किया। हिन्दी में कबीर और तुलसी दोनों ही शंकर के ऋणी हैं। तात्पर्य यह कि साहित्यिक एकता और ऐक्यचेतना का जो रंग शंकर ने चढ़ाया, उसमें समग्र हिन्दुस्तान रंग गया। इतना बड़ा युग-प्रभावक आचार्य हिन्दुस्तान में उनसे पूर्व कोई नहीं हुआ।

तंत्रदर्शन की ओर उन्मुख होने का एक कारण श्री शंकर के सामने यह भी रहा है कि उनके गुरु श्री गोविन्द भगवत्पाद इस धारा के निष्णात सिद्ध थे। वे रसेश्वर दर्शन की वैदिक परम्परा के एकमात्र आचार्य थे। इस मत में पारद के प्रयोग से दिव्य शरीर बनाकर जरा-मरण के भय से छूटना विशेष लक्ष्य है। तैत्तिरीय के 'रसो वैसः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' के आधार पर 'जीवन्मुक्ति' को ही वास्तविक मुक्ति मानना 'पिंडस्थैर्य' सिद्धान्त की वैदिक धारणा है। अवैदिक परम्परा में बौद्ध आचार्य नागार्जुन ने 'रस रत्नाकर' लिखकर इस परम्परा का प्रवर्तन किया। किरात देश के राजा मदनरथ के आग्रह पर गोविन्द भगवत्पाद ने 'रसहृदय' लिखकर बौद्ध परम्परा से हटकर वैदिक रसेश्वरी परम्परा का प्रवर्तन किया। इस योग मार्ग को तुलसी से पूर्व सिद्धमत कहा जाता रहा है। तुलसी पर भी इस धारा का प्रभाव है, पर अत्यल्प। जैसे बिहारी के दोहों में यह 'जग काँची काँच लौं' के आधार पर प्रतिबिम्बवाद की स्थापना की चेष्टा। शंकर 'समभिमार्ग' के पुरोधा थे। पण्डित जगन्नाथ तर्क पंचानन ने ब्रह्मसूत्र के शाक्त-भाष्य में कहा है—

समं साम्यं याति प्राप्नोति।

अर्थात् साधक को जब यह अनुभव होने लगे कि वह चिदानन्द लहरी निरन्तर मेरे साथ है। सह + मया —तो साधक समयि कहा जाता है। साधना का प्रारम्भ बाह्य पूजा से होता है और साधना के उत्कर्ष में बाह्यपूजा तथा आचार की अवहेलना होने लगती है। तात्पर्य यह कि मानस पूजा ध्यान तथा आत्म-साक्षात्कार की उच्चभूमि के साधक के दिव्य साधन हैं, शेष विधान गौण और तुच्छ है। आनन्द लहरी की टीका में लक्ष्मीधर ने कहा है—

'समयिनां मन्यस्य पुरश्चरणं नास्ति। जयोनास्ति। बाह्य होमोऽपि नास्ति। बाह्यपूजा विधेयो नास्त्येव। हृत्कमलमेव सर्वं यावदनुष्ठेयम्।

कहना न होगा, उपनिषदों की दहरविद्या या पुण्डरीक विद्या ही इस धारणा की मूलाधार है।

श्री शंकर का मुख्य लक्ष्य था, अवैदिक दार्शनिकों को परास्त कर हिन्दूधर्म का पुनरुत्थान तथा गीता, उपनिषद् और वेदांत की पुनः प्रतिष्ठा। पहले तो उन्होंने दार्शनिक युक्तियों और अकाट्य तर्कों से हिन्दुत्व के विरोधियों को क्षीण किया और फिर भारतीय तत्त्वचिन्तन की सांख्य, न्याय, वैशेषिक, योग तथा पूर्व मीमांसा की सरणियों का विवेचन कर अद्वैतदर्शन की प्रतिष्ठा की जाए। शंकर से पूर्व आस्तिक-नास्तिक दर्शनों का जो जटिल संघर्ष हो रहा था—शंकर को उसके बीच अपना मार्ग खड़ा करना था। उन्होंने कर्मकाण्ड का प्रतिरोध किया। मण्डन मिश्र के साथ हुए शास्त्रार्थ में कर्मकाण्ड की निस्सारता का प्रतिपादन है। इसी आधार पर शूद्र, नारी, ब्राह्मण सबको ज्ञानार्जन और ब्रह्मचिंतन का समान अधिकार देकर शंकर ने समतावादी विचारगत एकता के पक्षधर समाज की नींव डाली। शंकर मत में रूढ़िवादिता और अंध-विश्वास का अभाव है। उनका चिंतन मानव को जाति, धर्म, वर्ण और वर्ग विशेष की सीमाओं से ऊपर उठाकर सार्वभौम रूप प्रदान करता है। परवर्ती कर्मकाण्डी दार्शनिकों ने उन्हें इसीलिए 'प्रच्छन्न बौद्ध कहकर तिरस्कृत करने का असफल प्रयत्न किया। पद्म पुराणकार ने 'मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव

च', रामानुज ने 'वेदवादच्छद्म प्रच्छन्न बौद्धनिराकरणे निपुणं प्रपंचितम् (श्रीभाष्य), भास्कराचार्य ने 'महायान बौद्ध गाथितं मायावादम्' (भास्कर भाष्य) तथा डा० भरतसिंह उपाध्याय, डा० एस० एन० दासगुप्ता, डा० बरुआ तथा राहुल सांकृत्यायन ने शंकर को विज्ञानभिक्षु आदि बौद्ध दार्शनिकों का ऋणी बताया है। राहुल जी ने 'दर्शनदिग्दर्शन' पुस्तक में शांकर मायावाद को नागार्जुन के शून्यवाद का नामान्तर मात्र कहा है।

हमारे विचार में उक्त मत दुराग्रहपूर्ण हैं। मायावाद में सदसद्वाद से विलक्षण अनिर्वचनीय 'सत्' की प्रतिष्ठा होने के कारण उसे सत् शास्त्र कहना पद्मपुराणकार की साम्प्रदायिक नीति का ही परिणाम है। रामानुज का उन्हें विज्ञानवादी कहना भी युक्तिसंगत नहीं क्योंकि विज्ञानवादी बाह्यजगत् को विज्ञान मात्र मानता है, जबकि शंकर उसकी व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करते हैं। छान्दोग्य भाष्य में 'दिग्देश गुणगति फलभेद शून्यं' कहते हुए शंकर ने शून्यवाद का भी विरोध किया है। ब्रह्मसूत्र भाष्य में स्वयं शंकर ने विज्ञानवाद आदि बौद्धमतों का खण्डन किया है। उपनिषदों का प्रभाव बौद्धों और शंकर पर समान है। अतः एक स्रोत से सामग्री लेने के कारण समानता दिखाई पड़ जाती है अन्यथा दोनों में विषमता पद-पद पर परिलक्षित होती है। डा० राधाकृष्णन और डा० राममूर्ति शर्मा 'इण्डियन फिलासफी' तथा 'अद्वैत वेदांत' ग्रंथों में शंकर के प्रच्छन्न बौद्ध होने का स्पष्ट खंडन करते हैं। और तो और, आचार्य शंकर गौड़पादाचार्य के 'अजातवाद' की उपेक्षा अद्वैत की प्रतिष्ठा अनिर्वचनीयतावाद के आधार पर ही करते हैं। गौड़पाद की माया असत् और शंकर की माया सद्सद् से विलक्षण अनिर्वचनीय है। डा० राममूर्ति शर्मा का कहना सर्वथा समीचीन है कि 'शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद का सिद्धान्त पूर्णतया न भर्तृहरि का शब्दाद्वयवाद है, न गौडपादाचार्य का अजातवाद, न बौद्धों का विज्ञानवाद और न शून्यवाद न योगवाशिष्ठ का कल्पनावाद, न कश्मीर शैवदर्शन का स्पन्दवाद और न प्रत्यभिज्ञावाद और न शाक्तों का शक्त्यद्वैतवाद। यहस्वतन्त्रधारा तो ऋग्वेद से उत्पन्न हुई है और संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों सूत्रों, पुराणों गीता एवं तंत्रादि तथा बादरि-प्रभृति प्राचीन आचार्यों से सार ग्रहण करती हुई शंकराचार्य भाष्यग्रंथों में आकार ज्ञानगंगा के रूप में प्रवाहित हुई है।'[1]

श्री शंकर ने अपने पूर्ववर्ती अद्वैतवेदांत के आचार्यों में बोधायन, उपवर्ष, गुहदेव, कपर्दी, भारुचि, भर्तृहरि, ब्रह्मनन्दी टंक, द्रविड़ाचार्य, ब्रह्मदत्त, भर्तृप्रपंच, सुन्दरपाण्ड्य तथा गौड़पादाचार्य की मान्यताओं का पर्याप्त ऊहापोह किया था। ब्राह्मसूत्र शांकरभाष्य (1/3/19) में 'इति मन्यन्तेऽस्मदीयाश्च केचित्' अथवा 'च सम्प्रदाय विदोवदन्ति' (1/4/14) अथवा 'अत्रोक्तं वेदान्त सम्प्रदाय विद्भिराचार्यैः (2/1/9) कहकर उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख किया है। जीव-ब्रह्म की एकता, माया के कारण भिन्नत्व, जगत् की मायिक सत्ता, ब्रह्म की देशिक, कालिक, वैचारिक तथा व्यावहारिक सत्ता से विलक्षण-सत्ता, ब्रह्म की सच्चिदानन्द रूपता, जगत् का ब्रह्मविवर्तभाव, परिणामका निषेध, माया शक्ति से विशिष्ट का जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण होना, सृज्यमान प्राणियों के धर्म-अधर्म की अपेक्षा से सृष्टिगत वैषम्य, अविद्या के कारण जीव और आत्मा के एक होते हुए भी भिन्नरूपता, अविद्यानिवृत्ति से जीव की आत्मरूपता का बोध, आत्मविद्या द्वारा अविद्या रूप बीजशक्ति का विनाश, अविद्याराव की माया की पर्याय-वाचिता तथा अभ्यासजन्य मिथ्या बंधन से छुटकारा (मुक्ति) शांकर दर्शन की मूल स्थापनाएँ हैं। बंधन की मूल अविद्या है, इसी की निवृत्ति मुक्ति है। इसमें धर्म-अधर्म अपने कार्य सुख-दुःख के साथ तीनों कालों में भी सम्बन्ध नहीं रखते। यह शरीररहित स्थिति ही मोक्ष है जो आनन्दरूपा है—

1. अद्वैतवेदान्त—पृष्ठ 348

'यत्र धर्माधर्मौ सहकार्येण कालत्रयं च नोपावर्तेते । तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम् ।'

इस अवस्था में जगत् का विनाश न होकर जीव की जगत् बुद्धि का विनाश होता है। 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते।' अतः द्वैतबुद्धि के नष्ट होने पर तत्त्वबोध की स्थिति में वह ब्रह्म ही हो जाता है—'ब्रह्म हि भवति य एवं वेद' अथवा 'ब्रह्मविद् ब्रह्मै व भवति' श्री शंकर ने ऐतरेय से 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (519), बृहदारण्यक से 'अहंब्रह्मास्मि' (1/4/10) तथा 'अयमात्मा ब्रह्म' (2/5/19) और छान्दोग्य से (6/8/7) से 'तत्त्वमसि' लेकर चार महावाक्यों की व्याख्या की है। अन्तःकरण के परिणामविशेष या वृत्ति के जगताकार या अखण्डाकार रूप को ध्यान में रखकर ही उक्त चार महावाक्यों की मीमांसा आचार्य प्रवर ने की । जीव चैतन्य और विषय चैतन्य का भेद इसके अभाव में प्रदर्शित नहीं किया जा सकता था। ये महावाक्य साधन के प्रमुख साधन हैं। इनके द्वारा जिज्ञासु का शुद्ध, संस्कारसम्पन्न, दृढ़चित्त अखण्डार्थ ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है।

श्री शंकर ने श्रीमद्भगवत्गीता, ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर नृसिंहतापिनी – उपनिषदों पर तथा ब्रह्मसूत्र पर भाष्य किया है। भाष्यों की शैली उदात्त, प्रमाणपुरस्सर तथा खण्डन-मण्डनात्मक है। आचार्यश्री का गद्य प्रौढ़ और प्रांजल है। इनके अतिरिक्त विष्णु सहस्रनाम, सनत्सुजातीय ललिता त्रिशती तथा माण्डूक्य कारिका पर भी उन्होंने भाष्य दिए। ललिता त्रिशती के भाष्य में निगम-आगम दोनों परम्पराओं से ही प्रमाण दिए गए हैं। मध्यकालीन धर्म-साधनाओं के निगमागमसम्मत रूप का उपयोग श्री शंकर से पूर्व किसी आचार्य ने नहीं किया था, यह उनकी मौलिक दृष्टि है। यद्यपि वेदांत के तीन प्रस्थान या मार्ग उनके सामने थे—गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र, क्योंकि उनसे पूर्व भर्तृप्रपंच ने कठ और बृहदारण्यक की टीका तथा उपवर्ष ने ब्रह्मसूत्र एवं मीमांसा सूत्रों की टीका की थी। अतः शंकर भी इसी 'प्रस्थान-त्रय' के आधार पर अपने विचार प्रस्तुत करना चाहते थे। गीता क्योंकि प्रवृत्ति तथा निवृत्ति मार्ग का विवेचक ग्रंथ है तथा ज्ञान, कर्म, उपासना का संतुलित विवेचन करती है, अतः आचार्य ने गीता को भी आधार बनाया। 'तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म' जैसे गीता वाक्यों ने शंकर को ब्रह्म, प्रकृति, ईश्वर, मुक्ति तथा जीव के सम्बन्ध में अद्वैत विचारधारा के पोषण के लिए सबल आधार दिया।

शंकराचार्य के पश्चाद्वर्ती आचार्यों में सुरेश्वराचार्य, पद्मपादाचार्य, वाचस्पति मिश्र, सर्वज्ञात्म मुनि अद्वैतानंद बोधेन्द्र, आनंदबोध भट्टारकाचार्य, प्रकाशात्मयति, चित्सुखाचार्य, अमलानंद, विद्यारण्य, प्रकाशानंद, मधुसूदन सरस्वती, ब्रह्मानंद सरस्वती, धर्मराजाध्वरीन्द्र, गंगापुरी श्री कृष्णमिश्रयति, श्री हर्ष, रामाद्वयाचार्य, शंकरानंद, आनंदगिरी, अखण्डानंद मल्लनाराध्य, नृसिंहाश्रम, भट्टोजी दीक्षित, नीलकंठ सूरी, सदाशिव ब्रह्मेन्द्र, सदानद योगीन्द्र सरस्वती, आनंदपूर्ण विद्यासागर, नृसिंह सरस्वती, रामतीर्थ, आपदेव गोविंदानंद, रामानंद सरस्वती, सदानंद यति, रंगनाथ, अच्युत कृष्णानंद तीर्थ, महादेव सरस्वती, सदाशिवेन्द्र सरस्वती, अप्पयदीक्षित, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, अरविन्द, स्वामीकरपात्री जी, स्वामी अखण्डानंद सरस्वती, विनोबा, राधाकृष्णन तथा विद्यानंदगिरि प्रकृति अद्वैतवादी दार्शनिकों की लम्बी परम्परा सामने आती है। शांकर सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण और पल्लवन में इन भाष्यकारों और टीकाकारों का सुदीर्घ योगदान रहा है। जीव और ईश्वर, जीव की एकता तथा अनेकता, जीव और आत्मा, अविद्या एवं माया मिथ्यात्व, माया की विषयिता और विषमता तथा मुक्ति और वृत्तिके स्वरूप पर अनेक मतभेदों का सृजन और समाधान इन परवर्ती दार्शनिकों में मिलता है। कुछ ने नवीन उद्भावनाएँ भी दीं। जैसे सुरेश्वराचार्य का आभासवाद, पद्मपाद का प्रतिबिम्बवाद, वाचस्पति मिश्र का अवच्छेदवाद, सर्वज्ञात्ममुनि का अधिष्ठानवाद,

प्रकाशात्मयति का आश्रयाश्रयि एवं विषय-विषयिभाववाद, अमलानंद का दृष्टि-सृष्टिवाद तथा मधुसूदन सरस्वती का एकजीववाद ऐसे ही नव्य विचारबिंदु हैं जिनसे वेदांत के दुरुह पक्षों पर नवीन प्रकाश पड़ता है। इन दार्शनिकों में सुरेश्वराचार्य कृत तैत्तिरीय श्रुति वार्तिक, नैष्कर्म्यसिद्धि, ब्रह्मसूत्र भाष्य वार्तिक तथा वार्तिकसार संग्रह, पद्मपादाचार्य कृत पंचपादिका; वाचस्पति मिश्र कृत भामती ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य व्याख्या तथा ब्रह्मतत्त्व समीक्षा (सुरेश्वराचार्य कृत ब्रह्मसिद्धि की टीका); सर्वज्ञात्ममुनि की संक्षेप शारीरिक; प्रकाशात्मयति कृत पंचपादिका टीका चित्सुखाचार्य कृत तत्वप्रदीपिका, न्याय मकरन्द और खंडन खंड खाद्य टीका विधारण्य स्वामीकृत पंचदशी, मधुसूदन सरस्वती कृत अद्वैतसिद्धि, वेदांत कल्पलतिका तथा गूढ़ार्थ दीपिका, धर्मराजा ध्वरीन्द्र की वेदांत परिभाषा; एवं विनोबाकृत उपनिषद् एवं गीता भाष्य रचनाएं प्रमुख हैं।

पश्चात्य विद्वानों में कोलब्रुक, विल्सन; रोअर, कावेल, बोथलिंक, मैक्समूलर, डायसन, बेवर, थीबो, जैकब, गाफ, बेनिस तथा विलियम जोन्स ने अद्वैत वेदांत की महत्त्वपूर्ण समालोचनाएं लिखी हैं। शंकर का युगप्रवर्तक आचार्य होना इससे भी सिद्ध है कि उनमें प्रादुर्भाव के बारह सौ वर्षों बाद भी उनके विचारों के चिंतन-मनन की अक्षुण्ण गोमुखी प्रवहमान है, वह क्षीण और मंद नहीं हुई है। भारतीय तथा देश-विदेश के अन्यान्य विश्वविद्यालयों में उनके विचारों और उनके समानधर्मा विचारकों की तुलना में उनके योगदान का शोधपरक मूल्यांकन हो रहा है। अद्वैतवाद के आयाम इतने वैविध्यपूर्ण हैं कि भारतीय-अभारतीय दृष्टि से सोचने-समझने की संभावना कभी न्यून नहीं हो पाती। शंकर के विचारों में बहस खोलने की इतनी संभावनाएं हैं कि वहाँ दार्शनिक जड़तावाद पैदा ही नहीं होने पाता। विविध वैष्णव-वेदान्तिकवाद का जन्म इसी कारण संभव हो सका। विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत, अचिन्त्यभेदवाद, शक्त्यद्वैत, ईश्वराद्वयवाद तथा त्रैतवाद शंकर की पीठ पर खड़े होने वाले विरोधी सिद्धान्त हैं पर इन प्रस्थानों को प्रेरित करने के लिए भी शंकर ही उत्तरदायी हैं। शांकरमत के न्यूनाधिक स्पर्श के बिना ये दार्शनिक विचारधाराएँ खड़ी ही नहीं हो सकती थीं। यों तो अद्वैतवाद श्रुतियों की देन है पर आज वह शांकर मत का पर्याय बन गया है। वेदांत दर्शन अद्वैतदर्शन ही समझा जाने लगा है। आचार्य वही नहीं है जो मौलिक उद्भावना करता है, आचार्य वह है जो भावी विचारकों पर इस तरह छाया रहता है कि वे उसे पढ़े-समझे बिना सहमत-असहमत हुए बिना एक पग आगे नहीं बढ़ सकते। शंकर आज भी वैचारिक दिग्विजय के अभिषिक्त रथ पर वहीं खड़े हैं जहाँ आज से बारह सौ वर्ष पूर्व खड़े थे।

शंकर ने हिन्दूधर्म के पुनरुद्धार के लिए देशव्यापी यात्राएँ कीं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण की यात्राओं में उनकी मार्गदर्शक श्रुति थी—'माताभूमिः पुत्रोऽहं प्रार्थव्याः'। भारतीय इतिहास में राजपूती युग राजनीतिक विखंडन का युग कहा जाता है। हर्ष के बाद अलगाव की प्रवृत्तियों का प्राबल्य हुआ। मौखरी, आयुद्ध, प्रतिहार, राष्ट्रकूट, परमार, चौहान, गहलौत, सिसोदिया राजवंशों के अतिरिक्त पूर्व और पश्चिम के ठाकुरी, पाल, सेन, राय शाहीय, करकोट, उत्पल; तथा दक्षिण के चेदि, गंग, पल्लव, चोल, चालुक्य तथा पल्लव आदि राजवंश प्रतापी थे। उन्होंने, कला, साहित्य और संस्कृति को संरक्षण दिया। पर 6वीं शती से 12वीं शती तक विघटन एवं विभाजन की प्रवृत्तियाँ इतनी प्रबल हो गईं कि देश एक भूगोल होकर भी अनेक राज्यों में बँट गया। हर्षवर्धन के काल में ही भारत के दो टुकड़े हो गए—नर्मदा के उत्तर पुण्यमूर्ति और कन्नौज के वर्मन राज्यों के विलय से बना हर्ष का साम्राज्य और नर्मदा के दक्षिण चालुक्य वंश के पुलकेशिन द्वितीय का साम्राज्य। निरंकुश एकतंत्र, सामंतवाद, स्थानीयता और व्यक्तिवाद, राष्ट्रीयता और देशभक्ति का ह्रास तथा राजनीतिक उदासीनता और अनैतिक भोगवाद के कारण देश की अस्मिता नष्ट हो गई। इस्लाम के आक्रमणों से संघर्ष तथा पुनरुत्थान की प्रक्रिया शुरू हुई। शंकर इसी

खोई हुई राष्ट्रीयता और अस्मिता के पुनरुद्धार के लिए आगे आए। निरन्तर युद्धों से पीड़ित भारतीय समाज की करुणा का चित्र भवभूति में मिलता है। मनुष्यों की तो बात ही क्या, पत्थर तक रो पड़ते हैं और वज्र का हृदय भी विगलित हो जाता है। संदर्भ बदल लें तो यह राम की घनीभूत पीड़ा नहीं—अनैतिक, व्यक्तिवादी, भोगलिप्सु, राष्ट्र प्रेमहीन तथा नृशंस राज्यतंत्र के संघर्ष और पराभव से टूटे भारतीय मानस की व्यथा जान पड़ती है।

अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।

हर्ष युगोत्तर भारत पतनोन्मुख हिन्दू समाज की दिन प्रतिदिन बदलती और बिगड़ती विकृत कथा एवं दुर्दशा का इतिहास है। शंकर इसी किंकर्त्तव्यविमूढ़ता के बीच हिंदुत्व की एकता और सांस्कृतिक अखण्डता की रक्षा के लिए खड़े हुए। मैसूर में शृंगेरी, द्वारिका में शारदा, जगन्नाथपुरी में गोवर्धन तथा बद्रीनाथ में ज्योतिर्मठ की स्थापना का उद्देश्य सम्पूर्ण भारत की एकता का प्रतिपादन करना था देशव्यापी धर्म प्रतिष्ठा के कार्य को बढ़ाने के लिए यह चारपीठ स्थापित हुए। सैनिक संगठन के लिए निर्वाणी, निरंजनी, जूना, अटल, अग्नि, आवाहन अखाड़े बनाए तथा गिरी, पुरी भारती, सागर, आश्रम, पर्वत, तीर्थ, सरस्वती, वन और आचार्य संज्ञक दशनाम सन्यासियों की परम्परा का प्रवर्तन कर सन्यास धर्म का अनुशासन किया। चार शांकर पीठों के आचार्य जगद्‌गुरु शंकर कहलाते हैं। दशनाम संन्यासी और शंकराचार्य दण्ड, कमण्डलु, रुद्राक्ष, भस्म तथा गैरिक वस्त्र धारण कर श्रुति-स्मृति द्वारा अनुमोदित धर्म का प्रचार-प्रसार करते हुए ब्रह्मसूत्र, गीता, उपनिषद् तथा विवेक चूड़ामणि जैसे ग्रंथों का व्याख्यान करते हुए देश की जनता को धर्मोन्मुख करते हुए निरंतर घूमते रहते हैं। सदुनाथ सरकार जैसे इतिहासकारों ने यह बात लक्षित की है कि शंकराचार्य द्वारा स्थापित अखाड़ों और आश्रमों ने हिन्दूधर्म की रक्षा के लिए सशस्त्र प्रतिरोध भी किया है। परिवर्तित तथा बलात् अन्य धर्मालम्बी हिन्दुत्व में परिवर्ति कर इस विराट जाति की रक्षा की है। राष्ट्रीय और राजनीतिक एकता की ऐसी सुनियोजित परिकल्पना शंकर से पूर्व नहीं दिखाई पड़ती। मध्यकालीन राजनीतिक चेतना का राष्ट्रव्यापी उन्मेष उस राजनीतिक उदासीनता के युग में शंकर की सबसे बड़ी देन है। विभिन्न क्षेत्रों के सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक अनुशासन के लिए ही संन्यासी प्रचारकों को दस श्रेणियों में विभाजित किया गया था। समष्टिमय मानव समाज की परिकल्पना शंकर को युगावतार सिद्ध करती है। मुस्लिम और अंग्रेजी पराधीनता के युग में मध्यकालीन संत संगठनों ने जो हथियारबंद आन्दोलन किया है, उनमें शंकरानुयाई संतों की बड़ी भूमिका रही है। वैष्णव अनी और अखाड़े, गोसाईं विद्रोह तथा सतनामी विद्रोह एवं सिख गुरुओं का विद्रोह मूलतः धर्मरक्षा के लिए किया गया सशस्त्र मुक्ति आन्दोलन ही है। मुगलकालीन तथा मुगलोत्तर भारत में मराठों, राजपूत राजाओं, बुन्देलों तथा सिखों के विद्रोह में शंकरानुयायी प्रचारकों का स्थान है। 1857 के विद्रोह की रूपरेखा बनाने वाले स्वामी विरजानंद सरस्वती भी शांकर सम्प्रदाय के ही संन्यासी थे। डा० सत्यकेतु विद्यालंकार ने आर्यसमाज के इतिहास में विस्तार के साथ इस तथ्य पर प्रकाश डाला है। सीताराम बाबा, दीनदयाल, तिरुपति के शिवराम बाबा जैसे कई संन्यासियों ने स्वाधीनता आन्दोलन के लिए बलिदान किया। डा० विद्यालंकार लिखते हैं कि 'दशनामी संन्यासियों की राजनीति तथा युद्धों में हाथ बँटाने की जो पुरानी परम्परा थी, उसे दृष्टि में रखते हुए यह मान सकना सर्वथा समुचित व संभव है कि एक वृद्ध दशनामी संन्यासी ने ही भारत से अंग्रेजों के शासन का अंत कर देने की योजना बनाई थी जिसके द्वारा सन् 1857 का स्वाधीनता संग्राम लड़ा गया। इस योजना के अनुसार सैनिकों तथा सर्वसाधारण लोगों को अंग्रेजों के खिलाफ भड़काने के लिए कितने ही साधु-संन्यासी भारत के विविध नगरों, छावनियों तथा देहात में नियुक्त थे। यह बात न केवल सीताराम की गवाही से प्रमाणित है अपितु उस समय के कितने ही अन्य रिकार्डों में

भी इसका उल्लेख है। 1856 में मथुरा में मुनक्किद पंचायत की अध्यक्षता विरजानंद जी ने की थी। सर्वखाप पंचायत के पुराने रिकार्ड में यह सामग्री सुरक्षित है। 1855 के कुंभ पर स्वामी पूर्णानंद जी कनखल निवासी ने जो 110 वर्ष के थे, नाना साहब, दयानंद आदि को स्वाधीनता की प्रेरणा दी। अनुसंधान करने पर अनेक दशनामी संन्यासियों का कर्त्तव्य सामने आ सकता है जिन्होंने राष्ट्र उद्धार तथा स्वाधीनता के लिए अपने को बलिवेदी पर चढ़ा दिया। आद्यशंकर की इन मानस संतानों ने अपने आचार्य के स्वप्न को कभी खंडित नहीं होने दिया। शंकर के इस पक्ष का मूल्यांकन अभी होना शेष है।

अस्तु, धर्म, संस्कृति, अतीत गौरव, राष्ट्रीय एकता तथा हिन्दू समाज के पुनरुद्धार के लिए शंकर के कार्य का मूल्यांकन और श्रद्धापन देशवासियों के लिए तो प्रासंगिक हो सकता है पर उनके जगद्गुरु होने का अर्थ है कि वह विश्वभर के कल्याणकारी उपदेष्टा हैं। इस स्थिति में वेदांत की विश्वव्यापकता और उपयोगिता का भी विचार होना चाहिए। शंकर आज सम्पूर्ण संसार के लिए क्यों और किस प्रकार उपयोगी हैं। लोग शांकरमत को मायावाद मानकर 'जगत्मिथ्या' का प्रचारक और अव्यावहारिक दर्शन समझ लेते हैं।

गृहस्थ धर्म और कर्म की महत्ता आचार्य शंकर ने सर्वत्र प्रतिपादित की है। सांसारिक अभ्युदय और उन्नति (प्रेम) के साथ अटल आनंद (श्रेय) की प्राप्ति के लिए मनुष्य को सदैव सचेष्ट रहना चाहिए। विविध आश्रमों तथा वर्णोचित कर्म निष्काम भाव से सम्पन्न होने पर ही आत्मप्राप्ति में सहयक होते हैं। कर्ममुक्ति का तात्पर्य अकर्मण्यता या कर्मत्याग से नहीं; अपितु कर्मफल की आकांक्षा से है। निष्काम भाव से सम्पन्न कर्म सत्त्वशुद्धि के हेतु होते हैं। सत्वशुद्ध या सुसंस्कृत मन ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। अतः निष्काम कर्म का परिणाम ज्ञान है। फलाकांक्षा बंधन का कारण है तथा निष्काम कर्मभावना मुक्ति का कारण है। 'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते' (गीता 3/4) की व्याख्या में शंकर ने लिखा है—

श्रुतौ तावत् प्रकृतस्य आत्मलोकस्य वेद्यस्य वेदनोपायत्वेन 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन (वृह० 4/4/22) इत्यादिना कर्मयोगस्य ज्ञानयोगोपायत्वं प्रतिपादितम्।

इसका अर्थ हुआ कि कर्म का त्याग कर्म का मोक्ष का कारण नहीं। मोक्ष के लिए नैतिक और निष्काम कर्म का सम्पादन आवश्यक है।

भोगवाद तथा भौतिक सम्पता के प्रति मोह आत्मज्ञान में बाधक है। अतः आध्यात्मिक मूल्यों की सिद्धि के लिए वेदान्तिक संन्यास की आवश्यकता है। संन्यास लोकहित और विराट् के लिए जीवन सम्पूर्ण साधना का दूसरा नाम है। शम, दम, त्याग, तप, संतोष और तितिक्षा संन्यास के वैयक्तिक आधार हैं तो शौच, सौहार्द, समत्व दृष्टि, दया, दान और निर्धनता सामाजिक आधार हैं। संन्यास वर्णाश्रम में चतुर्थ स्थिति तो है ही पर गृहस्थ में भी यदि यह भावना हो जाए तो उसे अर्थतः संन्यासी ही कहा जाएगा। आचार्य की दृष्टि में आश्रम संन्यास से बढ़कर भावना संन्यास का महत्व है। त्याग की भावना को संन्यास कह देने से आचार्य ने भेष और आडम्बर की व्यर्थता प्रतिपादित की। ब्रह्मज्ञान का अधिकारी प्रत्येक आश्रम और आश्रम का प्राणी है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी सभी का ब्रह्मज्ञान में अधिकार है। बृहदारण्यक, तैतिरीय तथा छान्दोग्य में इसी तथ्य का प्रतिपादन हुआ है।

आत्मज्ञान का लक्ष्य सर्वात्मभाव की प्रतिष्ठा है। शंकर, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यतथा शूद्र की व्यवस्था जातिगत न मानकर गुण कर्मानुसार मानते हैं। गीता के 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः' (4/13) की व्याख्या करते हुए आचार्य सत्त्व, रज और तम गुणों के आधार पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वर्णों का

1. आर्यसमाज का इतिहास—(भाग 1) पृष्ठ 690

विवेचन करते हैं। शम, दम, तप आदि सत्वगुणप्रधान व्यक्ति को ब्राह्मण, शूरवीरता, तेज प्रभृति रजो गुण प्रधान को क्षत्रिय, तमोगुण-रजोगुण प्रधान को कृषि आदि कर्मों के कारण वैश्य तथा तमोगुण प्रधान को शूद्र कहा है। सर्गात्मवादी दृष्टि देश, जाति, धर्म, रंग, वर्ण, भाषा आदि भेदों से मनुष्य को ऊपर उठाती है। इस दृष्टि के अभाव में क्षुद्र राष्ट्रीयता का जन्म होता है। मानव जाति को युद्धों में झोंक दिया जाता है, रक्त-पात, लूट और हत्याएँ होती हैं। व्यष्टि भाव का लोप और समष्टि भाव का उदय या क्षुद्र अहंभाव की समाप्ति वेदान्त का लक्ष्य है। अनेकत्व में एकत्व का दर्शन ही वेदान्त का लक्ष्य है। इसी समदृष्टि के उदय से विश्व में शांति और प्रेम की स्थापना की जा सकती है। गीता के 'विद्याविनय संपन्ने' (5/18) श्लोक की व्याख्या में समदृष्टि का विवेचन करते हुए जिस मानवतावादी दृष्टिकोण की स्थापना आचार्य ने मध्यकाल में 'अतः समं ब्रह्म एकं च तस्माद् ब्रह्मणि एव ते स्थिताः' कहकर की, वह उस काल के लिए असंभव और इस काल के लिए आवश्यक सिद्ध हुई। क्रान्तदर्शी आचार्य की यह व्यापक सूझबूझ थी। गीता का मुख्य प्रतिपाद्य ज्ञान योग है। 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' की व्याख्या में छान्दोग्य का प्रमाण देकर शंकर ने ज्ञान को ही प्रमुखता दी है। कर्म और उपासना की अपेक्षा शंकर गीता का प्रतिपाद्य ज्ञान योग को मानते हैं। ज्ञान, कर्म तथा उपासना का समुच्चय उन्हें इष्ट नहीं। प्रसन्नता, निर्भीकता तथा आत्मनिर्भरता वेदान्त के अन्य लाभ हैं जो निष्काम कर्म, आत्मभाव का प्रसार और आत्मशक्ति के अर्जन के साथ आते हैं। घृणा, भय, द्वेष, ईर्ष्या आदि से मुक्त होने में 'आत्मदृष्टि' हेतु होती है। अन्यत्व की भावना से राग-द्वेष और आत्मत्व की भावना से परम सत्य और आनन्द की अनुभूति होती है। अद्वैतवाद का आचार तथा विचार पक्ष बड़ा सुदृढ़ है। विवेकानंद और रामतीर्थ ने वेदांत के व्यावहारिक रूप का प्रतिपादन सेवाश्रमों की स्थापना द्वारा करके यह सिद्ध कर दिया कि वेदांत जीवन की विषमताओं का एकमात्र समाधान है। वह मनुष्य में निहित आत्मशक्ति को जगाकर पृथ्वी को स्वर्ग में परिणत करा सकने में समर्थ है। इतना ही नहीं, जीवात्मा इसी लोक में मुक्ति का अनुभव कर सकता है, उसका अन्य लोक-लोकान्तरों में गमन आवश्यक नहीं। वेदांत के अतिरिक्त मानव को निसर्गतः पाप का परिणाम मानने वाले दार्शनिक चाहे इस्लाम के हों चाहे ईसाइयत के —हीनता का बोध जगाते हैं पर वेदांत 'जीव और ब्रह्म' की एकता प्रतिपादित कर जीव को हीनत्व-बोध से ऊपर उठाता है। मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा का ऐसा श्रेय आचार्य शंकर को ही दिया जा सकता है। महाभारतकार का 'नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि कश्चित्' वाक्य शंकर के सामने आदर्श रहा है।

वेदांत के श्रौत, स्मार्त और दार्शनिक—तीन प्रस्थान हैं। इनमें श्रौतप्रस्थान उपनिषद्, स्मार्त प्रस्थान गीता तथा दार्शनिक प्रस्थान ब्रह्मसूत्र है। मध्यकाल में इन तीनों पर भाष्य लिखना आचार्यत्व का प्रमाण समझा जाता था। शंकर ने तीनों पर भाष्य लिखकर अपना अद्भुत आचार्यत्व प्रतिष्ठित किया है। बादरायण व्यास ने वेदांत कर्म योग का पुनरुद्धार किया। गीता और ब्रह्मसूत्र जिस अध्यात्मविधा का निरूपण करते हैं, उस पर मानव मात्र का अधिकार है। यजुर्वेद की श्रुति 'शूद्राय, चार्याय च स्वाय चारणाय' इसी तथ्य का पोषण करती है। शंकर सूत्रपदानुसारी भावना को नई अर्थवत्ता प्रदान करते हैं। ब्रह्मसूत्र का परमत प्रत्याख्यान प्रसंग शंकर के वैदुष्य तथा दृढ़ दृष्टिकोण का परिचायक है। आचार्य शंकर के आचार्यत्व का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है कि उन्होंने भाष्य की जिस प्रणाली की उद्भावना 'सूत्रों' में की, उसी का यत्किंचित् हेरफेर से अनुधावन वैष्णवाचार्यों ने किया। प्रमाण की दृष्टि से शंकरेतर आचार्यों में पुराणों के श्लोकों की भरमार है। सांख्य, वैशेषिक, बौद्ध, जैन आदि मतों का जो खण्डन आचार्य ने किया, पांचरात्र और वासुदेवमत को छोड़कर वैष्णवाचार्यों ने उसी विचार सरणि का अनुसरण किया। एक अन्तर्दृष्टि आचार्य की और है और वह यह कि तात्कालिक दार्शनिक अवधारणाओं से अभिभूत होकर आचार्य ने सूत्रों में परमत निराकरण की भावना को व्यक्त किया।

श्री शंकर उच्चकोटि के कवि थे। उनके द्वारा रचित स्तोत्र कवि कल्पना के उत्कृष्ट उदाहरण कहे जा सकते हैं। उनकी गद्य-रचना प्रौढ़, प्रांजल और दृष्टांत पुष्ट है। 'नहि पद्भ्यां पलायितुं पारयमाणो जानुभ्यां रंहितुमर्हति' अर्थात् पैरों से दौड़ने में समर्थ को घुटनों के बल रेंगना अच्छा नहीं लगता—जैसी लोकोक्तियों से उनका विवेचनात्मक गद्य भरा पड़ा है। 'भामतीकार ने भाष्य प्रसन्नगंभीरं तत्प्रयुक्तं विभज्यते' कहकर उसकी महिमा का बखान किया है। ब्रह्मसूत्र हो, चाहे गीता हो चाहे उपनिषद्—खण्डमूलक, दृष्टान्त मूलक तथा निष्कर्षमूलक शैली के वर्णनात्मक, विवेचनात्मक सहारे वह अपना मंतव्य प्रकट करते चलते हैं। जैसे 'पुरुषादीनां गोमयादीनां च पार्थिवत्वस्म् केशनखादिषु वृश्चिकादिषु चानुवृत्तिदर्शनेव किञ्चत्साम्ममिव' अथवा 'अत सांख्य सिद्धान्त भ्रांतिमूलक त्वादेव व मुमुक्षुभिरुपेक्षणीय इति' उनसे पूर्व शंकर स्वामी का मीमांसा भाष्य तथा उनके बाद जयंत भट्ट का न्याय भाष्य उनके प्रांजल गद्य की याद दिलाता है। आनंदलहरी का एक श्लोक कवित्व की उड़ान में सहायक अनूठी उक्ति की दृष्टि से यहाँ उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ।

सपर्णामाकीर्णां कतिपयगुणैः सादरमिह
श्रयन्त्येनेवल्लि मम तु मतिरेयं विलसति।
अपर्णैका सेव्या जगति सकलैर्यत् परिवृतः
पुराणोऽपि स्थाणुः फलति किल कैवल्यपदवीम्।

अर्थात् सब लोग तो सम्पूर्ण लता का आश्रय लेते हैं पर मुझे अपर्णा ही कल्याणकारिणी मालूम पड़ती है क्योंकि स्थाणु भी उसके आश्रम से कैवल्य का फल देता है, यदि अपर्णा का प्रसाद न मिले तो स्थाणु क्या फल देगा? यहाँ अपर्णा और स्थाणु में श्लेष है। पत्ते के बिना फल नहीं होता, यहाँ बिना पत्ते की लता (अपर्णा, पार्वती) फल देती है। स्थाणु (ठूंठ, शिव) भी उसी के आश्रय से पसीजता है। ऐसे एक नहीं, अनेक उदाहरण उनके कमनीय स्तोत्रों से दिये जा सकते हैं। पूर्व पक्ष को शंका प्रस्तुत कर उत्तर पक्ष में प्रमाणों का निबन्धन करने के कारण तथा गंभीर सूत्रात्मकतायुक्त बौद्धिक शैली के प्रयोग के कारण उनके ग्रंथ 'निबन्ध ग्रंथ' कहे जा सकते हैं। श्री शंकर के कवित्व तथा गद्य का शैली विज्ञानमूलक अध्ययन किया जाना चाहिए।

इस युग के अमर ग्रंथ 'मानस' पर शंकर के अद्वैतवाद का पूर्ण प्रभाव है। यह इसलिए कह रहा हूँ कि केवल निर्गुण साहित्य और साधना पर ही शंकर का प्रभाव नहीं आँका गया, सगुण साहित्य पर भी उनकी छाप देखी गई है। पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, विजयानंदत्रिपाणि, डा० बलदेव प्रसाद मिश्र, आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल तथा डा० श्री राजुपाल तुलसी को अद्वैतवादी मानते हैं। श्रीमद्भागवत में अद्वैत दर्शन की छाया है पर शंकर पूर्ववर्ती होने के कारण उसे शंकरानुसारी नहीं कह सकते। हाँ, शांकर मतानुसार श्रीधरस्वामी ने भागवत की टीका अवश्य की है। इस टीका का ही प्रभाव है कि सी० वी० वैद्य ने 'द डेट ऑफ भागवत पुराण' में तथा के० ए० नीलकंठ शास्त्री ने 'ए हिस्ट्री ऑफ साउथ इण्डिया' में भागवत पुराण में शांकर अद्वैत का प्रयोग होने के कारण दसवीं शती की रचना मान लिया है क्योंकि गौडपाद ने श्रेयः श्रुतिं भक्ति मुदस्यते तिभो' (भा० 10/14/4) श्लोक उत्तर गीता भाष्य में उद्धृत किया है। अतः भागवत की रचना शांकर से पूर्व ही हुई होगी। कहना इतना ही है कि भागवत और मानस जैसे उत्कृष्ट भक्ति के ग्रंथ भी अद्वैतवादी ही हैं। शंकर की वैचारिक दिग्विजय का इससे बड़ा प्रमाण क्या होगा? शंकर के बाद भागवत भी अद्वैत प्रस्थान का ग्रंथ मान लिया गया। चित्सुखाचार्य कृत भागवत की वेदांतपरक टीका का अनुसरण श्रीधर स्वामी ने किया है।

शांकर सिद्धान्त के चार निष्कर्ष हैं। (1) ब्रह्म ही सत्य है। (2) जगत् मिथ्या है। (3) जीव ब्रह्म ही है, जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। (4) ब्रह्मात्व भाव का साक्षात्कार ही मोक्ष है, जहां वैयक्तिक सत्ता का अनन्तता में विकास होता है। मुण्डकोपनिषद् (1/2/12) तथा कठोपनिषद् (1/2/8) को आचार्य ने अपने भाष्य में ब्रह्मनिष्ठ को अपृथकदर्शी लिखकर इसी तथ्य का समर्थन किया है। आत्मा से पृथक किसी अन्य की सत्ता नहीं। ब्रह्मतत्व यद्यपि कोई द्रव्यरूप सत्य नहीं है फिर भी वह सब का अधिष्ठान है तथा सभी का उसमें अन्तर्भाव होता है। उसका अस्तित्व किसी भी अन्य वस्तु के दृष्टान्त से प्रतिपादित नहीं होता।

ब्रह्मावसानोऽयं प्रतिषेधः नाभावावसानः (ब्र० सू० भाष्य 3/2/22)

यद्यपि ब्रह्म को निर्गुण और सगुण दोनों ही कहा गया है पर शंकर की दृष्टि में उपनिषदों का प्रतिपाद्य निगुण ब्रह्म ही है। निर्गुण ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप का निर्धारण स्वरूप लक्षण तथा तटस्थ लक्षण के आधार पर किया जाता है। सत्यं, ज्ञानं ब्रह्म का स्वरूप लक्षण तथा उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण होना तटस्थ लक्षण है। तैतिरीय उपनिषद् का 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' तथा वृहदारण्यक का 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' स्वरूप लक्षण है तथा 'यतो वाइमानि भूतानि जायन्ते' आदि वाम्य तटस्थ लक्षण का संकेत देते हैं। मायावच्छिन्न होने पर इसे 'ईश्वर' कहते हैं। जगत् की उत्पति, स्थिति और लय इसी के द्वारा होती है। जब हम ब्रह्म को जगत् का कारण कहते हैं तब इसका यह अर्थ नहीं होता कि ब्रह्म अथवा उसके धर्म में कोई परिवर्तन होता है। उत्पति, स्थिति तथा प्रलय में वह अविकृत रहता है। जगत ब्रह्म का विवर्त है, परिणाम नहीं। ईश्वर की सत्ता मायाधारित है। माया के बिना उसका सर्जकत्व सिद्ध नहीं होता।

नहितयाविना परमेश्वरस्य स्रष्ट्रत्वं सिध्यति (ब्र०सू० भाष्य 1/4/3)

सृष्टि में वैयम्य दिखाई पड़ता है, निस्पृह ईश्वर की सृष्टि में इस वैयम्य का कारण क्या है? शंकर का कथन है कि ईश्वर धर्म-अधर्म की अपेक्षा करके सृष्टि का निर्माण करता है। पैदा होने वाले प्राणियों के धर्माधर्म का फल ही इस वैयम्य का कारण है।

धर्माधमविपेक्षत इति वदामः। (ब्र० सू० भाष्य 2/1/34)

जीव का वास्तिविक स्वरूप तो ब्रह्म है—जीवानां स्वरूपं वास्तवं ब्रह्म। जब अविद्या निवृति होने पर जीव ईश्वरत्व को प्राप्त होता है तब ब्रह्म से उसका पार्थस्व कैसे प्रमाणित हो सकता है? अविद्या के कारण ही ब्रह्म जीवत्व को प्राप्त होता है। अविद्याग्रस्त चेतन जीव कहलाता है। जीव की सनातन सत्ता है वह आगन्तुक नहीं है। उसका मूल स्वरूप आत्मा है। वह न आत्मा से भिन्न है, न अंश है और न उसका रूपान्तर है। आचार्य शंकर अनेक जीववाद का सिद्धान्त मानते हैं। उनका कथन है—'अनन्त संसारी जीव अपने स्वरूप बोध से वंचित होकर अज्ञान की निद्रा में सोते रहते हैं। अविद्या की निवृत्ति होने पर जीव मुक्ति लाभ करते हैं जिनकी अविद्या निवृत्त नहीं होती, उन्हें मुक्ति नहीं मिलती।'

अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्तिः यस्यां स्वरूप-प्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः।' (ब्र० सू० शांकरभाष्य 1/4/3) डा० राममूर्ति शर्मा ने शंकर का समर्थन करते हुए एक जीववाद के विरोध में तर्क दिया है कि यदि एक जीव को ही सकल शरीरों का अधिष्ठान माना जायेगा तो उस जीव को भिन्न-भिन्न शरीरों की सुख-दुःखादि की अनुभूति भी होगी, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। अतः एक जीववाद की अपेक्षा अनेक जीववाद का सिद्धान्त ही युक्तिसंगत कहा जाएगा।[1]

1. अद्वैत वेदान्त—पृ० 156

शंकर ने जगत् और ब्रह्म की द्वैत बुद्धि का हेतु अविद्या को बताया है। अविद्या से ही जीव को आत्मस्वरूप का बोध नहीं होता है। अविधा जगत् की उत्पादिका बीज शक्ति है—

अविद्यात्मिका हि बीज शक्तिः। (ब्र० सू० शां, भा० 1/4/3)

अविद्या को ही माया कहते हैं। जैसे जादूगर अपनी मायाशक्ति से चित्रविचित्र सृष्टि की रचना कर लेता है, वैसे ही ईश्वर भी मायाशक्ति से विचित्र सृष्टि की रचना करता है। माया की चर्चा आचार्य ने पारमेश्वरी-शक्तिः अविद्या, इन्द्रजाल और मिथ्यात्व के अर्थ में की है। इसी माया का प्रभाव है कि जीव परमात्म रूप होते हुए भी अनात्मतत्व को ही ग्रहण करता है। कठोपनिषद् (1/3/12) भाष्य में आचार्य कहते हैं—

'अहो अति गंभीरा दुरवगाह्या विचित्रा चेयं माया यदयं सर्वे जन्तुः परमार्थतः परमार्थसतत्वोप्येवं बोध्यमानोऽहं परमात्मेति न गृह्णाति। अनात्मानं देहेन्द्रियादि संघातमात्मनो दृश्यमानमपि घटादिवदात्मत्वेनाह ममुष्य पुत्र इत्यनुच्यमानोऽपि गृह्णोति।'

अर्थात् जगत् को परमार्थ रूप से सत्य मानने का कारण माया है। माया के विषयित्व के कारण नाम रूपात्मक जगत् ब्रह्म में आधारित होता है तथा अध्यास के कारण जीव, जगत् को ब्रह्म के अतिरिक्त स्वतंत्र सत्ता के रूप में देखता है। परवर्ती दार्शनिकों के विशेषतः नलिनी मोहन शास्त्री ने माया को विषय रूप तथा अविद्या को विषयिरूप बताया है पर आनन्दगिरि भाष्यकर माया एवं अविद्या को एक मानते हैं। शांकर वेदान्त में अविद्या का वर्णन विषयित्व एवं विषयत्व दोनों दृष्टियों से उपलब्ध है।

ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि में जगत् मिथ्या है पर व्यावहारिक दृष्टि से उसकी सत्ता भी है। आचार्य ने प्रतिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक तीन सत्ताएँ मानी हैं। जगत् की प्रतिभासिक तथा व्यावहारिक सत्ता अज्ञान और व्यवहार दशा में प्रतीत होती है। उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। प्रत्यक्ष अनुभव होते हुए जगत् का मिथ्यात्व प्रतिपादित करना एक पहेली अवश्य है पर आचार्य का कथन है कि जगत् की सत्ता त्रैकालिक नहीं है। परमार्थावस्था में जगत् के सारे व्यवहार लुप्त हो जाते हैं—

एवं परमार्थावस्थायां सर्वे व्यवहाराभवं वदन्ति वेदान्तः सर्वे।

तात्पर्य यह कि जगत् एक दृष्टि से सत् और दूसरी दृष्टि से असत् अर्थात् अनिर्वचनीय है।

'अतस्मिंस्तद् बुद्धिः' कहकर आचार्य ने अध्यास से जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध किया है। सीपी में चाँदी और रस्सी में साँप अध्यास है, ऐसे ही आत्मा में अनेकत्वमय जगत् का अनुभव होता है। जगत् ब्रह्मरूप में ही अध्यस्त है क्योंकि अधिष्ठान के बिना अध्यास की कल्पना नहीं की जा सकती। प्रपंचरूप जगत् की सत्यता का मूल कारण जीवाश्रया अविद्या है। अविद्या की निवृत्ति होने पर जगत् भी मिथ्या सिद्ध हो जाता है। वाचस्पति मिश्र का यही मन्तव्य है। मिथ्या का तात्पर्य असत् नहीं, अनिर्वचनीय है। अध्यास की निवृत्ति होने पर केवल अधिष्ठान— ब्रह्मतत्व ही वर्तमान रहता है।

अविद्यामुक्ति निजप्रयत्न साध्य है। विवेक चूड़ामणि में आचार्य कहते हैं कि पिता के ऋण को चुकाने वाले तो पुत्रादि भी होते हैं पर भवबंधन से छुड़ाने वाला स्वयं से भिन्न और कोई नहीं होता। उपासना आदि ब्रह्मसाक्षात्कार का साक्षात् कारण न होकर परम्परा का कारण है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा साक्षात्कार होता है। उपासनादि सत्कर्म चित्शुद्धि में सहायक होते हैं और चित्शुद्धि ज्ञानधारणा के लिए प्रथम शर्त है। यही स्थिति संन्यास आदि साधनों की भी है। केवल दीक्षा मात्र से ब्रह्मसाक्षात्कार संभव नहीं है। गीता का कथन है —

न च संन्यसना देव सिद्धिं समधिगच्छति (3/4)

चतुर्थाश्रम के अतिरिक्त संन्यास जीवन के प्रति एक आध्यात्मिक दृष्टिकोण भी है। वृहदारण्यक (4/4/6, 3/5/1) के शंकर भाष्य में कहा गया है कि संन्यास समस्त कामनाओं का परित्याग है। अहंकार, फलाकांक्षा

और कर्तृत्व भावना का वहाँ निषेध है। शौच, उपशम त्याग, तप और क्षमा उसके गुण हैं। आचार्य शंकर नैतिक गुणों क अर्जन पर बड़ा बल देते हैं।[1] तत्वबोध की स्थिति में ब्रह्मज्ञानी स्वयं ब्रह्मरूप होता है—ब्रह्म हि भवति य एवं वेद।

आचार्य शंकर प्रत्येक आश्रम में और प्रत्येक प्राणी को ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का समान अधिकार देते हैं। उन्होंने मुक्ति के द्वार सबके लिए खोल दिए। यह उनकी क्रांत दृष्टि का परिणाम था।

मुक्ति की गंभीर विवेचना शंकरानुयायी आचार्यों ने विस्तार से की है। आचार्य का कथन है कि 'मोक्ष की स्थिति में धर्म और अधर्म अपने कार्य सुख-दुःख के साथ तीनों कालों में सम्बन्ध नहीं रखते।' इसी शरीर रहित स्थिति का नाम मोक्ष है—

'इदं तु पारमार्थिकं कूटस्थं नित्यं व्योमवत् सर्वव्यापि सर्वविक्रियारहितं नित्यतृप्तं निरवयवं स्वयं ज्योति स्वभावम्। यत्र धर्मधर्मौ सहकार्येण कालत्रयं च नोपावर्तेते। तदेतद शरीरत्वं मोक्षाख्यम्' (ब्र० सू० भा 1/1/4) वेदांतदर्शन की मुक्ति आनंदरूप है। जीव की ब्रह्मात्मता सिद्ध होने पर उसका लोकान्तर गमन नहीं होता। 'न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ते'। अतः प्रारब्ध कर्मों के क्षय न होने तक सुख-दुःख को भोगकर अन्त में विदेह कैवल्य को प्राप्त करता है। 'वेदांत परिभाषा' में यही विचार उपलब्ध होता है। आचार्य ने मुक्तावस्था को एक रूप माना है। ब्रह्मसूत्र भाष्य (3/4/5) इसका प्रमाण है पर परवर्ती ग्रंथों में जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति—इन दो भेदों की चर्चा की गयी है। सर्वज्ञात्म मुनि जीवन्मुक्ति की धारणा को अस्वीकार करते हैं। विधारण्य जी के अनुसार प्रारब्ध कर्म पूर्णतया अविधानिवृत्ति में बाधा हैं। आधुनिक विचारकों में डा० राममूर्ति शर्मा ने सारे मतों का सामंजस्य कर यह निष्कर्ष निकाला है कि मुक्ति के ये भेद परिस्थिति के अनुसार किए गए भेद हैं। मुक्ति के सम्बन्ध में अद्वैत वेदांत की जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति की योजना एक अनुपम देन है। आत्मबोध हो जाने पर, परन्तु प्रारब्ध कर्मों का भोग पूर्ण न होने के कारण शरीर धारण करने वाला जीव भी अद्वैत वेदांत में मुक्त पुरुष कहलाता है। जब जीव के प्रारब्ध कर्मों का भी भोग समाप्त हो जाता है तो वह शरीर त्याग होने पर विदेहयुक्त कहलाता है। इस प्रकार अद्वैत वेदांत सम्मत मुक्ति के उपर्युक्त सिद्धांत के द्वारा एक ओर कर्मफलयोग न्याय का निर्वाह हो जाता है तो दूसरी ओर इसी जगत् में अज्ञानबंधन से मुक्ति संभव होने के कारण भारतीय दर्शन की प्रामाणिकता का समर्थन हो जाता है।[2]

आचार्य का उद्घोष है कि चरम सत्य श्रुति में निहित है। शास्त्र सिद्ध, साक्षात्कार सम्पन्न आचार्य की शरण ग्रहण करने पर ही प्राप्ति संभव है। ब्रह्मविद्या की महत्ता से आचार्य और जिज्ञासु दोनों महान् होते हैं, अस्तु, सारे विवेचन को संपिंडित करके कहा जाता है कि शंकर युगप्रवर्तक आचार्य हैं। वे भारत के नव निर्माता हैं, सांस्कृतिक उत्थान के पुरोधा हैं, हिन्दुत्व के केन्द्र हैं, सूक्ष्मचेता दार्शनिक हैं, परम्परा के परिशोधक हैं, धर्म साधनाओं के समन्वयकर्ता हैं, राष्ट्रीय एकता और अविभाज्य मानवता के पोषक हैं, श्रेष्ठ मेधा के आदर्श हैं, निषेधात्मक चिंतन पर विधेय सत्ता के स्वत्व का प्रतिष्ठापन करने वाले हैं, जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों के व्याख्याता हैं, व्यापक सत्य के उद्घोषक और संकीर्णतम सत्यांशों के खण्डनकर्ता हैं और सबसे ऊपर मानवीय गरिमा और मानव-मुक्ति के उद्धारक हैं। शंकर के ऋण से हिन्दू जाति कभी ऋण नहीं हो सकती। उनके आध्यात्मिक पुरुषार्थ का विश्व पर ऋण है। संसार को ऐसा विचारक शताब्दियों में भी नहीं मिलता।

1. आदि शंकराचार्य, डा० जयराम मिश्र- -पृ० 284
2. अद्वैत वेदान्त—पृ० 352

शंकर के इसी अवदान को सामयिक संदर्भों में विश्लेषित-विवेचित कर पुनः जन-जागरण का अभियान 'द्वादश शताब्दी समारोह' के आयोजनों द्वारा चलाए जाने की योजना मानव कल्याण आश्रम, हरिद्वार, अहमदाबाद तथा बदरिकाश्रम के संस्थापक अध्यक्ष तथा संन्यासी समाज के कर्मठ सेनानी श्री कल्याणानंद जी ब्रह्मचारी ने बनाई। शांकर सिद्धान्त के विश्रुत विद्वान् तथा कैलास पीठ ऋषिकेश के परमाध्यक्ष यतीन्द्र कुल तिलक आचार्य महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज ने शताब्दी समारोह को राष्ट्रव्यापी स्वरूप देकर शांकर मत के प्रचार का दिव्य प्रभामण्डल तैयार किया तथा सुरतगिरि बंगले के महामण्डलेश्वर स्वामी ब्रह्मानन्द गिरि जी ने 'शताब्दी स्मारक ग्रन्थ' के निर्माण के लिए तत्परता दिखाई। इन मनीषियों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना मैं अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ। शृंगेरी के जगद्गुरु शंकराचार्य पूज्य चरण श्रीमत्स्वामी अभिनव विद्यातीर्थ जी महाराज का अमोघ आशीर्वाद प्रारंभ से अंत तक साथ रहा है। उनकी छत्र-छाया में समिति के विद्वान् पदाधिकारी इस पवित्र अनुष्ठान को सम्पन्न करने में सफल हो सके हैं। मैं सभी अखाड़ों, आश्रमों, मठों और मंदिरों के अध्यक्ष महानुभावों का भी आभारी हूँ, यदि वे इन कार्यक्रमों में तन, मन, धन से योगदान न करते तो शताब्दी समारोहों की अनुगूंज देश-विदेश में न सुनाई पड़ती।

इस 'स्मारक ग्रन्थ' के निर्माण में मंगल आश्रम संन्यास रोड, हरिद्वार के अध्यक्ष श्री स्वामी देवनारायण पुरी 'देवस्वामी' तथा जयराम आश्रम खड़खड़ी के श्री देवेन्द्र स्वरूप जी ब्रह्मचारी की सक्रिय भूमिका रही है, मैं इन दोनों महानुभावों का कृतज्ञ हूँ।

भारत के जिन शीर्षस्थ विद्वानों ने अपनी मेधा का उत्तमांश लिखकर इस ग्रन्थ की गरिमा बढ़ाई है, उन्हें धन्यवाद देना केवल औपचारिकता होगी। हाँ, उनके लेखों से आचार्य शंकर के दिव्य व्यक्तित्व और कर्तृत्व की अनुपम झाँकी निर्मित हो सकी है। कर्म-सौन्दर्य की तृप्ति का सुख इन मनीषियों को इस ग्रन्थ के प्रकाशन से अवश्य मिलेगा, इसका मुझे पूर्ण विश्वास है। मानव कल्याण आश्रम की अध्यक्षा तथा उच्चकोटि की भक्त माता ललिताम्बा देवी का भी मैं अनुगृहीत हूँ, वे बराबर इस पुण्यपथ पर बढ़ने की प्रेरणा देती रहीं।

पाण्डुलिपि तैयार करने के लिए अपनी विदुषी पत्नी डा० शैलजा पालीवाल एम० ए०, पी-एच० डी० तथा सुरुचि पूर्ण मुद्रण के लिए वाणी प्रकाशन, दिल्ली के अध्यक्ष श्री अशोक माहेश्वरी को अनेक साधुवाद।

आचार्य शंकर के महामहिम व्यक्तित्व के अनुरूप तो यह ग्रन्थ नहीं बन सका है पर 'बिल्व पत्र' के श्रद्धा-समर्पण से कृतकृत्य होने का जो गौरव मुझे प्राप्त हुआ है, उसके लिए मैं भगवान् साम्ब सदाशिव की अन्तः स्फुरित कृपा का अनुभव कर रहा हूँ। स्वयं आचार्य शंकर का यदि अनुग्रह न होता तो 'श्रद्धाप्रतीक' यह ग्रन्थ इतनी अल्प अवधि में छपकर आपके कर कमलों में न पहुंच पाता। इस कार्य में यदि कहीं श्यामता रह गई हो तो वह मेरी और यदि शुक्लता दिखाई पड़ रही हो तो वह कर्पूर ज्ञाननिभ आचार्य श्री के महामहिम व्यक्तित्व और सिद्धान्त की ही समझनी चाहिए। आचार्यश्री शंकर के बहुआयामी विशिष्ट योगदान का ऐसा समाकलन कदाचित् कहीं अन्यत्र एक स्थान पर नहीं हुआ है।

मकर संक्रान्ति, हरिद्वार
14-1-1989

श्रीशंकरो विजयतेतराम्

शृंगेरी पीठ के जगद्गुरु श्री शंकराचार्य श्री स्वामी अभिनव विद्यातीर्थ जी महाराज श्रीमठ मंडप में प्रवचन करते हुए। बाएँ से मंच पर महामण्डलेश्वर स्वामी महेश्वरानंद पुरी, महामण्डलेश्वर स्वामी ब्रह्मानंद गिरि, महामण्डलेश्वर स्वामी रघुनाथ गिरि, महामण्डलेश्वर स्वामी गेवतानंद सरस्वती तथा महामण्डलेश्वर स्वामी लक्ष्मण पुरी जी आसीन हैं।

शृंगेरी शारदापीठ के जगद्गुरु श्री शंकराचार्य श्री स्वामी अभिनव विद्यातीर्थ जी महाराज की शृंगेरी शोभायात्रा में बाएँ से—महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानंद गिरि जी महाराज, श्री कल्याणानंद जी ब्रह्मचारी तथा बाल कृष्णपुरी जी निरंजनी अखाड़ा।

श्री शंकर द्वादश शताब्दी समारोह के उद्घाटन पर शांकर सिद्धान्त के उद्भट् सन्यासी विद्वान शोभायात्रा में पधारते हुए। बाएँ से—महामण्डलेश्वर स्वामी गणेशानंद पुरी, महामण्डलेश्वर स्वामी महेश्वरानंद पुरी, निरंजन पीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर स्वामी कृष्णानंद गिरि, निवार्णपीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर स्वामी विश्वदेवानंद पुरी, जूना पीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर स्वामी लोकेशानंद गिरि, अटल पीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर स्वामी मंगलानंद गिरि, महामण्डलेश्वर स्वामी गणेशानंद गिरि तथा स्वामी डॉ. श्याम सुन्दरदास शास्त्री, मंत्री भारत साधु समाज।

श्री शंकराचार्य चौक हरिद्वार के शिलान्यास के अवसर पर शारदापीठ द्वारका के जगद्गुरू श्री शंकराचार्य स्वामी स्वरूपानंद सरस्वती महाराज के साथ श्री कल्याणानंद जी ब्रह्मचारी, मानव कल्याण आश्रम।

श्री शंकराचार्य चौक पर श्री शंकरमूर्ति प्रतिष्ठा के अवसर पर पूजन-समर्चन करते हुए महात्मा-श्रद्धालुओं के मध्य—ईंट हाथ में लिए महामण्डलेश्वर स्वामी ब्रह्मानंद गिरि तथा महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानंद गिरि जी महाराज, ब्रह्मानंद जी की दाईं ओर महामण्डलेश्वर स्वामी महेश्वरानंद पुरी खड़े हैं।

श्री शंकर स्मृति ग्रन्थ के सम्पादक डॉ. विष्णुदत्त राकेश के साथ समिति के महामंत्री श्री कल्याणानंद जी ब्रह्मचारी (मानव कल्याण आश्रम, हरिद्वार) तथा श्री स्वामी देव नारायण पुरी जी देव स्वामी (मंगलाश्रम, कनखल, हरिद्वार) इन महानुभावों की तत्परता तथा सक्रियता के बिना ग्रन्थ का प्रकाशन असंभव था।

सन्यासी समाज के विद्या-गौरव—श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ श्री १०८ स्वामी योगेन्द्रानंद गिरि जी महाराज,
वेदान्त ज्योतिषाचार्य, श्री मंगल आश्रम कनखल।
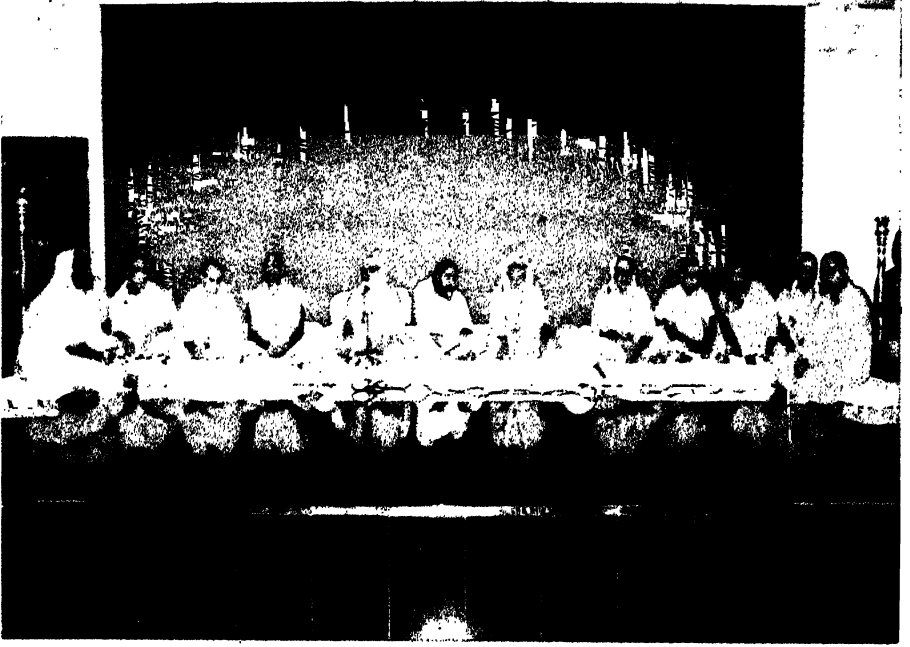
कैलाश आश्रम बैंगलोर में द्वादश शताब्दी—मध्य में द्वादश समारोह महासमिति के संरक्षक और कैलाश आश्रम के संस्थापक अनन्त श्री स्वामी शिवरत्नपुरी जी महाराज उनके दाईं ओर श्री स्वामी विद्यानन्द गिरिजी श्री स्वामी भागवतानन्द सरस्वती, स्वामी महेश्वरानिन्द पुरी जी, श्री स्वामी लक्ष्मणपुरी जी श्री स्वामी शिवपुरी जी, बाईं ओर श्री स्वामी काशिकानन्द गिरि जी, श्री स्वामी ब्रह्मानन्द गिरि जी, श्री स्वामी रघुनाथ गिरि जी, श्री महन्त बालकृष्ण पुरी जी तथा श्री स्वामी परमेश्वरानन्द सरस्वती जी।

आद्यशंकराचार्य जी का प्रादुर्भाव काल तथा द्वादश शताब्दी की एक झलक

श्री कल्याणानन्द ब्रह्मचारी

सृष्टि के आरम्भ से भारतवर्ष में अवतारों की एक बहुत बड़ी शृंखला रही है। निर्गुण निराकार परमात्मा भी सन्तों के परित्राण, दुष्टों के उद्धार और धर्म संस्थापना के लिए मायाशक्ति को स्वीकार कर समय-समय इस धरा पर विभिन्न रूपों में अवतरित होते रहते हैं। भगवान् विष्णु के दशावतार तथा चौबीस अवतार इसी क्रम में आते हैं। कुछ आधिकारिक पुरुष भी कल्पपर्यन्त उपर्युक्त व्यवस्था के लिए समय-समय पर अवतरित होते हैं। इन अवतार-क्रमों में सदाशिव स्वयं जगद्गुरु आद्य श्रीशङ्कराचार्य रूप से केरल प्रान्त के कारनटी ग्राम में शिवगुरु तथा आर्याम्बा के गृह में अवतरित माने जाते हैं। इन्होंने भगवान विष्णु के राम कृष्ण आदि के समान फौलाद के बने शस्त्रों को नहीं छुआ किन्तु एक ऐसा शस्त्र हाथ में लिया, जिसके आगे सभी विपक्षीगण हतप्रभ हो आद्यशङ्कराचार्य जी के झण्डे के नीचे आकर खड़े हो गये और धर्म तथा अध्यात्मक के सम्बन्ध में उनके प्रदर्शित विचारों को हृदय से सहर्ष स्वीकार किया।

आचार्य शङ्कर ने व्यावहारिक सत्ता में धर्म की व्यवस्था देते हुए लगभग कुमारिलभट्ट की नीतिओं का अनुसरण किया है, किन्तु परमार्थ दृष्टि से केवलाद्वैत सिद्धान्त को ही स्वीकार किया है, जो आद्यशङ्कराचार्य जी की अपनी कल्पना नहीं है, किन्तु इससे पूर्व वेदान्त के अनेक आचार्यों ने भी स्वीकार किया था जिस पर कालक्रम से आये हुए धुंधलापन को आद्यशङ्कराचार्य ने दूर कर उसकी पुनः प्रतिष्ठा की है। अतः यह आक्षेप सर्वथा अनुचित होगा कि आद्यशङ्कराचार्य ने बौद्धों के शून्यवाद तथा विज्ञानवाद का ही दूसरा संस्करण ब्रह्मवाद के नाम से किया है।

भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्य जी ने विपक्षियों के हृदय को बदलने के लिए जिन शस्त्रों का प्रयोग किया था वे शस्त्र आज भी सबके सामने विद्यमान हैं। जो प्रस्थानत्रयी भाष्य प्रकरण ग्रन्थ और स्तोत्रादि के नाम से प्रसिद्ध हैं, किन्तु इन शस्त्रों के प्रशिक्षण प्राप्त किये बिना कोई भी बाह्य या अभ्यन्तर शत्रु पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता। इसी प्रशिक्षण के लिए आचार्य शङ्कर ने मठों की स्थापना की और अपने शिष्यों को मठ स्थापना की अनुमति दी। वैदिक सनातन धर्म परम्परा में मरीचि आदि ऋषिगण निवृत्ति लक्षण धर्म के प्रचारक हुए हैं, जिनके वैदिक साहित्य में आश्रम देखे जाते हैं। किन्तु निवृत्ति लक्षण धर्म के

प्रचारक सनकादिकों के वैदिक-साहित्य वाङ्मय में कहीं भी आश्रम नहीं सुने जाते हैं। इनकी स्थापना भारत में निवृत्ति परायणों में से सर्वप्रथम बौद्ध भिक्षुकों ने की। उपासना के लिए शान्तिस्तूपों की ओर प्रशिक्षण केन्द्र के रूप में मठों की स्थापना करायी। जहाँ से बौद्ध धर्म का प्रशिक्षण प्राप्त कर बौद्ध विद्वान तथा भिक्षुक सम्पूर्ण विश्व में अपने धर्म का प्रचार कर रहे थे। जगद्गुरु आद्यशङ्कराचार्य ने भी उक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही भारत की चार दिशाओं में चार मठों की स्थापना करायी जो वैदिक सनातन धर्मावलम्बी मुनियों की परम्परा में क्रान्तिकारी कदम था। तब से निवृत्ति परायण सनातनधर्मी मुनिगण आश्रम और मठ निर्माण कराने लग गये। यदि इन मठों में प्रशिक्षण-क्रम अक्षुण्ण रूप से चलता रहता तो भारत में अवैदिकों और विधर्मिओं को पनपने का अवसर ही नहीं मिलता। पर खेद के साथ कहना पड़ता है कि ये मठाधीश अपने मठों की व्यवस्था करने में इतना अधिक तन्मय हो गये कि जगद्गुरु आद्यशङ्कराचार्य के इतिहास को भी भुला दिया। इसीलिए अद्यावधि आद्यशङ्कराचार्य का प्रादुर्भाव काल सन्दिग्ध तथा चर्चा का विषय बना हुआ है और अभी तक इस सम्बन्ध में एकमत्य नहीं हो पाया।

उक्त चार पीठों की परम्परा में आद्यशङ्कराचार्य का प्रादुर्भाव काल पृथक-पृथक बतलाया गया है। यदि किसी मान्यता के आधार पर पिछली सदियों में आद्यशङ्कराचार्य की शताब्दी मनायी गयी होती और इस प्रसंग को लेकर शताब्दी कीर्तिस्तम्भ आदि का निर्माण कराये होते तथा शताब्दी स्मारिका छपी होती तो आद्यशङ्कराचार्य का प्रादुर्भाव-काल विवाद का विषय नहीं रह जाता। अतः खेद के साथ पुनः कहना पड़ता है कि इन मठाधीशों ने आद्यशङ्कराचार्य के प्रादुर्भावकालादि ऐतिहासिक विषयों को भी विवादग्रस्त बना दिया। कुछ मठों की तो बीच-बीच में परम्परा भी उच्छिन्न होती रही है। अतः उच्छिन्न परम्परायें कैसे प्रामाणिक मानी जाएंगी यह एक विचारणीय विषय है। केवल दक्षिणाम्नाय शारदा मठ की परम्परा अविच्छिन्न बनी रही है। अतएव आद्यशङ्कराचार्य के प्रादुर्भाव काल निर्णय में शृङ्गेरी मठ की परम्परा ही प्रामाणिक मानी जाएगी जिसमें आठवीं शताब्दी आद्यशङ्कराचार्य का प्रादुर्भाव काल माना गया है। इस सम्बन्ध में आधुनिक ऐतिहासिकों की खोज भी साक्षी है। तदनुसार 988 ईस्वी आद्यशङ्कराचार्य का प्रादुर्भावकाल तथा 820 ईस्वी विरोधान काल माना गया है।

आद्यशङ्कराचार्य के प्रधान चार शिष्यों में एक सुरेश्वराचार्य जी हुए हैं—जिन्होंने बौद्ध मत का खण्डन करते समय ब्रहदारण्यकवार्तिक में दुर्दान्त बौद्ध पण्डित धर्मकीर्ति का नाम लेकर कहा है कि तदुक्तं धर्मकीर्तिना·· इत्यादि। धर्मकीर्ति का काल ईस्वी 635 से 650 सुनिश्चित है। अतः आद्यशङ्कराचार्य धर्मकीर्ति के परवर्ती हैं पूर्ववर्ती नहीं हो सकते। धर्मकीर्ति का यह श्लोक सुप्रसिद्ध है—

सहोपलम्भनियमादभेदो नीलवद्धियोः।
भेदश्चभ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दविवाद्वये।

इस श्लोक का पूर्वार्द्ध धर्मकीर्ति के प्रमाण विनिश्चय में तथा उत्तरार्ध प्रमाणवार्तिक में मिलता है जिसका आलम्बन ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य वर्कपाद में मिलता है—"अतएव सहोपलम्भ नियमोऽपि प्रत्यय विषययोरुपायोपेयमविहग हेतु को नाभेद हेतुकः द्रव्यम्युपगन्तव्यम्।

आलम्बन परीक्षा में दिङ्नाग ने कहा है—

"यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद् बहिर्वदवभासते।
सोऽर्थो विज्ञानरूपत्वात् प्रत्ययतथापि च॥

जिसका शब्दतः उल्लेख ब्रह्मसूत्र वर्कपाद भाष्य में आचार्य शङ्कर ने किया —"यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद् यहिर्वदवभासते"। दिङ्ग वसुबन्धु के शिष्य थे जिनका काल पांचवीं शताब्दी निश्चित है। अतः पांचवीं

शताब्दी से पूर्व शङ्कराचार्य का प्रादुर्भाव काल कथमपि नहीं माना जा सकता है। कुमारिल भट्ट आद्यशङ्कराचार्य के समकालीन हुए हैं, जिन्होंने धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष लक्षण का खण्डन किया है। वैसे ही सातवीं शताब्दी में होने वाले भर्तृहरि मत का खण्डन करते हुए तन्त्रवार्तिक में वाक्यमहीय का एक श्लोक भी उद्धृत किया है। इससे भी आचार्य शङ्कर का कार्यकाल सातवीं शताब्दी के बाद ही सिद्ध होता है।

उक्त सभी प्रमाणों के आधार पर पिछले वर्ष जगद्गुरु आद्यश्रीशङ्कराचार्य के अनुयायी सन्तों और भक्तों ने उनके जन्म के द्वादशशताब्दी महोत्सव मनाने का निश्चय किया। इस महत्त्वपूर्ण कार्य के सम्पादनार्थ भाष्यकार जगद्गुरु आद्यश्रीशङ्कराचार्य द्वादश शताब्दी महासमिति का गठन किया गया जिसके उद्देश्य, नियम तथा उपनियम बनाये गये हैं और महासमिति के पदाधिकारियों का चयन किया गया। जिस महासमिनि के तत्त्वावधान में अन्तर्राष्ट्रिय स्तर पर देश विदेश में आद्यशङ्कराचार्य द्वादश शताब्दी के सफल अधिवेशन मनाये गये, जिनकी आँखों देखी एक झलक निम्नाङ्कित है :

इस द्वादश शताब्दी महोत्सव का शुभारम्भ निवर्तमान निरञ्जनपीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी महेशानन्दगिरि जी महाराज के तत्त्वावधान तथा वर्तमान निरञ्जन पीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी कृष्णानन्दगिरि जी महाराज की अध्यक्षता में सानन्द सम्पन्न हुआ। जिसमें अथक प्रयास महासमिति के महामन्त्री ब्र० श्रीकल्याणानन्द जी, श्रीमती इन्दिरा जी रस्तोगी तथा इनके सहयोगियों ने किया और जिसका उद्घाटन तत्कालीन भारत के राष्ट्रपति महामहिम श्री ज्ञानी जैलसिंह जी ने किया था। यह अधिवेशन दिल्ली के सुप्रसद्धि शाहसभागार में अत्यन्त शालीनता के साथ तीन दिनों तक चलता रहा जिसमें दिल्ली के नागरिक, विद्वान तथा राजनैतिक नेताओं ने भी भाग लिया।

उसके बाद त्यागमूर्ति आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी गणेशानन्दगिरि जी महाराज चतुर्धामिपीठाधीश्वर के आमन्त्रण, सत्प्रयास तथा सौजन्य से तीन-तीन दिनों के अधिवेशन हिसार, हासी एव भिवानी में सोल्लास सम्पन्न हुए जिसका एकमात्र श्रेय उक्त चतुर्धामिपीठाधीश्वर त्यागमूर्ति जी को मिलेगा।

तत्पश्चात् ब्रह्मविद्यापीठ कैलास आश्रम के आचार्य महामण्डलेश्वर कैलास पीठाधीश्वर श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज के सत्प्रयास तथा स्थानीय प्रतिष्ठानों के सहयोग से ऋषिकेश में चार दिनों तक आद्यशङ्कराचार्य द्वादश शताब्दी अधिवेशन चलता रहा। प्रति दिन सायंकाल की बैठक कैलासपीठाधीश्वर जी की अध्यक्षता में प्रसिद्ध त्रिवेणी घाट पर होती रही और प्रातःकाल की बैठक क्रमशः दिव्य जीवन संघ के परमाध्यक्ष श्री स्वामी चिदानन्द जी सरस्वती महाराज की अध्यक्षता में शिवानन्द आश्रम में, आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी भजनानन्द सरस्वती जी महाराज की अध्यक्षता में परमार्थ निकेतन में, भजन आश्रम के कुशल प्रबन्धक श्री श्यामसुन्दर मित्तल जी के संयोजन में भजन आश्रम में और तपोमूर्ति श्री स्वामी ओङ्कारानन्द गिरि जी महाराज के तत्त्वावधान में विवेक आश्रम में चलती रही। इन अधिवेशनों में श्री ब्र. देवेन्द्रस्वरूप जी महाराज भरत मन्दिर के महन्त श्री अशोक प्रपन्न जी, काली कमली क्षेत्र के मैनेजर ऋषि जी, पञ्जाब सिन्ध क्षेत्र के सदस्यगण, भजन आश्रम के मैनेजर श्री श्यामसुन्दर मित्तल जी नपाली क्षेत्र के प्रबन्धक श्रीमती सुशीला देवी एवं ऋषिकेश के गणमान्य नागरिकों ने भी उत्साहपूर्वक भाग लिया। ये सभी भगवत्कृपा के पात्र हैं। तत्पश्चात् बाबा काली कमली पञ्चायती अन्न क्षेत्र के सौजन्य से कैलासपीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज की अध्यक्षता में हिमालयस्थ उत्तरकाशी में भगवती भागीरथी के तट पर आद्यश्रीशङ्कराचार्य द्वादश शताब्दी अधिवेशन सोल्लास मनाया गया है जिसमें रामायण के सुप्रसिद्ध प्रवक्ता श्री मुरारी बापू ने दश दिनों तक मानस के प्रवचनमाध्यम से भगवत्पाद आद्यश्रीशङ्कराचार्य जी के प्रति वैसी श्रद्धा व्यक्त की थी जो देखते ही बनती थी। श्री मुरारी बापू ने अपने भक्तों के सहित उत्तरकाशीस्थ कैलास आश्रम में रहकर अनुपम अमृत बरसाया।

एतदर्थ वे भाष्यकार के भूरिशः कृपापात्र हैं। यहां प्रवचन में मुरारी बापू ने इस द्वादश शताब्दी अधिवेशन को अन्तर्राष्ट्रीय रूप देने की घोषणा की जिसके फलस्वरूप द्वादश शताब्दी अधिवेशन के दिनों उनकी विदेश यात्रा और रामकथा में आद्यश्रीशङ्कराचार्य द्वादश शताब्दी की गुञ्ज होती रही। बाद में कतिपय महामण्डलेश्वरों तथा सन्तों ने भी अपनी विदेश की यात्रा में द्वादश शताब्दी की चर्चा अच्छी प्रकार से की। इसके बाद जूनापीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी लोकेशानन्द गिरि जी महाराज के संरक्षकत्व एवं आ० महामण्डलेश्वर श्री स्वामी अर्जुन पुरी जी महाराज की अध्यक्षता में हिमाचल प्रदेश की राजधानी शिमला में तीन दिनों तक अधिवेशन चलता रहा जिसमें द्वादश शताब्दी ही गुञ्जती थी।

हिमाचल प्रदेश का यह पहला अधिवेशन था जिसमें भक्तप्रवर श्री विशनदास जी मेहता कत्थेवाले भी भाग लेते देखे गये।

तत्पश्चात् चातुर्मास्य के कारण अधिवेशनों का क्रम कुछ समय के लिए अवरुद्ध रहा। आश्विन अमावस्या सूर्यग्रहण प्रसंग पर कुरुक्षेत्र में विशाल जनसमुदाय एकत्रित होता है। उस समय कुरुक्षेत्र में द्वादश शताब्दी अधिवेशन होना चाहिए। ऐसा महासमिति के विशिष्ट अधिकारियों ने निर्णय लिया। उन्हीं दिनों त्यागमूर्ति आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी गणेशानन्द गिरि जी महाराज की अध्यक्षता में भागवत के सुप्रसिद्ध प्रवक्ता संत श्री डोंगरे जी की भागवत कथा चल रही थी। भागवत सप्ताह सानन्द सम्पन्न हो जाने के बाद आद्य श्रीशङ्कराचार्य द्वादश शताब्दी अधिवेशन का कार्यक्रम उसी पण्डाल में प्रारम्भ हुआ। पर इस सूर्यग्रहण प्रसंग पर 15 पन्द्रह लाख आदमी एकत्रित हो रहे हैं। सभी के कानों में द्वादश शताब्दी के शब्द पहुंचे जो इस मञ्च से सम्बोधन करने मात्र से सम्भव नहीं था। अतः सूचना-प्रसारण केन्द्र से सम्पर्क साधने का निर्णय किया गया। मेला सूचना प्रसारण केन्द्र के अधिकारियों ने अत्यन्त आदर के साथ इसके कार्य के लिए द्वादश शताब्दी के अध्यक्ष कोषाध्यक्ष-महामन्त्री तथा प्रचारमन्त्री को आमन्त्रित किया। अब तो प्रचार का अच्छा मंच मिल गया। ऐसा समझकर महासमिति के अध्यक्ष महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी कोषाध्यक्ष महामण्डलेश्वर श्री स्वामी ब्रह्मानन्द गिरि जी, महामन्त्री श्री कल्याणानन्द तथा प्रचारमन्त्री श्री स्वामी परमेश्वरानन्द सरस्वती जी मेला के सूचना प्रसारण केन्द्र से आद्य श्री शङ्कराचार्य द्वादश शताब्दी का प्रचार करने लग गये। फलतः इस सूर्यग्रहण में द्वादश शताब्दी का अधिवेशन अत्यन्त सफल रहा। उन्हीं दिनों कुरुक्षेत्र में हरियाणा के मुख्यमन्त्री श्री देवीलाल जी द्वादशशताब्दी मञ्च पर आकर आद्य श्री शङ्कराचार्य जी की प्रतिमा को माल्यापर्ण कर तथा मञ्च पर उपस्थित सन्तों को भी माल्यापर्ण द्वारा स्वागत किया।

इसके बाद पूर्व निर्धारित कार्यक्रमानुसार कैलासपीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज के सत्प्रयास से इन्हीं के तत्त्वावधान में द्वादश शताब्दी अधिवेशन मनाने के लिए पञ्जाब के सुप्रसिद्ध पटियाला जिला स्थित सामानामण्डी श्रीराम आश्रम में पहुंचे। जहाँ पर सायं-प्रातः दोनों समय भजन, कीर्त्तन, प्रवचन के माध्यम से आद्य श्रीशङ्कराचार्य के प्रति महासमिति के विशिष्ट अधिकारी सन्त एवं भक्त श्रद्धा व्यक्त कर रहे थे। श्रीराम आश्रम के महामन्त्री श्री स्वामी शिवानन्द गिरि जी शास्त्री के सत्यप्रयास से सामाना के भक्तों ने इस अधिवेशन में खूब दिल खोलकर भाग लिया। पञ्जाब का यह पहला अधिवेशन था जो अत्यन्त शालीनता के साथ सानन्द सम्पन्न हुआ।

ऊपर कहा जा चुका है कि दशनाम संन्यासी समाज के सभी धर्माचार्य यदि अपने प्रभाव क्षेत्र में द्वादश शताब्दी के अधिवेशनों का आयोजन करते तो इसका व्यापक प्रचार हो सकता था। इस महामन्त्र का अनुष्ठान महासमिति के अध्यक्ष महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी ने अच्छी प्रकार से किया। ऋषिकेश, उत्तरकाशी तथा सामानामण्डी के बाद अपने अन्य प्रभावक्षेत्रों में भी द्वादश शताब्दी अधिवेशन

मनाने का निश्चय कर लिया। तदनुसार विजनौर जिला के प्रसिद्ध नगर धामपुर में द्वादश शताब्दी अधिवेशन महासमिति के अध्यक्ष महोदय की अध्यक्षता में अत्यन्त धूमधाम के साथ मनाया गया जिसका आयोजन सनातन धर्म शिवमन्दिर के महामन्त्री श्री केदारनाथ गुलाठी तथा उनके सहयोगियों ने किया था। निःसन्देह ये भगवत्कृपापात्र एवं धन्यवाद योग्य माने जायेंगे।

इसके बाद द्वादश शताब्दी महासमिति के अध्यक्ष म० मं० स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज ने बिहार राज्य की राजधानी पटना में, हिलसा में, सुप्रसिद्ध बड़ी मठ अलावाँ में भारत साधु समाज के महामन्त्री श्री स्वामी हरिनारायण नन्द जी महाराज के संयोजन तथा तत्त्वावधान में द्वादश शताब्दी अधिवेशन सम्पन्न कराये जिसके सम्पादन में महामन्त्री भारत साधु समाज की भूमिका सर्वाधिक प्रशंसनीय मानी जायेगी। महामण्डलेश्वर कैलासपीठाधीश्वरी की सत्प्रेरणा से इस पावन प्रसङ्ग को लेकर नालन्दा जिला के लाघबीघा ग्राम में स्थानीय भक्तों ने एक सूर्यपञ्चायतन मन्दिर की संस्थापना करवायी जो इस द्वादश शताब्दी का प्रथम रचनात्मक कार्य माना जाएगा। इन्हीं दिनों योगीराज श्री स्वामी नित्यानन्द गिरि जी महाराज की तपःस्थली भदौस ग्राम में, मालदह में, कामता में, हथियाणा में तथा बरबीघा में भी द्वादश शताब्दी अधिवेशन महासमिति के अध्यक्ष महोदय के सत्यप्रयास से सानन्द हुए। इन अधिवेशनों के सम्पादन में योगीराज श्री स्वामी नित्यानन्द गिरि जी महाराज के भक्तों ने अच्छी भूमिका निभायी। वे सभी भगवत्पाद आचार्य श्री की कृपापात्र माने जायेंगे। विहार राज्य के इन सभी अधिवेशनों में महासमिति के अध्यक्ष महोदय के साथ अग्नि अखाड़े के श्री महन्त ब्र० रामानन्द जी कन्धे से कन्धे लगाकर चल रहे थे। इनके अतिरिक्त महासमिति के कोई अधिकारी नहीं थे। फिर भी सभी अधिवेशन सानन्द सम्पन्न हुए।

तत्पश्चात् हरियाणा राज्य के प्रसिद्ध नगर रोहतक में कैलास आश्रम रोहतक की संस्थापिका माता श्री सुशीला देवी के संयोजकत्व में तीन दिनों का द्वादश शताब्दी अधिवेशन मनाया गया जिसमें महासमिति के अध्यक्ष महोदय के साथ प्रचारमन्त्री श्री स्वामी परमेश्वरानन्द सरस्वती जी भी सक्रिय भाग ले रहे थे। रोहतक में द्वादश शताब्दी अधिवेशन सम्पन्न कर प्रचारमन्त्री श्री स्वामी परमेश्वरानन्द सरस्वती जी साधनासदन कनखल लौट आए और महासमिति के अध्यक्ष महोदय आगरा के भक्तों के आमन्त्रण पर द्वादश शताब्दी अधिवेशन मनाने के लिए आगरा पहुँचे जहां पर गीता ज्ञान मन्दिर भारद्वाज आश्रम तथा दैवी सम्पद् मण्डल की आगरा शाखा में धूमधाम से द्वादश शताब्दी अधिवेशन सानन्द सम्पन्न हुआ। इनमें भाग लेने वाले सभी भक्त धन्यवाद के पात्र हैं।

इसके बाद महासमिति के कोषाध्यक्ष महोदय महामण्डलेश्वर श्री स्वामी ब्रह्मानन्दगिरि जी महाराज के सत्यप्रयास से कर्णाटक प्रदेश बीदर नगर सिद्धारूढ़ आश्रम में आद्य शङ्कराचार्य द्वादश शताब्दी अधिवेशन सम्पन्न हुआ है। दक्षिण भारत में लिङ्गायत सम्प्रदाय वालों का बहुत प्रचार है जो कट्टर शिव भक्त होते हैं। छोटे बच्चों के गले में भी शिवलिङ्ग बाँध देते हैं और उनके कानों में शिव मन्त्र का उपदेश कर देते हैं। सिद्धारूढ़ स्वामी की परम्परा में एक नव उदीयमान श्री शिवकुमार स्वामीजी बड़े प्रभावशाली सन्त हैं, जो किसी समय सकलशास्त्र निष्णात परमहंस परिव्रजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मलीन आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी महेश्वरानन्द गिरि जी महाराज के सान्निध्य में रहकर शिक्षा एवं संन्यास दीक्षा भी प्राप्त कर चुके थे। जिन पर ब्रह्मलीन महाराजश्री का बड़ा स्नेह तथा अनुग्रह था। इन्हीं श्री शिवकुमार स्वामी के आमन्त्रण पर बीदर में होने वाले महोत्सव में भाग लेने के लिए महासमिति के कोषाध्यक्ष महोदय को जाना था। पर कोषाध्यक्ष महोदय के परामर्श से श्री शिवकुमार स्वामी ने इस महोत्सव को द्वादश शताब्दी का रूप दिया और इस पावन प्रसङ्ग पर 12 मन्दिरों में देव प्रतिमाओं की स्थापना करवायी है। द्वादश शताब्दी के स्मारक शिलालेख लगवाये। दक्षिण भारत में यह पहला द्वादश शताब्दी अधिवेशन महा-

समिति के कोषाध्यक्ष आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी ब्रह्मानन्द गिरि जी महाराज के परामर्श से बीदर के सिद्धारूढ़ आश्रम में सानन्द सम्पन्न हुआ। इस मङ्गलमय कार्य की सफलता के लिए उस आश्रम के कर्णधार तथा संस्थापक श्री शिवकुमार स्वामी को जितना भी धन्यवाद दिया जावे, सब मिलकर भी थोड़ा माना जाएगा।

बीदर से लौटकर महासमिति के अध्यक्ष कोषाध्यक्ष तथा महामन्त्री दिल्ली आये जहाँ पर चिर प्रतीक्षित द्वादश शताब्दी में श्री मुरारी बापू की रामकथा सम्पन्न करायी गयी। बात उस समय की है, जब न तो द्वादश शताब्दी समिति का गठन हुआ था और न कोई विशेष चर्चा ही हुई थी। जब ब्रह्मविद्या-पीठ कैलास आश्रम के षष्ठ पीठाचार्य महामण्डलेश्वर ब्रह्मलीन श्री स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज विद्यावाचस्पति जी की जन्म शताब्दी के समापन प्रसङ्ग में ऋषिकेशस्थ कैलासाश्रम में श्री मुरारी बापू की रामकथा चल रही थी। उस कथा को नियमतः ब्र० श्री कल्याणानन्द जी सुन रहे थे। उसी समय उनके मन में यह संकल्प उत्पन्न हुआ कि आद्य शङ्कराचार्य द्वादश शताब्दी के शुभारम्भ प्रसंग पर दिल्ली में अन्य कार्यक्रमों के साथ श्री मुरारी बापू की रामकथा भी हो तो बड़ा ही अच्छा होगा। फलतः कैलास-पीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी के संस्तुति तथा सहयोग से श्री मुरारी बापू ने दिल्ली में प्रारम्भ होने वाले आद्य शङ्कराचार्य द्वादश शताब्दी के पावन प्रसंग पर रामकथा की अनुमति दे दी। पर ऐसे विशाल भव्य आयोजनों के लिए धनबल तथा जनबल की परम आवश्यकता होती है। इसके लिए किसी समर्थ संस्था या व्यक्ति की आवश्यकता थी।

महामन्त्री ने सुदृढ़ संकल्प को देखते उसे पूरा करने का निर्णय कर लिया। फलतः उत्तरकाशी में द्वादश शताब्दी अधिवेशन के समय मोदीनगर के सुप्रसिद्ध उद्योगपति श्री केदारनाथ जी मोदी को महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज अध्यक्ष महासमिति ने दिल्ली में होने वाले आयोजन के प्रमुख यजमान बनने की प्रेरणा की। थोड़ा विचार करने के बाद श्री के० एन मोदी जी ने इस कार्यभार को सहर्ष स्वीकार किया जिसे अत्यन्त शालीनता के साथ निभाया भी। इस अधिवेशन में महासमिति के अध्यक्ष श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी, कोषाध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्द गिरि जी, महामन्त्री ब्र० कल्याणानन्द जी, प्रचारमन्त्री स्वामी परमेश्वरानन्द सरस्वती जी के अतिरिक्त महामंत्री त्यागमूर्ति स्वामी गणेशानन्द-पुरी जी, महामन्त्री स्वामी गणेशानन्द गिरि जी, महामण्डलेश्वर स्वामी प्रकाशानन्द गिरि जी भी आते रहे। फलतः दिल्लीस्थ नागरिकों के सहयोग और श्री के० एन० मोदी के सत्प्रयास से यह आयोजन अत्यन्त सफल रहा। दिल्ली लालकिला के प्रांगण में इतना बड़ा धार्मिक आयोजन कभी नहीं हुआ—ऐसा प्रत्यक्षदर्शिओं का कहना था। श्री मुरारी बापू प्रतिदिन भारत की अखण्डता पर जोर देते हुए आद्य शङ्कराचार्य के मार्ग का अनुसरण करने के लिए श्रोताओं को आह्वान किया करते थे।

तत्पश्चात् आ० महामंत्री श्री स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज के कृपापात्र श्री विशनदास जी ने अपनी फैक्टरी हलद्वानी में द्वादश शताब्दी अधिवेशन का आयोजन किया जिसमें अस्वस्थता के कारण महासमिति के अध्यक्ष महोदय भाग न ले सके। वैसे ही कलकत्ते के आयोजन की व्यवस्था में व्यस्त रहने के कारण महामन्त्री ब्र० कल्याणानन्द जी भी हलद्वानी अधिवेशन में भाग न ले सके। कोषाध्यक्ष महोदय तथा अन्य महामण्डलेश्वरों ने उस अधिवेशन को सफल बनाने में अपना सहयोग दिया। ऐसे ही श्री बिशन दास जी कत्थेवाले ने अपने गांव हिमाचल प्रदेश में द्वादश शताब्दी अधिवेशन अपने सद्गुरुदेव की अध्यक्षता में अत्यन्त शालीनता के साथ मनाया। एतदर्थ ये भूरिशः धन्यवाद के पात्र हैं।

भारत के सुप्रसिद्ध महानगर कलकत्ते में द्वादश शताब्दी के भव्य अधिवेशन मनाने हेतु महामन्त्री ब्र० कल्याणानन्द जी ने कई बार कलकत्ते में रहकर प्रयास किया पर उनके इच्छानुरूप कलकत्ते में

आयोजन न होने के कारण उनके मन में थोड़ा क्षोभ ही रहा। यहाँ का अधिवेशन महानिर्वाणी अखाड़े के आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विश्वेदवानन्दपुरी जी महाराज अटल अखाड़े के आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी मङ्गलानन्द गिरि जी महाराज की तथा आनन्द अखाड़े के आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी सच्चिदानन्द गिरि जी महाराज की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। भारत के जिन नगरों में द्वादश शताब्दी अधिवेशन मनाया गया उनमें कलकत्ता ही एक ऐसा महानगर निकला जिसमें समिति के महामन्त्री जी को केन्द्र से धन लाकर आयोजन करना पड़ा। यह एक आश्चर्य का विषय है चाहे कारण कुछ भी रहा हो।

इसके बाद आवाहन अखाड़े के आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्द सरस्वती जी महाराज के सस्नेह आमन्त्रण पर महाराष्ट्र के प्रसिद्ध नगर नासिक में द्वादश शताब्दी अधिवेशन मनाने के लिये लगभग 10 महामण्डलेश्वर पुराण प्रसिद्ध नासिक तीर्थ में पहुंचे जहां सभी प्रकार की सुविधाएं थीं। नासिक कैलास मठ के अध्यक्ष म० मं० की अध्यक्षता में तथा स्वामी विशुद्धानन्द जी के प्रबन्धकत्व में यहाँ का अधिवेशन सुखद एवं भव्य रहा है। इसके बाद भारत के महानगर बम्बई में महानगर के अनुरूप तो नहीं किन्तु संन्यास आश्रम, विलेपार्ला, संन्यास आश्रम घाटकोपर, आनन्दवन आश्रम कान्दीवली, ज्ञानेश्वरमठ माटुंगा, स्वामी प्रेमपुरी अध्यात्मविद्याभवन तथा प्रेमकुटीर में भी अधिवेशन सम्पन्न हुआ जिसका दायित्व वहां के स्थानाधिपतियों ने पूर्णतया वहन किया। सुप्रबन्ध के कारण ये सभी धन्यवाद के पात्र हैं। इसके तत्पश्चात् पुनः आवाहन अखाड़े के आचार्य महामण्डलेश्वर जी के सस्नेह आमन्त्रण पर गुजरात के प्रसिद्ध नगर बलसाड़ से द्वादश शताब्दी का भव्य आयोजन किया गया। यह अधिवेशन अपने में अपूर्व था जिसमें दो दिव्य विभूतियों को एक साथ श्रद्धाञ्जलि दी जा रही थी। एक आद्यशङ्कराचार्य जी दूसरे वहाँ के अध्यक्ष ब्रह्मलीन आचार्य म० मं० स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी महाराज को श्रद्धासुमन सब भेंट कर रहे थे।

इसके बाद वैसाखी पर कमरवल हरिद्वार में षड्दर्शन साधु समाज के सहयोग से द्वादश शताब्दी अधिवेशन सम्पन्न कराया गया जिसमें भव्य एवं विशाल शोभायात्रा का आयोजन देखते ही बनता था। पर साधुओं के नगर कमरवल हरिद्वार के अनुरूप पण्डाल में सन्तों और भक्तों की नगण्य उपस्थिति देखकर आश्चर्य होता था। वह अधिवेशन आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी महेशानन्द गिरि जी की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ।

भारत के प्रसिद्ध तीर्थ हरिद्वार में जहां केन्द्रीय महासमिति का मुख्य कार्यालय है वहां केन्द्रीय महासमिति के महामन्त्री कल्याणानन्द ब्रह्मचारी मंत्री जी देवस्वामी जी और मंत्री श्री परमेश्वरानन्द सरस्वती जी ने निर्वाणी अखाड़े के सचिव महंत गिरधर नारायणपुरी तथा निरंजनी अखाड़े के सचिव महन्त बालकृष्णपुरी के सहयोग और परामर्श से षड्दर्शन साधु समाज को सम्मिलित कर एक वृहद समिति का गठन किया जिसमें दशनाम संन्यासी समाज के अतिरिक्त उदासीन समाज के महन्त गोपालदास, गोबिन्ददास निर्मल अखाड़े के महन्त श्री बलबीर सिंह शास्त्री गदीददासी सम्प्रदाय के म० मं० डा० स्वामी श्यामसुन्दरदास जी निर्मल सन्तपुरा के श्री रघुवीर सिंह शास्त्री तथा अन्य सम्प्रदाय के महापुरुषों को सम्मिलित कर षड्दर्शन साधु समाज की ओर से दि० 10 अप्रैल को अभूतपूर्व शोभायात्रा पौराणिक तीर्थ दक्षेश्वर महादेव से प्रारम्भ की, शोभायात्रा में भगवान आद्य शंकराचार्य जी के जीवन से सम्बन्धित अनेक झाँकियाँ वाहनों पर सजाई गईं। हाथी, घोड़े, ऊंट, 4 बैंड बाजे ध्वजापताका आदि से सुसज्जित शोभायात्रा प्रारम्भ हुई। समस्त नगर को भगवा पताकाओं से सजाया गया था, दक्षेश्वर महादेव से हर की पैडी तक 5 किलो मीटर लम्बे मार्ग पर अनेक स्वागत द्वार बनाए गए। स्थान-2 पर सभी सम्प्रदाय के आश्रमों एवं गृहस्थों ने शोभायात्रा में चलने वाले महापुरुषों का फूलमाला, शरबत आदि से स्वागत किया। स्थान-2 पर भगवान आद्यशंकराचार्य के तैलचित्र की आरती उतारी गई, पूरे रास्ते में अपार जनता ने

सम्मिलित होकर अपनी श्रद्धा व्यक्त की। भगवान आद्य शंकराचार्य के नाम से कनखल हरिद्वार में चौक बनाया गया है जहाँ भगवान की चार फुट ऊँची मूर्ति ऊँचे संगमरमर के चबूतरे पर विराजमान है जिसके चारों ओर रंगीन फुआरे चलते रहते हैं। शोभायात्रा के शंकराचार्य चौक पर पहुंचने पर जगद्गुरू आद्य शंकराचार्य के नारों से आकाश गूंज उठा। हर की पौड़ी पहुंचने पर हजारों जनता ने स्वागत किया, गंगासभा, श्रृंगेरी मठ आदि संस्थाओं द्वारा भगवान शंकराचार्य के चित्र का पूजन किया गया।

निरंजनी अखाड़े के आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी महेशानन्द गिरि श्री महाराज की अध्यक्षता में दि० 11 अप्रैल से 13 अप्रैल तक आद्य शंकराचार्य चौक पर बने भव्य पंडाल में समारोह हुआ जिसमें निरंजनी अखाड़े के आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी कृष्णानन्द गिरि जूना अखाड़े के आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी लोकेशानन्द गिरि अटल अखाड़े के आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी मंगलानन्द गिरि, आवाहन अखाड़े के आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्द सरस्वती, केन्द्रीय महासमिति के अध्यक्ष महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि, कोषाध्यक्ष महामण्डलेश्वर श्री स्वामी ब्रह्मानन्द गिरि उपाध्यक्ष म. मं. श्री स्वामी गणेशानन्दपुरी, म. मं. श्री स्वामी महेश्वरानन्दपुरी, म. मं. श्री स्वामी रघुनाथगिरि, म. मं. श्री स्वामी प्रकाशानन्द गिरि, म. मं. स्वामी बालकृष्ण मीत, म. मं. श्री स्वामी सत्यमित्रानन्द गिरि, म. मं. श्री स्वामी दिव्यानन्द गिरि, म. मं. श्री स्वामी शिवचैतन्य पुरी, म. मं. श्री स्वामी दयानन्द वेददासी जी, म. मं. स्वामी ज्ञानानन्द गिरि, म. मं. श्री स्वामी संतोषी माता, विरक्त संत शिरोमणि श्री स्वामी वासदेव जी महाराज, संन्यासिनी जी ललिताम्बर माता जी, माता ओमप्रेमदेवी जी, श्री स्वामी परमेश्वरानन्द सरस्वती, श्री स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती जी, श्री स्वामी श्यामानन्द जी तथा डा. विष्णुदत्त जी "राकेश"।

हरिद्वार के अधिवेशन की यह विशेषता रही कि यहां के प्रसिद्ध नागरिक श्री पारस कुमार जैन श्री रामपंजवानी, सरदार आनन्द प्रकाश जी, श्री श्रीराम शर्मा राणा, श्री आनन्दस्वरूप शर्मा, श्री राम मूर्ति वीर, श्री मोहनलाल जी घी वाले, श्री सुधीर गुप्ता तथा अन्य नागरिकों ने बड़े उत्साह से भाग लेकर कार्यक्रम को पूर्ण सफल बनाया।

देश में ही नहीं विदेशों में लंदन में म० मं० का स्वामी सत्यमित्रानन्द गिरि जी के प्रयास से सफल आयोजन हुआ। पू० संत मुरारीबापू जी के प्रयास से अमरीका के न्यूजर्सी नगर में द्वादश शताब्दी समारोह मनाया गया। उनसे प्रयास से भारतीय विद्याभवन में भगवान भाष्यकार की प्रतिमा स्थापित की गई है। न्यूयार्क स्थित गीता मन्दिर में महासमिति के मंत्री का स्वामी विशेश्वरानन्द गिरि जी के प्रयास से समारोह हुआ जिसमें कई महामण्डलेश्वर उपस्थित हुए। महामण्डलेश्वर श्री स्वामी अर्जुन पुरीजी महाराज के प्रयास से भी 28 मई से 30 मई तक अमेरिका के भिन्न स्थानों में बड़े समारोह के साथ जयन्ती मनाई गई।

भारत सरकार की ओर से प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में दि० 21 अप्रैल 88 को भगवान शंकराचार्य का 1200वां जन्म दिवस विज्ञान भवन में मनाया गया जिसमें राष्ट्रपति आर० वेंकटरमण, लोक सभा अध्यक्ष श्री बलरामजाखड़ अन्य केन्द्रीय नेता श्री डा० कर्णसिंह तथा अनेक विद्वानों ने भगवान आद्य शंकराचार्य के बतलाए मार्ग पर चलने का तथा उनके उपदेशों से प्रेरणा लेने का आग्रह किया।

भगवान के 1200वें जन्म दिवस के उपलक्ष से श्रृंगेरी के जगद्गुरु शंकराचार्य अनन्त श्री विभूषित श्री स्वामी अभिनय विद्यातीर्थ जी महाराज और महासमिति के पदाधिकारियों ने मिलकर आद्य जगद्गुरू जी के जन्मस्थल कालड़ी में 17 अप्रैल से 21 अप्रैल तक भव्य अनेक आयोजन किए जिसमें वहाँ की राज्यपाल, भू० पू० मुख्यमंत्री, सूचना प्रसारण मंत्री, अन्य नेताओं विद्वानों तथा देश के विभिन्न नगरों से गए

अनेक महामण्डलेश्वरों, महन्तों और 100 संन्यासियों ने भाग लिया तथा वहाँ शोभायात्रा भी निकाली गई, बहुत ही सफल कार्यक्रम हुआ।

कालड़ी के पश्चात् दि० 24 से 26 अप्रैल तक मद्रास स्थिति माहेश्वरी भवन में महासमिति के अध्यक्ष म० मे० श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज की प्रेरणा से उनकी तथा म० मं० श्री स्वामी काशिकानन्द गिरि जी महाराज की अध्यक्षता में अधिवेशन हुए कि 27 अप्रैल को श्रृंगेरी के जगद्गुरु शंकराचार्य श्री स्वामी……तीर्थजी महाराजी अध्यक्ष में सफल सम्मेलन हुआ जिसमें हजारों जनता ने लिया।

फिर मद्रास से बैंगलोर के लिए प्रस्थान किया। वहाँ के प्रसिद्ध सिद्ध स्वामी अनन्त श्री विभूषित श्री त्रीची स्वामी जी महाराज ने अपने मठ कैलास आश्रम में सभी महापुरुषों के निवास भोजन आदि की बहुत अच्छी व्यवस्था की। उनके शिष्य श्री स्वामी शिवपुरी जी महाराज तथा अन्य सन्तों ने आगन्तुक सभी महा-मण्डलेश्वरों, महन्तों और सन्तों का अभूतपूर्व स्वागत किया। दि० 27-28 अप्रैल को शंकर मठ बंगलोर में समारोह हुआ। दि० 29 को श्री राजराजेश्वरी मन्दिर कैलास आश्रम के नव निर्मित विशाल सभागार में परम पूज्य श्री त्रीची स्वामीजी महाराज की अध्यक्षता में सम्मेलन हुआ जिसमें हजारों भक्तजनों ने भाग लिया।

बंगलोर से महासमिति के पदाधिकारी मैसूर गए। वहाँ शंकरमठ में एक दिन समारोह हुआ। बंगलोर से श्रृंगेरी के लिए प्रस्थान किया। श्रृंगेरीमठ में वहाँ के परमपूज्य अनन्त श्री विभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य जी महाराज की ओर से पूर्ण व्यवस्था सभी प्रकार से की गई थी।

दि० 1 और 2 मई को महासमिति के संरक्षक एवं श्रृंगेरी शारदा पीठ के जगद्गुरु शंकराचार्य श्री स्वामी अभिनव विद्यातीर्थ जी महाराज की अध्यक्षता में द्वादश शताब्दी समारोह सम्मेलन बड़े धूमधाम से मनाया गया जिसमें महासमिति के अध्यक्ष म० मे० श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज, संरक्षक म० मे० श्री स्वामी काशिकानन्द गिरि जी महाराज, कोषाध्यक्ष म० मे० श्री स्वामी ब्रह्मानन्द गिरि जी महाराज, उपाध्यक्ष म० मे० श्री स्वामी महेश्वरानन्द पुरी जी महाराज, उपाध्यक्ष म० मे० श्री स्वामी रघुनाथ गिरि जी महाराज म० मे० स्वामी निरंजनानन्दजी महाराज, म० मं० स्वामी भगवतानन्द जी महाराज, म० मं० श्री स्वामी लच्छमणपुरी जी महाराज, महामंत्री कल्याणानन्द ब्रह्मचारी जी, मंत्री श्री स्वामी परमेश्वरानन्द सरस्वती जी महाराज तथा अनेक सन्तों और हजारों जनता ने भाग लिया तथा अन्त में विशाल शोभा मात्रा निकाली गई।

श्रृंगेरी शारदापीठ का अधिवेशन पूर्ण कर बंगलोर होते हुए सभी महापुरुष अपने स्थान को वापस चले गए।

दि० 18-10-88 से 29-10 तक द्वादश शताब्दी समारोह महासमिति के मंत्री श्री स्वामी परमेश्वरानन्द सरस्वती श्री महाराज के प्रयास से खभात (गुजरात) में महामण्डलेश्वर श्री स्वामी जगदीश पुरी जी महाराज की अध्यक्षता में आश्रम में सम्पन्न हुआ जिसमें कई महामण्डलेश्वर और अन्य सन्तों ने भगवान आद्यशंकराचार्य के अद्वैत सिद्धान्त पर प्रकाश डाला।

द्वादश शताब्दी समारोह का विशेष समारोह प्रयाग में होने वाले महाकुंभ के अवसर पर दि० 7 फरवरी से 9 फरवरी तक विशाल रूप से होने जा रहा है जिसका उद्घाटन निरंजनपीठ राधेश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज करेंगे तथा भगवान आद्यशंकराचार्य ग्रन्थ का विमोचन भी करेंगे।

भगवान आद्य शंकराचार्य के 1200वें जन्म दिवस वैशाख शुक्ली पंचमी दि० 21 अप्रैल को उनके

जन्मस्थान कालड़ी में महासमिति के अध्यक्ष श्री महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज ने अखंड शंकर ज्योति को प्रगट किया था। वह समस्त प्रान्तों में, मठों में भ्रमण करती हुई महाकुंभ के अवसर पर इलाहाबाद पहुंच रही है जहाँ लाखों जनता को ज्योति के दर्शन का लाभ मिलेगा।

इलाहाबाद के पश्चात शंकर दिग्विजय ज्योति उत्तर प्रदेश, दिल्ली, हरियाणा, पंजाब, कश्मीर होती हुई आगामी शंकर जयन्ती दि० 10 मई को हरिद्वार पहुंच रही है जहाँ भव्य स्वागत किया जाएगा।

श्री शंकर दिग्विजय ज्योति हरिद्वार से ऋषिकेश, देवप्रयाग, श्रीनगर, रुद्रप्रयाग, ज्योतिमठ होती हुई बद्रीनाथधाम पहुंचेगी। वहाँ सम्मेलन होने के पश्चात भगवान आद्यशंकराचार्य के कैलास गमन के दिवस वैशाख शुक्ल पूर्णिमा 20 मई को समाधिस्थल श्री केदारनाथ में जाकर पूर्ण हो जायेगी।

तदनन्तर चिरर्चचित जगद्गुरु आद्यश्रीशंकराचार्य जी जन्मस्थली कालटी में द्वादश शताब्दी महोत्सव मनाने के लिए दश आचार्य महामण्डलेश्वर सोल्लास वहाँ पहुंचे। जहाँ पर पूर्णानदी के किनारे शृंगेरी स्वामी के आदेश से उनके प्रिय शिष्यों ने पहले से सब प्रबन्ध कर रखे थे। इस सुव्यवस्था के लिए श्रद्धेय श्री शृगेरी स्वामी जी के अतिरिक्त श्री काशी विश्वनाथन जी तथा अन्य प्रबन्धगण भूरिशः धन्यवाद के पात्र हैं। यहां पर पाँच दिनों तक अधिवेशन सुव्यवस्थित चलता रहा। वैसाख शुक्ल पंचमी को आचार्य श्री की जयन्ती तिथि पर आचार्य की दिव्य प्रतिमा के सामने वहाँ के प्रबन्धकों के अनुरोध से महासमिति के अध्यक्ष महोदय ने एक दीप प्रज्ज्वलित कर केरल प्रान्त के सूचना प्रसारण मंत्री के हाथों में सौपते हुए कहा कि अब इस शांकरी विजय ज्योति को सम्पूर्ण भारत में भ्रमण कराते हुए केदारनाथ तक पहुंचाने का काम आप करें। भारत सरकार, प्रदेश सरकार तथा जन सहयोग से सम्पूर्ण भारत में भ्रमण करते हुए वह ज्योति सबको आलोक प्रदान करेगी, ऐसा विश्वास है।

उसके बाद महानगर मद्रास में द्वादश शताब्दी महोत्सव मनाने के लिए सभी सन्त मद्रास पहुंचे जहाँ महासमिति के अध्यक्ष महादेय की सत्प्रेरणा से उनके प्रिय शिष्य श्री भगीरथ जी भैय्या ने स्थानीय महेश्वरी भवन में अधिवेशन तथा आवासादि के लिए सुप्रबन्ध कर रखा था। सभी महामण्डलेश्वर स्वामी लक्ष्मण पुरी जी महाराज के सादर आमन्त्रण पर पञ्जाब के प्रसिद्ध श्रीरामण्डी में वहाँ के महामण्डलेश्वर की अध्यक्षता में श्रद्धानन्द द्वादश शताब्दी अधियेशन सम्पन्न हुआ। तत्पश्चात् जूनापीठाधीश्वर आचार्य महा-मण्डलेश्वर श्री स्वामी लोकेशानन्द गिरि जी महाराज की अध्यक्षता में जगाधरी नगर में भी द्वादश शताब्दी अधिवेशन सम्पन्न हुआ। वेद मन्दिर लुधियाना के तत्कालीन धर्माध्यक्ष दण्डी स्वामी भास्करानन्द तीर्थ जी के सानुरोध आमन्त्रण पर उनके मञ्च पर भी आद्यशंकराचार्य द्वादश शताब्दी अधिवेशन सम्पन्न हुआ। इन दोनों अधिवेशनों के आयोजकों को भी भूरिशः धन्यवाद देना चाहिए जो पञ्जाब के अशान्त वातावरण में भी उक्त आयोजनों को सफल बनाया। यद्यपि पञ्जाब के अशान्त वातावरण के कारण उक्त आयोजनों में महात्मा जाना नहीं चाहते थे, फिर भी महासमिति के अध्यक्ष महादेव के अदम्य उत्साह को देख इन अधिवेशनों में बहुतों ने भाग लिया। इस साहसिक कार्य के लिए अध्यक्ष महोदय को अनेकशः धन्यवाद है।

सभी महामण्डलेश्वर सानन्द वहाँ रहकर तीन दिनों तक अधिवेशन मनाते रहे। अन्तिम दिन इस अधिवेशन में शृंङ्गेरी स्वामी जी भी पधारे। उनके पधारने से यहाँ का अधिवेशन महत्वपूर्ण रूप में सम्पन्न हुआ। इस अधिवेशन के सम्पन्न कराने में अध्यक्ष महोदय के शिष्यों तथा अन्य नागरिकों ने अच्छी भूमिका निभायी। एतदर्थ भूरिशः आशीर्वाद-पात्र हैं। तत्पश्चात् कर्णाटक की राजधानी बेंगलूर स्थित कैलास आश्रम-महा संस्थानम के संस्थापक श्रीत्रिची स्वामी जी के सान्निध्य में रहकर कैलास आश्रम में, शङ्कराचार्य जी के शङ्करमठ में तथा मैसूर मठ में भी द्वादश शताब्दी अधिवेशन मनाये। इन सबको सुप्रबन्ध श्रीत्रिची स्वामी जी

की ओर से था। महासमिति के उपाध्यक्ष आचार्य महामण्डलेश्वर श्रीस्वामी महेश्वरानन्द पुरी के सत्प्रयास से बेंगलूर स्थित सिन्धी समाज के वेदान्त सत्संगमण्डल में भी एक बैठक हुई। तत्पश्चात् श्रीत्रिची स्वामी जी के प्रबन्धकत्व में सन्तगण ने शृंङ्गेरी मठ की यात्रा की। जहाँ पर शृंङ्गेरी स्वामी जी महाराज के तत्त्वावधान में दो दिन आद्य श्री शङ्कराचार्य द्वादश शताब्दी महोत्सव सानन्द सम्पन्न हुआ। इस द्वादश शताब्दी महोत्सव के दिनों दूरदर्शन में दो बार आद्य श्री शङ्कराचार्य की फिल्म दिखलायी गयी। भारत सरकार ने ने भी राष्ट्रीय विशिष्ट जयन्ती महोत्सव के रूप में द्वादश शताब्दी अधिवेशन मनाया। जिसका एक अधिवेशन दिनांक 21-4-88 को आद्य शङ्कराचार्य जी के जयन्ती दिन पर सम्पन्न हो चुका है। दूसरा दिल्ली में ही दिनांक 9-1-89 से दिनांक 12-1-89 तक होना है। इस महोत्सव की राष्ट्रीय महासमिति के चेयरमैन भारत के प्रधानमन्त्री श्री राजीव गांधी हैं और समन्वय महासमिति के चेयरमैन श्री पी० शिवशङ्कर मन्त्री भारत सरकार हैं जिसमें भाग लेने के लिए भारत सरकार ने आद्यशङ्कराचार्य द्वादश शताब्दी महासमिति के कतिपय विशिष्ट अधिकारियों को भी आमन्त्रित किया है। इस माङ्गलिक कार्य के लिए भारत सरकार को और उनकी उक्त समिति के सक्रिय कार्य कर्त्ताओं को भूरिशः धन्यवाद है तथा महोत्सव की सफलता की शुभकामना करते हैं और आशा करते हैं कि राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता के एकमात्र प्रतीक, भारतीय-संस्कृति के समुद्धारक एवं जागरूक प्रहरी आद्य श्री शङ्कराचार्यजी ने इस पावन प्रसंग पर भारत सरकार कोई विशाल तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थायी कार्यक्रम निश्चित करेगी जिससे आद्य श्रीशङ्कराचार्य जी के ज्ञानालोक द्वारा सम्पूर्ण विश्व आलोकित हो सकेगा। इस विश्वास के साथ हम जगद्गुरु आद्य श्रीशङ्कराचार्य जी के चरणारविन्दों में श्रद्धा सुमन भेंट करते हुए अपनी लेखनी को विराम देते हैं। इत्योशम्।

कल्याणानन्द ब्रह्मचारी
महामन्त्री
जगद्गुरु आद्य श्री शङ्कराचार्य द्वादश
शताब्दी महासमिति
भारत

कार्तिक पौर्णमासी
शाङ्कराब्द 1201
वि० सं० 2045
दिनांक 23-11-88

श्रुतियों के पर्यायपुरुष
नतशिर अभिवन्दन

श्री शंकराचार्याष्टकम्

आचार्य भगवान दत्त जी शास्त्री राकेश
कलकत्ता

तेजोमयं दिव्यमनन्तरूपं
कृतावतारं किल धर्मगुप्त्यै ।
जगद्गुरुं वेदविदां वरिष्ठं
श्रीशङ्कराचार्यमहं नमामि ॥1॥

पाखण्डिभिः खण्डितवेदधर्मं
जुगोप यः स्वप्रतिभा प्रभावैः ।
तं वेदवेदान्तविचारदक्षं
श्रीशङ्कराचार्यमहं नमामि ॥2॥

गीतादयो दर्शनशास्त्रधर्माः
सम्भूषिता येन च भाष्यवृत्या ।
तं ब्रह्मसूत्राणि विभासयन्तं
श्रीशङ्कराचार्यमहं नमामि ॥3॥

विजित्य यो बौद्धजिनेन्द्रमुख्यान्
आचार्यवर्यानुपधर्म भीरून् ।
संस्थापयामास सनातनं तं
श्रीशङ्कराचार्यमहं नमामि ॥4॥

हिंसा प्रधानान् विधिसारहीनान्
यो दम्भयज्ञानमितो न्यषेधत् ।
यज्ञावतारं करुणाकरं तं
श्रीशङ्कराचार्यमहं नमामि ॥5॥

यो वेदमर्यादितधर्ममार्गं
निष्कण्टकं लोकहितं विधाय ।

विस्तारयामास महीतले तं
श्रीशङ्कराचार्यमहं नमामि ॥6॥

यो धर्मरक्षार्थममोघदृष्ट्या
चतुर्षु दिक्ष्वात्मपरम्परार्थम् ।
चत्वारि पीठानि विनिर्ममे तं
श्रीशङ्कराचार्यमहं नमामि ॥7॥

स्वयं च देवार्चितकामकोटि
काञ्चीपुरे पीठमधिष्ठितो यः
चकास्ति सिद्धैरभिनन्दितस्तं
श्रीशङ्कराचार्यमहं नमामि ॥8॥

श्रीशङ्कराष्टकमिदं राकेशेन विनिर्मितम् ।
भगवच्चरणांभोजे सश्रद्धं सुसमर्पितम् ॥**

श्री आचार्य अभिनन्दनम्

॥ श्रीहरि ॥

केरलेभ्यः समुद्भूतं समुत्सुकवसुन्धरम् ।
आद्यं श्रीशङ्कराचार्यं वन्दे पीयूषवारिदम् ॥ 1 ॥

औत्सुक्यं भजते यत्र सैषा भगवती श्रुतिः ।
मानवीगर्भसम्भूतं वन्दे तत्प्रातिभ महः ॥ 2 ॥

जीवस्य चरमोत्कर्षं दिशद् यद्दर्शनं महत् ।
प्रासङ्गिकीं द्युतिं धत्ते सम्प्रत्यपि शुभावहाम् ॥ 3 ॥

असौ वाचां पराकाष्ठा कल्पनानां परा गतिः ।
असौ भारतसौभाग्यमसौ विश्वस्य बन्धुता ॥ 4 ॥

अद्वैतं श्रयते तमांसि हरते चैतन्यमाचिन्वते
कल्याणं किरते शिवं गणयते सारस्वतं सिञ्चते ॥ 5 ॥

तत्त्वं स्मारयते श्रुतानि धरते तस्मिन् परं हृष्यते
श्रीमद्भारतरम्यभूमिमटते कस्मैचिदस्मै नमः ॥ 6 ॥

आचार्य उमाकान्त शुक्ल
एम० ए०, पी० एच० डी०, साहित्याचार्य
सांख्य योगाचार्य
सनातन धर्म स्नातकोत्तर महाविद्यालय
मुजफ्फरनगर

जय शंकराचार्य

पद्मभूषण डा० रामकुमार वर्मा

जयशंकर जय, आप क्रान्ति के उद्घोषक थे.
श्रुतिसम्मत अद्वैत दृष्टि के सम्पोषक थे।
बौद्ध पराजित हुए, आपके तर्कों द्वारा,
सूत्र 'अहं ब्रह्मास्मि' विश्व ने है स्वीकारा।
चार दिशाओं से किए स्थापित मठ-सुविचार से,
आप चतुर्भुज हो गए, विष्णुरूप अधिकार से।

साकेत,
प्रयागस्ट्रीट, :

शंकर—पंचपदी

डा० सत्यव्रत शर्मा 'अजेय'
उपाचार्य-गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर

भूले भ्रमे भटके थे भव में ही भारतीय,
बुद्धि पर परदा पड़ा था भारी भ्रम का।
नष्ट हुआ ज्ञान-ध्यान. श्रुतियों का स्मृतियों का,
पुराणोपनिषदों का, आगम-निगम का ॥
सूझता नहीं था पथ, चहुंधा प्रसार हुआ,
वाममार्ग-शाक्त-बौद्ध-संस्कृति के तम का।
ऐसे में 'अजेय' आद्य 'शंकर' जगद्गुरु,
केरल के कालटी में सूर्य सम चमका ॥
हिमकर-चिह्नित प्रशस्त भाल उसका था,
चन्द्रमौलि सम वह सुधा सरसाता था।
स्फटिक सदृश वपु कमनीय कान्तिमान,
चरणों में चामर का चिह्न दरसाता था ॥
ज्ञान-कर्म-उपासना का था उद्गाती वह,
आर्य-धर्म-त्राता, वेद-भाष्य का विधाता था।
अखिलेश व्युप्तकेश शंकर का अवतार,
कलित काषायवेश, सभी को सुहाता था ॥
पुर्यष्टक पर जय प्राप्त कर आगे बढ़ा,
दण्डधारी पति 'शिवोऽहम्' बोल-बोल कर।
'तत्त्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म' आदि महावाक्य,
जग को सिखाये, घर-घर डोल-डोल कर।
ब्रह्म ही है जीव, जग, ब्रह्म के सिवा न कुछ,
मुक्त किया लोक, द्वैत-बन्ध खोल-खोल कर।

ब्रह्मसूत्र, गीता, उपनिषदों का भाष्य कर,
पति ने पिलाया वेदामृत घोल-घोल कर ॥
जिसने अनेक स्तोत्र, प्रकरण लिख, शान्त,
रस की बहाई सुर-सरिता, कवीन्द्र है।
शारदा, श्रृंगेरी, गोवर्धन, ज्योतिमठ धाम,
जिसने दी ज्ञान-ज्योति, ऋषि है, रवीन्द्र है ॥
तर्क के त्रिशूल से परास्त प्रतिपक्षी किये,
यन्त्र-मन्त्र-तन्त्रविद्, व्रजक, व्रतीन्द्र है ॥
वह अभयंकर है, नित्य विजयकर है,
शंकर सा शुभंकर शंकर यतीन्द्र है ॥
नगर-नगर, ग्राम, धाम-धाम भारत की,
पुण्य भूमि पर धर्म-ध्वजा फहराता कौन ॥
जलते तुषाग्नि में कुमारिल के शेष स्वप्न,
पूर्ण करने को कह, धीरज बँधाता कौन ॥
देता कौन दीक्षा मीमांसक मिश्र मण्डन को,
शारदा सी शारदा को दीक्षित बनाता कौन ।
होता जो न अवतार शंकर का धरा पै तो,
माता सम त्राता वेदमाता को बचाता कौन ॥

श्री शंकर : एक महान् दार्शनिक और विचारक

—भारतरत्न सर्वपल्ली डा० राधाकृष्णन

विश्व प्रसिद्ध दार्शनिक तथा भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति

एक दार्शनिक तथा तार्किक के रूप में सर्वश्रेष्ठ, शान्त निर्णय तक पहुंचने में तथा व्यापक सहिष्णुता में एक मनुष्य के रूप में महान्, शंकर ने हमें सत्य से प्रेम करने, तर्क का आदर करने तथा जीवन के प्रयोजन को जानने की शिक्षा दी। बारह शताब्दियां व्यतीत हो गईं किन्तु आज भी उनका असर देखा जा सकता है। उन्होंने अनेक रूढ़ियों का, उनके ऊपर उग्र आक्रमण करके नहीं, अपितु शांतिपूर्वक उनसे अधिक युक्ति-युक्त क्रियाओं का सुझाव रखकर विनाश किया और साथ ही साथ यह विधान अधिकतर धार्मिक भी था। उन्होंने आवश्यक ज्ञान के एक विस्तृत रूप को तथा क्रियात्मक विचारों को जोकि उपनिषदों में निहित तो अवश्य थे किन्तु जिन्हें लोग भूल गए थे, जनसाधारण के मध्य प्रसारित किया और इस प्रकार एक अतीत के प्राचीन काल का हमारे लिए फिर से सृजन किया। वे कोई स्वप्नदर्शी आदर्शवादी नहीं थे, वरन् एक कर्मवीर कल्पना विहारी व्यक्ति थे। दार्शनिक होने के साथ-साथ वे एक कर्मवीर पुरुष थे, जिसे हम विस्तृत अर्थों में एक समाजवादी आदर्शवादी कह सकते हैं।

आध्यात्मिक गहराई तथा तार्किक शक्ति में शंकर का दर्शन अद्वितीय है। उनके ग्रन्थों को पढ़ते समय यह असंभव है कि पाठक के मन में इस प्रकार का भाव उत्पन्न न हो कि वह एक ऐसे मस्तिष्क के सम्पर्क में आ गया है जो अत्यन्त सूक्ष्म के साथ गहराई में जाने वाला तथा अगाध अध्यात्मिक ज्ञान से परिपूर्ण है। उनका दर्शन स्वयं में परिपूर्ण है। जिसको न तो अपने आगे और न पीछे ही किसी अन्य सामग्री की आवश्यकता है। यह एक ऐसी स्वतः सिद्ध पूर्ण इकाई है जो कलापूर्ण ग्रन्थों में ही पाई जाती है। शंकर हमारे समक्ष दर्शन का जो यथार्थ आदर्श प्रस्तुत करते हैं वह अधिकतर ज्ञानपरक न होकर विवेक बुद्धिपरक; तार्किक विद्यापरक न होकर आध्यात्मिक स्वातंत्र्य से युक्त है। शंकर की दृष्टि में संसार के कतिपय अन्य महान् विचारकों यथा प्लेटो, प्लाटिनस, स्पिनोजा और हीगल के समान ही दर्शनशास्त्र शाश्वत सत्य का गूढ़ निरीक्षण है जो कि मनुष्य के तुच्छ जीवन की क्षुद्रचिन्ताओं से उन्मुक्त होने के कारण दिव्य है। अत्यन्त कठोर तर्क के ऊपर जहाँ शंकर को अधिकार प्राप्त है, वहाँ दूसरी ओर उन्हें एक उत्कृष्ट तथा सजीव काव्य पर भी उतना ही अधिकार प्राप्त है। शांकरभाष्य प्रस्तावना में स्वाध्यायी के गुणों की जो सूची शंकर ने निर्धारित की है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी दृष्टि में दर्शन केवलमात्र बौद्धिक धंधा न होकर समर्पित जीवन भी है। वे एक वीतराग परिव्राजक थे। सत्य की विशुद्ध ज्वाला उनके अन्तराल में प्रज्ज्वलित हो रही थी।

शंकर के जीवन में विरोधी भावों का एकत्र संग्रह मिलता है। वे दार्शनिक भी हैं और कवि भी; ज्ञानी पण्डित भी हैं और संत भी; वैरागी भी हैं और धार्मिक व्यक्तित्व का स्मरण करें तो भिन्न-भिन्न मूर्तरूप हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं। युवावस्था में बौद्धिक महत्वकांक्षा के आवेश पूर्ण एक अदम्य और निर्भय शास्त्रार्थ महारथी प्रतीत होते हैं। कुछ व्यक्ति उन्हें तीक्ष्ण राजनीतिक प्रतिभा से सम्पन्न मानते हैं जिन्होंने जनता को एकता की भावना का महत्त्व समझाया। तीसरे वर्ग के वे लोग भी हैं जिनकी दृष्टि में वे एक शांत दार्शनिक हैं, जिनका एकमात्र प्रयत्न जीवन तथा विचार के विरोधों का अपनी असामान्य तीक्ष्ण बुद्धि के द्वारा भेद खोल देने के प्रति था और चौथे वर्ग के लोगों की दृष्टि में वे एक रहस्यवादी हैं जो घोषणा पूर्वक कहते हैं कि हम सब उससे कहीं अधिक महान् हैं कि जितना हम जानते हैं।' उनके समान सार्वजनिक मेधावी पुरुष बहुत कम देखने में आते हैं। (भारतीय दर्शन भाग 2)

विविधता के बीच एकता के दर्शक श्री शंकराचार्य

—भारतरत्न पण्डित जवाहरलाल नेहरू

पूर्व प्रधान मंत्री, भारत

शंकर ने वर्ण-व्यवस्था की बुनियाद पर ब्राह्मणों के द्वारा बने सामाजिक जीवन को स्वीकार किया। लेकिन उन्होंने कहा कि किसी भी जात का कोई आदमी सबसे ऊंचा ज्ञान हासिल कर सकता है। शंकर के दर्शन और उनके दृष्टिकोण में दुनिया से इनकार करने का और आत्मा की मुक्ति के लिए, जो उनकी दृष्टि में आदमी का परम ध्येय है, साधारण प्रवृत्तियों से बचने का भाव है। त्याग और वैराग्य पर भी बराबर जोर दिया गया है।

फिर भी शंकर एक अद्‌भुत शक्ति के और बड़ा काम करने वाले व्यक्ति थे। वह गुफा में जाकर बैठ जानेवाले या जंगल के एक कोने में एकांतवास करते हुए अपनी व्यक्तिगत पूर्णता की साधना करने वाले, और दूसरों को क्या होता है इससे लापरवाह मनुष्य नहीं थे। उनका जन्म दक्खिन हिन्दुस्तान के मलाबार प्रदेश में हुआ था, और उन्होंने सारे हिन्दुस्तान में निरन्तर यात्रा की थी और अनगिनत लोगों से वह मिले थे। उनसे तर्क और वाद-विवाद किया था, उन्हें अपने मत का किया था और उन्हें अपने उत्साह और जीवनी-शक्ति का एक अंश दिया था। स्पष्ट है कि वह ऐसे व्यक्ति थे जो अपना एक विशेष ध्येय समझते थे, जो कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक सारे हिन्दुस्तान को अपना कार्यक्षेत्र मानते थे और उसमें एक सांस्कृतिक एकता का अनुभव करते थे और यह समझते थे कि बाहरी रूप चाहे जितने भिन्न हो, वह एक ही भाव से भरा हुआ है। हिंदुस्तान में उनके समय में विचार की जो अलग-अलग धाराएँ बह रही थीं, उनमें एक समन्वय पैदा करने का उन्होंने पूरा प्रयत्न किया, और इस बात का प्रयत्न किया कि विविधता के बीच से एकता पैदा करें। बत्तीस वर्ष के छोटे-से जीवन में उन्होंने जो काम कर दिखाया, वह ऐसा था कि कई लंबे जीवनों में दूसरा न कर पाता, और उन्होंने अपने शक्तिशाली मस्तिष्क और संपन्न व्यक्तित्व की ऐसी छाप हिंदुस्तान पर डाली कि वह आजतक बनी हुई हैं। उनमें दार्शनिक और विद्वान का, जड़वादी और रहस्य-वादी का, कवि और संत का, और इन सबके अलावा एक व्यावहारिक सुधारक और योग्य संगठनकर्त्ता का एक अजीब मेल था। ब्राह्मण-धर्म के अंतर्गत उन्होंने पहली बार दस ग्रंथ बनाये और इनमें से चार अब भी खूब चल रहे हैं। उन्होंने चार बड़े मठ स्थापित किये, जो हिंदुस्तान के लगभग चार छोरों पर हैं। इनमें से एक मैसूर में श्रृंगेरी में था, एक पूर्वी समुद्र-तट पर पुरी में, तीसरा काठियावांड़ में पच्छिमी समुद्र-तट पर द्वारका में, और चौथा बीच हिमालय में बद्रीनाथ में। बत्तीस वर्ष की उम्र में, दक्खिन के गर्म प्रदेश का यह ब्राह्मण, केदारनाथ में, ऊँचे हिमालय के बर्फ से ढंके प्रदेश में परलोक सिधारा।

ऐसा जान पड़ता है कि शंकर इस राष्ट्रीय एकता और समान चेतना के भाव को और भी बढ़ाना चाहते थे। अपने चार बड़े मठों का हिंदुस्तान के उत्तर, दक्खिन, पूरब और पच्छिम के कोनों में स्थापित करके, यह स्पष्ट है कि वह संस्कृति के विचार से मिले-जुले हिंदुस्तान की कल्पना को बढ़ावा देना चाहते थे। ये चारों जगहें कुछ अंशों में पहले भी तीर्थस्थल रही हैं, और अब तो और भी अधिक हो गई हैं।

प्राचीन हिंदुस्तानी अपने तीर्थ के स्थानों का कैसा अच्छा चुनाव किया करते थे। प्रायः सदा ये स्थान रमणीक स्थल हुआ करते थे और उनके आस-पास प्रकृति की छवि देखने को मिलती थी। काश्मीर में अमरनाथ की बर्फीली गुफा है, दक्खिन हिंदुस्तान के बिल्कुल छोर पर रामेश्वर के पास कन्याकुमारी का मंदिर है। फिर काशी है, और हरिद्वार है, जो हिमालय के तले पर है और जहाँ से गंगा टेढ़ी-मेड़ी पहाड़ी घाटियों को पार करके मैदानी प्रदेश में आती है। और प्रयाग है, जहाँ गंगा और यमुना का संगम होता है, और वृंदावन है, जो जमुना-तट पर है, जिनके गिर्द कृष्ण की कथाएं जुड़ी हुई हैं, और बोध गया है, जहाँ बताया जाता है कि बुद्ध ने ज्ञान प्राप्त किया था और दक्खिन हिंदुस्तान में अनेक जगहें हैं। बहुत-से पुराने मंदिरों में विशेषकर दक्खिन में प्रसिद्ध मूर्तियां बनी हुई हैं और दूसरे कलात्मक अवशेष हैं। इस तरह से बहुत-से तीर्थों की यात्रा करने से पुरानी हिंदुस्तानी कला की झांकी मिल जाती है।

कहा जाता है कि शंकर ने हिंदुस्तान में व्यापक धर्म के रूप में बौद्ध-मत का अंत करने में मदद दी और उसके बाद ब्राह्मण-धर्म ने उसे भाई की तरह गले लगाकर अपने में समाविष्ट कर लिया। लेकिन शंकर के समय से पहले भी हिंदुस्तान में बौद्धधर्म सिमट रहा था। शंकर के कुछ विरोधी ब्राह्मण उन्हें छिपा हुआ बौद्ध बताते थे। यह बात सही है कि बौद्धधर्म का उनपर असर पड़ा था।

संस्कृति और साधना के शलाका पुरुष : श्री शंकर

—पद्मविभूषण महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज

आचार्य शंकर के ही प्रभाव तथा प्रयत्न से वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा हुई। उनके ब्रह्मचर्य, विद्या, धी, प्रतिभा तथा तपश्चर्या का नल समस्त देश को अवनत मस्तक से मानना पड़ा था। यद्यपि वैष्णव, शैव, शाक्त, तांत्रिक आदि सभी सम्प्रदाय उनके द्वारा प्रचारित अद्वैत सिद्धान्त के विरोध में सैकड़ों वर्षों से घोरतर विरोध करते आ रहे हैं, तथापि यह निश्चित है कि इससे उनका प्रताप तथा प्रभाव क्षीण नहीं हुआ। शंकराचार्य ने शास्त्रीय विचार से विभिन्न मतावलम्बियों सब विपक्षियों को पराजित किया था। जो सब पुण्यक्षेत्र उस समय विधर्मियों के अधीन हुए थे, उन्होंने यथाशक्ति उनका उद्धार किया था। स्वयं ग्रन्थ रचना कर तथा शिष्यों द्वारा ग्रन्थों की रचना करा कर शास्त्रों के सिद्धान्त की यथार्थ व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर ने वैदिक धर्म तथा उपनिषदादि के निगूढ़ रहस्य को समझाने के लिए मार्ग परिष्कृत कर दिया था। उन्होंने ऐसा प्रबन्ध कर दिया था, जिससे समग्र देश की जनता उनके द्वारा प्रचारित धर्म का मर्म ग्रहण कर सके। यदि श्री विद्यार्णव का मत सत्य मान लिया जाए तो मानना होगा कि उन्होंने जैसा एक ओर गृहत्यागी संन्यासियों के लिए शुद्ध ज्ञान मार्ग का उपदेश दिया था, वैसे ही पक्षान्तर में गृहस्थों के लिए उपासना मार्ग भी प्रकाशित किया था। मठों की स्थापना का उद्देश्य यह था कि उनके निर्वाण के अनन्तर भी समग्र देश में वर्णाश्रम धर्म वेदान्त के दृढ़ आश्रम में सुरक्षित रह कर तत्-तत् मठ के अनुकूल स्थिर रहे।

(भारतीय संस्कृति और साधना)

हिन्दुत्व के केन्द्र श्री शंकर

पद्मभूषण राष्ट्र कवि डा० रामधारी सिंह दिनकर

शंकर भारतीय चिन्ताधारा में आकस्मिक घटना की तरह नहीं आये। उनकी परम्परा की लकीर उपनिषदों से आगे ऋग्वेद से नासदीय सूक्त तक पहुंचती है। नासदीय सूक्त ने जीवन और सृष्टि के विषय में जो मौखिक प्रश्न उठाए थे, उन्हीं प्रश्नों का समाधान खोजते-खोजते पहले उपनिषद्, फिर बौद्ध दर्शन और सबके अन्त में शंकर का सिद्धान्त प्रकट हुआ।

शंकराचार्य का सबसे बड़ा महत्त्व यह है कि उन्होंने हिन्दुओं को पौराणिक धर्म से मोड़कर उपनिषदों की ओर उन्मुख कर दिया। जैसे गीता ने बीसवीं सदी में आकर लोकमान्य तिलक के हाथों नवीनता प्राप्त की, वैसे ही शंकराचार्य के हाथों उपनिषदों की शिक्षा नवीन हो गयी। उन्होंने अपने सारे ग्रन्थ इस भाव से लिखे कि मनुष्य को ब्रह्म का सान्निध्य प्राप्त करने का मार्ग स्पष्ट दिखाई पड़े।

उनका दूसरा महत्त्व यह भी है कि अद्वैत को प्रमुखता देते हुए भी उन्होंने विष्णु, शिव, शक्ति और सूर्य पर स्तोत्र लिखे, जिससे हिन्दुत्व में समन्वय लाने का आग्रह प्रकट होता है। वे आध्यात्मिक सुधारक और सन्त थे एवं शाक्त मन्दिरों में बलि देने की प्रथा का उन्होंने अनेक स्थानों पर विरोध किया था। संघों के अनुकरण पर उन्होंने संन्यासियों के संघ स्थापित किए तथा भारत की भौगोलिक एकता को प्रत्यक्ष करने के निमित्त देश की चार दिशाओं में उन्होंने चारपीठ भी बसाए, जो बदरिकाश्रम, द्वारका, जगन्नाथ पुरी और शृंगेरी में अवस्थित हैं तथा जहाँ जाने की धार्मिक अभिलाषा प्रत्येक हिन्दू के मन में रहती आयी है।

(संस्कृति के चार अध्याय)

वैदिक आर्य-धर्म के पुनरुद्धारक

—आचार्य परशुराम चतुर्वेदी
संत साहित्य के ख्यातिलब्ध विद्वान्

आचार्य शंकर ने अपना मुख्य ध्येय बौद्ध तथा जैन जैसे अवैदिक धर्मों का इस देश से बहिष्कार कर अपने धार्मिक समाज में एकता स्थापित करना बना रखा था। इन्होंने अपने मत का मूल आधार श्रुति अर्थात् वैदिक साहित्य को ही स्वीकार किया और उसके प्रतिकूल पड़ने वाले मतों का खंडन तथा विरोध किया। उक्त दोनों धर्मों के अनुयायियों को नास्तिक ठहरा कर इन्होंने हिन्दू धर्म के भिन्न-भिन्न प्रचलित सम्प्रदायों की कटु आलोचना की। उनके मतों के अधिकांश को वेद वाह्य बतलाया, उनके आधार स्वरूप माने गए वेद वाक्यों को इन्होंने भिन्न प्रकार से अर्थ किए और उन्हीं अर्थों को वेद सम्मत सिद्ध कर उनकी संगति अन्य स्थलों के साथ भी दिखला दी। इस प्रकार वेदों की एक वाक्यता प्रतिपादित करते हुए इन्होंने नवीन सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया, जिसके दार्शनिक अंश को वेदांत तथा साधना को स्मार्त मार्ग कहते हैं। इनका कहना है कि श्रुति की मूल सिद्धांतों द्वारा एक नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत् एवं आनंद स्वरूप मुक्त स्वभाव ब्रह्म का प्रतिपादन होता है। इसके सिवाय अन्य कुछ भी सत्य नहीं और जिसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना ही वास्तविक मोक्ष है। किन्तु इस ज्ञान-साधना के पहले यह परमावश्यक है कि वेद निहित नियमानुसार अपने वर्णाश्रम धर्म का भलीभाँति पालन कर अपने अंतःकरण को शुद्ध कर लिया जाए, चाहे वह शुद्धि एक वा अनेक जन्मों के अभ्यास द्वारा क्यों न प्राप्त होती हो।

स्वामी शंकराचार्य ने प्रचारार्थ प्रायः सारे भारतवर्ष में भ्रमण किया। भिन्न-भिन्न प्रचलित मतों के प्रधान आचार्यों से शास्त्रार्थ किए, अनेक स्थलों पर अपने अपने प्रवचनों द्वारा सर्व साधारण को प्रभावित करने की चेष्टा की। देश की चारों दिशाओं में अपने चार मठ भी स्थापित किए। इनका प्रधान उद्देश्य वैदिक आर्य-धर्म का पुनरुद्धार था। इनके मत का मूल आधार वेदों तथा उपनिषदों की वह व्याख्या थी जो इन्होंने स्वयं अपने तर्क तथा बुद्धि के अनुसार की थी। इसके लिए इन्होंने स्वभावतः खंडन-मंडन की तर्क प्रणाली का अनुसरण किया जिसका प्रभाव शिक्षित वर्ग पर पड़ सका। इस श्रेणी के लोगों के लिए इन्होंने भगवद्गीता, वेदांत सूत्रों तथा कुछ उपनिषदों पर अपने भाष्यों की भी रचना की, जिनमें इनके पाण्डित्य का पूर्ण परिचय मिलता है। फिर भी सर्व साधारण हिन्दुओं के लिए अपना एक स्मार्त सम्प्रदाय भी संगठित किया। इसके द्वारा सभी अन्य हिन्दू सम्प्रदायों के भी व्यक्ति प्रभावित हो सकते थे और जिसके सिद्धांतों को न्यूनाधिक स्वीकार करते हुए वे अपने को एक बृहत् आर्य धर्म का अनुयायी भी मान सकते थे। इन्होंने मठों और मन्दिरों की स्थापना तथा संन्यासियों के संगठन द्वारा भी उक्त प्रचार को बड़ी सहायता पहुँचाई।

(उत्तरी भारत की संत परम्परा)

श्री शंकर का बंधुत्व आज भी प्रासंगिक

महामहिम राष्ट्रपति श्री आर० वेंकट रामन

'इस सजग मनीषी के सिद्धान्तों और आध्यात्मिक ज्ञान ने 32 वर्ष की अल्पायु में ही भारतीय दर्शन, कविता, विज्ञान, नैतिकता, मानववाद तथा आध्यात्मिकता पर ऐसी गहरी छाप छोड़ दी, जो आज भी स्पष्ट है। उन्होंने संघर्षों और हिंसा से भरे इस जग में विश्वबंधुत्व का जो संदेश दिया वह आज भी प्रासंगिक है।

श्री शंकराचार्य के समान राष्ट्रीय एकता की दिशा में कोई कार्य करने वाला अन्य व्यक्तित्व नहीं है। उन्होंने परस्पर विरोधी धार्मिक पंथों के बीच सामंजस्य स्थापित किया। अवांछनीय कुरीतियों का खुल कर खंडन किया तथा खोखले कर्मकांड के विरुद्ध संघर्ष कर आध्यात्मिक ज्ञान के द्वार सबके लिए खोल दिए। उन्होंने दार्शनिक उपदेशों को अति सरल ढंग से लिख और गाकर संस्कृत को लोकप्रिय बनाया। उनका दृष्टिकोण सनातन था। वह ऐसे समय में अवतरित हुए जब समाज विभिन्न टुकड़ों में बँटा था। उन्होंने विद्वानों व अशिक्षितों—सभी को प्रभावित किया। उनकी विश्वबंधुत्व की भावना आज भी सार्थक है। उनका कर्म से मतलब मानवीय मूल्यों से था, जिसके फलस्वरूप समाज में शांति व सद्भावना बनी रही।

(हिन्दुस्तान दैनिक, 22 अप्रैल, 1988)

श्री शंकराचार्य की शिक्षा अधिक सामयिक

माननीय श्री राजीव गाँधी
(प्रधानमंत्री भारत)

श्री शंकराचार्य उच्चकोटि के दार्शनिक थे। उनकी कविताओं में भावीत्मक मधुरता है। उनकी कृतियों में ब्रह्मांड की सत्यता का गहरा बोध है। उनका असीमित विश्वव्यापी दृष्टिकोण यह था कि ब्रह्म सभी में व्याप्त है और मतान्तरों से ऊपर है।

आज मानव जाति के अस्तित्व के लिए विज्ञान व अध्यात्म का समन्वय आवश्यक है। गंगा को प्रदूषण मुक्त करने के अभियान का संकेत व संदेश मानसिक प्रदूषण से मुक्ति का भी हैं जिसके लिए अलग से मानव संसाधन विकास मंत्रालय बनाया गया है। इसका उद्देश्य है कि सत्य, अहिंसा और मानवता के प्राचीन मूल्यों को पुनर्स्थापित किया जा सके। शंकराचार्य के ग्रन्थों में कर्म, ज्ञान, भक्ति की त्रिवेणी निरन्तर प्रवाहित हो रही है। उनके बाद के दार्शनिक उनसे प्रभावित रहे हैं।

श्री शंकराचार्य की शिक्षा आज कहीं अधिक सामयिक और उपयोगी है।

(हिन्दुस्तान दैनिक, 22 अप्रैल, 1988)

आदिगुरु शंकराचार्य

श्री विष्णु प्रभाकर
अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त साहित्यकार

(1)

बहुत-बहुत पुरानी बात है। सैकड़ों-सैकड़ों साल पुरानी बात।

एक ब्रह्मचारी था। होगा छः साल का, लेकिन मुख पर तेज इतना कि जैसे सूरज धरती पर उतर आया हो। उसका ज्ञान देख सब दाँतों तले उंगली दबाते। दया-माया का तो बस सागर था। सदा की तरह एक दिन वह भीख माँगने निकला। चलता-चलता एक विधवा के घर के सामने पहुँचा। पुकारा, "माँ, भीख दो।"

विधवा ने आवाज सुनी, जैसे किसी ने मौत की सजा सुनाई हो। घर में एक दाना न था। बेचारी रोती जाती, कोने ढूंढती जाती, पर कुछ हो तो मिले। बहुत ढूंढने पर एक सूखा आँवला मिला। उसी को लेकर बाहर आई। बड़े आदर से ब्रह्मचारी को दिया। फिर रो-रोकर अपनी करुण कहानी सुनाई। बालक तो दया का सागर था। उसका दिल रो उठा। कहते हैं, वह वहीं बैठ गया और लक्ष्मी-माँ की गुहार करने लगा। माँ बालक की पुकार कैसे अनसुनी करती! उसने विधवा का घर सोने के आँवलों से भर दिया।

एक दिन इस ब्रह्मचारी की भेंट एक साधु से हुई। साधु ने बालक को देखा, बालक के तेज को देखा। दंग रह गया। पूछा, "तुम कौन हो?"

बालक मुसकराया, बोला, "मैं नहीं जानता।"

साधु ने फिर पूछा, "सच! तुम नहीं जानते कि तुम कौन हो?"

बालक ने फिर वही जवाब दिया, "मैं नहीं जानता कि मैं कौन हूँ। आप कोई ऐसा उपाय बताइये जिससे मैं अपने को जान सकूं।"

साधु बोले, "अपने को जानना चाहते हो, यही तो असली बात है। पर संसार में रहकर इसको नहीं जाना जा सकता।"

बालक ने उत्तर दिया, "नहीं महाराज, यह बात हमारे अपने भीतर है। इसे खोजने बाहर न जाना पड़ेगा। आत्म-चिंतन से यह पाई जा सकती है।"

साधु उस बालक की यह गूढ़ वाणी सुनकर चकित हो उठे । उन्होंने उसे बहुत-बहुत आशीर्वाद दिया और चल पड़े । बालक पीछे-पीछे चला । साधु ने देखा तो पूछा, "क्या चाहते हो ?"

"संन्यासी होना ।"

साधु और भी चकित हुए, बोले, "अभी तुम्हारी आयु साधु होने की नहीं है, फिर तुम अपनी माँ के इकलौते बेटे हो । उनकी अनुमति के बिना ऐसा करना उचित नहीं है ।"

यह कहकर साधु चले गये । बालक वहीं बैठकर सोचने लगा मैं कौन हूं ?' धीरे-धीरे दिन डूब गया । रात आ गई । चारों और घना अंधेरा छा गया, पर बालक को कोई सुध-बुध नहीं । उधर माँ राह देखते-देखते थक गई । आखिर कुछ लोगों को लेकर ढूंढ़ने निकली । तब कहीं वह घर लौटा ।

वह बालक कौन था, इतना तेज, इतना ज्ञान कि यकीन न आये ।

बात कुछ ऐसी ही है, लेकिन है सच । इस बालक का नाम दुनिया जानती है । जानती ही नहीं, पूजा करती है । बड़ा होकर यह बालक 'शंकराचार्य' के नाम से मशहूर हुआ । भला शंकराचार्य का नाम कौन नहीं जानता ! कुल बत्तीस साल वह इस दुनियां में रहे । बत्तीस साल तो हम-आप खेलते-खाते बिता देते हैं । मानते हैं कि ज्ञान की बात करना बड़े-बूढ़ों का काम है । लेकिन शंकर ने बत्तीस साल की आयु में गजब कर दिया । सारा देश घूम डाला । पढ़ा इतना कि अचरज होता है । किताबें इतनी लिखीं कि यकीन नहीं आता । और ज्ञान-सा ज्ञान, दुनिया दांतों तले उंगली दबाती हैं । बड़े-बड़े पंडित अर्थ करते घबराते हैं ।

आओ, हम भी इस अनोखे महापुरुष की कहानी कहकर कुछ सीखें, कुछ पायें ।

(2)

शंकर कब पैदा हुए, इस बारे में कई राय हैं । लेकिन अब कुछ बातें तय हो गई हैं । माना जाता है कि वह 788 ई० में पैदा हुए और 820 ई० ब्रह्म लीन हुए । सुन्दर केरल प्रदेश के कालटी गाँव में उनका जन्म हुआ । आलवाई नदी के किनारे पर यह गांव बसा है । पर्वत भी दूर नहीं है । इन सब बातों से इस गाँव की सुन्दरता और भी बढ़ गई है ।

शंकर के माता-पिता नम्बूदरी (नम्पूतरी) ब्राह्मण थे । ब्राह्मणों में नम्बूदरी ब्राह्मण बड़े ऊंचे हैं । पूजा-पाठ, आचार-विचार से उन्हें बड़ा अनुराग है । शंकर के पिता शिवगुरु ऐसे ही वैरागी थे । बड़ी कठिनता से शंकर के बाबा ने उनका विवाह किया । इनकी मां के बहुत से नाम सुने जाते हैं । अधिकतर लोग सुभद्रा कहते हैं । हम भी सुभद्रा कहेंगे । शिवगुरु और सुभद्रा दोनों बड़े ऊंचे विचारों के थे । बड़ी साधना के बाद बड़ी उमर से शंकर का जन्म हुआ । अभी तीन साल के ही थे कि शिवगुरु चल बसे । बेचारी विधवा माँ इनको लेकर अकेली रह गई । बड़े प्रेम से इन्हें पाला-पोसा । वह इन्हें बहुत प्यार करती थी । दुनिया जानती है कि शंकर माँ को कितना प्यार करते थे ।

कहते हैं, आठ साल की उम्र में ही शंकर ने सब-कुछ पढ़ डाला था । फिर अपने के जानने की धुन लगी । साधु बनने को तड़पने लगे । पर जब तक माँ न कहे, साधु कैसे बनें ? और माँ कहें कैसे ? उसका शंकर के सिवा और कौन ? उसी को साधु बन जाने दे ? और शंकर भी अडिग । माँ की अभिलाषा थी कि बेटे का विवाह करके बहू का मुंख देखे । बेटे की अभिलाषा थी कि साधु बनकर अपने को जाने ।

इसी तरह कई दिन बीत गये । शंकर दुखी थे कि वह अपने को नहीं जान पायेंगे । माँ दुखी थी कि पति गये, अब पुत्र भी चला । तभी एक दिन हुआ क्या कि माँ-बेटे दोनों नदी में नहाने गये । माँ नहाकर कपड़े बदलने लगी । शंकर पानी में उतरे । हाय राम ! यह क्या हुआ ? वह तो जोर से चीख पड़े । माँ ने

वह चीख सुनी तो जैसे कलेजा फट गया। मुड़कर देखा —एक भयानक घड़ियाल ने शंकर का पैर पकड़ रखा है। कहाँ वह कोमल बालक, कहाँ खूंखार जानवर! शंकर ने पैर-छुड़ाने की बहुत कोशिश की, माँ ने अनेक उपाय किये, पर कुछ न बना। सोचो तो कितना करुणाजनक नजारा रहा होगा। असहाय माँ घाट पर खड़ी बिलख रही है, बेटा मौत में लड़ रहा है, तड़फड़ा रहा है।

आखिर शंकर को एक बात सूझी। माँ से बोले, "माँ, मैं अब तो मर ही रहा हूँ। आप मुझे संन्यासी बन जान दें। मोक्ष तो मिलेगा।"

बेबस मां क्या करती! बेटे की बात मान ली। तभी क्या हुआ? आसपास से मछुए दौड़ पड़े। वह शोर मचाया कि मगर को भागते बना। संयोग की बात है। शंकर को बचना था। मां खुशी से भर उठी। शंकर को लेकर घर लौटी। यह भी भूल गई कि शंकर अब संन्यासी बन चुके हैं। पर शंकर जानते थे। उन्होंने माँ से कहा, "तुमने संन्यासी बन जाने दिया तभी मैं बच सका। अब मुझे जाने दो। गुरु की तलाश करके नियमपूर्वक संन्यासी बनूंगा।"

माँ जानकर भी अनजान बन गई। किसी भी तरह वह शंकर को जाने देना नहीं चाहती थी। माँ जो थी, पर शंकर भी शंकर थे। आखिर माँ झुकी, बोली, "जाने दूंगी' पर दो बातें मेरी मानोगे?"

शंकर ने कहा, "मानूंगा, कहो।"

माँ बोली, "मैं जब मरूं तो तुम मेरे पास आ जाना।"

शंकर ने वचन दिया, "आऊंगा, मां।"

"और अपने हाथ से ही मुझे जलाना।"

"यह भी करूंगा, माँ।"

संन्यासी ऐसा नहीं कर सकते, पर शंकर क्या औरों जैसे थे? माँ को दुःख कैसे पहुंचाते! बेटा छिन गया, इतना क्या कम था! फिर रूढ़ियों को तोड़ना उनका काम था।

सो माँ से विदा लेकर चल पड़े गुरु की खोज में। उत्तर की ओर चले। चलते गए, चलते गए, वन-जंगल आये, पर्वत आये, पर्वत नदियाँ आईं। सबको पार करते हुए वह नर्मदा के किनारे पर ओंकारनाथ के पास पहुंचे। यहाँ एक गुफा में गोविन्द मुनि तप करते थे। शंकर ने इनका बड़ा नाम सुना था। इन्होंने भी जब शंकर को देखा तो देखते रह गये। फिर कुछ प्रश्न पूछे। उनका उत्तर सुना तो जैसे आँखें खुल गईं। यह उमर और यह ज्ञान! तुरन्त शिष्य बना लिया। तीन साल तक शंकर गुरु के पास रहे। वेदान्त की गहरी बातें बड़ी सुगमता से उन्होंने सीख लीं। यहां कुछ ऐसी बातें भी हुईं कि जिन पर यकीन नहीं होता। जैसे कि एक बार बड़ी भारी बाढ़ आई। गुरुदेव गुफा में समाधि लगाये बैठे थे। हो तो क्या हो! पानी गुफा में गया और गुरुदेव मरे। सब घबरा उठे। पर शंकर जरा भी विचलित न हुए। मंत्र पढ़ कर एक घड़ा दरवाजे पर रख दिया। बस, पानी गुफा में नहीं जाता था, घड़े में जाता था। गुरुदेव बच गये।

बात ऐसी हुई होगी कि शंकर ने साहस करके किसी दूसरी तरफ नाली निकाल दी होगी। पानी उधर बह गया होगा। आज भी जब कोई साहस का काम करता है तो कह देते हैं—अरे, उसने तो जैसे मंत्र पढ़ दिया। जो हो, गुरुदेव बहुत खुश हुए, बोले, "शंकर, तुम्हारी शिक्षा पूरी हुई, अब तुम काशी जाओ। जो कुछ मैंने पढ़ाया है, उसे वहाँ सिखाओ।

गुरुदेव को शंकर पर अगाध विश्वास था। वह मानते थे कि एक दिन यह वेदान्त का प्रकाश भारत-भर में फैला देगा। एक बार उनके गुरु गौड़पाद वहां आये थे। उन्होंने शंकर के तेज को देखकर

कहा था, "यह एक महापुरुष होगा। वैदिक धर्म का प्रकाश फैलाएगा।" यही हुआ भी। काशी में जब शंकर पहुंचे तो कुल बारह साल के थे। उनका ज्ञान देखकर पण्डित हैरान रह गये। देखते-देखते उनके शिष्य बढ़ने लगे। उनका नाम फैलने लगा। उस समय तक बौद्ध धर्म का रूप पलट गया था। उसमें गिरावट आ गई थी। वाममार्गी कापालिक बढ़ रहे थे। अनाचार बढ़ रहा था। तर्क ने दर्शन को जड़वादी बना दिया था। शंकर ने सबसे लोहा लिया। वैदिक धर्म के सच्चे रूप का प्रचार किया। वह सच्चा रूप था—अद्वैत-तत्त्व यानी ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, माया है। जीव ब्रह्म से अलग नहीं है, ब्रह्म ही है।

एक दिन शंकर शिष्यों के साथ गंगा-तट पर जा रहे थे। राह में उन्हें एक चाण्डाल मिला। चार भयानक कुत्तों के साथ उसने राह रोक रखी थी। शंकर ने यह देखकर पुकारा, "अरे, दूर हट, दूर हठ।"

लो, चाण्डाल हटना तो दूर, खिलखिला पड़ा, बोला, "आप तो उपनिषद् पढ़ाते हैं। मानते हैं कि ब्रह्म और जीव एक हैं। तब आप किसे दूर हटा रहे हैं? सूरज का प्रकाश सब पर एक-सा पड़ता है। मैं ब्राह्मण हूँ और तू चाण्डाल! तू दूर हट। यह आप का झूठा आदेश है। सब शरीरों में एक समान रहने वाले भगवान् को आप भूल रहे हैं। आप तो मोक्ष देने वाली विद्या पा रहे हैं, फिर आपके मन से जन-संग्रह की कामना क्यों जग रही है?"

शंकर ने चाण्डाल की बातें सुनीं, जैसे आँखें खुल गईं। विनय से सिर झुक गया। अपनी गलती मानते हुए वह बोले, "आपने जो कुछ कहा, एकदम ठीक कहा। आपके वचनों से मेरा संशय मिट गया। यही नहीं, उन्होंने चाण्डाल को अपना गुरु माना और भक्ति भाव से उसे प्रणाम किया, क्योंकि वह मानता था कि जो चेतनता विष्णु, शिव आदि देवताओं में है, वही कीड़े-मकोड़े जैसे छोटे जीवों में भी है। ऐसा दृढ़ता से मानने वाला गुरु ही हो सकता है। कहते हैं, चाण्डाल के रूप में भगवान् शिव ही शंकर की परीक्षा लेने आये थे। पर ये सब बातें बाद में जुड़ गई हैं। हर महापुरुष के साथ जुड़ जाती हैं।

(3)

इसके बाद शंकर ने सोचा—व्यास भगवान् ने जो कुछ लिखा है, मैं क्यों न उसको सरल रूप में समझाऊं। यह काम नगरों के शोर में न होगा। मुझे कहीं तपोवन में जाना चाहिए। यह सोचकर वह हिमालय की ओर चल पड़े। गंगा के किनारे-किनारे वह हरिद्वार गये, अनेक तीर्थों के दर्शन किये। इधर नर-बलि देने की रीति थी। लोगों को समझा-बुझाकर उसे दूर किया। फिर आगे बढ़ते-बढ़ते बदरीनाथ पहुंचे। राह कठिन थी, पर स्थान मनोरमा था। कलकल करती अलखनंदा अलख जगा रही थी। दोनों ओर नर-नारायण पर्वत हाथ फैलाये खड़े थे, मानो तप कर रहे हों। पास ही ऊंची-ऊंची चोटियां बरफ से ढकी हुई थीं। सूरज की किरणें उन पर पड़तीं तो भगवान् जैसे हंस पड़ते।

वहां नारायण का मंदिर था, पर नारायण की मूर्ति न थी। विदेशियों के हमले के समय लोगों ने उसे नाद-कुण्ड में डाल दिया था। शंकर ने उसे निकाला, विधिपूर्वक उसे स्थापित किया। वहां के पुजारी पढ़े-लिखे न थे। तब शंकर ने यह नियम बनाया कि नम्बूदरी ब्राह्मण ही यहां पूजा करेंगे। आज भी उस मंदिर के पुजारी केरल से आते हैं। इसका एक और लाभ हुआ। उत्तर-दक्षिण का मेल बढ़ा।

यहां से कुछ नीचे शंकर ने एक मठ बनाया। उसका नाम था ज्योतिर्मठ, जो अब 'जोशी मठ' कहलाता है। उसके बाद वह बदरीनाथ से भी आगे 'व्यास गुफा' में गये। सरस्वती नदी के तट पर यह गुफा आज भी मौजूद है। यहां पर बैठकर शंकर ने ब्रह्मसूत्र पर, गीता पर, उपनिषदों पर सरल टीकाएं लिखीं। चार साल वह यहां रहे और इन चार वर्षों में सब टीकाएं लिख डालीं, कठिनता को सरल कर दिया।

घूमते-घूमते वह केदारनाथ गये, गंगोत्री गये, फिर उत्तर काशी आये। यहां एक अनोखी घटना घटी। पंडितों ने बता रखा था कि शंकर की आयु सोलह वर्ष की है। वह पूरी हो चुकी थी। वह उस समय कुछ उदास से भी थे। एक दिन शिष्यों को ब्रह्मसूत्र पर अपनी टीका पढ़ा रहे थे, तभी एक ब्राह्मण वहां आया। काला रंग, पर बड़ा तेजवान। उसने शंकर से पूछा, "तुम कौन हो और क्या पढ़ा रहे हो ?"

एक शिष्य ने उत्तर दिया, "ये हमारे गुरु हैं। उपनिषदों के पंडित हैं। व्यास-मुनि के ब्रह्मसूत्रों पर इन्होंने टीका लिखी है।"

यह सुनकर वह ब्राह्मण चकित हो उठा। बोला, "भला इस कलियुग में ऐसा कौन है, जो व्यास के सूत्रों का सच्चा मर्म समझ सके। मैं ऐसे पंडित की तलाश में हूँ। एक सूत्र के अर्थ के बारे में मेरे मन में शंका है। यदि तुम्हारे गुरु उसका मर्म जानते हैं तो मेरी शंका दूर करें।"

शिष्यों ने गुरु की ओर देखा और गुरु ने उस तेजवान ब्राह्मण को देखा। फिर शीश झुकाकर बोले, "सूत्र का मर्म जानने वालों को मैं नमस्कार करता हूं। मैं जानने का अभिमान नहीं करता। फिर भी आप जो कुछ पूछेंगे उसका समाधान करने की कोशिश करूंगा।"

कहते हैं, वह ब्राह्मण सात दिन तक लगातार सवाल पूछता रहा, शंकाएं उठाता रहा और शंकर शांत भाव से जवाब देते रहे। वह जितना अधिक संदेह प्रकट करता, शंकर उतनी ही मजबूती से उसे दूर करते जाते। आखिर वह ब्राह्मण प्रसन्न हुआ। कथा आती है कि व्यास मुनि ही ब्राह्मण का रूप धरकर शंकर की परीक्षा लेने आये थे। जब शंकर परीक्षा में सफल उतरे तो व्यास ने अपना रूप प्रकट कर दिया। बोले, "सोलह वर्ष में तुम्हारी मृत्यु होने वाली थी, मैं तुम्हें सोलह साल और देता हूं। जाओ, भारत में वेदांत का प्रकाश फैला दो।"

इस कथा का भी वही आशय है। शंकर परम पंडित थे, महापुरुष थे। इन कथाओं से यही बताने की कोशिश की गई है। इसी समय उन्होंने सुना—कुमारिल नाम के एक बहुत बड़े पंडित प्रयाग में रहते हैं। उनको अगर अपने मत में मिला सके तो बहुत सुगमता से वेदांत का प्रकाश घर-घर में पहुंच सकेगा।

बस, शंकर हिमालय को छोड़कर फिर मैदान में उतर आये। चल पड़े यमुना किनारे-किनारे प्रयाग की ओर।

(4)

कुमारिल भट्ट बहुत बड़े पंडित थे। उनके जीवन के बारे में पूरी बातों का पता नहीं लगता। इतना ही पता लगता है कि वह घर-गिरस्ती वाले थे। इनके पास धान के बहुत खेत थे। इन्होंने बौद्ध धर्म का खंडन किया है। पर उससे पहले उस धर्म का खूब मनन भी किया। उन्होंने, कहते हैं, मशहूर बौद्ध आचार्य धर्मपाल को गुरु बनाया था। इनके बारे में बहुत-सी ऐसी बातें सुनी जाती हैं, जिन पर एकाएक यकीन नहीं किया जा सकता। हमें उन सब घटनाओं से कोई मतलब नहीं। हां, इन्होंने वैदिक मत का खूब प्रचार किया था। इनके अनेक चेले थे। उनमें मंडन मिश्र, प्रभाकर और भवभूति बहुत प्रसिद्ध हैं।

एक बार वह राजा सुन्धवा ने महल के नीचे से जा रहे थे। सहसा कानों में एक करुण आवाज आई। आवाज नारी की थी—"क्या करूं, कहां जाऊं, वेदों की रक्षा कौन करेगा ?"

कुमारिल ने सुना, एकदम जवाब दिया, "हे रानी, चिंता मत कर, अभी मैं भट्ट धरती पर हूं ?"

कुमारिल ने सचमुच ऐसा ही किया। कर्णाटक देश में एक बार फिर वैदिक मत गूंज उठा। शंकर ने इनके बारे में सुना था, पर मिले नहीं थे। जब मिले तो वह मिलना बड़ा करुण था। शंकर जैसे ही प्रयाग

पहुंचे, सुना—कुमारिल त्रिवेणी के तट पर भूसे की आग में अपना शरीर जला रहे हैं। बड़ा अचरज हुआ। तुरंत शिवा के पास पहुंचे। कैसा अनोखा दृश्य था। शरीर का निचला भाग जल चुका है, लेकिन मुख पर अनोखी शांति है। चारों ओर शिष्य खड़े है, आंखों से आंसू बह रहे हैं।

शंकर को देखकर कुमारिल खिल उठे। शिष्यों ने उनकी पूजा की। शंकर ने उनकी पूजा की। शंकर ने अपनी टीका उनको दिखाई, जिसे देखकर वह खुश हुए। शंकर ने पूछा, "आप जीते-जी क्यों जल रहे हैं।?

कुमारिल बोले, "मैं ने दो पाप किये हैं। मैंने ईश्वर का खंडन किया है बौद्ध गुरु का अपमान किया है। इन पापों को दूर करने के लिए मुझे जलकर मरना ही होगा। आपने टीका लिखी है, यह मैं सुन चुका पर हूं, पर...।"

शंकर ने कहा, "आपका जीवन बड़ा पावन है। आप पाप नहीं कर सकते। आप कहें तो मैं जल छिड़ककर आपको जीवित कर सकता हूं।"

कुमारिल ने ये वचन सुने तो गद्गद हो उठे, बोले, "हे महाभाग, मैं जानता हूं कि मैंने अपराध नहीं किया है। जो कुछ किया, वैदिक धर्म के प्रचार के लिए किया। फिर भी जिस गुरु से मैंने सीखा, उसी का खंडन मुझे करना पड़ा। सो जनता को सीख देने के लिए मुझे पाप का मार्जन करना ही चाहिए। वेदांत का आप प्रचार कर रहे हैं। मैं आपका साथ नहीं दे सकता। आप मेरे शिष्य मंडन मिश्र के पास जायं। वह पंडित-शिरोमणि है। उसे अपने साथ कर लीजिये। आपकी जय होगी।"

यह कहकर कुमारिलभट्ट शांत हो गये।

मालूम नहीं, यह घटना सच है या झूठ, पर है अनोखी, शंकर का सारा जीवन ही ऐसा है। जो हो, कथा आती है कि शंकर मंडन मिश्र से मिलने गये। मंडन मिश्र अद्वैत वेदांत को नहीं मानते थे। वह विरोधियों के नेता थे। उनको अपनी ओर करना जरूरी था। वह मान गये तो सारे पंडित मान गये। उनके साथ शंकर की जो बातचीत हुई, जो वाद-विवाद हुआ, वह सारी दुनिया में मशहूर है। उनको जीतते ही शंकर की धाक जम गई।

मंडन मिश्र कहां पैदा हुए, उनके माता-पिता कौन थे, इसका ठीक-ठीक पता नहीं लगता। इतना ही पता लगा है कि वह माहिष्मती नगरी में रहते थे। यह नगरी आजकल मध्यप्रदेश में नर्मदा नदी के किनारे पर मांधाता के नाम से मशहूर है। इस जगह माहिष्मती नाम की नदी नर्मदा में मिलती है। मंडन मिश्र का विशाल भवन संगम पर बना था।

मंडन मिश्र की पत्नी का नाम भारती था। वह भी पति की तरह बड़ी विदुषी थी। सारे भारत में उसका नाम फैला था। कथा आती है कि उस नगरी के सभी निवासी पंडित थे। मंडन मिश्र के दरवाजे पर टंगे पिंजरों में पक्षी भी वेदों की चर्चा करते रहते थे। जब शंकर उस नगरी में पहुंचे तो नदी-तट पर नारियां नहा रही थीं। शंकर ने उनसे मंडन मिश्र का पता पूछा। उनमें मंडन मिश्र की दासी भी थी। उसने कहा, "जिस घर के दरवाजे पर पिंजरे में बैठी मैना यह बोल रही हो, 'कर्म आप फल देता या भगवान् कर्म फल देते हैं, जगत् सदा बना रहने वाला है या नाश होने वाला, उसी घर को आप मंडन मिश्र का घर जानना।"

शंकर मंडन मिश्र के पास पहुंचे। परिचय के बाद शंकर ने अपना आशय कहा। मंडन तो वाद-विवाद में कुशल थे ही। एकदम तैयार हो गये। अब सवाल उठा, जीत-हार का फैसला कौन करेगा? आखिर में मंडन मिश्र की पत्नी भारती को यह काम सौंपा गया।

दूसरे दिन अच्छी सायत में बातचीत शुरू हुई। उस समय के दो तेजस्वी पंडितों की चर्चा सुनने के

लिए नगरी के सभी विद्वान् वहां आ गए। दोनों शांत भाव से आसनों पर बैठे। दोनों के मुख पर तेज, दोनों मंद-मंद मुस्कराते, न कांपते, न आकाश में देखते हैं, उनको पसीना आता, बस सावधान होकर एक-दूसरे के सवालों का जवाब देते। बीच में बैठे थी भारती, हार-जीत का फैसला करने के लिए। शंकर का फैसला करने के लिए। शंकर का पक्ष था अद्वैत का कि जीव और ब्रह्म एक हैं। मंडन कहते थे, जीव और ब्रह्म बराबर नहीं हो सकते। वे दो दो हैं।

इस तरह बातचीत चलते कई दिन बीत गये। हर रोज दोनों नये-नये तर्क पेश करते, परन्तु एक दिन ऐसा हुआ कि मंडन मिश्र शंकर की बात का जवाब न दे सके। भारती ने तुरंत कहा, "मेरे पति हार गये।" सोचो तो भारती कितनी बड़ी थी। पति को हारते देखकर भी सच से नहीं डिगी। शंकर ने कहा था, "मैं हार गया तो संन्यास छोड़ दूंगा।" मंडन ने कहा था, "मैं हार गया तो संन्यासी हो जाऊंगा।"

मण्डन को संन्यासी होना पड़ा, परंतु उससे पहले भारती ने कहा, "मेरे पति हारे, मैं नहीं हारी। आपकी जीत आधी जीत है। मुझे हरा देंगे तभी वह पूरी होगी। तभी मेरे पति आपके शिष्य बनेंगे।"

शंकर झिझके। पुरुष नारी से विवाद नहीं करते, पर भारती क्या साधारण नारी थी। वह नहीं मानी। शंकर को उससे वाद-विवाद करना पड़ा। परंतु आखिर में वह हार गई। मंडन मिश्र शंकर के शिष्य बन गये। और वह सुरेश्वर के नाम से मशहूर हुए। अब तो सारे उत्तर भारत में शंकर की धाक जम गई।

(5)

उत्तर को जीतकर शंकर दक्खिन की ओर बढ़े। मराठा प्रदेश में प्रचार किया। वहां से आज के तमिल प्रदेश में पहुंचे। वहां कर्नूल जिले में श्रीपर्वत एक बड़ा तीर्थ है। शिव का एक बहुत बड़ा मन्दिर है। उसकी दीवारों पर रामायण और महाभारत के चित्र बने हैं। उस काल में यहां कापालिकों का अड्डा था। ये महाभैरव के उपासक थे। इनकी पूजा बड़ी भयानक होती थी। आग में आदमी के मांस की आहुति देते थे। ब्राह्मण की खोपड़ी में शराब पीकर व्रत की पारणा करते थे। महाभैरव के सामने पुरुष की बलि देते थे।

शंकर ने इनसे लोहा लिया। वे पराजित हो गये। पर वे छली थे। एक दिन उनका गुरु, जो इनका प्यारा चेला बना हुआ था, शंकर से अकेले में बोला, "मैं सिद्धि करना चाहता हूँ। उसमें एक रुकावट पैदा हो गई है। बलि देने के लिए आप जैसे पंडित का सिर चाहिए। आप तो दयालु हैं। आपसे बढ़कर जगत् में कौन है! आप अपना सिर मुझे दे दीजिये।"

शंकर ने सुना, सोचा। परोपकारी तो थे ही, कापालिक की बात मान गये। बोले, "पर मेरे चेलों से कुछ मत कहना। अच्छा, कल आना।"

अगले दिन कापालिक भयानक रूप धारण कर आया। शंकर तब अकेले थे। उसे देखकर वह मरने को तैयार हो गये। उन्होंने समाधि लगा ली। पर शंकर के एक-दो चेले तो थे नहीं। बात कैसे छिपती। उनके प्रसिद्ध शिष्य पद्मपाद को इस जाल का पता चल चुका था। वह चुपचाप वहीं छिपे थे। जैसे ही कापालिक ने शंकर का सिर काटने को तलवार उठाई, वैसे ही पद्मपाद ने त्रिशूल से उसे मार डाला।

उसके मरते ही वहां से कापालिक मत भी खत्म हो गया। शंकर आगे बढ़ गए। गोकर्ण तीर्थ गये, हरिशंकर तीर्थ में गए, अनेक तीर्थों में गये, अनेक शिष्य बनाये। चलते-चलते वह शृंगेरी आये। शृंगेरी मैसूर राज के जिले में है। आजकल तो वह एक बहुत बड़ा मठ है। वेदांत के प्रचार का केंद्र है। शंकर ने सबसे पहले यहीं अपना मठ बनाया था। असल में जब वह काशी जा रहे थे तब उन्होंने वहाँ एक अनोखी घटना देखी थी। ताल के किनारे बहुत-से मेंढक के बच्चे खेल रहे थे। तेज धूप थी। तभी एक बहुत बड़ा

सांप वहां आया । अपना फण फैलाकर उसने बच्चों पर छाया कर दी। शंकर चकित हो उठे। पता लगा कि कभी शृंगि मुनि ने यहां तप किया था। उसी तप का यह असर है।

यही सब देखकर शंकर ने सबसे पहला मठ यहीं स्थापित किया। यहीं रहकर वह अपनी लिखी टीकाओं का प्रचार करने लगे। यहाँ का वातावरण बड़ा शांत था। नगर के कोलाहल से दूर, पास में कल-कल करती तुंगा नदी, चारों तरफ घने जंगल—ऐसे स्थान पर पढ़ने-पढ़ाने में मन न लगेगा तो कहाँ लगेगा?

अब तक शंकर के चार बड़े शिष्य बन गए थे—पद्मपाद, सुरेश्वर, हस्तामलक और तोटकाचार्य। सभी ने यहाँ रहकर बड़े-बड़े ग्रन्थों की रचना की। शंकर ने इस मठ का अधिकारी सुरेश्वर को बनाया।

यहाँ रहते-रहते शंकर को मां की याद आ गई। बस, चल पड़े अपने केरल की ओर। जैसे-जैसे वह कालटी की ओर बढ़ते थे, वैसे-वैसे उन्हें बचपन की बातें याद आती थीं। आंखों में ममता की मूरत मां नाच उठती थी। कैसी होगी वह? बहुत बूढ़ी हो गई होगी। जगत् की भलाई के लिए उसने मुझे संन्यासी बन जाने दिया। मैं उसका इकलौता बेटा था। इस बुढ़ापे में वह अकेली कैसे रहती होगी?

इस प्रकार सोचते-सोचते उनका मन भर आया। वह कालटी पहुंचे। अपने घर पहुंचे। एक दिन गुरु की खोज में घर से चले थे। आज संसार के गुरु बनकर घर लौटे। मां गद्गद् हो उठी। बेचारी बीमार थी। आखिरी घड़ियां गिन रही थी। बोली, "मैं कितनी भाग्यवान हूँ। आखिरी समय में तू आ गया। तू अच्छी तरह से है। मुझे और क्या चाहिए?"

शंकर वहीं बैठ गए। कहा, "मां, मैं कहकर गया था। क्यों न आता? बता, अब क्या करूं?"

मां बोली, "दुनिया-भर को उपदेश दिया है, मुझे भी दे जिससे मैं तर जाऊं।"

शंकर ने तब मां को भगवान् की बातें बताईं और वह कमलनयन कृष्ण का ध्यान करती हुई दूसरे लोक में चली गई।

मां चली गई, शरीर पड़ा रह गया। शंकर अब क्या करे? जाते समय कह गये थे, "मां, अपने हाथों से जलाऊंगा।" यही सोचकर उन्होंने भाई-बंदों को बुलाया, पर वे नहीं आए। संन्यासी दाह-संस्कार नहीं कर सकता। वे इस बात को मानते थे। सो उन्होंने सहायता नहीं की। शंकर ने अपनी मां के शरीर को उठाया, दरवाजे पर लाए, लेकिन नातेदारों ने, दायादों ने जलाने के लिए आग तक न दी।

शंकर घबरा जाते, हार जाते तो बात क्या थी? उन्होंने सूखी लकड़ियाँ इकट्ठी कीं और खुद आग पैदा की। फिर मां का दाह-संस्कार किया। उन्हें अपने जाति-भाइयों के बर्ताव पर बड़ा गुस्सा आया। कहते हैं कि उन्होंने शाप दिया, "मैं आप लोगों को शाप देता हूँ कि अब से आपके कुल में सदा घर के दरवाजे पर ही शव-दाह हुआ करेगा।"

मालूम नहीं, शंकर ने शाप दिया या नहीं, पर आज होता यही है। मालाबार के ब्राह्मण घर के दरवाजे पर ही शव-दाह करते हैं। शंकर का समूचा जीवन अनोखी-अनहोनी घटनाओं से भरा हुआ है, पर मां के लिए उनका प्यार सबसे अनोखा है, सबसे मधुर है। मां के सिवा उनका कौन था? मां की कृपा से उन्होंने सब कुछ पाया। ऐसी मां की ममता का वह निरादर कैसे करते? उनके नातेदार, जाति-भाई सब नाराज हो गए, विरोधी हो गए, पर शंकर ने वही किया, जो करने को कह गए थे। इसीलिए आज हम शंकर की मातृ-भक्ति को याद करते हैं।

कालटी में ही शंकर की भेंट केरल-नरेश राजशेखर से हुई। राजा ने शंकर का बड़ा आदर किया। उसने संस्कृत में तीन नाटक लिखे थे। शंकर ने उनके बारे में पूछा। राजा ने बताया कि वे तो मेरी लापरवाही से जल गए। शंकर बोले, "तो क्या हुआ! मुझे याद हैं, लिखाए देता हूँ।"

बात यह थी कि जाते समय शंकर ने इन नाटकों को सुना था, याददाश्त उनकी इतनी तेज थी कि जो एक बार सुन लेते थे, उसे कभी नहीं भूलते थे। तीनों नाटकों को उन्होंने फिर से लिखवा दिया। ऐसी कई घटनाएं उनके बारे में सुनी जाती हैं।

इस प्रकार केरल-यात्रा पूरी करके शंकर फिर शिष्यों के साथ शृंगेरी लौट आए।

(6)

शृंगेरी मठ से शंकर विजय-यात्रा पर निकले। भला उनके सामने कौन ठहर सकता था! वह हर जगह विजय-पताका फहराते घूमते रहे, वेदांत के प्रचार करते रहे। वह उज्जैनी, काशी, कांची, रामेश्वर, मायापुरी, द्वारिका, प्रयाग, पुरी, बदरीनाथ, श्रीपर्वत आदि-आदि सभी प्रसिद्ध स्थानों पर गए। ये स्थान उनके विरोधियों के गढ़ थे। यहां पर उन्होंने विरोधियों को हराकर उनको अपना अनुयायी बनाया।

शंकर ने भारत के चारों कोनों पर अपने चार मठ स्थापित किए। उत्तर में बदरीनाथ तीर्थ के पास ज्योतिर्मठ, उनके शिष्य तोटकाचार्य यहाँ के मठाधीश बने। दक्षिण में मैसूर में तुंगभद्रा के तट पर शारदा-देवी का मन्दिर बनवाया। इसके साथ जो मठ स्थापित हुआ, उसे 'शृंगेरी मठ' कहते हैं। इसके आचार्य सुरेश्वर बने। पूरब में जगन्नाथपुरी (उड़ीसा) में गोवर्धन मठ स्थापित किया, जिसके मठाधिपति पद्मपाद बनाए गए। पश्चिम में गुजरात है। वहाँ कृष्ण की नगरी द्वारिका में चौथा मठ शारदापीठ बना। हस्ता-मलक इस मठ के आचार्य के पद पर बैठे। शंकर की यह कैसी अनोखी सूझ थी। सारा भारत, उत्तर, दक्खिन, पूरब, पश्चिम एक हैं, सब जगह एक संस्कृति का बोलबाला है, एक आत्मा सब जगह रम रही है। बहुत कम मनीषी यह कल्पना कर पाए हैं। इन चारों मठों के अलावा शंकर ने और भी अनेक मठ स्था-पित किए थे।

कहते हैं, शंकर कश्मीर भी गए थे। आज भी श्रीनगर में 'शंकराचार्य की पहाड़ी' है। नेपाल जाने की चर्चा भी आती है। अन्तिम वाद-विवाद उनका गोहाटी में हुआ। वहाँ अभिनवगुप्त नाम के शक्ति के उपासक थे। यहीं पर आचार्य को भगन्दर रोग हो गया। कुछ आराम होने पर वह हिमालय में बदरीनाथ चले गए। यह स्थान उन्हें बहुत प्यारा था।

जिस प्रकार उनके जीवन की बहुत-सी घटनाओं के बारे में ठीक-ठीक कुछ नहीं कहा जा सकता, उसी तरह उन्होंने शरीर कहाँ छोड़ा, उसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। एक मत के अनुसार उन्होंने दक्खिन भारत के कांची तीर्थ में अपना शरीर छोड़ा। दूसरे मत के लोग मानते हैं कि आचार्य के प्राणों का अंत केरल के 'त्रिचूर' नामक स्थान पर हुआ। तीसरा मत यह है कि उन्होंने कैलास में जाकर शरीर छोड़ा। अधिकतर लोग इसी मत को मानते हैं, विशेषकर संन्यासी।

ऐसा जान पड़ता है कि किन्हीं और शंकर के जीवन की घटनाएं इनके जीवन की घटनाओं से मिल गई हैं। इनके चारों मठों के अधिपति भी शंकर ही कहलाते हैं। पहचान के लिए इनको 'आदि शंकर' कह देते हैं। ऐसी हालत में गलती हो जाना मामूली बात है। और भी तरह-तरह की बातें सुनी जाती हैं। कुछ लोग कहते हैं कि शंकर एक बार वाद-विवाद में हार गए थे। जैसा कि हारने वाला करता था, वह भी खौलते हुए तेल के कड़ाह में बैठकर जल मरे। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि किसी लामा ने मंत्र-तंत्र से शंकर को मार डाला था।

ये सब ऊलजलूल बातें हैं। उन जैसे ज्ञानी यतिराज और महापुरुष के लिए क्या मरना, क्या जीना। 32 वर्ष की भरी उमर में उन्होंने कैलास में समाधि ली और इस संसार से चले गए। वह तो अद्वैत के उपासक थे। अपने को ब्रह्म से अलग मानते ही न थे। इसलिए मौत उनके लिए केवल रूप का पलटना थी।

बत्तीस साल की छोटी-सी उमर में शंकर ने कितने ग्रंथ लिखे, यह भी ठीक-ठीक पता नहीं। पता यही है कि जो कुछ लिखा, निचोड़ लिखा, बेजोड़ लिखा। ऐसा लिखा कि किसी को कुछ कहने को नहीं रहा, समझने को नहीं रहा। इनकी टीकाएं इतनी पूर्ण, मंजी हुई और सरल हैं कि लोग पुराने पंडितों को भूल-से गए। टीकाओं के अलावा इन्होंने शिव, विष्णु, गणेश आदि सभी देवों की स्तुति में 64 स्तोत्र लिखे।

शंकर का 'अद्वैत वेदांत' केवल पंडितों के लिए नहीं है। वह बड़ा सरल और सीधा है। संसार के सभी प्राणी उसे अपनाकर सुखी हो सकते हैं। सबको आपस में प्रेम करना चाहिए। जब सबमें एक ही ज्योति है तो किसका आदर, किसका अनादर। हम और हमारे पड़ोसी एक ही हैं। तब पड़ोसी की सहायता अपनी ही सहायता है। स्वार्थ और परमार्थ में कोई अन्तर नहीं।

शंकर बड़े विद्वान थे तो बड़े प्रेमी भी थे। मां के प्यार की कहानी कैसी अनोखी है। शिष्यों को भी वह ऐसा ही प्यार करते थे। वह कोरे पंडित भी नहीं थे। खूब घूमते थे, खूब काम करते थे। वह कवि भी अनोखे थे। "भज गोविन्दं, भज गोविन्दं, भज गोविन्दं मूढ़मते"—यह स्तोत्र पढ़ते-पढ़ते पत्थर दिल भी नाच उठते हैं।

उनके गुणों की हम कहां तक चर्चा करें, उनके जीवन के कौन-से रूप को देखें, वह तो हर ओर से प्रकाश देता है। आज तक दे रहा है। सारे भारत में जिसने एक आत्मा की, एक ज्योति की कल्पना की, सभी जीवों को जिसने ब्रह्म माना; उस अनोखे आचार्य को हम बार-बार प्रणाम करते हैं। जिसने केवल दिलों को नहीं हिलाया, दिमाग पर भी चोट की; बुद्धि के सहारे विवेचन किया और जनसाधारण के दिलों को जीत लिया; उस अनोखे जादूगर को हम बार-बार प्रणाम करते हैं। उनके तर्क ठीक थे या गलत, इस बात पर बहस हो सकती है, पर उन तर्कों से उन्होंने समूचे भारत का मन हर लिया था; यह सत्य कोई नहीं झुठला सकता। इसीलिए हम उनको बार-बार प्रणाम करते हैं।

आचार्य शंकर प्रणीत ग्रन्थ : मेरी दृष्टि में

डा० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त
राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त दार्शनिक

यह ठीक-ठीक कहना कठिन है कि स्वयं शंकर ने कितने ग्रंथ लिखे। इसमें कोई संदेह नहीं कि शंकर द्वारा लिखित बताई गई कई पुस्तकें उन्होंने नहीं लिखीं। यद्यपि निःसंदेह रूप से निश्चत होना अत्यधिक कठिन है फिर भी मैं उन पुस्तकों की सूची प्रस्तुत करता हूँ जो मुझे उनके मौलिक ग्रंथ प्रतीत होते हैं। मैंने केवल उन्हीं ग्रंथों को चुना है जिन पर अन्य लेखकों ने टीकाएं लिखी हैं क्योंकि इससे यह स्पष्ट है कि उनकी मौलिकता का समर्थन करने के लिए उनके पास परम्परा का बल है। शंकर की सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृतियाँ दस उपनिषदों, ईश, केन, कट, प्रश्न, मुण्डक माण्डूक्य, ऐतरेय, तैतिरीक, छंदोग्य, बृहदारण्यक, पर उनके भाष्य एवं शारीरिक-मीमांसा-भाष्य हैं। उनके द्वारा संभवत नहीं लिखे गए कई ग्रंथों को उनके द्वारा लिखित बताने के दो मुख्य कारण हैं; प्रथम, यह कि उसी नाम अर्थात् शंकराचार्य के अन्य लेखक थे और दूसरा यह कि भारतीय लेखकों की यह प्रवृत्ति रही है कि बाद के ग्रंथों को अतीत के महान् लेखकों द्वारा लिखित बताकर उनकी प्रतिष्ठा को बढ़ाया जाए। व्यास को समस्त पुराणों का लेखक बताना इस बात को अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करता है। ईशोपनिषद् के शांकर-भाष्य पर आनन्दज्ञान ने एक टीका लिखी है और एक अन्य दीपिका दूसरे शंकर-आचार्य ने लिखी है। उनके केनोपनिषद्-भाष्य पर दो टीकाएं लिखी गई हैं, केनोपनिषद्-भाष्य-विवरण एवं आनन्दज्ञान कृत एक टीका। आनन्दज्ञान और बालगोपाल ने योगीन्द्र ने काटकोपनिषद्-भाष्य पर दी टीकाएँ लिखीं हैं। प्रश्नोपनिषद्-भाष्य पर दो टीकाएं हैं एक आनन्दज्ञान कृत तथा दूसरी नारायणेन्द्र सरस्वती कृत आनन्दज्ञान और अभिनव नारायणेन्द्र सरस्वती ने मुण्डकोपनिषद् पर दो टीकाएं लिखी हैं। आनन्दज्ञान एवं मथुरानाथ शुक्ल ने माण्डूक्योऽपनिषद् पर दो टीकाएं एवं राघवानन्द ने माण्डूक्योऽपनिषद् भाष्यार्थ-संग्रह नामक सार ग्रंथ लिखा है। आनन्दज्ञान, अभिनव नारायण, नृसिंह आचार्य,

1. मधुसूदन सरस्वती-कृत सिद्धांत बिन्दु, देखिए पृ० 132-150; एवं ब्रह्मानन्द सरस्वतीकृत न्याय रत्नावली, देखिए पृ० 132-150, श्री विद्या प्रेस, कुंभकोनम् 1892।

बालकृष्णदास, ज्ञानामृत यति और विश्लेश्वर तीर्थ कृत ऐतरोयोपनिषद् भाष्य पर छः टीकाएं हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि तैत्तिरियोपनिषद्-भाष्य पर केवल एक ही टीका आनन्दज्ञान ने लिखी हैं। छांदाग्योपनिषद्-पर भाष्य-टिप्पण नामक एवं आनन्दज्ञान कृत टीकाएं हैं : बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्य पर आनन्दज्ञान ने टीका

लिखी है और सुरेश्वर ने उस पर बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्य-वार्तिक अथवा केवलवार्तिक नामक एक महान् स्वतंत्र ग्रंथ लिखा है, जिस पर भी कई टीकाएं हैं; सुरेश्वर के बारे में लिखे गए अध्याय में ये बातें बताई गई हैं। उनके 'अपरोक्षानुभव' पर शंकर आचार्य बालगोपाल, चण्डेश्वर वर्मन् (अनुभव दीपिका) एवं विद्यारण्य ने चार टीकाएं लिखी हैं। गौड़पादकृत माण्डूक्य-कारिका पर उनके गौड़पादीय-भाष्य अथवा 'आगम-शास्त्र-विवरण' पर शुद्धानन्द एवं आनन्दज्ञान ने एक-एक टीका लिखी है। आनन्दज्ञान एवं पूर्णानन्द तीर्थ ने उनके आत्म-ज्ञानोपदेश पर दो टीकाएं लिखी हैं, 'एक-श्लोक' पर स्वयं प्रकाशयति ने तत्व-दीपन नामक भाष्य लिखा है, किन्तु 'विवेक-चूड़ामणि' पर कोई भाष्य नहीं लिखा गया जो शंकर का मौलिक ग्रन्थ प्रतीत होता है; अद्वयानन्द, भासुरानन्द, धीरेन्द्र, (भाव प्रकाशिका) मधुसूदन सरस्वती एवं रामानन्द तीर्थ ने आत्मबोध पर कम से कम पाँच टीकाएं लिखीं; पद्मपुराण, पूर्णानन्द तीर्थ, स्मरण और स्वयंप्रकाशयति ने 'आत्मानात्म-विवेक' पर कम से कम चार भाष्य लिखे। आनन्दज्ञान ने 'आत्मोपदेश विधि' पर टीका लिखी बताते हैं। अप्पय दीक्षित, कविराज, कृष्ण आचार्य (मंजुभाषिणी) केशव भट्ट, कैवल्याश्रम (सौभाग्य वर्धिनी) मधुहरि (तत्वदीपिका) समाधर, गोपीराम, गोपीकान्त सार्वभौम (आनन्द-लहरी-ताहरी,) जगदीश, जगन्नाथ, पंचानन, नरसिंह, ब्रह्मानन्द (भावार्थ-दीपिका), मल्ल भट्ट, महादेव, विद्यावागीश, महादेव वैद्य, रामचन्द्र, रामभद्र, रामानन्द तीर्थ, लक्ष्मीधर देसिक, विश्वम्भर और श्रीकण्ठ भट्ट एवं अन्य विद्वन्मनोरमा नामक ने 'आनन्द लहरी' पर करीब चौबीस टीकाएं लिखीं। उपदेश साहस्त्री पर आनन्दज्ञान, रामतीर्थ (पदयोजनिका), विद्याधामन् के एक शिव बोधनिधि, और शंकराचार्य ने कम से कम चार टीकाएं लिखीं। उनके चिदानन्द-स्तव-राज पर भी जो 'चिदानन्द-दल-श्लोकी' अथवा केवल 'दश-श्लोकी' भी कहलाता है, कई टीकाएं एवं उपटीकाएं लिखी गई; जैसे मधुसूदन सरस्वती कृत 'सिद्धान्त-तत्व-बिन्दु' मधुसूदन-कृत भाष्य पर कई लोगों ने टीकाएं लिखी, तथा नारायणयति (लघु-टीका) पुरुषोत्तम सरस्वती (सिद्धान्त-बिन्दु-संदीपन), पूर्णानन्द सरस्वती (तत्व-विवेक), गौड़ ब्रह्मानन्द सरस्वती (सिद्धान्द-बिन्दु-न्याय-रत्नावली), सच्चिदानन्द और शिवलाल शर्मा। गौड़ ब्रह्मानन्द कृत टीका सिद्धान्त-बिन्दु न्याय-रत्नावली पर कृष्णकान्त ने (सिद्धान्त-न्याय रत्न-प्रदीपिका) एक और टीका लिखी। शांकर दृग् दृश्य-प्रकरण पर रामचन्द्र तीर्थ ने टीका लिखी; उनकी पंचीकरण-प्रक्रिया पर पुनः कई टीकाएं लिखीं गई। सुरेश्वर ने पंचीकरण-वार्तिक लिखा जिस पर भी पंचीकरण-वार्तिकाभरण नामक टीका ज्ञानेन्द्र सरस्वती के शिष्य अभिनव नारायणेन्द्र सरस्वती द्वारा लिखी गई। पंचीकरण-प्रक्रिया पर अन्य टीकाएं निम्न हैं:—

पंचीकरण-भाव-प्रकाशिका, पंचीकरण-टीका तत्व-चन्द्रिका, पंचीकरण-तात्पर्यचन्द्रिका, आनन्दज्ञान कृत पंचीकरण-वितरण, स्वयंप्रकाशयति एवं प्रज्ञानानन्द द्वारा पंचीकरण-विवरण एवं तत्व चन्द्रिका नामक उप टीका। शंकर ने भगवद्गीता पर भी भाष्य लिखा, इस भाष्य की परीक्षा इसी ग्रंथ में भगवद्गीत पर लिखे गए अध्याय में की गई है। उनके 'लघु वाक्य' वृत्ति पर 'पुष्पाञ्जलि' नामक टीका एवं रामानन्द सरस्वती कृत 'लघुवाक्य-वृत्ति-प्रकाशिका' नामक अन्य टीका है; उनके 'वाक्यवृत्ति' पर आनन्दज्ञान ने टीका की एवं विश्वेश्वर पंडित ने वाक्य-वृत्ति-प्रकाशिका नामक टीका लिखी। उन्होंने अपनी 'वाक्य-वृत्ति का प्रारम्भ उसी प्रकार किया है जैसे ईश्वर कृष्ण ने अपनी सांख्यकारिका का प्रारम्भ यह कर किया है कि जीवन के त्रिविध तापों से दुःखी होकर उनसे मुक्ति प्राप्त करने के साधन के बारे में शिक्षा प्राप्त करने के लिए शिष्य योग्य आचार्य के पास जाता है। सुरेश्वर भी अपने 'नैष्कर्म्यसिद्धि' नामक गन्थ को उसी आरम्भ करते हैं और इस प्रकार दर्शन के अध्ययन को ऐसा क्रियात्मक रूप देते हैं जिसका विधान ब्रह्मसूत्र भाष्य में नहीं पाया जाता। निस्संदेह कई अन्य स्थलों पर दिया गया उत्तर ही यहाँ पर दिया गया है कि ब्रह्म एवं जीव की एक-

रूपता प्रतिपादित करने वाले उपनिषद् वाक्यों की सम्यक् अनुभूति के अनन्तर ही मोक्ष-प्राप्ति सम्भव है। वे आगे चल कर बताते हैं कि समस्त बाह्य वस्तुएँ तथा मनस् अथवा मानसिक अथवा लिंग शरीर शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा के लिए विजातीय है; वे यहाँ यह भी कहते हैं कि मानव के कर्म फलों का निबन्धन मीमांसकों द्वारा स्वीकृत अपूर्व की रहस्यमयी शक्ति द्वारा नहीं बल्कि ब्रह्म के श्रेष्ठतर आत्मक स्वरूप ईश्वर, द्वारा होता है। तिरेपन श्लोकों के इस लघु ग्रन्थ के अन्त में वे इस तथ्य पर बल देते हैं कि यद्यपि उपनिषदों को अद्वैत, श्रुति यथा तत् (ब्रह्मन्) त्वम् असि' एक द्वैतार्थक शाब्दिक रचना हो सकती है फिर भी उनका मुख्य बल तादात्म्य के सम्बन्ध द्वारा ग्राह्य बौद्धिक प्रक्रिया के बिना विशुद्ध आत्मा की अपरोक्ष एवं सद्यः अनुभूति पर है। इस प्रकार वाक्य-वृत्ति को वहां अपरोक्षानुभूति से भिन्न ग्रहण किया है जहाँ आसन एवं प्राणायाम की योग-प्रक्रियाओं की आत्मा के यथार्थ स्वरूप की अनुभूति में सहायक बताया गया है। इससे अपरोक्षानुभूति के वास्तविक लेखकत्व के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न हो सकता है यद्यपि स्वयं शंकर के मस्तिष्क के विकास की विभिन्न अवस्थाओं को इसका कारण बताया जा सकता है। उनके गौडपादकारिका-भाष्य में वर्णित विज्ञानवाद में भी विभिन्न प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। वहाँ जाग्रतावस्था को स्वप्नावस्था के पूर्ण समरूप माना गया है एवं बाह्य विषयों का कोई भी अस्तित्व नहीं माना गया है क्योंकि शारीरिक-मीमांसा भाष्य में वर्णित स्वप्न सर्गों से अतीव भिन्न अनिर्वचनीय अस्तित्व वाले बाह्य विषयों की तुलना में वे निर्विकल्प रूप से स्वप्न प्रत्यक्ष सम है। उन्नीस अध्याय तथा छः सौ पचहत्तर श्लोकयुक्त उपदेश साहस्री का वाक्य-वृत्ति के साथ अधिक साम्य है। इसमें यद्यपि सुविज्ञात समस्त वेदान्त विषयों पर किञ्चित् प्रकाश ही डाला गया है फिर भी ब्रह्मत्व प्राप्ति के साधन रूप 'तत्वमसि' जैसे वेदान्ती अद्वैत-श्रुतियों की सम्यक् अनुभूति पर अधिक बल दिया गया है। कई ऐसे लघु श्लोक एवं मन्त्र भी हैं जिनके लेखक शंकराचार्य बताए जाते हैं यथा अद्वैतानुभूति, आत्मबोध, तत्वोपदेश, प्रौढानुभूति इत्यादि। उनमें से निस्सन्देह कुछ की रचना तो उन्होंने की जबकि बहुत से ऐसे भी हो सकते हैं जिनके रचयिता वे नहीं हों, परन्तु इस सम्बंध में कोई अन्य प्रमाण नहीं होने के कारण किसी निश्चयात्मक निष्कर्ष पर पहुंचना कठिन है।[1] इन मन्त्रों में कोई और अधिक दार्शनिक सामग्री नहीं है परन्तु इनका उद्देश्य अद्वैती-संप्रदाय के पक्ष में धार्मिक श्रद्धा एवं उत्साह को जाग्रत करता है तथापि उनमें से कुछ में टीकाकारों ने ऐसे वेदान्ती सिद्धान्तों को निकालने का बहाना प्राप्त कर लिया है जो स्पष्टतः उनमें से अद्भूत नहीं कहे जा सकते। उदाहरणस्वरूप यह बताया जा सकता है कि शंकर के दस श्लोकों से ही मधुसूदन ने एक महान् भाष्य लिख डाला एवं ब्रह्मानन्द सरस्वती ने मधुसूदन कृत भाष्य पर एक अन्य महान् भाष्य लिखा तथा वेदान्त सम्बन्धी कई जटिल समस्याओं का विस्तृत विवेचन किया जिनका स्वयं श्लोकों से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। परन्तु शंकर का सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र-भाष्य है, जिस पर वाचस्पति मिश्र ने नवम् शतक में, आनन्दज्ञान ने तेरहवें शतक में और गोविन्दानन्द ने चौदहवें शतक में टीकाएं लिखीं। वाचस्पति-कृत-भाष्य की टीकाएं वाचस्पति मिश्र के बारे में लिखित अध्याय में देखी जा सकती हैं। सुब्रह्मण्य ने भाष्यार्थ-न्याय-माला नामक शंकर भाष्य का छन्दोबद्धसार लिखा है, और भारतीतीर्थ ने वैयासिक-न्याय-माला लिखी जिसमें उन्होंने शांकर-भाष्य के आधार पर ब्रह्मसूत्र की सामान्य युक्तियों का विवेचन करने का प्रयत्न किया है। कई अन्य व्यक्तियों के यथा वैद्यनाथ दीक्षित, देवराम भट्ट इत्यादि ने भी शांकर-भाष्य लिखित ब्रह्मसूत्र को सामान्य युक्तियों में से मुख्य विषयानुसार सार ग्रंथ लिखे जिन्हें न्याय-माला अथवा अधिकरण-माला कहते हैं।

1. पद्मपाद ने अपने आत्म-बोध-व्याख्यान में, जिसे वेदान्त-सार भी कहते हैं, आत्म-बोध पर टीका की है।

आचार्य शंकर और एकात्मवाद

श्री निरंजन पीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर
स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज

श्री विश्वनाथ संन्यास आश्रम,
11, श्रीराम रोड, आश्रम मार्ग, दिल्ली-110054

हिन्दू धर्म का प्रवाह पुनर्निर्माण प्रक्रियाओं का प्रवाह है। जितना सुधारवादी आन्दोलन इनमें हुआ उसका शतांश भी किसी धर्म में हुआ होता तो अनेक नए धर्मों का जन्म हो जाता। पर हिन्दू प्रकृति रही है किसी भी सुधार को आत्मसात करके पुनर्निर्माण करने की। बौद्ध धर्म भी एक सुधारवादी आन्दोलन था। परन्तु शनैः-शनैः इसका विदेशों में प्रचाराधिक्य होने से इसमें विधर्मी असंस्कृत रूढ़ियों का प्रवेश हो गया जिससे यह वास्तविक बुद्ध शिक्षाओं से दूर हो गया। करुणावतार बुद्ध की साधना प्रणाली में नर बलि के भयंकर काण्ड होने लगे। एक नया खतरा देश के राजनैतिक स्तर पर पैदा हो गया। इसका सुधार करने को एवं बौद्ध धर्म के चंगुल से भारत देश को मुक्त करने को शैव नायनार, वैष्णव आलवार व वैदिक आचार्य एक अद्‌भुत प्रयत्न करने में लगे एवं इतिहास साक्षी है कि वे सफल हुए। इन प्रयत्नों को एक दार्शनिक आधार की आवश्यकता थी। अद्वैत वेदान्त ही उस आधार को दे सकता था। आचार्य शंकर ने इस न्यूनता की पूर्ति करके सनातन धर्म को ऐसी प्रौढ़ युक्तियों पर स्थिर किया जो आज 1200 वर्ष बाद भी अटल रूप से विद्यमान है।

युक्तियुक्त उपदेश

आचार्य शंकर एक लम्बी आचार्यों की परम्परा के अन्तर्मुक्त थे। उनके गुरु गोविन्दपाद बड़े सिद्ध पुरुष थे एवं उनकी सिद्धियों का उनके जीवन में प्राकट्य हुआ था। दादा गुरु गौड़पाद की माण्डूक्यकारिका वह बीज है जो शंकर के दर्शन रूपी वृक्ष को जन्म देती है। उसके भी पहले द्रविड़ाचार्य, ब्रह्मानंदी, रंक आदि अनेक आचार्यों ने वेदान्त पर प्रौढ़ ग्रन्थ लिखे थे, यद्यपि इस्लाम की ध्वंस प्रक्रिया के शिकार हो कर वे आज अनुपलब्ध हो गए हैं। पर स्वयं शंकर व उनके शिष्य, प्रशिष्यों ने उन ग्रन्थों के उद्धरण दिए हैं वे गंभीर समस्याओं पर प्रमाण रूप से उनको उद्धृत किया है। दृष्टांत के रूप में छान्दोग्य पर द्रविड़ाचार्य ने एक राजकुमार का दृष्टांत दिया है जो जंगल में वनवासियों में बड़ा होकर अपने स्वरूप को नहीं जानता पर प्रमाणपुरःसर आप्त पुरुष के उपदेश से राजधानी में जा कर राज्य ग्रहण कर राजा बन जाता है। इसी प्रकार जीवात्मा पंचकोशों में बद्ध हो प्रकृति पदार्थों से एकता का अनुभव करते हुए अपने चेतन स्वरूप को भूला रहता है पर गुरु के युक्ति-युक्त उपदेश से अपने ब्रह्म स्वरूप में स्थित हो जाता है। इस द्रविड़ाचार्य की कथा को स्वयं प्राचार्य शंकर ने ही नहीं, उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने दोहराया है। इसी प्रकार और भी अनेक स्थल हैं।

आचार्य शंकर ने अपने दादा गुरु गौड़पाद की शैली का अनुसरण कर विपक्षियों को उनकी भाषा व विचार पद्धति के अनुसरण द्वारा ही हराया है। उनका उद्देश्य विपक्षी का मुंह बन्द करना नहीं रहा है, वरन् उसके गले सिद्धांत को उतारना रहा है। अतः वे अनुभव व युक्ति का प्रयोग उतना ही करते हैं जितना शास्त्र का। पद्मपादाचार्य ने तो उनको इसलिए आधा युक्ति व आधे शास्त्र के शरीर वाला कहा है। वैदिकों को वे शास्त्र द्वारा समझाते हैं तो अवैदिकों को युक्ति द्वारा।

शंकर पूर्व, भारत में आध्यात्मिक शुष्कता व निरर्थक वाग्जाल का विस्तार हो रहा था। उस समय तांत्रिक जादूगरी धर्म का चारों ओर बोलबाला था। शंकर ने आध्यात्मिकता को ईश्वर के आधार पर सरस बनाया। तत्वार्थ की तरफ ध्यान दिला कर वाग्जाल से छुटकारा दिलाया। संसार के महत्तम दार्शनिक होकर भी वे केवल तर्क को बैल की बुद्धि से उपमित करने का साहस दिखाते हैं। मुक्ति को ईश्वर व जीव भाव दोनों से रहित प्रतिपादित करते हुए भी भक्ति द्वारा प्रसन्न हुए भी शिवकृपा से मुक्ति की प्राप्ति बताते हैं। सभी प्रकार की सिद्धि व तांत्रिक प्रयोगों को स्वीकार करते हुए भी उन्हें हेय बताते हैं। इस प्रकार शंकर एक महामानव के रूप में उस समय के भारताकाश में जाज्वल्यमान रत्न थे। उन्हीं के कारण इन हीन धर्म भावनाओं का उदात्ती-करण सम्भव हो पाया। अनेक उपासना संप्रदायों का उन्होंने परिष्कार किया। कामाक्षी आदि मंदिरों में होने वाली पशुबलियों को बन्द करा कर वहां सात्विक पूजा प्रारंभ कराई जो आज तक चल रही है। नेपाल में भी पशुपतिनाथ में उस समय बौद्ध अमरसिंह के तत्वावधान में मांसादि का भोग लगना प्रारंभ हो गया था। उसका खंडन करके पशुपतिनाथ को शैव संप्रदाय के अन्तर्मुक्त किया जो आज तक अखंड रूप में चल रहा है। उपासनाओं का वर्गीकरण किया। शिव को महेश्वर स्वीकार करते हुए भी विष्णु, देवी, गणेश, सुब्रह्मण्यम आदि देवताओं को समान रूप से उपास्य मान कर वह आधार उपस्थित किया जो आज भी सामान्य सनातनधर्मी की पूजा का प्रकार है जिसे पंचायतन पूजा कहा जाता है। बाद में इसी पंचायतन पूजा के प्रभाव से भिन्न संप्रदायों ने अपने इष्टदेव को केंद्रित करके रामपंचायतन आदि स्थापित किए। इस प्रकार धर्म का जो परिष्कार शंकर ने किया वह संश्लेषणात्मक व समन्वयात्मक था।

इसी समन्वय में उन्होंने राष्ट्र का भी समन्वय किया। बद्रीनाथ, मैसूर, उड़ीसा व सौराष्ट्र में चार मठ स्थापित कर उनके हाथ में उन प्रदेशों का धार्मिक शासन दिया। साथ में आज्ञा दी कि समय-समय पर सभी मिलकर धर्म व्यवस्था दें। मठाम्नाय में स्पष्ट आदेश है कि वर्तमान युग धर्म का ह्रास काल है अतः किसी भी प्रकार की मन्दता का विचार छोड़ कर दक्षता का विचार ही जाग्रत रखना चाहिए। इस प्रकार आचार्य शंकर की दृष्टि में भारत स्वतंत्र-कल्प खण्डों का सूत्रतंत्र है। केंद्रीभूत ही यदि भारत होता तो शंकर ने एक ही प्रधान पीठ की स्थापना की होती। इसी प्रकार प्रचार में उन्होंने उपासना भेद पर आधारित पीठों की स्थापना की। वस्तुतः शंकर की यह दृष्टि वर्तमान काल के अत्यधिक अनुरूप है। विविधता में एकता की स्थापना ही सनातन धर्म का वैशिष्ट्य रहा है। सभी मतभेदों में सूत्रतंत्र रखना ही अद्वैत वेदांत की महती देन है।

दर्शन में शंकर ने बौद्ध दर्शन को सभी युक्ति-युक्त धाराओं की संयोजना केवलाद्वैत में स्वीकार की। यहां तक कि अनेक कठमुल्ले विचारक उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध तक कह जाते हैं। पर गंभीर मीमांसक उनमें शुद्ध औपनिषद् दर्शन ही पाते हैं। उन्होंने दस उपनिषदों पर विस्तृत भाष्य रचना की है। उनका सिद्धान्त संक्षेप में यह है कि एक मात्र ब्रह्म ही स्वतंत्र सत्ता वाला है एवं अन्य सभी उसी के परतन्त्र सत्ता वाले हैं। जहां भी सत्ता की प्रतीति है वहीं अधिष्ठान रूप से ब्रह्मसत्ता ही पाई जाती है। पूर्ण से ही पूर्ण प्रकट होता है। पर प्रकट होने पर भी पूर्ण-पूर्ण ही बना रहता है। इसी को आचार्य

शंकर ने माया कहा है "मैं" से ही देखने वाला, सुनने वाला, चलने वाला, बोलने वाला, सोचने वाला आदि पैदा होते हैं एवं इनमें से कोई भी अपूर्ण नहीं है। पर क्या "मैं" की पूर्णता में कोई कमी आ पाई है ? और जब ये सभी प्राकट्य समाप्त हो जाते हैं तो पुनः "मैं" वैसे का वैसे ही रह जाता है। यही अद्भुतता माया नाम से कही जाती है। माया ही अखण्ड अद्वितीय एक ब्रह्म को दृक् व दृश्य रूप में विभक्त करती है। अतः वेदान्त में एक पारमार्थिक पदार्थ ब्रह्म स्वीकृत है एवं दो व्यावहारिक पदार्थ दृष्टा व दृश्य स्वीकृत हैं। दृष्टा के जीव व ईश्वर दो भेद हैं तथा दृश्य के पांच भेद रूप, रस, गंध, शब्द व स्पर्श। इस प्रकार वेदान्त की पदार्थ अनुभूति सिद्ध है। आवश्यकता से अधिक कल्पना को गौरवग्रस्त मान कर अस्वीकारता है। आवश्यकता भी व्यवहार साधनों की आवश्यकता मानी जाती है, केवल बौद्धिक पदार्थों को निर्दिष्ट बनाने वाली कल्पनाएं नहीं। इस प्रकार शंकर का वेदान्त विज्ञान की तरह अनुभूतिशास्त्र है। आधुनिक युग में इसकी आवश्यकता असंदिग्ध है।

शंकर ने सुस्पष्ट साधन प्रणाली का प्रतिपादन किया है। सर्वप्रथम वेदों के रहस्यों को ज्ञात करके विवेक का अभ्यास करे। नित्य व अनित्य वस्तुओं में से नित्य को समझ कर अनित्य का त्याग करके वैराग्य का अभ्यास करे।

जागतिक देन शंकर की शान्ति व एकात्मवाद की है। आज विश्व संहार की भूमि पर खड़ा है। समाजवाद और पूंजीवाद दोनों ही अर्थपरायण दृष्टि से सोचते हैं। इसमें शान्ति तभी कायम हो सकेगी जब अर्थ को अनर्थ समझने का दर्शन उपस्थित किया जाए। शंकर ने इसे ही प्रतिपादित किया है। भौतिक विधाएं सुखजनक न हो कर अलग-अलग स्तरों के दुःख को ही उत्पन्न करती हैं। प्रेम ही जीवन के सुख का स्रोत है। आत्मा ही वास्तविक प्रेमास्पद है, देह आदि नहीं। इसी भूमि पर विश्वशान्ति संभव है।

शंकर आज से प्रायः 1200 वर्ष पूर्व 788 में उत्पन्न हो कर कुल 32 वर्ष में परमधाम गए। इस छोटे से जीवन में उन्होंने सहस्रों वर्ष की साधना को आत्मसात् कर के भारत को व विश्व को एक थाती दे दी है। ब्रह्मसूत्र उपनिषद् आदि पर उनके भाष्य दार्शनिकों को चुनौती हैं। वे कवि व दार्शनिक दोनों थे। जवाहरलाल नेहरू ने उनकी विचारधारा से अपने आपको प्रभावित माना है। इस प्रकार युगों के व्यवधान से भी वे आज भी उतने ही प्रभावशाली हैं यह मानना पड़ेगा।

"महान शिक्षा-दार्शनिक आचार्य शंकर"

श्री जूनापीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर
स्वामी श्री लोकेशानंद गिरि जी महाराज

है न अजीब बात ! आज के युगीय परिप्रेक्ष्य में आद्य शंकराचार्य जी के किए हुए उपकारों का लेखा-जोखा देना, कितना कठिन कार्य होगा, अगर कठिन नहीं तो सरल भी तो नहीं ? हम ऐसे महान् विभूति के शिक्षा एवं धर्मोद्धार की कीर्तिपताका का दर्शन इस वर्णन-नेत्रों द्वारा कर लें तो भी हमारा अहोभाग्य होगा।

आचार्य शंकर की अवतारणा भारतीय इतिहास में वैदिक सनातन धर्म के एक ऐसे नेता के रूप में हुई थी, जिसने वैदिक धर्म का पुनरुद्धार किया और वेदान्त की शिक्षा को सुव्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया। उस समय बौद्ध, जैन आदि साम्प्रदायिक धर्मों के प्रभाव से वेदों की अवमानना, औपनिषद दर्शन की उपेक्षा तथा श्रुति-स्मृति सम्मत सनातन धर्म की आचार-पद्धति की अवहेलना अपने चरम सीमा पर पहुंच गयी थी।

आचार्य शंकर ने वैदिक दर्शन पर आधारित शिक्षा-पद्धति के विकास द्वारा लोगों को वेदोपनिषद्-वेदान्त तथा गीता आदि श्रुति-स्मृति रूप सच्छास्त्रों के पठन-पाठन की ओर प्रेरित किया। उनके अनुसार शिक्षा का पाठ्यक्रम कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे कोई व्यक्ति जब चाहे परिवर्तित कर ले और अपने मन की भावना के अनुरूप उसमें संशोधन कर ले। इसके विपरीत उन्हें ऐसा पाठ्यक्रम स्वीकार्य है जो शाश्वत सत्य (ब्रह्म) का प्रकाशक हो तथा मनुष्य को उसका परम लक्ष्य मोक्ष्य प्राप्त कराने में सहायक हो।

यद्यपि साध्य-साधन की दृष्टि से शिक्षादि सभी साधनों के महा तात्पर्य का पर्यवसान सजातीय-विजातीय-स्वगत भेदशून्य नित्योपलब्धि स्वरूप नित्य शुद्ध-बुद्ध-युक्त-स्वप्रकाश चैतन्य स्वात्मस्वरूप आनन्द मात्र का पाद मुखोदरादि सच्चिदानन्द घन ब्रह्म में ही है तथापि भगवन्नि:श्वासभूत भ्रम प्रमाद विप्रलिप्सादि पौरुषेय दोषरहित अपौरुषेय वेदादि सच्छास्त्र प्रवर्तित अनादि अविच्छिन्न परम्परा प्राप्त सर्वभूतहितरत शिष्ट द्वारा परिगृहित विश्व कल्याणकारिणी मातृशतादपि हितैषिणी उभय लोक साधिनी सत् शिक्षा में भी अवान्तर तात्पर्य विद्यमान हैं।

शिक्षा के बिना किसी भी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र की सभ्यता, संस्कृति की लौकिक, पारलौकिक, व्यावहारिक पारमार्थिक उन्नति सम्भव नहीं है। शिक्षा के बिना कोई भी अपने वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त न कर सका, न कर पा रहा है, न कर पायेगा। शिक्षा के बिना सर्वत्र सभी क्षेत्रों में अन्धकार ही अन्धकार है। ऐसे ही निविड़ अन्धकार के समय आद्य शंकराचार्य का आविर्भाव भारतीय

संस्कृति के उद्धार हेतु उस समय हुआ जब लोगों के मन से वैदिक शिक्षा का अपोहन लगभग कर ही दिया गया था।

दर्शन, धर्म एवं अध्यात्म के क्षेत्र में भगवान् शंकराचार्य का कार्य इतना महत्वपूर्ण है कि उन्होंने औपनिषद् दर्शन पर आधारित जिस अद्वैत सिद्धान्त की प्रस्थापना की तथा जीवन भर जनता में घूम-घूम कर जिस आचार मीमांसा का प्रचार किया, उससे उनके द्वारा प्रतिपादित शिक्षा के स्वरूप का पता चलता है। वस्तुतः उनकी महान् उपलब्धि का मूल्यांकन उनके शैक्षिक विचारों से हो सकता है। भारतीय समाज द्वारा "जगद्गुरु" के रूप में उनका अभिनन्दन किया जाना उनके इसी शैक्षिक मूल्यांकन का प्रतिफल है।

भगवान् शंकराचार्य के अनुसार शिक्षा व्यक्ति की ज्ञानप्राप्ति का साधन और अज्ञान निवृत्ति का साधन है। वे शिक्षा को मुक्तिप्राप्ति तक चलने वाली ऐसी आध्यात्मिक प्रक्रिया मानते हैं, जिसके द्वारा व्यक्ति में ब्रह्मभाव का जागरण होता है। उसे अपने यथार्थ स्वरूप का बोध होता है। जीवन-जगत् के प्रति उसके व्यवहार तथा विचारों में निरन्तर परिवर्तन, परिमार्जन तथा संशोधन होता है और वह ब्रह्मात्मैक्य की अनुभूति करने योग्य हो जाता है।

शांकर वेदान्त में ब्रह्मबोध के लिये अनेक विधियों का प्रतिपादन किया गया है। इन विधियों में श्रवण, मनन, तथा निदिध्यासन का अत्यधिक महत्व है। आचार्य शंकर ने भगवद्गीता भाष्य में लिखा है—शास्त्राचार्योपदेश शमदमादि संस्कृतं मनः आत्मदर्शने कारणम्" अर्थात् शिक्षा प्राप्ति में शास्त्र गुरु का उपदेश तथा शिक्षा की मानसिक तत्परता नितान्त अपेक्षित है।

शांकर वेदान्त में गुरु का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। गुरु के लिये, आचार्य तथा उपाध्याय आदि शब्दों का प्रयोग, उसकी गरिमा, उच्चता तथा महत्ता का द्योतक है। गुरु केवल शास्त्रों का ज्ञाता ही नहीं होता, अपितु वह ब्रह्मानुभूतिसम्पन्न होता है। मानसिक शान्ति, जितेन्द्रियता, सब प्रकार के भोगों से विरक्ति, अहंकारशून्यता, परोपकार, परायणता तथा नैतिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक विकास की उत्कृष्टता गुरु के आभूषण हैं। नित्यानित्य वस्तु विवेक, वैराग्य, शम-दमादि साधन तथा मोक्षेच्छा ये चार योग्यताएं शिष्य में भी आवश्यक एवं शिष्ट शिष्य के लक्षणों के अन्तर्गत मानी जाती हैं।

आचार्य शंकर विश्व के शिक्षाविदों में अन्यतम हैं जिन्होंने शिक्षा जगत् को वेदशास्त्रानुमोदित अध्यात्मवाद पर आधारित शिक्षा व्यवस्था देकर मानवता को पतन के गर्त में पतित होने से बचाया है। "मठाम्नाय" में उन्होंने जिस शिक्षा-योजना का प्रतिपादन किया है, विश्व के इतिहास में अनूठा उदाहरण है।

जब वैदिक धर्म की दुर्गति होने लगी, आह्वनीय अग्नि शीतल होने लगी, स्वर्ग दुर्गम हो गया, मोक्ष दुष्प्राप्य सा दीखने लगा, प्राणधारी जीवों के स्वभाव तमोगुण को प्राप्त होने लगे, अमानवता का बोलबाला होने लगा, समस्त जगत् में विघ्न बाधा, रोग अनाचारादि ने डेरा डाल दिया, तब इस भूतल पर वैदिक धर्म के पुनःस्थापना हेतु भगवान् आशुतोष आचार्य शंकर के रूप में अवतरित हुए। उस समय आचार्य शंकर के आविर्भाव की अत्यावश्यकता थी। यदि उस समय उनको अवतार न हुआ होता तो न जाने वैदिक धर्म किस पाताल के गर्त में गिरकर कब का लुप्त हो गया होता।

आशुतोष महादेव ही शंकर रूप में अवतरित हुए, इसमें तनिक भी सन्देह का अवकाश नहीं है। रुद्राध्याय में भगवान् शंकर के तीन सौ नाम वर्णित हैं जिनमें एक नाम व्युप्तकेशाय च नमः" (शुक्ल यजुर्वेद रुद्रि अ. 5. मं. 28) इसका अर्थ है "मुण्डित केशों वाले को नमस्कार" यह श्रुति

वचन किस अवतार में संभव है ? विचार करने पर आचार्य शंकर के अतिरिक्त अन्य किसी अवतार में यह नहीं घट सकता। इसलिए "व्युप्तकेश" पद रुद्रावतार रूप भगवान आचार्य शंकर का ही द्योतक है। स्कन्द पुराणान्तर्गत अध्याय 16 शिव रहस्य नवमांश—

मदंशजातं देवेशु कलावपि तपोधनम्
केरलेषु तथा विप्र जनयामि महेश्वरि।

महादेव-हे महेश्वरी ! देवेशी ! कलियुग में भी मेरे अंश से उत्पन्न तपरूपी धनवाला, केरल देश में विप्र रूप में उत्पन्न होऊंगा। वायुपुराण में भी इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है—"चतुर्भिः सह शिष्यैस्तु शंकरो वतरिष्यति" इसी तरह भविष्य पुराण भी भगवान् शंकराचार्य के अवतार की परिपुष्टि करता है—

कल्पादौ द्विसहस्रान्ते लोकानुग्रहकाम्यया।
चतुर्भिः सहशिष्यैस्तु शंकरोऽवतरिष्यति। (भविष्य पुराण)

इसके साथ ही सौर पुराण में यह भी उल्लेख किया गया है कि शंकर व्याससूत्र, ब्रह्मसूत्र और श्रुति के यथार्थ अर्थ की व्याख्या करेंगे।

भगवान शंकराचार्य ने अद्वैत वेदान्त एवं सनातन धर्म का प्रचार करने के लिए चारों दिशाओं में चार पीठों की स्थापना की। इनके द्वारा वे वेदान्त की शिक्षा को जन-शिक्षा का रूप देना चाहते थे और आधुनिक विश्वविद्यालयों की भांति युग-युगों तक शिक्षा केन्द्रों के समान इनका विकास करना चाहते थे। इन पीठों का उद्देश्य न केवल शिक्षा प्रसार था वरन देश के चारों कोनों को धार्मिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय दृष्टि से एक दूसरे से समन्वित कर भारत की एकता एवं अखण्डता को सुदृढ़ बनाना था।

आज हम पुनः भगवान् शंकराचार्य की द्वादश सोवीं वर्षगांठ उनकी शिक्षा का प्रसार-प्रचार करते हुए जनजागरण के रूप में देश विदेश में करते हुए उनके उस बहुमूल्य सिद्धान्तों को जन-जन तक पहुंचाने का प्रयास, उनके द्वारा की हुई कृतियों के प्रति कृतज्ञता सम्पन्न होगी।

भगवान आद्य शंकराचार्य

श्री अटल पीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर
श्री स्वामी मंगलानन्द जी महाराज

गीता मन्दिर रोड, अहमदाबाद

"अयं निज परो वेत्ति गणना लघुचेतसाम्" के पवित्र सिद्धान्त पर चलने वाले आर्यों का समस्त विश्व में आध्यात्मिक प्रमुख था। आर्यों ने अनादिकाल से अर्थ एवं राजनीति को भौतिक दृष्टिकोण से दूर रखा है एवं धर्मानुकूल अर्थ एवं राजनीति को जन-व्यवस्था का आधार स्वीकार किया है। आर्यों का मानना है कि धर्मविहीन अर्थ भोगवाद एवं वर्गवाद को जन्म देता है, साथ ही धर्मविहीन राजनीति राष्ट्रीयता को समाप्त करके सर्वनाशक युद्धाग्नि की चिनगारियां देती हैं। हमारी संस्कृति की विशेषता है—"मागृध: कस्य स्विद धनम्" "मामनुस्मर युद्ध्य च" "मोक्षं कर्मसु कौशलम्" जो विश्व की किसी भी संस्कृति एवं सभ्यता में नहीं है।

मानव का सर्वांगीण विकास धर्म के द्वारा होता है। धर्म के बिना मानवता का टिकना असम्भव है। मानव जाति का धर्मग्रन्थ वेद है जो अपौरूषेय है एवं ईश्वरीय ज्ञान-विज्ञान का भंडार है। इस अपौरूषेय निर्मित धर्म संस्कृति से विच्छिन्न हो, भारत में ही स्वार्थ एवं भोगपरायणतावश अनेक वाद उत्पन्न हो गए जिसमें तान्त्रिक, कापालिक, चार्वक, नास्तिक एवं आस्तिक मुख्य हैं जिनके कारण मानवीय संस्कृति के विकास अवरुद्ध हो गए। इस भयानक परिस्थिति में भगवान् आद्य शंकराचार्य ने अवतार लिया। अनुपम तेज एवं ज्ञान के साक्षात्मूर्ति भगवान् शंकर श्री भूतनाथ के अवतार थे। स्वल्पकाल में पुराणों का ज्ञान एवं वेदादिकों का अध्ययन आश्चर्य की घटना है। लीलाधारी शंकर में सन्यास की स्वीकृति भी माता आर्यम्बा से बड़े विलक्षण ढंग से ली। सन्यास के पश्चात् आचार्य गोविन्द पाद के पास वे कुछ समय तक रुके। चातुर्मास का समय होने के कारण नर्मदा जी में भयानक बाढ़ आयी। आचार्य गोविन्द भगवनपाद समाधि में लीन थे। भगवान् शंकर ने बाढ़ के जल कमण्डल में समाविष्ट कर लिया। उससे प्रसन्न होकर भगवत्पादे ने शंकराचार्य को लोक-कल्याण की आज्ञा दी। विष्णु सहस्त्रनाम पर भाष्य लिखकर शंकर काशी चले आये। काशी में एक वर चाण्डल रूप धारी भगवान् शिव आशीर्वाद प्राप्त कर तथा प्रेरणा लेकर उत्तराखण्ड की यात्रा हेतु प्रस्थान किया। शंकर ने बद्रीनाथ धाम में प्रस्थान के साथ अनेक मौलिक ग्रंथों की रचना की। कुमारिल भट्ट एवं मंडन मिश्र जैसे विद्वान शंकर के शिष्य बन गए।

आचार्य शंकर का अवतार तो लोक-कल्याण हेतु हुआ था। अत: जब तक यह कार्य पूर्ण न हो जावे तब तक उनको चैन कहां? आचार्य शंकर ने भारत भ्रमण किया। अनेक लोगों से मिले। लोगों की धर्म के प्रति श्रद्धा देखकर आचार्य आनन्दित थे पर साथ ही चिन्तित भी। उन्होंने श्रद्धा

का आदर किया पर उन्होंने श्रद्धा के केन्द्र को बदला। आचार्य शंकर ने लोगों से कहा—अनेक देवी-देवताओं का पूजन अनन्त ज्ञानमय परमपिता का पूजन है, कारण उसी परमपिता की शक्ति सर्वत्र अभिव्यक्त हो रही है। शंकर ने द्वादश गणेश के मन्दिरों का निर्माण अठारह ज्योतिर्लिंगों की स्थापना करके वैदिक परम्परा की रक्षा के साथ राष्ट्रीय जीवन के विकास हेतु अनेक परिश्रम किया। वे मानते थे शाक्र, वैष्ण गाणपत्य, शैव, आदित्योपासक सभी एक परम शक्ति के उपासक हैं। उपासना के रूप भिन्न-भिन्न होने पर भी वस्तुतः अद्वैत हैं। सभी देवों का अधिष्ठान ब्रह्म एक है।

आचार्य शंकर महान् चितक के साथ महान् समाज उद्धारक भी थे। दक्षिण भारत की यात्रा के समय उनके मन में यह विचार आया कि समाज में वर्तमान में जो विलक्षण विचार की लहर आयी है वह सदा बनी रहेगी तो समाज का संगठन भी स्थायी होगा। अन्यथा समाज में सदृढ़ विचार भी पानी के बुलबुले के समान नष्ट हो जाता है। अतः उन्होंने समाज को प्रेरणा देने वाले श्रद्धा एवं शिक्षा के केन्द्र मठों की स्थापना की। मठ अखाड़े एवं मण्डलेश्वरों की स्थापना के पीछे आचार्य शंकर की कल्पना थी कि समाज में सच्ची निष्ठा स्थापना वाले सेवक विद्वान निस्प्राह निस्वार्थ एवं दृढ़निश्चयी लोक शिक्षित होकर सम्पूर्ण देश में कार्य करेंगे। उन्होंने सर्वप्रथम शृंगेरी मठ की स्थापना की जिसके प्रथम मठाधीश सुरेश्वराचार्य नियुक्त किए गए। उत्तर में जोशी मठ, जगन्नाथ में गोवर्धन मठ एवं द्वारका में भी मठ की स्थापना की।

आचार्य शंकर का अद्वैत सिद्धान्त कोई नया सिद्धान्त नहीं है, बल्कि वह तो वेद-प्रतिपादित निर्दोष वेदान्त का शास्त्रीय सिद्धान्त है। शुद्ध ब्रह्मवाद ही उनका सिद्धान्त है। यही एकात्मवाद अथवा वास्तव में साम्यवाद कहा जा सकता है जिसके द्वारा विश्वशान्ति सम्भव होगी।

भगवान् आचार्य शंकर की जै।

आचार्य शंकर की देन

परमहंस स्वामी वामदेव जी महाराज

विचित्र ब्रह्माण्ड की नियमित तथा व्यवस्थित रचना देख, इसके व्यवस्थापक तथा नियामक का निश्चय होता है। व्यवस्थापक तथा नियामक कभी ज्ञानशून्य नहीं होता, अतएव वह समस्त ब्रह्माण्ड का ज्ञाता है, ऐसा निश्चय आग्रहरहित बुद्धिमान को होता है। संसार विषयक कोई ज्ञान ऐसा नहीं, जो शब्द से जुड़ा न हो। अतः लोक में देखा जाता है, कि किसी को, जिस विषय का ज्ञान होता है, उस ज्ञान को प्रकट करने के लिए शब्द भी होता है। ब्रह्माण्ड के व्यवस्थापक तथा नियामक का ज्ञान स्वल्प नहीं हो सकता, अतः उसको सर्वज्ञ कहा गया है। उसके ज्ञान को भी ब्रह्माण्ड के अनन्त पदार्थों को विषय करने वाला होने से अनन्त कहा जाता है। अनन्त ज्ञान से सम्बद्ध शब्द भी अनन्त हैं। उस ईश्वरीय ज्ञान से सम्बद्ध शब्द ही वेद हैं तथा वह अनन्त है। अतएव श्रुति ने भी कहा है, कि "अनन्ता वै वेदाः।"

भारतीय वैदिक परम्परा में वेदों का परम प्रामाण्य माना गया है। सभी प्राचीन मनीषियों ने वेदों को कर्म, उपासना तथा ज्ञान, इन तीन खण्डों में विभक्त माना है। इसकी अवहेलना आचार्य शंकर ने भी नहीं की है। इन तीनों का विशद वर्णन पुराण, इतिहास, स्मृति तथा तन्त्र-ग्रंथों में भी हुआ है। इन तीनों से अनुप्राणित भारतीय या हिन्दू संस्कृति रही है। पूर्व समुद्र तथा पश्चिम समुद्र के मध्य तथा हिमालय से लेकर दक्षिण में हिन्द-महासागर तक स्थित भारत एक विशाल देश रहा है। उसमें अनेक राजाओं के राज्य रहे, अनेक भाषाएं रहीं। केरल, शूरसेन पंचनद पांचालादिक अनेक राज्यों की भिन्न-भिन्न सीमाएं रहीं। पुनरपि यहां की संस्कृति एक रही। अतएव यह एक महान् राष्ट्र रहा था। अनेक राज्यों में रहने वाले अनेक भाषा-भाषी, अनेक रीति-रिवाज वाले भी यहां के निवासी अपने को भारतीय तथा हिन्दू मानते रहे। अनेक सम्प्रदायों के रहते हुए भी भारतीयता या हिन्दुत्व का बाह्य-चिह्न शिखा सबने अपनाया था। भाव यह है, किसी एक शासन के अन्तर्गत रहने या एक भाषा बोलने या एक सम्प्रदाय के कारण ही एक राष्ट्र नहीं होता, अपितु एक संस्कृति के कारण ही एक राष्ट्र होता है। जिस एक संस्कृति से यह एक राष्ट्र था, जो संस्कृति कर्म, उपासना तथा ज्ञान से अनुप्राणित थी। यह तीनों ही वेद की परम प्रमाणता से अनुप्राणित थे।

आचार्य शंकर के प्रादुर्भाव-काल में वेदों के प्रमाण्य पर गहरा प्रहार यह प्रचार करके हो रहा था कि वेद भांड, धूर्त तथा निशाचरों के द्वारा बनाए हुए हैं। वेदों तथा वेदों के प्रतिपाद्य कर्म, उपासना तथा ज्ञान से अनुप्राणित, भारत को एक राष्ट्र का रूप देने वाली हिन्दू-संस्कृति लड़खड़ा रही थी। सुधारवादी लोग विदेशी आक्रान्ताओं से भी हाथ मिलाने को उद्यत हो रहे थे। ऐसे गम्भीर

समय में आचार्य ने पूरे भारत में भ्रमण कर वेदों का प्रामाण्य तथा वेद प्रतिपाद्य कर्म, उपासना तथा ज्ञान की पुनः प्रतिष्ठा की थी। इनकी प्रतिष्ठा से हिन्दू-संस्कृति की प्रतिष्ठा हुई। संस्कृति की प्रतिष्ठा से भारत एक राष्ट्र बना रहा। यह आचार्य की भारत को दी हुई बहुत बड़ी देन थी।

समय व्यतीत हुआ। भारत में पारसी तथा यहूदी अपनी संस्कृति लेकर आए, परन्तु भारतीयों ने संकटग्रस्त को आश्रय देने वाली अपनी सांस्कृतिक भावना से उनको आश्रय दिया। गो-वध जैसी संस्कृति के टकराव वाली परिस्थिति पर नियन्त्रण रखने की शर्त पर वे आज तक अपनी संस्कृति के सहित सुरक्षित हैं। उन्होंने भी भारतीय संस्कृति के साथ सामञ्जस्य तो रखा, किन्तु अपनी संस्कृति से मिली-जुली भारतीय संस्कृति को नहीं माना। इतिहास के ज्ञाता तो यह भी कहते हैं कि "हमको यूरोप के सभी देशों ने सताया था। भारत में ही हम सुख-शान्ति से रहे, ऐसी यहूदियों की मान्यता है।" अस्तु।

भारत में दो संस्कृतियां आक्रान्ता होकर के प्रविष्ट हुईं। एक मुस्लिम दूसरी ईसाई। मुस्लिमों ने शस्त्र-बल से अपनी संस्कृति को प्रतिष्ठित किया। ईसाइयों ने शासन के साथ-साथ सेवा के बहाने अपनी संस्कृति के पैर यहां जमा लिये, इतना ही नहीं हिन्दुओं के समान अपने को तथा मुसलमानों को देश में भागीदार सिद्ध करने के लिए, एक कल्पित इतिहास की रचना करके हिन्दुओं को बाहरी देशों से आया सिद्ध कर दिया। इस कल्पित इतिहास के समय राजा, रईसों, जागीरदारों तथा धर्माचार्यों के विवेक नेत्र बन्द रहे। हिन्दुओं में तत्कालीन बुद्धिजीवी समाज अपने को विदेशी मान बैठा। इस मान्यता का संगठित हो किसी ने विरोध नहीं किया। परिणामस्वरूप ईसाई शासकों ने इस देश की संस्कृति को मिली-जुली कहना प्रारम्भ कर दिया। भारतीय नेताओं ने इसे स्वीकार कर लिया। ईसाई शासकों के विरुद्ध स्वतन्त्रता संग्राम हुआ। मिली-जुली संस्कृति मानकर देश की एक (मुस्लिम) संस्कृति के आधार पर हमारे राजनैतिक नेताओं ने देश का विभाजन स्वीकार कर लिया। अक्रान्तदर्शी देश के नेताओं ने देश की संस्कृति को हिन्दू-संस्कृति घोषित नहीं की। देश में कुर्सी के लोभ से मिली-जुली ही संस्कृति मान ली जिसके फलस्वरूप विभक्त-देश, पुनः विभाजन की स्थिति में जा पहुंचा है। पहले तो दो विभाग हुए। अब तो अनेक विभागों की रूप-रेखा प्रतीत होने लगी है। देश के सत्तारूढ़ नेता इस विभाजन की रूप-रेखा को मुस्लिम-लीग से हाथ मिलाकर तथा ईसाई मिशनरियों को प्रोत्साहन देकर सींच रहे हैं। अन्य विपक्षी नेता भी उसी प्रक्रिया में ग्रस्त परिलक्षित हो रहे हैं।

अतः विभाजन को यदि अवरुद्ध करना है, तो अन्य संस्कृतियों से सामञ्जस्य रखने वाली भारतीय, हिन्दू संस्कृति के आधार पर देश को हिन्दू-राष्ट्र घोषित करना होगा। इस कार्य की आशा राजनैतिक नेताओं से तो है नहीं। धार्मिक-नेता सामने आवें तथा आचार्य शंकर की प्रक्रिया को अपनावें तो खण्डित देश पुनः खण्डित होने से बच सकता है। आचार्य शंकर ने बद्रीनाथ मन्दिर की पुनः स्थापना की। हमारे धार्मिक साम्प्रदायिक आचार्यों को मान्य सभी अवतारों तथा देवी-देवताओं के स्तोत्रों की रचना भी की थी।

आचार्य के इन कार्यों से सिद्ध होता है कि उनका सभी के उपास्यों के प्रति आदर था। देश पर आई इस संकट की घड़ी को धार्मिक-नेता समझें तथा सर्व का परस्पर आदर रखते हुए देश की लड़खड़ाती संस्कृति की रक्षा करें। धर्माचार्यों ने हिन्दू की जनसंख्या कम करने का कुचक्र अनुचित धर्मान्तरण तथा हिन्दू पर भी थोपा परिवार नियोजन, हिन्दू को तोड़ने वाली धारा 30, प्रान्तों को बिखराव की ओर ले जाने वाली धारा 370 आदि धाराओं पर ध्यान नहीं दिया तो हिन्दू

अपने ही देश में अल्पसंख्यक हो जायेगा, प्रान्त बिखर जायेंगे। ऐसी दशा में हिन्दू अल्पसंख्यक हो गया तो हिन्दू संस्कृति न रहेगी, हिन्दू-संस्कृति न रहेगी तो हिन्दू नहीं रहेगा, हिन्दू नहीं रहेगा तो हिन्दू धर्माचार्य नहीं रहेंगे।

इसी प्रकार यदि राम-जन्म भूमि की ओर ध्यान नहीं दिया तो उसकी पुनः प्रतिष्ठा नहीं होगी, पुनः प्रतिष्ठा नहीं हुई तो हिन्दू तथा हिन्दू-संस्कृति का गौरव नष्ट हो जायेगा। अतः आवश्यकता है देश में जातीय एकता एवं हिन्दू-संस्कृति की रक्षा की। उसके लिए आवश्यकता है हिन्दू-जागरण तथा संगठन की, संगठन के लिए आवश्यकता है धर्माचार्यों के संगठित प्रयासों की। उसके लिए आवश्यकता है, आचार्य के चरित्र पर दृष्टि डालने की, कि उन्होंने भारतीय-संस्कृति की रक्षा हेतु क्या नहीं किया ? यदि इस समय धर्माचार्यों ने संस्कृति की रक्षा हेतु, हिन्दू संगठन की ओर, और अधिक ध्यान नहीं दिया तो देश को तुष्टिकरण की नीति से होने वाले कुत्सित परिणामों से नहीं बचाया जा सकेगा।

श्री आद्य शंकराचार्य की विशेषता

महामण्डलेश्वर स्वामी ब्रह्मानंद गिरि जी
सुरत गिरि

आचार्य शंकर ने आलौकिक कार्य किये। भारत में आये—हिन्दू धर्म वैदिक धर्म की की पुनः स्थापना की। चार वर्णों व चार आश्रमों को भी शास्त्रानुसार कायम किया जिसे कि गीता में कहा गया है 'चातुवर्ण्यं मया सृष्टगुणक में विभागशः" चार वर्ण वस्तुतः ज्ञानं-बल' व्यवसाय सेवा के ही प्रतीत हैं, ब्राह्मणों में ज्ञान शक्ति और क्षत्रियों में बलशक्ति, वैश्यों में व्यवसाय-व्यापार शक्ति और शूद्रों में सेवाशक्ति है। आचार्य शंकर ने समस्त प्रजा को शुद्धिकरण द्वारा चार वर्ण व आश्रमों की स्थापना की। इतना ही नहीं—इस धर्म प्राणमय देश को भौगोलिक रूप तथा धार्मिक रूप से भारत को अखण्ड किया। सर्वविदित है, कि भारत के चार कोणों में चार मठ व चार धाम हैं। उन चार मठों में अपने योग्यतम चार शिष्यों को बैठाया तथा मठाम्नाय द्वारा सब को आदेश दिया कि अमुक मठ द्वारा प्रचार क्षेत्र अमुक-अमुक राज्यों में हो। अतः अन्यान्य अवतारों से यही विशेषता है कि अन्यावतारों में संहार कार्य शस्त्रों द्वारा हुआ ,वहां पर शास्त्रों के द्वारा समाज व वैदिक धर्म प्रचार द्वारा देश को संगठित व जनमानस की खोटपन को दूरकर देश व समस्त समाज का सुधार किया।

समस्त वेदों के जो प्रधान काण्ड होते हैं कर्म, उपासना एवं ज्ञान। अधिकारियों के भेद से तीनों काण्डों की व्यवस्था दी। उत्तराधिकारी के लिए वेदों के अन्तिम भाग उपनिषद् प्रतिपाद्य जीव ब्रह्मैक्य का उपदेश इसी को ही इरान काण्ड कहते हैं। मध्यामाधिकारी के लिए उपासना वेदों में एक ही परमात्मा को विभिन्न रूपों में व विभिन्न नामों से उल्लेख किया है। 'एकंसर् विप्रा बहुधा वदन्ति, एकं सह् विप्रा बहुधा कल्पयन्ति, 'तज्जलान् शान्त इति उपासीत' इत्यादि मन्त्रों में एक ही परमात्मा को भिन्न भिन्न नाम रूपों से निरूपण किया गया है उसमें मन को स्थिर करे तथा सकाम व निष्काम रूप से वेदों में अनेक कामों का निरूपण है कनिष्ठ अधिकारियों के लिए कर्म का भी उपदेश किया।

आचार्य शंकर ने ईश्वर को निर्गुण-निराकार, सगुण साकार, सगुण निराकार एवं अवताररूपों में वर्णन किया है शास्त्र विधि के अनुसार। कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं समर्थः स ईश्वरः,, इसलिए भगवान् सभी रूपों में होने का सामर्थ्य रखते हैं। भक्तमभावानुसारेण जायते भगवानजः, तथा आचार्य शंकर ने पंचदेवोपसना को भीं बताया है श्रौत-स्मार्त धर्म को सिद्धान्त रूप से भी स्वीकार किया है। राम-कृष्ण-शिव-विष्णु-गणपति-शक्ति-सूर्य की उपसना ब्रह्मरूप से बतायी है, इसलिए देवों में उत्कृष्ट अपकृष्ट की भावना नहीं है। 'एकात्मनो भिन्नरूपान् लोकरक्षण तत्परान्। शिव विष्णु शिया सूर्य हेरम्वान् प्रणयाम्यहम् ॥1॥

इस प्रकार षड्दर्शनों का भी समन्वय रूप से माना है।
सदाचारानुन्धान में कहा है—
तार्किकरणां च जीवेशो, वाच्यावेतो विदुर्बुधाः ।
लक्ष्यौ च सांख्ययोगाभ्यां वेदान्तैरेकता तयोः ॥2॥

स्थूलवेराजयोरैक्यं, सूक्ष्महैरण्यगर्भयोः ।
अज्ञान मायसोरैक्यं, प्रत्यग्विवज्ञान पूर्णयोः । ॥3॥

कार्यकारणवाच्यांशो, जीवंशो यो जहच्चयो ।
अजहच्च तयो लक्ष्यो, चिदंशावेकरुपियो ॥4॥

अर्थात् तार्किकों के मत में जीव और ईश्वर त्वं एवं तत्पद के वाच्य है सांख्य एवं योग द्वारा उपधि रहित शुद्ध जीव ईश्वर लक्ष्य है और उपनिषत् वेदान्त शुद्ध जीव ईश्वर की एकता है ऐसा विद्वान कहते हैं।

व्यष्टि स्थूल शरीर एवं समष्टि-स्थूल शरीर विराट की एकता है व्यष्टि-सूक्ष्म शरीर एवं समष्टि-सूक्ष्म शरीर हिरण्यगर्भ की एकता है, व्यष्टि कारण शरीर अज्ञान एवं समस्त संसार कर बीज माया की एकता है।

जीव और ईश्वर में कार्य में कारण रूप जो वाच्यांश उपाधि है उसका परित्याग करने से तथा शुद्ध चैतन्य रूप लक्ष्य भाग का परित्याग नहीं करने से जीव ईश्वर का उपाधिरहित शुद्ध चैतन्य रूप एक ही है।

इस प्रकार तत्वमसि इत्यादि महावाक्यों वा उपाधि निरुपाधि द्वारा विचार करने पर किसी प्रकार का भेद नहीं रहता। इतना सुन्दर समन्वय विशद रूप से किसी आचार्यों ने नहीं किया है। अतः आचार्य शंकर को ही जगद्गुरु रूप से सम्बोधित करना सार्थक है।

अद्वितीय हैं लोक शंकर

महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विष्णु देवानंद गिरि जी महाराज

अब तक अवतार तो बहुत हुए हैं ! किन्तु श्री आद्य जगद्गुरु भगवान शंकराचार्य की तुलना में नहीं। न अस्त्र न शस्त्र, न युद्ध, न छल, न कष्ट, एकमात्र यथार्थ। यह यथार्थ केवल वेद है बस यही विजय है शंकर का। आप यदि सत्य के पक्षपाती हैं तो वेद ही है यथार्थ उस वेद के अतिरिक्त सब अयथार्थ हैं। सत्य वक्तव्य ही नहीं है सत्य केवल क्रिया में भी व्यक्त नहीं है। सत्य अत्यन्त सरल और उदार है उधार नहीं, अपितु नकद है।

यदि आप भूले न हों, यदि आप भटके न हों तो सत्य आप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है आत्मा-अनात्मा का विवेक खो बैठना ही अज्ञान है। विवेक ज्ञान ही वेद है। वेद का अर्थ ही है जानना। अपना ज्ञान ही तो वेद है। शरीर आत्मा नहीं, हृदय आत्मा नहीं, वह यह आत्मा नहीं, आत्मा साक्षी चैतन्य है। वह मैं ही हूँ, अद्वितीय, यह सत्य कभी किसी से अलग नहीं हैं, यही वैदिक ज्ञान है।

समस्त जगत के कारण होने से महेश्वर है। अतः यह उनका ज्ञानवतार उचित ही है। संसार पङ्क में फंसे जीवों के उद्धार के लिए यह उनका उपयुक्त विग्रह, मात्र 32 वर्ष का ही था। इन बतीस वर्षों में वे लोकोत्तर कार्य कर के स्वस्थ रूप में प्रतिष्ठित हुए। उन्होंने व्यवहार और परमार्थ को तराजू के दो पलड़े के समान रखा। व्यवहार भी शुद्ध हो तथा परमार्थ भी शुद्ध हो। यह उन्होंने अपने जीवन के रणक्षेत्र में कर के दिखा दिया। निवृत्तिपरायण होते हुए भी प्रवृत्ति करते रहे एवं प्रवृत्ति करते हुए भी निवृत्ति में थे। गीता का भाष्य करना उनको यथार्थ था। पद्मापत्रमिवाम्भसा, इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेसु' आचार्य शंकर ने परमार्थ को ऐसा सुधारा कि आज उन जैसा पुनः सुधारक ही विश्व में पैदा नहीं हुआ, ठीक उसी तरह से व्यवहार को भी मर्यादा में स्थिर कर दिया।

विघटित समाज को सुगठित, खण्डित राष्ट्र अखण्डित, अधर्म, अन्याय अत्याचार, दुराचार आदि का समूलतः आचार्य शंकर ने बिना किसी शस्त्र के उखाड़ फेंका।

आचार्य का इस भारत माता से इतना प्रगाढ़ प्रेम था कि उन्होंने इस राष्ट्र के सुदृढ़ नाके बन्दी के लिए चार मठों की स्थापना कर दी। भविष्य में कोई भी विधर्मी यहां पर पांव न फैला सके उसकी सुरक्षा के लिए आपने अत्यन्त निपुण निगृह, अनुग्रह में समर्थ शिष्यों को नियुक्त कर दिया। ये पीठ आज भी आचार्य जी की कीर्ति पताका को आकाश में तद्वत फहराते नजर आते हैं।

समाज की कुरीतियों को शंकर ने उसी तरह से काट फेंका जैसे डाक्टर ऑपरेशन से काट कर निकाल फेंकता है। शंकर के सामाने चुनौतियां ही चुनौतियां थीं, उनमें से एक था नास्तिक-वाद। वे नास्तिक ईश्वर को देश निकाला दे चुके थे। अत: जगत्गुरु जी ने ईश्वर के अस्तित्व को बहाल किया। धर्म की सार्वभौम सत्ता का परिहार किया। अखिल ब्रह्माण्ड में जगद्गुरु के पद भार को सार्थक किया। गीता, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र पर भाष्य कर ब्रह्माण्ड को चकित कर दिया। व्यास श्री कृष्ण एवं वेदों के अन्तिम भाग रूप श्रुतियों के तात्पर्य का उद्घाटन कर इन तीनों को परितृप्त कर जन साधारण के लिए यमराज का द्वार बन्द कर दिया।

यह कार्य सहस्र युगों में भी संपादित न होने वाले को शंकराचार्य जी ने अत्यन्त अल्प काल में करके दिखा दिया। आज के लोग उनके इस महति कार्य के लिए मन मसोस कर रह जाते हैं।

आठ वर्ष की आयु ही क्या आयु है, पर शंकर ने आठ वर्ष की आयु में चारों वेदों को आत्मसात कर लिया। जिस वेद से ज्ञान प्राप्त कर ब्रह्मा सृष्टि की उत्पत्ति करते हैं। द्वादशे वर्षे सर्व शास्त्र विद् बारह वर्ष के शंकर समग्र शास्त्रों में पारगंत थे। बालक शंकर 16 वर्ष के वय में व्यास प्रणित ब्रह्म-सूत्र पर व्यास तात्पर्य नामक भाष्य लिख डाले। गुरु को कमण्डलु में नर्मदा के जल को भर कर जो भयंकर प्रलयंकारी थी संतुष्ट कर दिया। पूर्णानदी में माता को वृद्ध जानकर प्रवाह को वहीं बुला लिया। माता की मृत्यु को सन्निकट जान कर आकाश मार्ग से गमन कर शिव विष्णु का दर्शन कराया। माता को विष्णु लोक में भेज दिया।

तुषानल में अपने को प्रायश्चित के रूप में जलाने वाले कुमारिल भट्ट के समक्ष प्रकट होकर शिव कैवल्य प्रदान किया। मण्डन मिश्र के साथ शास्त्रार्थ कर के उन्हें शिष्य बनाया। अनेक लोकोत्तर कार्यों के कारण श्री शंकर केवल शंकर ही नहीं रहे वह आद्यजगद्गुरु शङ्कराचार्य के पद को सुशोभित कर जगद्गुरु पद का श्रेय प्रदान किये। अखिल ब्रह्माण्ड में यह प्रथम सूत्रपात करने वाला शिव के सिवा अन्य कौन हो सकता था। उन्हीं के दिखाये मार्ग पर चल कर आज भारत-भारत है अन्यथा यह आज आरत होता। भारत को नवजीवन देने वाला विश्व के सिरमौर बनाने वाला वाल यति शंकर विश्व का सदैव पथ-प्रदर्शन करता रहेगा। आध्यात्मिक चेतना के सिर मुकुट मणि के रूप में शंकराचार्य सुशोमित हैं।

श्री शंकर ने कोई मजहब नहीं बनाया अपितु देश तथा राष्ट्र का उद्धार किया। आचार्यपाद की आज यह द्वादश शताब्दी वर्ष के उपलक्ष में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उनके चरणों में नतमस्तक है, अपने भूलों के लिए क्षमा चाहता है।

भारतीय संस्कृति के संरक्षक आद्य जगतगुरु श्री शंकराचार्य

महामण्डलेश्वर श्री स्वामी शिवचैतन्य जी महाराज,

वृन्दावन

इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि अनादिकाल से समागत वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था का भारत में पूर्ण आदर था। लेकिन कालान्तर में महावीर जिन और गौतम बुद्ध के समय से समाज में नास्तिकता धीरे-धीरे जड़ जमाने लगी थी और एक समय ऐसा आ गया, जबकि समाज से आस्तिकता का लोप हो गया और वर्णाश्रम-सम्बन्धी व्यवस्था तथा आचार-विचारों से लोगों की श्रद्धा हट गयी। यह एक ऐसा महान् परिवर्तन का युग था, जब कि भारत भर में सर्वत्र नास्तिकता का बोलबाला हो गया था।

ऐसे विकट समय में आद्यजगद्गुरु भगवान श्री शंकराचार्य ने प्रकट होकर नास्तिक मतों के मेघाडम्बरों को अपनी प्रखर विद्वता के प्रकाश से छिन्न-भिन्न किया और सनातन वैदिक धर्म की प्रचलित वर्णाश्रम व्यवस्था की फिर से स्थापना की। जप, तप, व्रत, उपवास, यज्ञ, दान, संस्कार-उत्सव आदि को फिर से जीवित किये। उस समय प्रचलित पाखण्डियों के मत-मतान्तरों का खण्डन करने के लिए अद्वैतवाद की अत्यन्त ही आवश्यकता थी। श्री शंकराचार्य जी ने अद्वैत-वेदान्त की नूतन व्याख्या नहीं की, अपितु प्राचीन पद्धति का युक्तियुक्त प्रामाणिक-दृष्टान्त, एवं स्त्रोतों के माध्यम से सरल व्याख्या की। लुप्त प्रायः पंचदेव-उपासना की नीति भी प्रचलित की। बौद्धों ने जो धार्मिक-जगत् में भ्रान्तियाँ और अराजकता लायी थी, उसका प्रतिकार आद्य जगद्गुरु श्री शंकराचार्य जी ने नहीं किया होता, तो यह स्पष्ट ही है सनातन धर्म का सदा के लिए लोप हो गया होता। आज जो कुछ हम सनातन धर्म का स्वरूप मूर्तिपूजा, यज्ञ-योगादि व्रतोपवास धर्म और दर्शन का रूप देख रहे हैं—वह भगवान श्री शंकराचार्य की ही देन है।

शांकरमत का प्रतिपादन—आद्यजगद्गुरु श्री शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद का समस्त भारतवर्ष में इतना प्रचार हुआ कि, अद्वैत वेदान्त का नाम लेने मात्र से लोगों को श्री शंकराचार्य जी का स्मरण हो आता है। संक्षेप में आचार्य शंकर द्वारा प्रतिपादित अद्वैत वेदान्त का सार इस प्रकार है—इस सम्पूर्ण जगत् दो भागों में बांटा जा सकता है—दृष्टा और दृश्य। श्लोक—**दृग्दृश्यौ द्वौ पदार्थौ स्तः परस्पर विलक्षणौ। दृक् ब्रह्म दृश्य मायेति सर्ववेदान्त-डिण्डिमः॥** अर्थात् द्रष्टा और दृश्य दो पदार्थ एक, एक से विलक्षण हैं, उनमें जो द्रष्टा है, वह ब्रह्म है और जितना दृश्य है, वह माया है, यही सब वेदान्तशास्त्र का ढिंढोरा है। देखने में ये दो तत्त्व हैं। एक वह जो सम्पूर्ण जागतिक-प्रतीतियों का अनुभव करता है, दूसरा वह जो अनुभव का विषय है। अर्थात् जिसका

अनुभव किया जाता है। इनमें प्रथम "आत्मा" और दूसरा "अनात्मा" है। आत्मतत्त्व अनामय, अविनाशी, निर्विकार और निस्संग है। स्थूलभूत प्रपञ्च से आत्म तत्त्व का कोई सम्बन्ध नहीं है। अज्ञान या अविद्या के कारण यह दृश्यमान जगत् सत् जैसा प्रतीत होता है, वास्तव में मिथ्या है— भ्रम मात्र है "जीव अहंकार के वशीभूत होकर अपने को आत्मतत्त्व से पृथक मानकर कर्ता, भोक्ता मान लेता है—" अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥ गी० 3/26। शांकरमतानुसार यह सारा प्रपञ्च जो सत्य के समान प्रतीत होता है, इसका मूल कारण माया है। आत्म-तत्त्व और जीवात्मा का एकत्व होने पर यह भ्रम दूर हो जाता है। और जीव "अहंब्रह्मास्मि" का अनुभव करने लगता है। वस्तुतः जीव और ईश्वर एक ही तत्त्व है। **"जीवो ब्रह्मैव नापरः"** ।

आत्मज्ञान के तीन साधन—श्रवण, मनन और निदिध्यासन ज्ञान के साक्षात् साधन हैं। किन्तु इनकी सफलता तभी है, जब ब्रह्म को जानने की अभिलाषा पूर्ण हो। यह अभिलाषा-ब्रह्मजिज्ञासा उन्हीं में पैदा होती है, जो विवेक, वैराग्य, शमादिषट्क सम्पत्ति और मुमुक्षुता आदि साधन चतुष्टय सम्पन्न हैं। बहिरंग साधनों की सहायता से चित्तशुद्धि होती है और तभी ब्रह्म को जानने की इच्छा का आविर्भाव होता है। इसी को "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" के नाम से कहते हैं।

परकाया प्रवेश की सिद्धि :—आचार्य शंकर ने जो कुछ कहा और लेखनीबद्ध किया। उसको प्रत्यक्ष करके दिखाया। आत्मा के विषय में उन्होंने कहा कि—आत्मा तीनों स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर' तीनों अवस्था जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति से परे है। उसको प्रत्यक्ष करके दिखाया। जैसे **"जाग्रत, स्वप्नसुषुप्त्यादि प्रपञ्चं यत्प्रकाशते। तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैर्विमुच्यते ॥** (**कैवतयोप०**) जो तीनों शरीरों एवं तीनों अवस्थाओं को प्रकाशित कर रहा है, वह ब्रह्म है। अमरुक राजा के शरीर में प्रवेश कर प्रत्यक्ष दर्शाया कि आत्मा तीनों शरीरों से परे है। योगदर्शन में लिखा है—**"कायेन्द्रियसिद्धिक्षयात्तपसः"** (**सा०पा०** 2।43) अर्थात् तप के प्रभाव से शरीर इन्द्रिय के मल का नाश हो जाता है, उससे योगी का शरीर स्वस्थ, स्वच्छ और हल्का हो जाता है तथा तीसरे पाद के इकतालीसवें और बयालीसवें सूत्र में बतलायी हुई काम-सम्पद्रूप शरीर-सम्बन्धी सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं एवं सूक्ष्म, दूर देश में और व्यवधान युक्त स्थान में स्थित विषयों को देखना, सुनना आदि इंद्रिय सम्बन्धी सिद्धि भी प्राप्त हो जाती है। **"कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूल समापत्तेश्चाकाशगमनम्** । इन्हीं सिद्धियों के बल पर परकाया प्रवेश, आकाश गमनादि होता है। **"स्थूल स्वरूप सूक्ष्मान्वयार्थवत्त्व संयमाद् भूतजयः"** (**यो० द०** 3।41-44) अर्थात् स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व इन पांचों प्रकार की अवस्थाओं में संयम करने से योगी को पांचों भूतों पर विजय प्राप्त हो जाती है। मण्डन मिश्र की धर्मपत्नी उभय भारती के पूछने पर काम की कलाएँ कितनी हैं? उनका स्वरूप कैसा है? किस स्थान पर निवास करती हैं? इत्यादि प्रश्न पूछने पर छः मास की अवधि मांगकर भगवान श्री शंकराचार्य जी ने मृतक अमरुक राजा के शरीर में प्रवेश किया— **"प्रविश्य कायं तमिमं परासोर्नृपस्य राज्येऽस्य सुतं निवेश्य। योगानुभावात् पुनरभ्युपैतुभुत्कण्ठते मानसमस्मदीयम्"** । **सं० शां० दि० सोपान** 9।77। ऐसा करने से पूर्व उन्होंने शिष्यों को अपने शरीर की रक्षा के लिए नियत कर दिया और "मोहमुद्गर" नामक ग्रन्थ की रचना कर उनसे कह दिया कि यदि राजा के शरीर में मेरे प्रवेश करने के बाद तुम देखो कि विषयों के प्रति आसक्ति पैदा होने के कारण मैं अपने उद्देश्य को भूल गया हूँ, तो मोहमुद्गर" मुझे सुना देना। इसे सुनते ही मुझे बोध हो जाएगा। मैं राजा के शरीर को छोड़कर अपने पूर्व-शरीर को धारण कर लूंगा। इतना कहकर आचार्य शंकर ने अपने स्थूल पांच भौतिक उस शरीर को त्याग कर सूक्ष्म शरीर से राजा के मृत शरीर में प्रवेश किया। शिष्यों ने अपने गुरु के प्राण-हीन शव को सुरक्षित रख दिया। अमरुक राजा

के शरीर में प्रवेश कर जाने के बाद जब शिष्यों ने देखा कि निश्चित अवधि बीत जाने पर भी गुरु-देव नहीं लौटे, तो वे समझ गये कि गुरुदेव को शरीर में ममत्व का आवेश हो गया है। इस पर उन्होंने राजा के घर में घुसकर और श्री शंकराचार्य को उसी अवस्था में देखकर जिसका उन्हें डर था, उसी समय मोहमुद्गर का पाठ उन्हें सुनाया—

श्लोक—का ते कान्ता कस्ते पुत्रः, संसारोऽयमतीव विचित्रः।
कस्य त्वं वा कुत आयातः, तत्त्वं चिन्तय तदिदं भ्रातः॥

इसे सुनते ही आचार्य शंकर पूर्व शरीर में फिर लौट आये। शिष्यों ने यह देख कर दास भाव से गुरुदेव को प्रणाम किया। वहां से कामुकता विषयक ज्ञान प्राप्त कर पुनः मण्डन मिश्र की सभा उपस्थित हुए। आसन पर बैठे तथा विद्वानों से घिरे हुए आचार्य शंकर के समीप जाकर सरस्वती उभयभारती ने कहा—सभा में मुझे न जीतकर कामशास्त्र में कथित काम कलाओं के जानने के लिए आपने जो प्रयत्न किया है, वह मानव चरित्र का अनुसरस मात्र है, अन्यथा आप सर्वज्ञ हैं। जगत में ऐसी विद्या नहीं है जो आपसे अज्ञात हो। अब मैं अपने निर्मल ब्रह्मलोक को अवश्य जाऊंगी। इतना कहकर सरस्वती ब्रह्मलोक चली गयीं और मण्डन मिश्र को संन्यास दीक्षा देकर आचार्य शंकर अपना शिष्य बनाया।

भगवान श्री शंकराचार्य जी ने जो कुछ लिखा और कहा, वह शास्त्र-सम्मत, युक्ति प्रमाण समर्पित सिद्धान्त है। धर्म और दर्शन की भारतवर्ष की ही नहीं अपितु संसार को महान देन है। उसी से आज दार्शनिक जगत में भारत का स्थान ऊँचा है। आद्य जगद्गुरु भगवान श्री शंकराचार्य के द्वादशवर्षीय शताब्दी समारोह के उपलक्ष्य में अपनी शब्द-पुष्पाञ्जलि समर्पित करते हुए हरि ओइम् तत्सत्।

श्री शंकराचार्य का काव्यमय उपदेश

महामण्डलेश्वर स्वामी दयानन्दपुरी
वेदपाठी वेदाश्रम, चांदोद

प्रचण्डपाखण्डविखण्डनोद्यतं,
त्रयीशिरोऽर्थं प्रतिपादने रतम् ।
बुधैर्नतं योगकलाभिरावृतं,
नमामि तं श्रीगुरु शंकरार्यम् ।।

बोद्ध आदि अवैदिक उग्र पाखण्डी मतों का खण्डन करने में उद्यत उपनिषद् गीता ब्रह्मसूत्र रूप प्रस्थानत्रयीं के अद्वितीय ब्रह्मात्मतत्व के अर्थ का प्रतिपादन करने में तत्पर, बोधयुक्त ज्ञानियों के द्वारा नमस्कृत, निर्विकल्प समाधिरूप योग कला से युक्त उन सर्वश्रेष्ठ जगद्गुरु श्री शंकर स्वामी को मैं श्रद्धा भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूं ।

भाष्यकार का मंगलाचरण

प्रज्ञानांशुप्रतानैः स्थिरचरनकर व्यापिभिर्व्याप्य लोकान्
भुक्त्वा भोगान्स्थविष्ठान्पुनरपि धिषणोद्भासितान्कामजन्यान् ।
पीत्वा सर्वान्विशेषान्स्वपिति मधुरभुङ् मायया भोजयन्नो
मायासंख्यातुरीयं परममृतमजं ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि ।।1।।

(माण्डूक्यकारिका सम्बन्धभाष्य)

जो ब्रह्म अपनी चराचर व्यापिनी ज्ञान रश्मियों के विस्तार से सम्पूर्ण लोकों को व्याप्त करके जागृत अवस्था में स्थूल विषयों का भोग करके पुनः स्वप्नावस्था में बुद्धि से प्रकाशित वासना जनित सम्पूर्ण रश्मि भोगों का पान करके माया से हम सब जीवों को भोग कराता हुआ स्वयं (सुषुप्ति में) आनन्द का भोक्ता होकर शयन करता है तथा जो माया से 'तुरीय' चौथी अवस्था वाला है जो परम अमृत और अजन्मा है, उस ब्रह्म को हम नमस्कार करते हैं ।

विश्व की उत्पत्ति, स्थिति, लय करने वाले, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसम्पन्न परमानन्दस्वरूप, कैलासाधिपति भगवान् महादेव ने केरल प्रदेशीय वेद-शास्त्रपारगामी—धर्मनिष्ठ शिवभक्त "शिवगुरु" तथा उनकी धर्मपत्नी 'आर्यम्ब' या 'सती देवी' की प्रार्थना से सनातनार्थ वैदिक धर्म का पुनरुद्धार करने की इच्छा से उसी ब्राह्मण दम्पति के यहां पुत्ररूप में अवतार ग्रहण किया । इनका नामकरण "शंकर" हुआ, जो आगे चलकर भगवतपाद शंकराचार्य नाम से प्रसिद्ध हुए । इनकी प्रतिभा अद्भुत थी, योगसिद्धि प्रकाण्ड पाण्डित्य धर्मनिष्ठा एवं ब्रह्मनिष्ठा जैसे दिव्य एवं भव्य गुणों के कारण थोड़े

समय में ही आपका महान् यश विश्व में फैल गया, हजारों शिष्य-सेवक हो गये। आपने प्रस्थानत्रयी पर अद्वैत परक भाष्य किया। असंख्य स्वतन्त्र ग्रन्थ रचे। घूम-घूम कर धर्म प्रचार किया, शास्त्रा में असंख्य बौद्ध-जैन-मीमांसकों आदि के विद्वानों को पराजित करके वैदिक धर्मावलम्बी बनाया, थोड़े समय में ही आचार्य शंकर ने देश की धर्मनीति तथा राजनीति को बदल कर सबको सनातन धर्म में प्रतिष्ठित किया। धर्म की रक्षा के लिये चार दिशाओं में चार मठों की स्थापना की। अनेक मन्दिरों का निर्माण एवं उद्धार किया, तीर्थों को पावन किया, पतित-धर्मान्तरितों को शुद्ध करके वैदिक व धर्म में प्रतिष्ठित किया। अस्तु, इस छोटे से लेख में मैं आचार्य की जीवनी नहीं दे रहा हूं। मैं तो सबका ध्यान आचार्य के कल्याणमय उपदेश की ओर दिलाना चाहता हूं। आचार्य ने मानवमात्र की योग्यता और अधिकार को देखकर यथायोग्य उपदेश किया है जिसका पालन करने पर प्रत्येक मानव का कल्याण हो सकता है, इसमें संदेह नहीं है।

'श्रुति-स्मृति' में ज्ञानी को ब्रह्मरूप माना है अतएव जैसे ब्रह्म के लिये कोई विधि-निषेध नहीं वैसे ही श्री शंकराचार्य ने ज्ञानी को विधिनिषेध से पर होने के कारण उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं बतलाया। "निःस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः।" अतः आचार्य ने कहा कि ज्ञानी ब्रह्म-रूप है अतः उसके ऊपर शास्त्र की आज्ञा या देवताओं का भी शासन नहीं है क्योंकि वह देवताओं का भी आत्मा हो जाता है। सबका द्रष्टा-साक्षी है तथापि वह प्रारब्धानुसार किसी कार्य में प्रवृत्त या निवृत्त हो तो भी उसको कोई हानि-लाभ नहीं, वह तो निर्लिप्त आकाशवत् असंग ही रहता है। ज्ञानी के बाद दूसरा नम्बर उपासक का आता है। उपनिषद् आदि वेदान्त का श्रवण करने पर भी बुद्धिमान्ध आदि किसी प्रतिबन्ध के कारण यदि अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न न हो तो उसकी उत्पत्ति के लिए मोक्ष फल साधक उपासनाओं का विस्तृत विवेचन आचार्य ने भाष्यों में तथा स्तोत्र ग्रन्थों में किया है। उपासना के अनेक भेद वेदान्तशास्त्र में आये हैं जो जिस गुण वाले ब्रह्म की उपासना करता है उसको उसी गुण विशिष्ट ब्रह्म की प्राप्ति रूप फल का प्रतिपादन उपलब्ध होता है। निर्गुण ब्रह्म की "अहं ब्रह्मास्मि" इत्याकारक अभेद बुद्धि से की गई अहंग्रह उपासना परिपक्व होने पर फल काल में ज्ञानरूप में परिणत हो जाती है जिससे उपासक को ब्रह्मभावापत्ति रूप मोक्ष पद प्राप्त होता है इस सिद्धान्त का आचार्य ने अनेक प्रकार से प्रतिपादन किया है।

सामान्य बुद्धि वाले उपासकों के मनोरथों की सिद्धि के लिए आचार्य ने सनातन धर्म के प्राचीनतम वैदिक साहित्य में वर्णित श्रीगणेश, शिव, शक्ति, सूर्य एवं विष्णु की उपासना का निर्देश देकर सगुण ब्रह्म की उपासना का खूब प्रचार किया तथा भिन्न-भिन्न शिव, विष्णु, कृष्ण, राम, गोविन्द, जगदम्बा आदि तथा गंगा, नर्मदा आदि देव-देवियों के अष्टकों के माध्यम से आम जनता को भगवदभिमुख करने का प्रयास किया, यह आचार्य की महति उदारता है।

इसके बाद आचार्य ने निषिद्ध एवं काम्य कर्मों का निषेध करके सामान्य मनुष्यों को शास्त्र विहित नित्य नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान करने की आवश्यकता का प्रतिपादन किया है। फल की इच्छा का त्याग करके आसक्तिरहित होकर निष्काम भाव से किया गया शास्त्र विहित शुभ कर्म अन्तःकरण की शुद्धि का साधन है अतः आचार्य ने यह कर्म अनुष्ठेय कहा है। आचार्य मे कर्म, उपासना एवं ज्ञान का समसमुच्चय न मानकर क्रम समन्वय का प्रतिपादन किया है।

पहले अग्नि होत्र, तप, दान आदि कर्मों के अनुष्ठान से अन्तःकरण को शुद्ध करे, फिर उपासना, ध्यान भक्ति-योगाभ्यास आदि के द्वारा चित्त को स्थिर करे इसके बाद शास्त्र और आचार्य का सेवन करके ब्रह्म एवं आत्मा का एकत्व लक्षण ज्ञान प्राप्त करके जीवन्मुक्त होकर विदेह मुक्त

होने का सार पूर्ण उपदेश देकर आचार्य ने केवलाद्वैत सिद्धान्त जगत के सामने रखा। ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः। यह कहकर सारे विश्व को चमत्कृत कर दिया। चारवाक, जैन-बौद्ध आदि नास्तिक मतों का जोरदार खण्डन करके न्याय, वैशेषिक, सांख्य-योग पूर्व मीमांसा आदि भेदवादी दर्शनों का उन्हीं की युक्तियों से प्रत्याख्यान करके उन्हें श्रुतिसम्मत मार्ग दिखया। और घोषणा की कि—

एकं वेदान्त-विज्ञानं स्वानुभूत्या विराजते। एकमात्र अद्वैत वेदान्त विज्ञान ही स्वानुभव द्वारा विराजमान (विशेष सुशोभित-प्रामाणिक एवं विजयी हो रहा) है। यद्यपि परमार्थ दृष्टि से आचार्य ने वर्णाश्रमाभिमानियों के लिए तत्तद् ब्रह्मणादि वर्ण एवं ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों के गुण-धर्मों के पालन का प्रतिपादन करके वैदिक परम्परा की रक्षा करके उसे सुदृढ़ किया है। ब्रह्मचारी आदि की व्याख्या आचार्य के शब्दों में ही पढ़िये—

ब्रह्माध्ययनसंयुक्तो ब्रह्मचर्यरतः सदा।
सर्वं ब्रह्मेति यो वेद ब्रह्मचारी स उच्यते॥
गृहस्थो गुणमध्यस्थः शरीरं गृहमुच्यते।
किमुग्रैश्च तपोभिश्च यस्य ज्ञानमयं तपः।
हर्षामर्षविनिर्मुक्तो वानप्रस्थः स उच्यते॥
हठाभ्यासो हि संन्यासो, नैव काषायवाससा।
नाहं देहोऽहमात्मेति निश्चयो न्यास लक्षणम्॥

(सदाचारानुसन्धानम्)

वेदाध्ययन से मुक्त एवं ब्रह्मचर्य व्रत में सदा तत्पर तथा 'सब कुछ ब्रह्म है' ऐसा जो जानता है, वह ब्रह्मचारी कहा जाता है।

सत्त्वादिगुणों से तथा तत्कार्य जगत् से जो मध्यस्थ (राग-द्वेष रहित-तटस्थ) रहता है, वह गृहस्थ है, यह शरीर गृह कहा जाता है जिसका ज्ञानमय तप है, उसको उग्र-तपों से क्या प्रयोजन ? जो हर्ष एवं अमर्ष (ईर्ष्या) से मुक्त है, वह वानप्रस्थ कहा जाता है। केवल काषाय-वस्त्र से ही संन्यास नहीं होता, किन्तु प्राणायाम, धारणा आदि का हठाभ्यासपूर्वक, "मैं देह नहीं हूं किन्तु मैं आत्मा हूं' यह दृढ़ निश्चय ही संन्यास का लक्षण है।

मैं द्विज हूं, मैं काणा-कुब्जा आदि कर्म का अनधिकारी नहीं हूं, मैं कर्म का अधिकारी हूं ऐसे कर्माधिकारी के लिए आचार्य ने जैसे संध्या, अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मों का विधान किया, वैसे मूढ़-बालक एवं स्त्रियों आदि को भी आचार्य ने कर्म से वंचित नहीं रखा। पतितों एवं नीचों तथा निन्दितों को भी आचार्य ने भगवद्भक्ति सदाचार—भगवान की स्तुति—प्रार्थना मन्त्र-जप, सत्यपालन-धर्माचरण, दान, व्रत एवं परोपकार का उपदेश देकर कृतार्थ किया है। अतः सारा जगत् आचार्य का ऋणी है।

इस ऋण से मुक्त होने के लिए भाष्यकार जगद्गुरु आद्य श्रीशंकराचार्य द्वादश शताब्दी समारोह महासमिति हरिद्वार के माध्यम से देश के कोने-कोने में ग्राम-ग्राम में द्वादश शताब्दी समारोह बड़े धूमधाम से मनाया गया। इस द्वादश शताब्दी महोत्सव से सबसे बड़ा लाभ तो यह हुआ कि आचार्य के काल के विषय में जो बहुत बड़ा मतभेद था—कि 12 सौ वर्ष से लेकर 24 सौ वर्ष तक आचार्य का काल भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण तथा भिन्न-भिन्न प्रमाणों से माना जाता था वह

अब सर्वसम्मति से बारहसौ वर्ष का काल निश्चित हो गया। राष्ट्र ने भी राष्ट्रीय स्तर पर द्वादश शताब्दी मनाकर इसे पुष्ट कर दिया अब कोई भी व्यक्ति निःसन्देह कह सकता है कि आद्य शंकराचार्य 12 सौ वर्ष पूर्व हुए थे अब तेरह सौवीं शताब्दी का प्रथम वर्ष चल रहा है। अस्तु।

उपर्युक्त केन्द्रीय महासमिति आगामी वि० सम्वत् 2045 के प्रयाग में कुम्भ मेला के अवसर पर द्वादश शताब्दी का विशेष अधिवेशन करने जा रही है तथा उसी अवसर पर श्री आदि शंकराचार्य पर प्रकाशित ग्रंथ का विमोचन भी कराएगी। यह जानकर किसे प्रसन्नता नहीं होगी ? हम आचार्य के चरणों में श्रद्धा सुमन सह वन्दन करते हुए उन्हीं का एक उपदेश प्रद मनोरम पद्य देकर अपनी लेखनी को विराम देते हैं।

> वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयताम्,
> तेनेशस्य विधीयतामपचितिः काम्ये मतिस्त्यज्यताम्।
> पापौघः परिधूयतां भवसुखे दोषोऽनुसंधीयता—
> मात्मेच्छा व्यवसीयतां निजगृहात्तूर्णं विनिर्गम्यताम्॥

सदा ऋगादि वेदों में कहे हुए भाग, दान, होम, तप, जप आदि शुभ कर्मों का श्रद्धा-भक्ति के साथ अनुष्ठान करो। इन शुभ कर्मों के ब्रह्मार्पण द्वारा एकमात्र उस जगदन्तर्यामी, चराचर व्यापी परमेश्वर की निष्काम प्रेम से उपासना करो। इस असार संसार की तुच्छ कामनाओं में अपने चित्त को न लगाओ। बुरी वासना रूप पाप समुदाय का सदाचार एवं सद्विचार से नाश करो। संसार के क्षणिक दुःख बहुल, नाम मात्र के विषय सुखों में दोषों का बारंबार अनुसंधान करो। प्रबल तत्त्व जिज्ञासा के लिए विवेकादि द्वारा महा प्रयत्न करो। अधिकार परिपक्व होने पर ममतास्पद-गृह का शीघ्र ही त्याग कर दो अर्थात् संन्यास ग्रहण करो। ओउम् शम्।

शिवः सर्वं सर्वत्र।
शुभं भवतु।

चरित्र विशिष्ट आचार्य शंकर

महामण्डलेश्वर श्री स्वामी शिवेन्द्र पुरी जी महाराज

आचार्य शंकर का नाम स्मरण करते ही आपके जीवनचरित्र द्वारा भारत की एकता, संस्कृति, सभ्यता, धर्म, कर्म, ब्रह्मविद्या, मोक्ष, ज्ञान आदि सभी के आदर्श का चित्र सामने खिंच जाता है। मनु जी ने धर्म का दश लक्षण कहा है "धृति क्षमा हमोस्तेयं शौच मिन्द्रिय निग्रह: धी विद्या सत्यम क्रोध: दशक धर्म लक्षणम्" पर स्वयं धर्म आचार्य शंकर के रूप में इन दश लक्षणों के भण्डार सहित इस पुण्यमयी भारत में आज से दो हजार वर्ष पूर्व आये थे। मानव जीवन का सब आदर्श गुणों से भरा यह व्यक्तित्व है। पूर्ण ब्रह्म परमशिव स्वयं शंकराचार्य रूप धारण कर जगत के समस्त जनों के उद्धार निमित्त अनेक सारगर्भित उपदेश किये हैं। न केवल आप अद्वैतियों के गुरु हैं, बल्कि सारा संसार के ज्ञान ज्योति गुरु हैं।

गरीब या अमीर, विद्वान या अनय:, सबल या दुर्बल ब्राह्मण या ब्राह्मणोत्तर, कपटी या स्वच्छ हृदयी, बालक या युवा जो कोई भी आपके सम्पर्क में आये उनके साथ सहृदयतापूर्ण व्यवहार किया। आचार्य स्वयं उस स्थान पर पहुंच चुके थे जहां स्वार्थ का कोई भी चिह्न नहीं रहता, सब परमार्थ ही था। आपका जीवन परमार्थ साधना का दीर्घ व्यापनी परम्परा था। आप न केवल आदर्शवादी थे बल्कि यथार्थवादी भी थे।

आचार्य शंकर ब्रह्मनिष्ठ होते हुए भी, माया मोह से सर्वथा विलग होते हुए भी आपने लोक संग्रह के लिये घूम-घूम कर दूसरों का अज्ञान दूर कर और ज्ञान का प्रचार कर लोगों को सिखाया "अपने को पहचानाना सीखो।"

आपके लिये आत्मसंग्रह व लोकसंग्रह या आत्मज्ञान सब एक ही था। आचार्य शंकर लोक संग्रह के अवतार थे। आप ज्ञान की महिमा के प्रतिपादक होने पर भी उपासना के परम उपासक थे। वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा को अक्षुण्ण रखने में आप सतत् प्रयत्नवान एवं सफल रहे। आपने जिस वृक्ष का बीजारोपण किया था सो अच्छी तरह फूला-फला। भारत में वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा, वेदों के प्रति श्रद्धा, ज्ञान के प्रति आदर, सारे भारत को आध्यात्मिक सूत्र से बांध करके संघटित कर एकता का रूप देना, इन सब का श्रेय आचार्य शंकर को ही है। न केवल आप एक प्रौढ़ दार्शनिक, विरक्त सन्यासी, व्यवहार कुशल पण्डित, श्रेष्ठ कवि, सिद्ध पुरुष थे पर आपके जीवन चरित से आपके व्यक्तित्व का, भव्यता का, अलौकिक पाण्डित्य का, जटिल, कठिन विषयों का सरल-सरस सुबोध भाषा व काव्य प्रतिभा द्वारा सरल एवं सुबोध बना देने का उदात्त चरित का, माता के प्रति प्रेम व भक्ति का, गुरु-भक्ति का, साधारण जनों के प्रति सहानुभूति का, भू प्रतिष्ठा द्वारा सारे भारत की एकता का, भारत

के विभिन्न जनवर्गों की एकता का, दुखों को देखकर द्रवित हो जाने का, लोककल्याण के लिये अपने शरीर के त्यागने का, तीव्र मेधा शक्ति एवं मृदुल हृदय का सामंजस्य का, धर्म प्रतिष्ठा का, जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाये उन्हीं का व्यवहार दृष्टया पालन करने का, पुण्य क्षेत्रों को अपने प्रभाव से प्रभावित कर उसकी महत्ता फिर से जीवित कर अवैदिकों के चंगुल से मुक्त कराने का, सन्यासियों को संघबद्ध करने का, वैदिक सनातन धर्म के लिये महान कार्य करने का, चतुर्धामों में चार आम्नाय मठों की प्रतिष्ठा कर और उसे महानुशासन से बद्ध कर अपने से प्रचारित मत को अक्षुण्ण रखने का, आध्यात्मिकता के निदर्शन से संस्कृत साहित्य में एक देदिप्यमान रत्न बनने का वैदिक परम्परा को धरोहर रूप में सुरक्षित रखने का श्रेय शंकराचार्य को ही जाता है।

आचार्य ने अपने विचारों से मानव विचारों की धारा पलट दी थी और आपकी गणना संसार के दार्शनिकों में आदर से लिया जाता है। आपके सभी ग्रन्थ ज्ञान व्यापक हैं। आपने अपने रचित ग्रन्थों में कहीं यह नहीं कहा "मैं कहता हूं अतः तुम को इसे मानना ही होगा" ऐसा कोई बाध्यवचन नहीं है। आपका रचित भाष्य तर्क व न्याययुक्त है और हर प्रकार के शंकाओं का इससे प्रशासन हो जाता है। आपके भाष्य के पढ़ने पर मनःशान्ति एवं तृप्ति उत्पन्न होती है। आपने बौद्ध, जैन, पांचरात्र पाशुपात, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, शास्त्रों पर अधिकारपूर्ण विवेचना लिखी है।

भारतवर्ष में इस समय जैसा वातावरण उपस्थिति हो रहा है उससे हमें प्रतिदिन भगवान् शंकराचार्य की याद आ रही है। आचार्य शंकर के पुनःआविर्भूत होने की प्रबल आकांक्षा उत्पन्न हो रही है, एक हजार वर्ष पूर्व आचार्य शंकर नव युग के विधायक और धर्म की सनातन धारा के संरक्षक थे। आओ, भगवान्। आओ, भगवन्। अपनी प्यारी भूमि पर एक बार पुनः दयादृष्टि दो। भारत माता आपके ही जैसे एक दिव्य तेजप्रज्ञ लाड़ले के लिये आंसू बहा रही है।

भगवान् शंकराचार्य की द्वादश शताब्दि महोत्सव समिति द्वारा किये गये उत्साहपूर्ण कार्य वस्तुतः स्तुत्य एवं प्रशंसनीय है। मुझे पूर्ण विश्वास है लोगों में भगवान् शंकराचार्य द्वारा उपदेशित शास्त्रीय परम्परा के प्रति निष्ठा जागृत होगी।

शंकरावतार की एक झांकी

श्री स्वामी परमेश्वरानंद सरस्वती,

साधनासदन, कनखल

आचार्यशङ्कर के आविर्भाव से पहले ऐसा समय था, जो सनातन धर्मावलम्बियों के लिये बहुत कठिनाई का माना जाता था।

इतिहासवेत्ता इस बात को भली-भाँति जानते हैं—उस समय वेदविहित धर्मकृत्यों का बहुत ही मजाक उड़ाया जाता था।

"त्रयो वेदस्य कर्तारो धूर्तभाण्डनिशाचराः"
वेद के कर्ता तीन हैं: धूर्त, भाण्ड निशाचर। ऐसे-ऐसे वाक्यों को उस समय जहां तहां सुनाया जाता था जिसको सुनकर आस्तिक व्यक्तियों का हृदय तड़प उठता। परन्तु उस समय का वातावरण ही एक ऐसा विषाक्त हो गया था—जो इसके विपरीत बोले वह मानो-अपनी मृत्यु को आमन्त्रण दे रहा हो।

वेद यह सनातन है इसमें बतलाये साधनों से मनुष्य का कल्याण होता है, ऐसा बोलना अपराध माना जाता था। वेद की महिमागान करने वाले को दण्ड दिया जाता था। यज्ञ याग आदि सत्कर्म तो बन्द ही हो गये थे। वेद का अध्ययन अध्यापन तो बहुत दूर हो गया था। देवपूजा भी कोई नहीं कर सकता था।

बदरीनाथ, जगन्नाथ, रामेश्वर, द्वारिका आदि धामों की पूजा बिल्कुल बन्द हो गई थी। कहते हैं—बदरीनाथ भगवान् की मूर्ति उठाकर आलकनन्दा नदी में फेंक दी थी। ऐसा अन्धकारमय समय आ गया था। लोग धार्मिक कृत्यों से सर्वथा विमुख हो गये थे। इतना ही नहीं—तत्कालीन राजालोग भी वेदविमुख हो गये थे। जब राजा अवैदिक हो जाता है तो प्रजा का अवैदिक होना स्वाभाविक ही है। "यथा राजा तथा प्रजा" यह नियम है।

उस समय के राजा सुधन्वा जब वेद विरोधियों के चंगुल में फंस गये तब एक राजकन्या के मुख से इन शब्दों का उच्चार हुआ "को मे वेदानुद्धरेत्" मेरे वेदों का उद्धार अब कौन करे? सनातन धर्मियों के लिए यह समय बहुत कठिनाई का था। उस समय के माने हुए विद्वान् पण्डित-कुमारिलभट्ट थे जब उन्होंने वेद की निन्दा सुनी तो उनको असह्य वेदना हुई। जन उन्होंने वैदिकधर्म प्रचार करना प्रारम्भ किया तो उनपर कितना भारी प्रहार हुआ जिसका वर्णन करना कठिन है। इतने पर भी छोड़ा नहीं यथाशक्ति करते ही रहे। आखिर उनका शरीर वृद्ध हो गया। सोच रहे थे सनातन धर्म का रक्षण

कैसे हो। वैसे यह बात निश्चित है कि सनातनधर्म का मूलोच्छेद कोई कर नहीं सकता। फिर भी घोर अन्धकार में जुगनु की तरह कहीं-कहीं पर ही दिखाई देता था।

भारतवर्ष की ऐसी विषम परिस्थिति उपस्थित होने—"विष्णुब्रह्मेन्द्रदेवै रतनगिरितटात्प्रार्थितो योऽवतीर्य" इस उक्ति के अनुसार—सब देवताओं ने कैलास पर्वत पर जाकर भगवान् सदाशिव की प्रार्थना की—हे देवाधिदेव महादेव—आपने बिना वेदरूपी गौ का रक्षण कौन करेगा। यह विधर्मियों के आघात से मूर्च्छित हुई पड़ी है। देवताओं की यह प्रार्थना सुनकर आशुतोष भगवान् प्रसन्न हुए और कहा मैं शीघ्र ही अवतार लूंगा।

दक्षिण में केरलप्रान्त के कालटी ग्राम में एक पवित्र ब्राह्मण शिवगुरु थे—पत्नी पतिव्रता आर्य्याम्बा थी। दोनों शंकर भगवान् के परमभक्त थे। जब दोनों ने सन्तान प्राप्ति के लिए शंकर जी की आराधना की, तब शंकर भगवान् ने वर दिया—मैं ही पुत्र रूप से आपके घर अवतार लूंगा। स्वल्प समय में ही आचार्य के रूप में प्रकट हुए। और—"छन्दोधे नुं प्रकृतिमगमयत्सूक्तिपीयूषवर्षैः" अपनी अमृतमयी दिव्यवाणी से सिञ्चनकर-मूर्च्छित पड़ी हुई उस वेदरूप गौ को स्वस्थ बना दिया।

इनके अवतार के विषय में अन्य बचन भी मिलते हैं—

"व्याकुर्वन् व्याससूत्रार्थं श्रुतेरर्थं यथोचिवान्।
श्रुतिर्न्याय्यः स एवार्थः शंकरः सवितानन:" ॥

अर्थात्—वेदविरुद्ध अर्थ को ग्रहणकर अनर्थ को प्राप्त हुए योगों को देखकर तथा देवताओं की प्रार्थना सुनकर आचार्यरूप में अवतीर्ण स्वयं शंकर ही व्यास जी के सूत्रों की व्याख्या करते हुए जो श्रुति का अर्थ किया, वही यथार्थ है।

इनके अतिमानव कार्यों को देखकर भी निश्चय होता है आचार्य साक्षात् शंकरावतार ही हैं। जैसे लिखा है—

अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित्।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात् ॥"

आठ वर्ष की अवस्था में चारों वेदों को कण्ठस्थ कर लेना यह बिना अवतार के सम्भव नहीं।

बारह वर्ष की आयु में सम्पूर्ण शास्त्रों में पारंगत होना यह भी कोई साधारण व्यक्ति का काम नहीं।

और सोलहवें वर्ष में तो प्रस्थानत्रयी पर प्रसन्न गंभीर भाष्य की रचना कर दी—जिसको देखकर बड़े-बड़े विद्वान् भी आश्चर्यचकित हो जाते हैं।

बत्तीस वर्ष पूर्ण होते-होते सम्पूर्ण भारत में सनातन धर्म की स्थापना करके स्वधाम में पधार गये।

जब इनके भाष्यों का अवलोकन करते हैं तो—मालूम होता शास्त्रज्ञान के अगाध समुद्र हैं। सम्पूर्ण शास्त्र मानो करामलकवत हैं।

इनमें अलौकिक शास्त्रज्ञान है—यह बात तो ब्रह्मसूत्र के तृतीय अध्याय पहला सूत्र—

"तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्त: प्रश्ननिरूपणाभ्याम्"

इस सूत्र पर वेदव्यासजी ने कितना गम्भीर शास्त्रार्थ हुआ—इससे जानी जाती है।

तात्पर्य—जो साक्षात् ब्रह्मसूत्र निर्माता भगवान् वेदव्यास हैं उनसे आठ दिन तक लगातार शास्त्रार्थ करता रहे और पराजित न हो—वह कोई साधारण मानव तो नहीं हो सकता। जब इन दोनों के शास्त्रार्थ का निर्णय नहीं हो रहा था तब पद्मपादाचार्य महाराज को यह बोलना ही पड़ा—

"शंकरः शंकरः साक्षात्-व्यासो नारायणः स्वयम्।
तयोर्विवादे संवृत्ते किंकरः किं करिष्यति॥

अर्थात्—आचार्य तो स्वयं शंकर हैं और व्यास स्वयं नारायण हैं जहां उनका विवाद हो जाय वह मेरे जैसा सेवक क्या करेगा।

इसी प्रकार मण्डन मिश्र के साथ शास्त्रार्थ के समय भी इनकी अलौकिकता का पता लगता है। मण्डनमिश्र साक्षात् ब्रह्माजी के अवतार माने जाते हैं, और उनकी पत्नी उभयभारती सरस्वती की अवतार मानी गई है। इन दोनों को जो शास्त्रार्थ में पराजित कर दे वह कौन हो सकता है आप ही अनुमान करें।

आचार्य के ये सब चरित्र अलौकिकता के परिचायक हैं। शास्त्रज्ञान के साथ-साथ इनकी अलौकिक निष्ठा का उदाहरण भी मिलता है—इनके चरित्र में आता है—एक कापालिक था जो भैरव जी की पूजा करता था। आचार्य के पास आकर कहा—आप सन्त हैं—अपने पास आये हुए को निष्फल नहीं लौटाते—इसलिए आपके पास आया हूं। आचार्य ने कहा क्या चाहते हो? कापालिक ने कहा आपका मस्तक चाहिए, इसका हवन करके सशरीर स्वर्ग में चला जाऊंगा—यही इच्छा है।

हमारे इष्टदेव की यह आज्ञा हुई है—तू किसी चक्रवर्ती राजा के या ब्रह्माजी के मस्तक से हवन करेगा तो सशरीर स्वर्ग चला जायेगा। हमको चक्रवर्ती राजा का मस्तक मिलना तो असंभव है। आप परोपकारी सन्त हैं। तत्वज्ञानी हैं आप मस्तक दे दें? आचार्य मुस्कराये और कहा—प्रातः ब्रह्ममुहूर्त में जब मैं समाधि में होऊंगा तब आराम से आप मस्तक ले जाना।

यहां आचार्य को थोड़ा भी देहाध्यास होता तो कापालिक को इतना सहज उपाय न बताते, इससे इनकी अलौकिक ब्रह्मनिष्ठा से यह सिद्ध होता है।

इनके जीवन की अनेक झांकियां ऐसी हैं जो इनमें अलौकिकता सिद्ध करती है। अन्य अवतारों से मिलती हैं। जैसे भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओं में आता है। जब वे बहुत छोटे थे उनके यहां मालिन फल बेचने आई। श्रीकृष्ण फल लेने उसके पास गये—वह देखकर बहुत आनन्दित हुई और भगवान् के दोनों हाथों को फल से भर दिया।

भगवान् ने उसको ऐसा चमत्कार दिखाया—जब वह घर पर गई तो क्या देखती! उसकी टोकरी रत्नों से भरी मिली।

इसी प्रकार आचार्य शंकर छोटी-बटुक अवस्था में एक ब्राह्मणी के घर भिक्षा के लिए गये। दरिद्रता के कारण जब देने को घर में कुछ भी न मिला तब बहुत कठिनाई से एक सूखा आंवला दिया। परन्तु मनमें बहुत दुःख थी कि मैं आज अतिथि की सेवा न कर सकी, और कहा भी—हे ब्रह्मचारी मैं आपको कुछ भी न दे सकी क्षमा। यह सुनकर आचार्य को बहुत दया आयी—चमत्कार यह किया कि उसके आंगन में सोने के आंवलों की वर्षा करवा दी। इसी प्रकार अन्य भी—जैसे श्री बलरामजी ने श्री यमुनाजी का अपने हल से आकर्षण कर अपने पास ले आये और जल क्रीड़ा की।

आचार्य शंकर भी पूर्णानन्दी को अपने घर के पास ले आये। प्रसिद्ध घटना ऐसी है—माता आर्याम्बा प्रतिदिन पूर्णानदी में स्नान करने जाती थी, नदी घर से बहुत दूर थी और माताजी का शरीर बहुत वृद्ध हो गया था। एक दिन स्नान करके वापस आ रही थीं—रास्ते में धूप के कारण चक्कर आ गया और वहीं पर गिर पड़ीं। आचार्य शंकर को पता लगा आज मेरी माता को बहुत कष्ट हुआ है। उसी समय आचार्य ने पूर्णानदी की प्रार्थना की और आह्वान किया। दूसरे दिन प्रातः देखा तो उनके घर के समीप में बह रही है। ऐसा चमत्कार देखकर सबको आश्चर्य हुआ और यह बालक कोई दिव्य है ऐसा सबने माना।

भगवान् श्रीकृष्ण जैसे विद्याध्ययन के बाद गुरु दक्षिणा में मरे हुए गुरु पुत्र को जीवित करके दे दिया।

उसी प्रकार आचार्य शंकर जब मुकाम्बिका क्षेत्र जा रहे थे रास्ते में एक ब्राह्मणी ने नमस्कार किया जिसका पुत्र अभी मरा था। आचार्य ने उसको दिया पुत्रवती भव। ब्राह्मणजी ने कहा अभी हमारा पुत्र मरा है आपका आशीर्वाद सफल कैसे होगा ? आचार्य ने दयादृष्टि से उसको देखा और प्रार्थना की कमण्डलू का जल उस पर छिड़का उसका पुत्र उसी तरह उठकर बैठ गया जैसे कोई सोकर उठा हो।

ऐसे-ऐसे चमत्कार इनके जीवन में बहुत हैं जो असाधारणता सिद्ध होती है "अतः शंकरः शंकर साक्षात्, यह उक्ति सही है।"

इनके अवतार का मुख्य प्रयोजन वैदिक सनातन धर्म से विमुख हुए लोगों को—श्रुतिसिद्धान्त का यथार्थ बोध कराकर पुनः वैदिक सनातन धर्म में प्रतिष्ठित करवाना था। वह कार्य इन्होंने स्वल्प समय में ही अपनी अलौकिक प्रतिभा द्वारा, अलौकिक जीवन चरित्र द्वारा, सम्पन्न करके स्वरूप में प्रतिष्ठित हो गये।

इस भारतवर्ष पर जितना उपकार आचार्य शंकर ने किया उतना कोई नहीं ? मानवमात्र पर इनका उपकार है। अतः मानवमात्र इनका ऋणी है। इनका प्रत्युपकार कौन कर सकता है ? केवल इनके चरण कमलों में वन्दनमात्र है, इसी से प्रसन्न होवे—यही प्रार्थना है।

कुछ इनके उपकारों को याद करने के लिए इस वर्ष इनके अनुयायी सन्त तथा भक्तों ने मिलकर इनकी "द्वादश शताब्दी" मनाई है।

अर्थात् इनके प्राकट्य को बारह सौ वर्ष पूर्ण हुए। इस निमित को लेकर भारत में तथा अन्य देशों में लगातार दो वर्ष तक बहुत बड़े-बड़े महोत्सव मनाये गये।

हम सबने इसी भाव से इनके उपकारों का तथा इनके गुणों का गान करके और इनके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए अपनी बाणी को, अपने जीवन को, कृतार्थ किया है।

इसी उपलक्ष्य में यह स्मारिका भी प्रकाशित हुई है। इसको भी पढ़कर जिज्ञासुजन आचार्य के चरणों में श्रद्धा व्यक्त करते हुए अपना जीवन कृतार्थ करेंगे यही आशा है ऊँशम।

वेदार्थदृष्टा महान् योगी : आचार्य श्री शंकर

श्री रामचन्द्र शर्मा (आई० ए० एस०)

कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्व विद्यालय ।

हिन्दू धर्म के सिद्धान्त और व्यवहार पक्ष की वैज्ञानिक व्याख्या के कारण आचार्य श्री शंकराचार्य को जगद्गुरू कहा जाता है । मानव मात्र को शाश्वत मुक्ति का संदेश देकर उन्होंने चरम सत्य की प्राप्ति का द्वार सबके लिए खोल दिया। उनका संदेश था कि विश्व के विविध पदाथ और प्राणियों में एक ही अविभाजित परमतत्त्व विद्यमान है । बादरायण के वेदांत सूत्रों की विशद व्याख्या में उनके सूक्ष्म, प्रौढ़, अकाट्य और वेदसम्मत चिंतन की गहरी छाप मिलती है । स्वामी विवेकानंद, स्वामी रामतीर्थ, महात्मागांधी, श्री अरविंद, श्री रमण और और विनोवा ने उनकी अभूतपूर्व प्रतिभा के प्रति अगाध श्रद्धा व्यक्त की है । देश-विदेश का कोई दार्शनिक ऐसा नहीं जिसने पक्ष या विपक्ष में सोच समझ कर आचार्य शंकर की मेधा का लोहा स्वीकार न किया हो । श्री शंकर ने राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के लिए चार मठों की स्थापना की । आध्यात्मिक ज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए यह एक दूरदर्शी निर्णय था । ऐसे युगपुरुष वेदान्तद्रष्टा योगी श्री आचार्य शंकर के प्रति मैं भावभीनी प्रणामांजलि अर्पित करता हूं ।

शंकर जगतगुरु भी थे और आचार्य भी

श्री लक्ष्मीकांत वर्मा

शंकराचार्य एक युगपुरुष थे और उन्होंने अपनी प्रकांड प्रखर प्रतिभा एवं विवेक से पूर्व युग के सारे विवादों को समेटा, उनका विवेचन किया। यदि वह इतना ही करते तो अनेकानेक दार्शनिकों, विद्वानों की भांति वह केवल एक वार्ताकार, भाषाकार, या टीकाकार के रूप में इतिहास पुरुष होकर रह जाते। अनेक विवादों को समेटने का काम और प्रत्येक मत को उसकी सीमा और विस्तार को रेखांकित करके यथास्थान उसको स्थापित करने का काम तो कोई भी प्रतिभासंपन्न विद्वान कर सकता है। शंकराचार्य ने यह तो किया ही, किन्तु इससे भी बड़ा काम यह किया कि सारे मतों में से उन्होंने एक सूत्र निकाला जिससे एक नए युग का निर्माण हुआ। पूर्व सीमांसा काल में अनेक विवाद थे। जैमिनी, पातंजलि अनेक के अतिरिक्त मत-मतांतरों में पूरी बौद्धिक परंपरा बंटी हुई थी। ऐसा भी लगता है कि कर्मकांड ने पुरी वैदिक आस्था से ईश्वर की सत्ता को ही निकाल बाहर किया था। कुमारिल भट्ट ने जैमिनी के सूत्र 'हवि प्रधान है कि देवता' की व्याख्या की और हवि को प्रधान मान कर अनेक प्रकार के मतों को पनपने का कारण बना दिया था। बादरायण के ब्रह्मसूत्र को लेकर ही अनेक विवाद थे। सारांश यह कि इतना बिखराव था कि उसमें से सत्य पहचानना ही कठिन था। जहां मीमांसा का यह रूप था वही सांख्य और काम भी एक दूसरे प्रकार का द्वंद्व था। सांख्य के प्रकृति पुरुष और योग के यम, नियम, धारणा, ध्यान, समाधि तथा आत्मसाक्षात्कार का द्वंद्व एक दूसरे प्रकार का था। शावर मत और आत्म साक्षात्कार के सगुण और निर्गुण तत्व पर भी विवाद था। और इन समस्त विवादों का कोई अंत नहीं था। इसी के साथ तंत्र शास्त्र का एक दूसरा मार्ग था जो पूरे देश के मनोबल, इच्छा शक्ति और सत्य को देखने और समझने में एक अतिरिक्त आयाम जोड़ रहा था। इन सबका परिणाम यह हुआ कि पूरे देश और समाज में अनेक प्रकार की भ्रांतियाँ फैल गईं। सबको प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उस सनातन परंपरा की तलाश थी जो विभिन्नता में विवेक पूर्ण संतुलन पैदा करती है।

यदि हम यह मान भी लें कि शंकराचार्य का उदय बौद्ध धर्म के बाद हुआ (जिसके विषय में विवाद है) तो बौद्ध धर्म की गुह्य साधनाओं, वज्रयानियों के अनेक रूपों ने पूरे समाज में भय, आत्महीनता, अस्थिरता और पार्थिवता को इस सीमा तक बढ़ा दिया था कि समाज की रीढ़ की हड्डी ही गल कर समाप्त हो गई थी। जीव और ब्रह्म जीव और जगत, आत्मा और परमात्मा, परा और अपरा, विद्या और अविद्या को लेकर ऐसे पाखंड उत्पन्न हो गए थे जो वेद, वेदांगों, उपवेदों, इतिहासों और पुराणों को नकार कर चलने की ही दिशा लक्षित करते थे किन्तु सभी यह अनुभव करते थे कि हम से कहीं कुछ छूट रहा है जिसके कारण नितांत तर्क सम्मत सत्य भी अधूरा लग रहा है। यह जो छूट रहा था वह वही सनातना थी जो हमें अपने मूल से जोड़ती है, यह

वही निरंतरता का बोध था जो कहीं खंडित हो रहा था। सत्य तो सबके पास थे लेकिन ऋतु किसी के पास नहीं था अर्थात् ऐसी सत्य की धारा, जो सत्य, अर्धसत्य, काल सत्य के अवरोधों को काट कर या उसके बीच से अखंड, अद्वितीय, चिरन्तन निरंतरता का रास्ता खोल सके। आदि शंकराचार्य का सबसे बड़ा योगदान यह रहा है कि उन्होंने वेद वेदांग, उपवेदों और इतिहास की गति को एक साथ जोड़ कर देखने की दृष्टि ने यह विवेक भी दिया जिससे उस सनातनता को पहचानने की क्षमता पैदा हो जो कालजयी है, अखंड है, चिरंतन है और अपने शाश्वत मूल्यों के आधार पर सनातन है।

जैसा कि कहा जाता है कि अपनी 32 वर्ष की अल्प आयु में उन्होंने पांच प्रकार के पराक्रम किए। वेदों और उपनिषदों की व्याख्या, भाष्य में उन्होंने अद्वितीय प्रतिभा दिखाई, पूर्व मीमांसा के वेद सूत्र, ब्रह्म सूत्र की प्रामाणिकता एवं अनेक विवादों में सत्य का दर्शन कराने के विद्वतापूर्ण पराक्रम के साथ-साथ उनमें आचार्यत्व था, जिसके आधार पर उन्होंने आत्मसत्य को दूसरों तक प्रेषित किया। तीसरा पराक्रम था संस्थापन का। चौथा था उस वैचारिक दार्शनिक एकत्व बोध को मानसिक सत्य के रूप में व्यक्ति-व्यक्ति और घर-घर में पहुंचाने का। पाँचवां पराक्रम था भारतीय दर्शन को एक स्वरूप और आकार देने का। इन्हीं पाँचों पराक्रमों के आधार पर वह युगप्रवर्तक भी हुए और जगत गुरू भी हुए। उनकी इस विलक्षणता का ही यह फल है कि हम आज अपने आपको पहचानने और पहचान करवाने में समर्थ हैं।

शंकराचार्य के पूर्व का भारत बौद्धिक अजीर्णता से त्रस्त था। इस अजीर्णता को हम बुद्धि विलास भी नहीं कह सकते क्योंकि जिज्ञासाएं जितनी भी थीं वह केवल जिज्ञासा के लिए नहीं थीं। वह मूलत: 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' से ही प्रेरित थीं लेकिन भावों को अनुभवों और अनुभवों को अनुभूतियों तक पचा कर पहुंचाने की क्षमता ही जैसे समाप्त थी। शंकर ने मंथन किया। मीमांसा से कर्म कांड भी लिए, ईश्वर और ब्रह्म के साथ यज्ञ और यज्ञ के देवताओं को उन्होंने स्वीकारा तो सही पर निर्गुण निराकार ब्रह्म की सत्ता अखंड अद्वितीय रखी, साँख्य के प्रकृति और पुरुष में से प्रकृति के विद्या रूपों में से विद्या शक्ति को और पुरुष तत्व के पंच देवताओं को भी उन्होंने स्वीकारा, सगुण के परा और अपरा रूपों में से परा को तो उन्होंने आत्मानंद के रूप में लिया किन्तु अपरा (शारीरिक) को उन्होंने कहा कि आत्मा जब तक अपरा के बस में होती है वह मुक्त नहीं हो पाती। यहाँ भी उन्होंने परा को विद्या और अपरा को अविद्या के रूप में त्याज्य बताया। शंकर की विद्वता और उनका विवेक इस अर्थ में अद्वितीय था।

आधुनिक चिन्तकों में से कुछ को यह भ्रम होता है कि शंकर दर्शन संसार को महत्व नहीं देता और वह केवल ब्रह्म सत्य को ही परम सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं। जहाँ तक उनके इस कथन का संबंध है वह तो भारतीय दर्शन का केन्द्रबिन्दु है। यह संसार माया है, भ्रम है। स्वप्न होते हुए संसार में निस्संग होकर जिया जा सकता है। केवल संसार को देखने की दृष्टि बदलनी पड़ेगी। दृष्टि बदलने से संसार से जीवन का संबंध भी बदल जाएगा। और इस बदली हुई दृष्टि के अनुसार जीने का तरीका भी अपनाया जा सकता है। यदि हम यह मान लें कि इस संसार में जो कुछ भी देखने, सुनने अनुभव करने में आता है वह ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है तो फिर इस ब्रह्ममय संसार को जीव के साथ, जीव को संसार के साथ जीने की सही दृष्टि मिल सकती है।

शंकर को चिंता थी उस आर्य परंपरा की जिसे वेदों ने दिया था और जो पिंड और ब्रह्मांड-से लेकर चेतन और जड़ में जीव और आत्मा में, जीव और जीव में, सत, चित आनन्द में सब में व्याप्त एकात्मकता को स्वीकार करती है। शंकर की चिन्ता थी उस ऋषि देवता छन्दस, अर्थात् साक्षात्कार

और साक्ष्य के साथ उस सृजनशील तत्व को निरंतर गतिशील बनाए रखने की जो संपूर्ण ज्ञान और विवेक को संयत और सुसंस्कृत करता है। सनातनता की दृष्टि, काल की गतिशीलता, पिंड और ब्रह्मांड के एकत्व के प्रति जागरुक रहना और सत्य एवं ऋतु की पहचान को अपने पूर्ण चेतन व्यक्तित्व में, होने से, कर्म में जाग्रत किए रहना ही सनातनता है। सनातनता वह है जो कालजयी होकर समस्त विश्व में व्याप्त है। शंकराचार्य को जो विशेष चिन्ता थी वह यही ज्ञान की शक्ति थी। विभिन्न विवादों, मत मतांतरों में सत्य की यह पहचान क्षीण हो रही थी।

शंकर ने जहाँ अपने शास्त्रीय विवेक से ज्ञान के क्षेत्र को आलोकित किया है, वहीं उस ज्ञान को आगे बढ़ाने के लिए एक ऐसे आचार्य की भूमिका भी निभाई है जो उस ज्ञान को सब में समान रूप से आचरित करने की दृष्टि देती है। इसके लिए शंकराचार्य को अनेक शास्त्रार्थ करने पड़े और बहुत से दुर्ग भी ध्वस्त करने पड़े जो अपने-अपने क्षेत्र में अडिग लगते थे।

सनातनता के ऊपर जो विद्वानों के दृष्टिदोष के कारण निरन्तर आघात हो रहे थे उससे बचाकर पूरे भारत को जोड़ा। यह वही कर सकता है जिसमें ज्ञान तो हो ही पर ज्ञान के साथ पांडित्य और पांडित्य के साथ आचार्यत्व अर्थात् दीक्षित एवं प्रेरित करने का भी गुण हो। केवल इतना ही काफी नहीं है। आचार्यत्व के साथ गुरुत्व भी होना आवश्यक है। आचार्य ही जब शब्द ज्ञान के आगे साक्षात्कार भी कराने का गुर जानता है तभी बह गुरू भी होता है। यही नहीं गुरू से भी आगे वह स्वयं भी देवत्व प्राप्त कर लेता है। शंकर के पूर्व जो जगतगुरू का संशोधन है और शंकर के अन्त में आचार्य का सम्बोधन है इन दोनों के संपुट में ही शंकर की आभा है। वही शंकर का अद्वैत भी है और द्वैताद्वैत का स्वरूप भी है। यद्यपि आचार्य शंकर की प्रतिष्ठा अद्वैतवाद को लेकर की जाती है फिर भी ज्ञान और भक्ति के प्रवाह में वह अद्वैत कैसे द्वैतद्वैत हो जाता है, यह स्वयं में अद्वितीय अनुभव है।

ज्ञान और भक्ति दोनों के आधार पर देवताओं को स्वीकार करके आचार्य शंकर ने जैमिनी के उस सूत्र को अस्वीकार कर दिया जिसकी व्याख्या कुमारिल भट्ट और मंडन मिश्र ने यह कह कर की थी कि यहां हवि मुख्य है, देवता नहीं क्योंकि हवि के अधीन हैं इसलिए वह मुख्य नहीं है। उनकी भक्ति भी शंकर को एक अद्वितीय गुरुता प्रदान करती है और यह सिद्ध करती है कि वह केवल एक दार्शनिक और विवेचक रूप में आचार्य नहीं थे वरन गुरु भी थे और गुरु से भी आगे वे एक उपासक भी थे। आचार्य शंकर ने तो देवता को पुनर्स्थापित किया है।

देवत्व स्थापना के साथ संघ स्थापना भी आचार्य शंकर के पराक्रमों में से एक है। आचार्य शंकर ने देखा कि सनातनता पर जो समय-समय पर आक्षेप होता रहता है उससे मुक्ति पाने का एक ही साधन है और वह यह कि देश के चारों दिशाओं में इसकी अजस्रधारा निरंतर प्रवाहित होती रहे। इसी दृष्टि से हिमालय में बद्रिकाश्रम का ज्योर्तिमल द्वारिका में शारदापीठ, कांची में कामकोटि और पुरी में गोवर्धन पीठ की स्थापना की। भारत के एकात्म भवि को दृढ़ करने के लिए उन्होंने बद्रिकाश्रम में दक्षिणात्य, कांची में उत्तर भारतीय, पुरी में गुजराती और द्वारिका में जगन्नाथ पुरी के ब्राह्मणों को पुजारी बनाया। दक्षिण से समुद्र का जल और उत्तर से गंगा जल लेकर आज भी जो कांवर चलते हैं और इन जलों को हिमालय और सागर से जोड़ते हैं यह वह आध्यात्मिक और दार्शनिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि है जिसके सूत्र में वह भारत की एकात्मकता को प्रतिष्ठित करना चाहते थे। आज की राजनीतिक व्यवस्था इस आध्यात्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि के बिना देश की राजनीतिक एकता को स्थापित करने

में लगी है किन्तु यह कार्य राजनीतिज्ञों से न कभी हुआ है और न होगा। यह तो कोई आध्यात्मिक सांस्कृतिक आचार्य द्वारा ही संभव हो पाएगा।

ऋषित्व की आर्ष परंपरा को गहराई से जानने और समझने की अपूर्व दृष्टि उनके पास थी। जिस समय उनका जन्म हुआ भारत में वह आर्ष परंपरा कहीं श्रमण परंपरा से घिरी थी तो कहीं मीमांसा और कर्म के तर्कजाल में उलझी थी। शंकर की अन्तर्दृष्टि उनकी विद्वता और उनकी संगठन शक्ति ने जिस प्रकार सारे बादलों और धुंध को छांट कर साफ किया वह स्वयं में एक नए प्रवर्तक की अदम्य शक्ति का परिचायक है। ऐसी ही दशा शायद महाभारत के अन्त में भी हुई होगी। जिसके कारण व्यास ने शांति पर्व में यह कहा कि :

नास्ति तस्मात परतर, पुरुषाद् वै सनातनात्
नित्यं हि नास्ति जगति भूतम् स्थात्वा जगमम
ऋते तमेकं पुरुषं वासुदेवं सनातनं
सर्वभूतात्म भूतो हि वासुदेवो महाबल:

शांति पर्व, अ० 339, श्लोक 31-32

यह बात शंकराचार्य का गुणगान करते हुए ही लिखी जाती है कि उन्होंने भारत में बौद्ध धर्म के पांव उखाड़ दिए और उस समय प्रचलित अवैदिक मत मतांतरों की जड़ें खोद कर रख दी। लेकिन इस निरूपण में उनका गुणगान कम, अपकीर्ति ही ज्यादा है। शास्त्रार्थ के लिए चुनौती देते और अपनी युक्तियों से प्रतिपक्षी को निरुत्तर करते शंकराचार्य चमकते रहते हैं। लेकिन साथ ही इस प्रश्न को भी मौका देते हैं कि अपने से भिन्न मत रखने वालों को जीतने की आवश्यकता उन्हें क्यों अनुभव हुई ? क्या शंकराचार्य इतने संकीर्ण थे कि उन्हें दूसरे विचार का अस्तित्व भी असह्य था और वे जहां कहीं उसे देखते, मिटाने के लिए आकुल होने लगते थे ?

शंकराचार्य ने बौद्ध और जैन विद्वानों से ही शास्त्रार्थ नहीं किए, वैदिक परंपरा के लोगों को भी ललकारा। जो विवरण मिलते हैं, उनके अनुसार न्याय, मीमांसा वैशेषिक और योग के अलावा तंत्र, पंचरात्र, पाशुपत, कापालिक, शाक्तमत और गणपत्य संप्रदाय के आचार्यों से भी उनके शास्त्रार्थ हुए। इस समय प्रचलित परिभाषाओं और विभाजन को मानें तो इनमें से बौद्ध और जैन को छोड़कर कोई भी संप्रदाय अवैदिक नहीं था। यह मानें कि अवैदिक मत मतांतरों को उखाड़ फेंकना ही आचार्य शंकर का उद्देश्य था, तो उन्हें वैदिक परंपरा के इन लोगों को क्यों चुनौती देना पड़ी ?

शंकराचार्य के समय में बौद्धों, जैनों और वैदिक मतानुयायियों में ऐसा कोई टकराव नहीं था कि किसी को किसी के विरुद्ध अभियान छेड़ना पड़े। मतभेद रखने और अपना मार्ग चुनने की पर्याप्त छूट मिली हुई थी और लोग आसानी से कर्मकांडों का त्याग कर बुद्ध की परंपरा में दीक्षित हो सकते थे और बुद्ध के अनुयायी भी ब्रह्मण कुलों में स्थान पा लेते थे। जो लोग कहते हैं कि बौद्ध धर्म ब्राह्मणों और वेदों के प्रति रोष का उभार था और यह उनके द्वारा दबाए कुचले लोगों में फला फूला, उन्हें बौद्ध आचार्यों की परंपरा पर दृष्टि दौड़ानी चाहिए। इसे संगठित करने, शास्त्र लिखने और इसका दर्शन विकसित करने वाले आचार्यों में अधिकांश ब्राह्मण कुलों से ही आए थे। सबसे महत्वपूर्ण अनुपिटक मिलिंद प्रश्न के रचयिता नागसेन ब्रह्मण थे, आचार्य अश्वघोष अयोध्या के ब्राह्मण कुल में जन्मे थे, बौद्ध दर्शन के प्रवर्तक नागार्जुन ब्राह्मण थे और बौद्ध साहित्य के साथ वैदिक वांग्मय पर भी उनका उतना ही अधिकार था। असंग, वसुबंधु, दिङ्नाग धर्मकीर्ति, शांत संक्षत, शंकर स्वामी आदि आचार्य ब्राह्मण परिवारों से ही आए थे।

यद्यपि खंडन मंडन की परंपरा उन दिनों विद्यमान थी पर उसमें ऐसी आक्रामकता नहीं थी कि दूसरे का अस्तित्व ही मिट जाए। खंडन मंडन आदान-प्रदान के स्तर पर ही होता था और उससे चिंतन के नए आयाम उद्घाटित होते थे। वात्स्यायन के 'न्याय भाष्य' दिङनाग का 'प्रमाण समुच्चय' धर्मकीर्ति का 'प्रमाणवार्तिक' जैसे दर्शन ग्रंथ खंडन मंडन से उत्तेजित हुई चिन्तन प्रक्रिया के ही परिणाम हैं। ये ग्रंथ अब से दो हजार साल पहले ज्ञान के क्षितिज छू लेने का प्रमाण और यह कतई नहीं कहा जा सकता कि खंडन मंडन के पीछे असहिष्णुता या संकीर्णता की भावना रही होगी।

शंकराचार्य जैसी विभूति के बारे में तो इस संकीर्णता की कल्पना ही नहीं की जा सकती। उन जैसे करुणावान व्यक्ति इतिहास में विरले ही दिखाई देते हैं, जो अपने शत्रु तक का अनिष्ट चिन्तन नहीं कर सकता। उल्लेख मिलता है कि उनके एक वैरी आचार्य अभिनव गुप्त ने उन पर कृत्या का प्रयोग किया था। इसी तांत्रिक प्रयोग के कारण उन्हें भंगदर रोग हुआ। पता चलने पर उनके शिष्यों ने अभिनव गुप्त को दंडित करना चाहा पर आचार्य ने उसके प्रति कटुवचनों तक का प्रयोग नहीं करने दिया। कहा, सब जगन्नियंता की इच्छा है।

एक और उल्लेख में वे उग्र भैरव कापालिक को अपना मस्तक देने के लिए तैयार हो जाते हैं। कापालिक ने उन्हें सामान्य यति मानकर अपनी तंत्र साधना के लिए यह याचना की। मस्तक देने से किसी को मोक्ष लाभ हो सकता है, यह सोच कर ही आचार्य अपने बलिदान के लिए तैयार हो गए। वह तो ऐन वक्त पर उनके शिष्य पद्मपाद ने उग्र भैरव का ही शिरच्छेद कर दिया, नहीं तो आचार्य अपनी बलि चढ़वा ही चुके थे। आचार्य शंकर के जीवन चरित में ऐसी कितनी ही घटनाएं मिलती हैं, जो उनके परम करुणावान व्यक्तित्व का परिचय देती हैं। ऐसी करुणावान विभूति के इतना कठोर होने की कल्पना ही नहीं की जा सकती कि शास्त्रार्थ में हारे व्यक्ति को खौलते तेल के कड़ाह में छलांग लगाने के लिए कहें और इसके लिए बाध्य करे।

शंकराचार्य के प्रमुख प्रतिपक्षी बौद्ध बताए गए हैं। माधवाचार्य ने 'शंकर दिग्विजय' में भी लिखा है कि उनके तेज प्रताप से बौद्ध न जाने कहां लुप्त हो गए। उनका दिखाई देना उसी तरह बंद हो गया, जैसे सूरज निकलने पर जुगनु कहीं नहीं दिखाई देता। माधवाचार्य ने अपने काव्य में बौद्ध सांख्य का प्रयोग किसी मतानुयायी के लिए नहीं बल्कि कोरे बुद्धिवादियों के लिए किया है। अन्यथा शंकराचार्य के बाद शताब्दियों तक भारत में बौद्ध धर्म का प्रचार रहा। और यदि शंकर मठों की परंपरा माने तो बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार प्रसार तो आचार्य शंकर के बाद ही हो सका।

शंकरमठों की परंपरा के अनुसार आचार्य शंकर का काल दो हजार से ढाई हजार साल पहले तक स्थिर होता है। बौद्ध प्रभाव के व्यापक विस्तार का काल इस के बाद का ही है। अगर उन्हें सातवीं आठवीं शताब्दी में हुआ मानें तो भी बौद्ध धर्म उन के समय में भारत से तिरोहित नहीं हुआ था। आचार्य शंकर के बाद ग्यारहवीं शताब्दी तक भारत से बौद्ध भिक्षुओं के दूसरे देशों में जाने और धर्म प्रचार करने का उल्लेख मिलता है। उदंतपुरी और विक्रमशिला जैसे विद्यालय शंकराचार्य के बाद ही आरंभ और विकसित हुए।

आचार्य शंकर के गुरुमह गौड़पादाचार्य अद्वैत सिद्धांत के प्रवर्तक थे लेकिन वे बुद्ध के भक्त भी थे। मांडूक्य उपनिषद की कारिका में चतुर्थ प्रकरण में उन्होंने भगवान बुद्ध की वंदना की है। शंकराचार्य के अद्वैतवाद और बौद्ध दर्शन के शून्यवाद में तो पूरा साम्य बताया ही जाता है। उन्हें स्वयं 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहा जाता है। इतना कुछ होने पर आचार्य शंकर को बौद्ध धर्म का वैरी नहीं कहा जा सकता।

वैदिक परंपरा में भी शंकर को पांचरात्र, पाशुपत, सदैव शाक्त आदि मतों का आलोचक बताया जाता है। उन्होंने अपने समय के विभिन्न साधना संप्रदायों के आचार्यों और विद्वानों से शास्त्रार्थ किए लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि वे उन मतों के भी विरोधी थे। शंकराचार्य ने तांत्रिकों और कापालिकों के छक्के छुड़ाए, लेकिन वे स्वयं 'मंत्र शास्त्र' और तंत्र विद्या के मर्मज्ञ थे। उन्होंने 'सौंदर्य लहरी' और 'प्रपंच सार जैसी रचनाएं की। अपने मठों में श्रीविद्या की पूजा अर्चना का विधान किया और स्वयं भगवती त्रिपुरा की अनन्य उपासना तो की ही।

शैव आचार्यों से शास्त्रार्थ कर उन्हें परास्त किया लेकिन स्वयं उनकी वाणी शिव की स्तुति में सुरसरि की तरह बही। पांचरात्रों को उन्होंने चुनौती दी लेकिन स्वयं विष्णु सहस्रनाम पर टीका लिखी, और 'भजगोविंदम जैसे स्त्रोत्र' थे। शाक्तों और गाणपत्यों से शास्त्र चर्चा के लिए सदैव तैयार रहने और हर बार उन्हें परास्त करने के बाद उन्होंने दुर्गा, काली, सरस्वती और गणपति के स्रोत गाए।

शंकराचार्य मीमांसकों को परास्त करते हैं लेकिन कुमारिल भट्ट से ब्रह्मसूत्र पर अपने भाष्य का वार्तिक लिखने का अनुरोध भी करते हैं। बौद्धों के बाद उनके सब से ज्यादा शास्त्रार्थ मीमांसकों से ही हुए और कुमारिल भट्ट मीमांसा के सबसे बड़े आचार्य थे। उनसे वार्तिक लिखवाने का अर्थ है कि विचार या दर्शन से विरोध नहीं है तुषानल में जलते हुए भट्टाचार्य को वे बाहर आने और जल चुके शरीर को मंत्र बल से पूर्ववत् कर देने के लिए कहते हैं। कुमारिल भट्ट प्रतिज्ञा और शिष्य के धर्म की दुहाई दे कर बाहर तो नहीं आए पर अपने सुयोग्य शिष्य मंडन मिश्र को जरूर बता दिया कि वह इस काम को दक्षता से कर सकते हैं।

शंकराचार्य के तेज और पांडित्य से योग के आचार्य भी पराभूत होते हैं लेकिन योगसूत्रों के रचियता पंतजलि का आशीर्वाद उन्हें ही मिलता है। अद्वैत मत के प्रचारक शंकर भक्तिमार्ग के विरोधी दिखाई देते हैं, लेकिन उन्होंने भक्तिभाव से भरी रचनाए दी, जिन्हें पढ़कर शुष्क हृदय में भी रस का स्रोत फुट पड़े। उनके आगे नैयायिकों के पैर नहीं टिकते परंतु उनके चिंतन ने न्यायशास्त्र के नए क्षेत्र खोले।

इतना होते हुए भी आचार्य शंकर को किसी मत मतांतर का विरोधी किस आधार पर कहा जा सकता है। हालांकि इसमें एक विरोधाभास भी है कि जिस आचार्य को उन्होंने परास्त किया, उसी के मत और इष्ट को बाद में प्रतिष्ठित भी किया। अगर उस मत से कोई आपत्ति नहीं थी तो निरर्थक तर्कयुद्ध क्यों लड़ा ? शंकराचार्य की महानता इसी प्रश्न के उत्तर में निहित है।

अद्वैत वेदांत की प्रतिष्ठा करते हुए भी शंकराचार्य ने दूसरे मतों की आलोचना नहीं की। इस के विपरीत उनकी भी पुष्टि ही की क्योंकि कोई भी मतवाद अलग नहीं है। अलग-अलग रुचि और प्रकृति के लोग भिन्न-भिन्न मार्ग अपना कर अपने गतव्य तक पहुंच ही जाते हैं। इसलिए एक दूसरे से विपरीत और अलग दिखाई देने वाले मार्गों में वस्तुत: कोई विरोध है नहीं। लेकिन शंकराचार्य के समय में मत मतांतर तो एक ओट बने हुए थे, जिनकी आड़ में अपनी विकृत वासनाओं को खुल कर खेलने दिया जाता था। मतवाद की ओट में स्वेच्छाचार को शंकराचार्य ने पाखंड का नाम दिया है और उन की लड़ाई इस पाखंड से ही थी।

बौद्ध धर्म में तब तक कई स्वेराचारी तत्व घुस गए थे। मध्यम मार्ग के नाम पर व्यभिचार और राजसी भोग विलासों की खुली छूट हासिल कर ली गई थी। भगवान बुद्ध के 'शुन्य' और 'करुणा'

के आदर्शों को प्रज्ञा और उपाय की संज्ञा दे दी गई थी और नर नारी को उनका प्रतीक बना कर मद्य मैथुन को ही मुक्ति का मार्ग बताया जाने लगा था। शंकराचार्य को लोक और वेद की पुनप्रतिष्ठा करनी थी। इसके लिए इन प्रवृत्तियों को चुनौती देना तो जरूरी था ही।

तप तितिक्षा से शुद्ध हुई चेतना और सत्संकल्प तो स्वयं प्रमाण है। इसी चेतना को उपनिषदों ने 'आत्म दीपो भव' और भगवान बुद्ध ने 'अप्पा दीवो विहरथ' कहा। लेकिन सामान्य जनों के लिए कर्तव्य अकर्तव्य के निश्चय में शास्त्र ही प्रमाण कहे गए हैं। शास्त्र आप्त पुरुषों के वचन हैं। इसलिए भगवान कृष्ण ने भी गीता में कार्य और अकार्य का निर्णय शास्त्रों के प्रकाश में ही करने का निर्देश दिया है। अगर सामान्य स्थिति में ही अपने विवेक को सर्वोपरि मान लिया जाए तो विषय वासनाएं इतनी प्रबल होती हैं कि वे विवेक को भी अपने चंगुल में फंसा लेती है। शंकराचार्य के समय में स्वविवेक का यह अनर्थ तो हो ही रहा था, वैदिक सिद्धांतों का भी अपरूप प्रचार होने लगा था। इन अपरूप प्रचारकों ने कई पुण्यक्षेत्रों में अपने गढ़ बना लिए थे। उदाहरण के लिए श्री पर्वत कापालिकों का गढ़ बन गया था। यह वह स्थान है जहां द्वादश ज्योतिर्लिगों में से एक मल्लिकार्जुन स्थिति है। लेकिन कापालिकों के स्वैराचार से श्री पर्वत इतना बादनाम हो गया था कि सामान्य लोगों को वहां जाने की हिम्मत नहीं होती थी। कार्णाटिक में क्रकच नामक कापालिकों का सरदार तो अपने साथ सेना रखता था। मीमांसा, न्याय संख्या, योग और वैशेषिक आचार्य भी अपने पांडित्य का उपयोग निजी रागद्वेष के लिए कर रहे थे। शंकराचार्य ने ऐसे विद्वानों को ब्रह्मपिशाच की संज्ञा देते हुए उन्हें बुरी तरह लताड़ा है और कहा है कि ये लोग विद्या बुद्धि को वेश्यावृत्ति में लगा रहे हैं।

अपने प्रतिद्वंद्वियों के लिए आचार्य शंकर ने मुख्य रूप से दो संबोधन इस्तेमाल किए हैं एक पाखंडी और दूसरा वावदूक। पाखंडी अर्थात् जो दिखावा तो धर्माचरण का करता हो लेकिन उसके वास्तविक जीवन में धर्म की कोई किरण नहीं पहुंची हो। आचार्य का चरित वर्णन करने वाले शंकर दिग्विजय, शंकर विजय, शंकर विजय विलास, शंकर चरित, केरलीय शंकर चरित और गुरुवंश काव्य में उस समय की पाखंड लीलाओं के विस्तृत विवरण आते हैं। संकेत के लिए इतना ही कहा जा सकता है कि आचारहीन लोग अपने दुराचरण को उचित सिद्ध करने के लिए वेद शास्त्रों का अनर्थ कर रहे थे। उनका समाज में प्रभाव भी था। उनके पाखंड को तोड़ने के लिए शंकराचार्य ने उन्हें शास्त्रार्थ की चुनौतियां दी।

वावदूक या बकवादी उन्हें कहा है जो अपने कुसंस्कारी मन और उसकी दास बुद्धि को ही सबसे बड़ा शास्त्र या प्रमाण मानते थे। लोगों को प्रभावित करने के लिए उनके पास युक्तियां थीं और विषय भोगों का आकर्षण भी। उसके साथ धर्माचरण साधते रहने का आश्वासन तो था ही। इन लोगों के लिए कोई आप्तवचन प्रमाण नहीं था। इसलिए शंकराचार्य ने स्वतंत्र युक्तियों और कौशल से उन लोगों को परास्त किया और अपने युग की दोनों बड़ी चुनौतियों का सामना किया।

माधवाचार्य ने लिखा है कि वैदिक मार्ग की रक्षा के लिए ही आचार्य ने पाखंडियों और वावदूकों को परास्त किया। धर्म की रक्षा ही इसका प्रधान कारण था। अपने सम्मान के लिए उन्होंने यह कार्य नहीं किया। वे निरभिमानी ठहरे। सम्मानरूपी भूत, ईर्ष्या और वैर के दलबल सहित उन्हें अपने जाल में कैसे फंसा लेता।

शंकराचार्य के स्तोत्र

डॉ० अमरनाथ पाण्डेय,

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
काशी विद्यापीठ, वाराणसी ।

शंकराचार्य ने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखकर अद्वैतवेदान्त की प्रतिष्ठा की । इन भाष्यों के अतिरिक्त उन्होंने अनेक स्तोत्रों की रचना की, जिनसे उनकी भक्तिभावना प्रकट होती है । उनके स्तोत्रों में उदात्तता है और भक्ति का मनोरम विलास है । इनमें रहस्यों की स्पष्ट झलक मिलती है, जिससे शंकराचार्य के दर्शन के अनेक पक्षों को सरलता से हृदयङ्गम किया जा सकता है । भक्ति का ऐसा वैशिष्ट्य है कि दार्शनिक तथा तार्किक भी उससे प्रभावित हुए हैं और उन्होंने भक्तिपरक साहित्य का निर्माण किया है । इस दृष्टि से हम शंकराचार्य के स्तोत्र-साहित्य की परीक्षा कर सकते हैं ।

शंकर के स्तोत्रों को दो दृष्टियों से देख सकते हैं । शंकर का हृदय भक्ति से अनुप्राणित रहा होगा, अत: उन्होंने विभिन्न देवों की स्तुति की । सगुण की आराधना से चलकर निर्गुण तक पहुंचने का मार्ग अधिक स्पष्ट है । जिस प्रकार मन सगुण में अनुरक्त होता है, उस प्रकार निर्गुण में नहीं । शंकराचार्य की यह भी दृष्टि हो सकती है कि इन स्तोत्रों के माध्यम से साधक सरलता से निर्गुण तक पहुँच सकता है और अद्वैतवेदान्त के तात्पर्य को समझ सकता है । अत: अपनी भक्तिभावना के कारण तथा साधारण जिज्ञासुओं के लिए उन्होंने स्तोत्रों की रचना की होगी । उन्होंने व्यवहार-जगत् को ध्यान में रखते हुए मठों की स्थापना की तथा स्तोत्रों के माध्यम से जिज्ञासुओं को आह्लादित किया, उन्हें प्रेरणा प्रदान की और उचित मार्ग पर चलने का उपदेश दिया । इनमें प्रतिपादित तत्त्व निगूढ़ नहीं थे, अत: उनको समझने में कोई कठिनाई नहीं होती थी । स्तोत्रों का सरसता तत्काल आकृष्ट कर लेती है । यदि दर्शन, धर्म आदि के तत्त्व इनके माध्यम से प्रस्तुत किये जायं, तो विशेष प्रभाव पड़ेगा और विषय का स्वरूप अधिक स्पष्ट होगा ।

शंकराचार्य के नाम से अनेक स्तोत्र मिलते हैं । इन स्तोत्रों को संख्या 240 बतायी जाती है । श्रीवाणीविलास प्रेस से प्रकाशित शंकर-ग्रन्थावली में 64 स्तोत्र संग्रहीत हैं । यदि इन स्तोत्रों की शैली, भाषा, विचार आदि की दृष्टि से समीक्षा की जाय, तो यह स्पष्ट भासित होगा कि ये सभी

स्तोत्र आदिशंकर-कृत नहीं हैं। जिन 64 स्तोत्रों को शंकर ग्रन्थावली में प्रकाशित किया गया है, वे ये हैं[1]—

(1) गणेशस्तोत्र
(1) गणेशपंचरत्न, (2) गणेशभुजङ्गप्रयात्, (3) गणेशाष्टक, (4) वरदगणेशस्तोत्र।

(2) शिवस्तोत्र
(1) शिवभुजङ्ग, (2) शिवानन्दलहरी, (3) शिवपादादिकेशान्तस्तोत्र, (4) शिवकेशादिपादान्तस्तोत्र, (5) वेदसारशिवस्तोत्र, (6) शिवापराधक्षमापण, (7) सुवर्णमालास्तुति, (8) दक्षिणामूर्तिवर्णमाला, (9) दक्षिणामूर्त्यष्टक, (10) मृत्युंजयमानसिकपूजा, (11) शिवनामावल्यष्टक (12) शिवपंचाक्षर, (13) उमामहेश्वर, (14) दक्षिणामूर्तिस्तोत्र, (15) कालभैरवाष्टक, (16) शिवपंचाक्षरनक्षत्रमाला, (17) द्वादशलिङ्गस्तोत्र, (18) दशश्लोकीस्तुति।

(3) देवीस्तोत्र
(1) सौन्दर्यलहरी, (2) देवीभुजङ्गस्तोत्र, (3) आनन्दलहरी, (4) त्रिपुरसुन्दरीवेदपाठ, (5) त्रिपुरसुन्दरीमानसपूजा, (6) देवीचतुःषष्ट्युपचारपूजा, (7) त्रिपुरसुन्दर्यष्टक, (8) ललितापंचरत्न, (9) कल्याणवृत्तिस्तव, (10) नवरत्नमालिका, (11) मंत्रमालिकापुष्पमाला, (12) गौरीदशक, (13) भवानीभुजङ्ग, [14) कनकधारा, (15) अन्नपूर्णाष्टक, (16) मीनाक्षीपंचरत्न, (17) मीनाक्षीस्तोत्र, (18) भ्रमराम्बाष्टक, (19) शारदाभुजङ्गप्रयाताष्टक

(4) विष्णुस्तोत्र
(1) कामभुजङ्गप्रयात, (2) विष्णुभुजङ्गप्रयात, (3) विष्णुपादादिकेशान्त, (4) पाण्डुरङ्गाष्टक, (5) अच्युताष्टक, (6) कृष्णाष्टक, (7) हरिमीडेस्तोत्र, (8) गोविन्दाष्टक, (9) मानसपूजा, (10) जगन्नाथाष्टक।

(5) युगलदेवस्तोत्र
(1) अर्धनारीश्वर, (2) उमामहेश्वर, (3) लक्ष्मीनृसिंहपंचरत्न (4) लक्ष्मीनृसिंहकरुणारसस्तोत्र।

1. पं० बलदेव उपाध्याय : श्री शंङ्कराचार्य, पृ० 158—159

(6) नदीतीर्थविषयक (1) नर्मदाष्टक, (2) गङ्गाष्टक,
(3) यमुनाष्टक, (4) मणिकर्णिकाष्टक,
(5) काशीपंचक।

(7) साधारण (1) हनुमत्पचरत्न, (2) सुब्रह्मण्यभुजङ्ग,
(3) प्रातःस्मरणस्तोत्र, (4) गुर्वष्टक।

अधोलिखित स्तोत्र आदिशंकराचार्य-कृत माने जाते हैं—आनन्दलहरी, गोविन्दाष्टक, दक्षिणामूर्ति, द्वादशपंजरिका, चर्पटपंजरिका, षट्पदी तथा हरिमीडे।

आनन्दलहरी में 20 श्लोक हैं। इसकी 30 टीकाएं हैं। यह स्त्रोत्र शिखरिणी छन्द में है श्लोक अत्यन्त मनोरम तथा माधुर्यभाव से युक्त हैं। आचार्य ने अत्यन्त भक्तिपूर्ण हृदय से देवी की स्तुति की है। आनन्दलहरी शक्ति-विषयक स्तोत्र है। आनन्दलहरी की अनुकृति पर सौन्दर्यलहरी की रचना हुई है, जो तंत्रविषयक महत्त्वपूर्ण रचना है। सौन्दर्यलहरी किसी अन्य शंकराचार्य की कृति है। इनमें अनेक दृष्टियों से आनन्दलहरी का अनुहरण प्राप्त होता है। आनन्दलहरी तथा सौन्दर्यलहरी—दोनों में शिखरिणी छन्द का प्रयोग प्राप्त होता है। दोनों में भाषा और भाव की दृष्टि से पर्याप्त साम्य है। आनन्दलहरी में देवी को "चिदानन्दलतिका" (श्लोक 6) कहा गया है, तो सौंदर्यलहरी में "चिदानन्दलहरी"—"भजामि त्वां धन्या : कतिचन चिदानन्दलहरीम्" (श्लोक 8)। आनन्दलहरी में प्रयोग मिलता है—"कृपापाङ्गालोकं वितरतरसा साधुचरिते" (श्लोक 10), तो सौन्दर्यलहरी में "भवानि त्वं दासे मयि वितर दृष्टिं सकरुणाम्" (श्लोक 22)। आनन्दलहरी में कहा गया है कि हे देवि, तुम तो पुरुषों को उनकी इच्छा से भी अधिक वस्तु देने में समर्थ हो—"त्वमर्थानामिच्छाधिकमपि समर्था वितरणे" (श्लोक 13) और "सौन्दर्यलहरी" में कहा गया है कि आपके चरण इच्छा से भी अधिक फल प्रदान करने में समर्थ हैं—"भयात् त्रातुं दातुं फलमपि च वांछासमधिकम्" (श्लोक 4)। आनन्दलहरी में शिव द्वारा विषपान का उल्लेख है—"दधौ कण्ठे हालाहलमखिलभूगोलकृपया" (श्लोक 17) और सौन्दर्यलहरी में भी—"करालं यत् क्ष्वेलं कवलितवतः कालकलना" (श्लोक 28)।

आनन्दलहरी के अन्तिम श्लोक में कहा गया है कि जो व्यक्ति सरोवर के भीतर क्रीड़ा करता हुई आपका स्मरण करता है, उसकी ज्वर-जनित पीड़ा दूर हो जाती है—

सखीभिः खेलन्तीं मलयपवनान्दोलितजले
स्मरेद्यस्त्वां तस्य ज्वरजनितपीडापसरति। (श्लोक 20)

इसी प्रकार सौन्दर्यलहरी में भी कहा गया है कि हे देवि, आप अपनी दृष्टि से ज्वरसन्तप्त लोगों को सुखी कर देती हैं—

ज्वरप्लुष्टान् दृष्ट्या सुखयति सुधाधाररसिरया। (श्लोक 20)

आनन्दलहरी में प्रयुक्त "स्मरेत्" (श्लोक 20) के आधार पर सौन्दर्यलहरी में प्रयोग मिलते हैं—

(1) दिवं सर्वामुर्वीमरुणिमनिमग्नां स्मरति यः। (श्लोक 17)

(2) हरार्धं ध्यायेद् यो हरमहिषि ते मन्मथकलामृ (श्लोक 19)

आनन्दलहरी में जो माधुर्य है तथा समर्पण का भाव है, वह मन को बलात् खींच लेता है। आचार्य प्रारम्भ में ही कहते हैं कि हे भवानि, जब चार मुखों से ब्रह्मा, पांच मुखों से शिव, छः मुखों से सेनानी और एक हजार मुखों से शेष आपका वर्णन नहीं कर सकते, तो अन्य कौन आपका वर्णन कर सकता है—

भवानि स्तोतुं त्वां प्रभवति चतुर्भिर्न वदनैः।
प्रजानामीशानस्त्रिपुरमथनः पंचभिरपि।
न षड्भिः सेनानीर्दशशतमुखैरप्यहिपति-
स्तदान्येषां केषां कथय कथमस्मिन्नवसरः॥ (श्लोक 1)

घृत, दुग्ध, द्राक्षा और मधु की मधुरिमा का वर्णन किन पदों में किया जा सकता है। यह तो रसना का ही विषय है। उसी प्रकार आपका सौन्दर्य शिव के नेत्रों का ही विषय है—

घृतक्षीरद्राक्षामधुरिमा कैरपि पदै-
र्विशिष्यानाख्येयो भवति रसनामात्रविषयः।
तथा ते सौन्दर्यं परमशिवदृङ्मात्रविषयः
कथङ्कारं ब्रूमः सकलनिगमागोचरगुणे॥ (श्लोक 2)

अधोलिखित श्लोक में देवी की रूपमाधुरी का वर्णन मिलता है—

मुखे ते ताम्बूलं नयनयुगले कज्जलकला
ललाटे काश्मीरं विलसति गले मौक्तिकलता।
स्फुरत्कांचीशाटी पृथुकटितटे हाटकमयी
भजामि त्वां गौरीं नगपतिकिशोरीमविरतम्॥ (श्लोक 3)

आपके मुख में ताम्बूल है, दोनों नेत्रों में काजल की रेखा है, ललाट पर केशर की बिंदी है, गले में मोती का हार शोभित हो रहा है, पृथु कटितट पर सुनहली साड़ी है, जिस पर करधनी चमक रही है। मैं इस प्रकार की नगपतिकिशोरी गौरी तुम को भजता हूँ।

भवानी को चिदानन्दलतिका कहा गया है। वह लतिका रोगों का नाश करने वाली है। वह हिमालय से उत्पन्न हुई है, सुन्दर हाथ ही उसके पल्लव हैं, मुक्ता का हार ही सुन्दर पुष्प है, अलकराशि ही भ्रमरावली है। स्थाणु (शिव अथवा ठूँठ) ही उसका आश्रय है। वह कुच रूपी फलों के भार से झुकी हुई है तथा सुन्दर वचनों से सरल है—

हिमाद्रेः सम्भूता सुललितकरैः पल्लवयुता
सुपुष्पा मुक्ताभिर्भ्रमरकलिता चालकभरैः।
कृतस्थाणुस्थाना कुचफलनता सूक्तिसरसा
रुजां हन्त्री गन्त्री विलसति चिदानन्दलतिका॥ (श्लोक 6)

भवानी धर्मों की विधात्री हैं, सकल आम्नाय की जननी हैं, अर्थों का मूल हैं। हे देवि, कुबेर भी आपके चरण-कमलों की वन्दना करते हैं। आपही कामनाओं का आदि कारण हैं, आप परब्रह्म-स्वरूप शिव की महिषी हैं, आप ही सन्तों के मोक्ष का बीज हैं—

विधात्री धर्माणां त्वमसि सकलाम्नायजननी
त्वमर्थानां मूलं धनदनमनीयाङ्घ्रिकमले ।
त्वमादिः कामानां जननि कृतकन्दर्पविजये
सतां मुक्तेर्बीजं त्वमसि परमब्रह्ममहिषी ।। (श्लोक 8)

आनन्दलहरी के अन्तिम श्लोक में प्रतिपादित किया गया है—हे देवि, वसन्त में खिली हुई लताओं से घिरे हुए, अनेक प्रकार के कमलों से शोभित तथा हंसों की मण्डली से सुन्दर, मलयानिल से आन्दोलित जलवाले सरोवर के भीतर सखियों के साथ खेलती हुई आपका जो स्मरण करता है, उसकी ज्वरजनित पीड़ा दूर हो जाती है—

वसन्ते सानन्दे कुसुमितलताभिः परिवृते
स्फुरन्नानापद्मे सरसकलहंसालिसुभगे ।
सखीभिः खेलन्तीं मलयपवनान्दोलितजले
स्मरेद्यस्त्वां तस्य ज्वरजनितपीडापसरति ।। (श्लोक 20)

यह श्लोक तान्त्रिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। जो देवी के उक्त स्वरूप का ध्यान करता है और इस श्लोक का पाठ करता है, वह ज्वर से मुक्त हो जाता है।

आनन्दलहरी के आधार पर सौन्दर्यलहरी, गङ्गालहरी, करुणालहरी, अमृतलहरी आदि नाम रखे गये हैं।

गोविन्दाष्टक में 9 श्लोक हैं। इस पर आनन्दतीर्थ की व्याख्या है। स्तोत्र के प्रत्येक श्लोक के अन्त में "**प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम्**" आता है। इसमें कृष्ण की लीलाओं का सुन्दर उल्लेख मिलता है। पहला श्लोक इस प्रकार है—

सत्यं ज्ञानमनन्तं नित्यमनाकाशं परमाकाशं
गोष्ठप्राङ्गणरिङ्गणलोलमनायासं परमायासम् ।
मायाकल्पितनानाकारमनाकारं भुवनाकारं
क्ष्माया नाथमनाथं प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम् ।।

जो सत्य, ज्ञानस्वरूप, अनन्त और नित्य हैं, जो आकाश से भिन्न हैं, फिर भी परमाकाश-स्वरूप हैं, जो गोष्ठ के प्रांगण में चलते हुए चपल हो रहे हैं, जो आयास से रहित हैं, किन्तु लीला में अत्यधिक थके-से हो जाते हैं, जो आकारहीन होकर भी माया से नाना प्रकार के आकार धारण करते हैं और विश्वरूप से प्रकट होते हैं, जो पृथ्वी के नाथ हैं तथा जिनका कोई स्वामी नहीं हैं, उन परमानन्द गोविन्द की वन्दना करो।

वे परमपुरुष गोपियों के मण्डल में रहते हैं, वे भेदावस्था में रहकर भी अभिन्न भासित होते हैं, वे गायों के खुरों से उठी हुई धूलि से धूसरित होते हैं। वे श्रद्धा तथा भक्ति से आनन्दित होते हैं। वे अचिन्त्य हैं, फिर भी उनकी सत्ता का चिन्तन किया जाता है—

गोष्ठीमण्डलगोष्ठीभेदं भेदावस्थमभेदाभं
शश्वद्गोखुरनिर्धूतोद्धतधूलीधूसरसौभाग्यम् ।
श्रद्धाभक्तिगृहीतानन्दमचिन्त्यं चिन्तितसद्भावं
चिन्तामणिमहिमानं प्रणमतगोविन्दं परमानन्दम् ।। (श्लोक 5)

अधोलिखित श्लोक में भगवान की लीला तथा दार्शनिक रहस्य का प्रतिपादन मिलता है—

कान्तं कारणकारणमादिमनादिं कालमनाभासं
कालिन्दीगतकालियशिरसि मुहुर्नृत्यन्तं नृत्यन्तम् ।
कालं कालकलातीतं कलिताशेषं कलिदोषघ्नं
कालत्रयगतिहेतुं प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम् ॥ (श्लोक 7)

जो कमनीय, कारणों के भी आदि कारण, अनादि, कालस्वरूप, आभासरहित हैं, जो यमुनाजल में रहने वाले कालिय नाग के शिर पर बार-बार नृत्य कर रहे थे, जो काल भी हैं और काल की कला से अतीत भी हैं, जो सर्वज्ञ हैं, कलि के दोषों को दूर करने वाले हैं, तीनों कालों की गति के कारण हैं, उन गोविन्द परमानन्द की वन्दना करो ।

इस अष्टक में अनेक सुन्दर समस्त पद भी प्रयुक्त हुए हैं—"**व्यादितवक्त्रा लोकितलोकालोकचतुर्दशलोकालिम्**" (श्लोक 2), "**गोपीखेलनगोवर्धनधृतिलीलालालितगोपालम्** (श्लोक 4) आदि ।

शंकराचार्य के स्तोत्रों में दक्षिणामूर्ति का विशेष महत्त्व है । इसमें वेदान्त के तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है । इस पर सुरेश्वराचार्य का वार्तिक है तथा विद्यारण्य, स्वयंप्रकाश, पूर्णानन्द आदि की टीकाएँ हैं । सुरेश्वराचार्य के वार्तिक पर रामतीर्थयति की व्याख्या है । सुरेश्वराचार्य का वार्तिक महत्त्वपूर्ण है । स्तोत्र के मर्म को समझने के लिए वार्तिक का अनुशीलन अत्यन्त अपेक्षित है ।

स्वयंप्रकाशयति ने अपनी व्याख्या के प्रारम्भ में लिखा है कि भगवान् शंकराचार्य ने न्यायमन्दर से वेदान्तदुग्धाब्धि का मन्थन करके जो अद्वैतामृत निकाला है, उसी का कलश दक्षिणामूर्ति स्तोत्र है अर्थात् दक्षिणामूर्ति स्तोत्र में अद्वैतामृत भरा हुआ है—

"सकलवेदान्तदुग्धाब्धेः न्यायमन्दरेण विचारनिर्मन्थनादाविर्भूताद्वैतामृतस्य विन्यासकलशभूतं श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्रं सकललोकानुजिघृक्षया भोक्तृजीवभोग्यजगद्भोगप्रदपरमेश्वरमोक्षप्रदगुरूणामत्यन्ताभेदबोधकं सकृत्पाठश्रवणार्थमननादिमात्रेण परमपुरुषार्थप्रापकमारभमाणः …… ।"

शंकराचार्य ने पहले श्लोक में प्रतिपादित किया है कि प्रत्यक्स्वरूप में स्थित यह विश्वदर्पण में दृश्यमान नगरी के समान है । जैसे निद्रा में स्वप्न जगत् आत्मा में अध्यस्त होने पर भी अपने से बाहर स्थिर प्रतीत होता है, उसी प्रकार यह जाग्रत्प्रपंच भी प्रत्यक्चैतन्य में अध्यस्त है, फिर भी अपने से बाहर दिखायी पड़ता है । यह जगत् माया के कारण ही बाहर दिखायी पड़ता है । जागने पर जो अद्वय आत्मा का साक्षात्कार करता है, उस गुरुमूर्ति दक्षिणामूर्ति को नमस्कार है ।[1]

स्वयंप्रकाशयति ने अपनी टीका में गुरुमूर्ति तथा दक्षिणामूर्ति पदों का तात्पर्य इस प्रकार स्पष्ट

1. विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया
यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥

किया है—जिसने ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है, वह ज्ञानोपदेष्टा पुरुष गुरु हैं। उसके रूप में जो स्थित है, वही श्रीगुरुमूर्ति है। दक्षिण दिशा की ओर मुख करके जो स्थित है, वह दक्षिामूर्ति है। ज्ञान के उपदेष्टा गुरु साक्षात् परमेश्वर ही हैं अथवा सच्चिदानन्दात्मिका अतिमहत्तरा मूर्ति जिसकी है, गुरुमूर्ति है।[1]

टीकाकार ने दक्षिणामूर्ति पद के तात्पर्य को इस प्रकार भी स्पष्ट किया है—अनादि, अचिन्त्य, माया-शक्ति से दक्षिण अर्थात् सृष्टि, स्थिति तथा विनाश में निपुण और परमार्थतः आकाररहित दक्षिणामूर्ति कहे जाते हैं।[2]

इस श्लोक में शंकराचार्य ने विवर्तवाद का स्वरूप प्रस्तुत किया है। विवर्तवाद के अनुसार केवल एकत्व है और वह है आत्मा। उसी पर यह जगत् अध्यस्त है। प्रबोध हो जाने पर यह जगत् बाधित हो जाता है श्रुति में भी यही बात कही गयी है।

> मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
> मयि सर्वं लयं याति तद् ब्रह्माद्वयमस्म्यहम्॥ —कैवल्योपनिषद् 19

सुरेश्वराचार्य ने अपने वार्तिक में लिखा है—

> अन्तरस्मिन्निमे लोका अन्तर्विश्वमिदं जगत्।
> बहिर्वन्मायया भाति नर्पणे प्रतिबिम्बितम्॥ —वार्तिक, 1/8

उक्त श्लोक के पूर्वार्द्ध में त्वं—पदार्थ का कथन हुआ है और उत्तरार्द्ध में "श्रीगुरुमूर्तये" तथा "श्रीदक्षिणामूर्तये"—इन दो पदों के द्वारा तत्—पदार्थ का। तात्पर्य यह है कि इस प्रथम श्लोक में ही शंकराचार्य ने "तत्त्वमसि" का सन्निवेश कर दिया है। "स्वात्मानम्" और "अद्वयम्"—इन दो पदों के सामानाधिकरण्य से प्रत्यग्ब्रह्मैक्यलक्षण वाक्यार्थ का कथन हुआ है।[3]

दक्षिणामूर्ति के दूसरे श्लोक में जगत् के आदिकरण का उल्लेख किया है—

> बीजस्यान्तरिवाङ्कुरो जगदिदं प्राङ् निर्विकल्पं पुन-
> र्मायाकल्पितदेशकालकलनावैचित्र्यचित्रीकृतम्।

1. श्रीगुरुः साक्षात्कृतब्रह्मतत्त्वतया त्रिविधपरिच्छेदशून्यो ज्ञानोपदेष्टा पुरुषः तन्मूर्तये तद्रूपेणावस्थिताय श्रीदक्षिणामूर्तये दक्षिणा दक्षिणदिगभिमुखा मूर्तिविग्रहो यस्य तस्मै··· । ज्ञानोपदेष्टा गुरुः साक्षात्परमेश्वर एव । अथवा श्रीमती सच्चिदानन्दात्मिका गुर्वी अतिमहत्तरा मूर्तिः स्वरूपं यस्य स तथा, तस्मै श्रीगुरुमूर्तये।"
—स्वयंप्रकाशयति की टीका।
2. 'श्रिया अनाद्यचिन्त्यमायाशक्त्या दक्षिणः सृष्टिस्थित्यन्तविरचनानिपुणश्चासौ परमार्थतोऽमूर्तिश्च आकारविशेषरहितः।" (वही)
3. "अत्र च पूर्वार्धेन त्वम्पदार्थ उक्तः, उत्तरार्धे श्रीगुरुमूर्तये श्रीदक्षिणामूर्तये इति पदद्वयेन मूर्तिद्वययुक्तस्तत्पदार्थ उक्तः। स्वात्मानमद्वयमिति पदद्वयसामानाधिकरण्येन यत्तच्छब्दाभ्यां च प्रत्यग्ब्रह्मैक्यलक्षणो वाक्यर्थ उक्तः।"—स्वयंप्रकाशयति की टीका।

मायावीव विजृम्भयत्यपि महायोगीव यः स्वेच्छया।
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥ (2)[1]

जैसे उत्पत्ति के पहले पल्लव, पत्र, पुष्प आदि से युक्त वृक्ष बीज मात्र रहता है, उसी प्रकार उत्पत्ति के पहले यह जगद् आत्ममात्र रहता है अर्थात्: निर्विकल्प रहता है। माया से कल्पित देश—काल के संबन्ध से यह जगत् नाना भेदों में विभक्त हो जाता है। परमेश्वर मायावी तथा महायोगी की भांति अपनी इच्छा से इस जगत् को उत्पन्न करता है। सुरेश्वराचार्य ने अपने वार्तिक में रहस्य का प्रकाशन करते हुए लिखा है—

ईश्वरोऽनन्तशक्तित्वात् स्वतन्त्रोऽन्यानपेक्षतः।
स्वेच्छामात्रेण सकलं सृजत्यवति हन्ति च ॥ —वार्तिक 2/48

शंकराचार्य के उक्त: श्लोक में ईश्वर को जगत् का कारण बतलाया गया है। इससे आरम्भवाद परिणामवाद, स्वाभाववाद आदि का निराकरण समझना चाहिए।

तृतीय श्लोक में "**तत्त्वमसि**" महाकाव्य का उल्लेख है। परमेश्वर का सद्रूपचैतन्य हो अनिर्वचनीय वियदादि के रूप में प्रकाशित होता है। यद्यपि जगत् स्वतः सत्ता तथा प्रकाश से रहित है, किन्तु आत्मा की सत्ता प्रकाश से युक्त प्रतीत होती है। जब अधिकारी "**तत्त्वमसि**" का श्रवण कर अखण्डचैतन्य का साक्षात्कार कर लेता है, तब कह इस संसार में जन्म नहीं लेता। "**तत्त्वमसि**" महाकाव्य में तत् तथा त्वम् पदों के परोक्षत्वादिविशिष्टत्व तथा अपरोक्षत्वादिविशिष्टत्व रूप विरुद्धांशों का परित्याग करके अखण्डार्थ में लक्षणा की गई है।

जगत् के जो पदार्थ हैं वे स्वतः नहीं प्रकाशित होते। इस संसर्ग के बिना जगत् के पदार्थों का स्फुरण नहीं हो सकता। जिस प्रकार घट के छिद्रों से विप्रसृत दीपप्रभा तत्सन्निहित पदार्थों के अन्धकार को दूर कर देती है, उसी प्रकार चिदात्मा का अनेक छिद्रों ये युक्त देह में स्थित स्वरूपभूत ज्ञान चक्षुरादि करणों के द्वारा रूपादि बाह्य विषयों को प्राप्त करके उन्हें प्रकाशित करता है।[2] "मैं इसे जानता हूँ" —इस प्रकार आत्मा ही स्वगत प्रकाश से विषयों को अवभासित करता हुआ स्वयं भासित होता है। उसी के प्रकाश से यह जगत् प्रकाशित होता है। यह विचार ठीक नहीं है कि यह जगत् स्वयं प्रकाशित होता है।[3]

1. यस्यैव स्फुरणं सदात्मकमसत्कल्पार्थगं भासते
   साक्षात् तत्त्वमसीति वेदवचसा यो बोधयत्याश्रितान्।
   यत्साक्षात्करणाद् भवेन्न पुनरावृत्तिर्भवाम्भोनिधौ
   तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥ (3)
2. नानाछिद्रघटोदरस्थितमहादीपप्रभाभास्वरं
   ज्ञानं यस्य तु चक्षुरादिकरणद्वारा बहिः स्पन्दते
   जानामीति तमेव भान्तमनुभात्येतत् समस्तं जगत्
   तस्मै श्रीगुरुर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥ (4)
3. "तथा चैतत् समस्तं जगदग्निं दहन्तमयो दहतीतिवद्यं भान्तमनु सर्वं भातीत्युच्यते, तदेवैकं सर्वविषयभानं न पुनर्विषयेषु भानान्तरं स्वतः परतो वोपपद्यते इति तात्पर्यार्थः।"
   —श्लोक 4 की रामतीर्थयति—कृत व्याख्या।

पाँचवें श्लोक में आत्मा के सम्बन्ध में प्रचलित विभिन्न विचारों का उल्लेख हुआ है। कोई देह को आत्मा मानता है, कोई प्राण को, कोई इन्द्रिय को, कोई बुद्धि—विज्ञान को और कोई शून्य को। जो इस प्रकार विचार करते हैं, वे भ्रान्त हैं, विवेकरहित हैं। वह परमेश्वर तो मायाशक्ति के विलास से जनित महाव्यामोह का नाश करने वाला है—

देहं प्रणामपीन्द्रियाण्यपि चलां बुद्धिं च शून्य विदुः
स्त्रीबालान्धजडोपमास्त्वहमिति भ्रान्ता भ्रशं वादिनः।
मायाशक्तिविलासकल्पितमहाव्यामोहसंहारिणे
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥

शून्यवादी कहता है कि सुषुप्ति में किसी की भी उपलब्धि नहीं होती, अतः शून्य ही आत्मा है। इसका निराकरण आचार्य ने षष्ठ श्लोक में किया है—

राहुग्रस्तदिवाकरेन्दुसदृशो मायासमाच्छादनात्
सन्मात्रः करणोपसंहरणतो योऽभूत् सुषुप्तः पुमान्।
प्रागस्वाप्समिति प्रबोधसमये यः प्रत्यभिज्ञायते
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥ (6)

आत्मा ही विशेष विज्ञान के हेतु चक्षुरादि करणों के उपसंहार के कारण पूर्णानन्दादिरूप स्फुट रूप में अप्रकशित होता है और सन्मात्र रूप में स्थित होकर सुषुप्त होता है। यह स्थिति माया से समाच्छादित होने के कारण होती है। वही आत्मा प्रबोध के समय जानता है कि पहले सोनेवाला मैं अब जाग रहा हूँ। आत्मा सर्वदा स्वप्रकाशचित् सदानन्द ही है।

सुरेश्वराचार्य ने वार्तिक में लिखा है—

सुखमहमस्वाप्समित्येयं प्रबोधसमये पुमान्।
सच्चिदानन्दरूपः सन् सम्यगेव प्रकाशते॥ (6/27)

सातवें श्लोक में प्रतिपादित किया गया है कि बाल्यादि विभिन्न अवस्थाओं तथा जाग्रवादी विभिन्न अवस्थाओं में वही एक आत्मा वर्तमान है। यही त्वं पद का लक्ष्यार्थ आत्मा है। इस प्रत्यगात्म को ही परमेश्वर अपने रूप में प्रकट करता करता है। इससे यही प्रकट होता है कि ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है।[1]

"अहमीत्यनुसन्धाता जानामीति न चेत्स्फुरेत्।
कस्य को वा प्रकाशेत जगच्च स्यात् सुषुप्तवत्॥ —सुरेश्वराचार्य—विरचित वार्तिक 4/2

"केचित्तु—अचिद्रूपात्मनिष्ठज्ञानेन घटादिविषयों भासत इति वदन्ति। तन्न, नात्मनिष्ठज्ञानस्य जडस्य स्वप्रकासस्य वा घटादिविषयेण संयोगादिसम्बन्धाभावात् स्वरूपसम्बन्धस्य चातिप्रसक्तत्वात्। केचित्तु विषयनिष्ठस्फुरणेन घटादिभानमिति कथयन्ति। तदपि न, विषयनिष्ठस्यात्मना सहसम्बन्धाभावेन अहं जानामीति सम्बन्धप्रत्ययानुपपत्तेः। तस्मादुक्तप्रकारेण स्वप्रकाशसाक्षिचैतन्यादेव घटादिविषयभानमिति। —स्वयंप्रकाशयति की व्याख्या।

1. बाल्यादिष्वपि जाग्रदादिषु तथा सर्वास्ववस्थास्वपि
व्यावृत्तास्वनुवर्तमानमहमित्यन्तः स्फुरन्तं सदा।
स्वात्मानं प्रकटीकरोति भजतां यो मुद्रया भद्रया
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥ (7)

अष्टम श्लोक में निरूपति किया गया है कि यद्यपि ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, अनादि अनिर्वचनीय माया के वंश में होकर जीव जगत् के विविध प्रपंचों को देखता है और उन्हें उसी रूप में स्वीकार करता है। मलिनसत्त्वप्रधान माया से यह जीव भ्रमित है, अतः विश्व को स्वस्वमिसम्बन्ध रूप में, शिष्याचार्यसम्बन्ध रूप में, पितृपुत्रादिसम्बन्ध रूप में देखता है।[1]

जगत् के जितने भी सम्बन्ध हैं, वे सभी मिथ्या हैं। केवल आत्मा ही सत्य है—यह तत्व यहाँ प्रतिपादित किया गया है।

उपर्युक्त आठ श्लोकों में अद्वैत का रहस्य प्रकाशित किया गया है। अब शंकराचार्य यह उपदेश दे रहे हैं कि जो मन्दाधिकारी हैं, उनके लिए अष्टमूर्ति की उपासना ही श्रेयस्कर है। सदाशिव दी आठ मूर्तियां हैं।—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र तथा सकलकर्मविद्याधिकारी जीवा[2] उपासक अपने शरीर में वर्तमान पाँचों भूतों को समष्टिभूतों के साथ एकीकृत करके, प्राण और अपान को सूर्य और शशाङ्क के साथ एकीकृत करके, पंचभूतात्मक शरीराभिमानी स्वात्मा को अष्टमूर्ति परमेश्वर के साथ एकीकृत करके "मैं ही अष्टमूर्त्यात्मक शिव हूं"—ऐसा चिन्तन करे। इससे भावनातिशय होने पर उनके साथ सायुज्य प्राप्त करके सर्वेश्वर्यसम्पन्न होकर उन पर परमेश्वर की कृपा से तत्त्वज्ञान होने पर मुक्त हो जाता है। उस जीव के लिए सर्वकारण विभु के अतिरिक्त कुछ नहीं है।[3]

सुरेश्वराचार्य ने अपने वार्तिक में लिखा है कि माया की निवृत्ति के लिए शंकराचार्य ने ईश्वरोपासना रूप उपाय का निर्देश किया है।[4]

अन्तिम श्लोक में स्तोत्र के पाठ आदि का फल बताया गया है।[5] इस स्तोत्र में सर्वात्मत्व का

1. विश्वं पश्यिति कार्यकारणतया स्वस्वामिसम्बन्धतः
   शिष्याचार्यतया तथैव पितृपुत्राद्यात्मना भेदतः।
   स्वप्ने जाग्रति वा य एष पुरुषो मायापरिभ्रामित—
   स्तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥ (8)
   इस प्रसङ्ग में सुरेश्वराचार्य का वार्तिक द्रष्टव्य है—
   स्वयंप्रकाशे सद्रूपेऽप्येकस्मिन् परमेश्वरे ।
   कार्यकारणसम्बन्धाद्यनेकविधकल्पना ॥ (8/5)
2. भूरम्भांस्यनलोऽनिलोऽम्बरमहर्नाथो हिमांशुः पुमान्-
   नित्याभाति चराचरात्मकमिदं यस्यैव मूर्त्यष्टकम् ।
   नान्यत् किंचन विद्यते विमृशतां यस्मात् परस्माद्विभो-
   स्तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥ (9)
3. दक्षिणामूर्तिस्तोत्र, श्लोक 9 की स्वयंप्रकाशयति— विरचित व्याख्या।
4. सुरेश्वराचार्य—विरचित वार्तिक, 9/1।
   सुरेश्वराचार्य ने अपने वार्तिक में 36 तत्त्वों का उल्लेख किया है—
   विराट्छरीरे ब्रह्माण्डे प्राणिनामपि विग्रहे ।
   षट्त्रिंशत्तत्त्वसङ्घातः सर्वत्राप्यनुवर्तते ॥—9/4,
5. सर्वात्मत्वमिति स्फुटीकृतमिदं यस्मादमुष्मिन् स्तवे
   तेनास्य श्रवणात्तथार्थमननाद्ध्यानाच्च सङ्कीर्तनात् ।

स्फुटीकरण हुआ है। अतः जो इसका श्रवण– मनन करता है और "मैं परमात्मा हूं"—इस प्रकार ध्यान करता है तथा स्तोत्र का सङ्कीर्तन करता है, वह सर्वात्मत्वमहाविभूति से सम्पन्न हो जाता है और उसे अणिमादि की भी प्राप्ति होती है। सर्वात्मत्वलक्षण महाविभूति ही मुख्य फल है, अणिमादि की प्राप्ति आनुषङ्गिक फल। इस स्तोत्र का पाठ दोनों कर सकते हैं—जो मुमुक्षु हैं तथा जो अभ्युदयार्थी हैं, किन्तु अभीष्ट तो यही है कि मोक्ष की इच्छा से ही इसका पाठ करना चाहिए।

सुरेश्वराचार्य ने अपने वार्तिक में निरुपित किया है कि इस स्तोत्र के पाठ का मुख्य फल मोक्ष है अतः स्वर्गादि की भावना नहीं करनी चाहिए।

स्तोत्रमेतत् पठेद् धीमान् सर्वात्मत्वं च भावयेत्।
अर्वाचीने स्पृहां मुक्त्वा फले स्वर्गादिसम्भवे ॥ (10/20)

"द्वादशपंजरिका" में तेरह श्लोक हैं। प्रत्येक श्लोक के अन्त में "**भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते**" आता है। शंकराचार्य कहते हैं कि जो आत्मज्ञान से रहित हैं, वे नरक में पड़ते हैं, अतः काम, क्रोध, लोभ और मोह का परित्याग कर विचार करना चाहिए कि "मैं कौन हूं"—

कामं क्रोधं लोभं मोहं त्यक्त्वात्मानं भावय कोऽहम्।
आत्मज्ञानविहीना मूढास्ते पच्यन्ते नरकनिगूढाः॥ (5)
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते।

एक ही विष्णु तुझमें, मुझमें और अन्यत्र भी विद्यमान हैं, अतः भेदरूपी अज्ञान का परित्याग करना चाहिए और सब में आत्मा को देखना चाहिए।

त्वयि मयि चान्यत्रैको विष्णुर्व्यर्थं कुप्यसि सर्वसहिष्णुः।
सर्वस्मिन्नपि पश्यात्मानं सर्वत्रोत्सृज भेदाज्ञानम्॥ (8)

प्राणायाम, प्रत्याहार, नित्यानित्यवस्तुविवेक, जप और ध्यान का आश्रय लेना चाहिए—

प्राणायामं प्रत्याहारं नित्यानित्यविवेकविचारम्।
जाप्यसमेतसमाधिविधानं कुर्ववधानं महदवधानम्॥ (9)

जिस प्रकार नलिनीदल पर स्थित बूंद स्थिर नहीं रहती, उसी प्रकार जीवन अतिशय चंचल है, लोक व्याधि तथा अभिमान से ग्रस्त तथा शोकोपहत है—

नलिनीदलगतसलिलं तरलं तद्वज्जीवितमतिशयचपलम्।
विद्धि व्याध्यभिमानग्रस्तं लोकं शोकहतं च समस्तम्॥ (10)

यह नहीं समझना चाहिए कि यह हमारा पुत्र है, यह हमारी कान्ता है। वस्तुतः कोई किसी का नहीं है। यह संसार अत्यधिक विचित्र है (श्लोक 3)। जो अनासक्त होकर विरक्ति का आश्रय लेता है, वही सुखी रहता है। जो आसक्त हो जाता है और संसार की वस्तुओं को सत्य समझने लगता है वह संसार सागर में डूब जाता है और निरन्तर दुःख भोगता है। रहस्य इस स्तोत्र में प्रतिपादित किया गया है।

स्तोत्र के अन्त में एक महत्त्वपूर्ण बात कही गयी है कि जो अपना मन गुरुचरणाम्बुज में लगायेगा, वह संसार से शीघ्र ही मुक्त हो जायगा --

सर्वात्मत्वमहाविभूतिसहितं स्यादीश्वरत्वं स्वतः
सिद्ध्येत् तत्पुनरष्टधा परिणतं चैश्वर्यमव्याहतम्॥ (10)

गुरुचरणाम्बुजनिर्भरभक्तः संसारादचिराद् भवमुक्तः। (श्लोक 12)

आचार्य ने शिष्यों के लिए द्वादशपंजरिकामय उपदेश प्रस्तुत किया है—

द्वादशपंजरिकामय एषः षिष्याणां कथितोह्य् पदेशः। (श्लोक 13)

चर्पटपंजरिका स्तोत्र में सत्रह श्लोक हैं। एक वृद्ध ब्रह्मामण के "डुकृञ् करणे" धातु के रटने पर शंकराचार्य जी ने उपदेश दिया था। उन्होंने ब्राह्मण से कहा कि मृत्यु समीप है, "डुकृञ् करणे" रटने से रक्षा नहीं हो सकगी—

प्राप्ते सन्निहिते मरणे नहि नहि रक्षित डुकृञ् करणे।

दिन में आगे अग्नि से तथा पीछे सूर्य से शरीर तपाते हैं, रात्रि के समय जानुओं में ढोड़ी दबाये रहते हैं, हाथ में ही भिक्षा मांग लाते हैं, फिर भी आशा का पाश नहीं छोड़ता, अतः हे मूढमते, गोविन्द का भजन कर—

अग्रे वह्निः पृष्ठे भानू रात्रौ चिबुकसमर्पितजानुः।
करतलभिक्षा तरुतलवासस्तदपि न मुंचप्याशापाशः ॥ (2)
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते।

भगवद्गीता, गंगाजल तथा कृष्णार्चन का महत्व बतलाते हुए शंकराचार्य कहते हैं—जिसने भगवद्गीता को कुछ पढ़ लिया है, जिसने गंगाजल की बूंद पी ली है, जिसने भगवान कृष्ण की एक बार भी अर्चना की है, क्या यम उसकी चर्चा कर सकता है—

भगवद्गीता किंचिदधीता गंगाजलवकणिका पीता।
सकृदपि यस्य मुरारिसमर्चा तस्य यमः किं कुरुते चर्चाम् ॥ (5)

अंग गलित हो गये, शिर के बाल सफेद हो गये, मुख में दांत नहीं रहे, बूढ़ा हो गया और हाथ में दण्ड लेकर चलने लगा, फिर भी आशा पिण्ड नहीं छोड़ती—

अंगगं गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं जातं तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुंचत्याशापिण्डम् ॥ (6)

बालक तो खेल-कूद में आसक्त रहना है, युवक तो तरुणी में आसक्त रहता है, वृद्ध तो चिन्ता में निमग्न रहता है, परन्तु ब्रह्म में तो कोई भी निमग्न नहीं होता—

बालस्तावत्क्रीडासक्तः रुणस्तावत्तरुणीरक्तः।
वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः पारे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः ॥ (7)

आचार्य मुरारि से प्रार्थना करते हैं कि इस दुस्तर संसार से मुझे पार कीजिए—

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्।
इह संसारे खलु दुस्तारे कृपयापारे पाहि मुरारे ॥ (8)

इस संसार में बार-बार जन्म, बार-बार मरण और बार-बार माता के गर्भ में रहना पड़ता है, अतः हे मुरारे, मुझे इस दुस्तर अपार संसार से पार कीजिए।

संसार के मिथ्यात्व का उपपादन करते हुए शंकराचार्य कहते हैं—सारे सम्बन्ध असार हैं। तुम कौन हो, मैं कौन हूँ, कहां से आया हूँ, मेरी जननी कौन है, मेरे पिताजी कौन हैं—ये प्रश्न व्यर्थ हैं। संसार को स्वप्न विचार की भांति समझो—

कस्त्वं कोऽहं कुत आयात: का मे जननी को मे तात: ।
इति परिभावय सर्वमसारं विश्वं त्यक्त्वा स्वप्नविचारम् ॥ (12)

गीता और विष्णुसहस्रनाम के पाठ तथा विष्णु के ध्यान की बात कही गयी है—

गेयं गीतानामसहस्रं ध्येयं श्रीपतिरूपमजस्रम् ।
नेयं सज्जनसंगे चित्तं देयं दीनजनाय च वित्तम् ॥ (13)

गीता तथा विष्णुसहस्रनाम का पाठ करना चाहिए, विष्णु के रूप का निरन्तर ध्यान करना चाहिए, चित्त को सज्जनों के संग में लगाना चाहिए तथा दीन जनों को दान देना चाहिए।

स्तोत्र के सोलहवें श्लोक में वेदान्त का रहस्य प्रकाशित किया गया है—

रथ्याचर्पटविरचितकन्थ: पुण्यापुण्यविवर्जितपन्थ: ।
नाहं न त्वं नायं लोकस्तदपि किमर्थं क्रियते शोक: ॥ (16)

गली में पड़े चीथड़े की कन्था बना ली, पुण्यापुण्य से भिन्न मार्ग का अवलम्बन कर लिया। न मैं हूं, न तुम हो और न यह लोक है, फिर किस लिए शोक कर रहे हो ?

यहां चर्पट शब्द का प्रयोग किया है, इसलिए स्तोत्र का नाम चर्पटपंजरिका रखा गया है। यहां कहा गया है कि पुण्य तथा अपुण्य दोनों का परित्याग करना चाहिए। पुण्य का भोग करने के बाद फिर दु:ख भोगना पड़ता है। यही कारण है कि गीता में सुख, दु:ख आदि के परित्याग की बात कही गयी है। दु:ख की वृद्धि सुख की अपेक्षा अधिक होती है। सुख समयुक्तान्तर—श्रेणी (Arithmetical Progression) के नियम से बढ़ता है, जबकि दु:ख समगुणितान्तरश्रेणी (Geometrical Progression) के नियम से। जब दोनों का परित्याग किया जाएगा, शांति मिल सकेगी।

षट्पदी में सात श्लोक हैं। यह स्तोत्र छोटा है, किन्तु बहुत ही मनोरम है। इसमें भाषा और भाव—दोनों का सौन्दर्य पूर्णत: उन्मीलित हुआ है। यहां हमें शंकर के काव्यसौन्दर्य का दर्शन मिलता है।

पहले श्लोक में आचार्य विष्णु से प्रार्थना करते हैं कि हे विष्णो, मेरे अविनय को दूर कीजिए, मन का दमन कीजिए, विषयों की मृगतृष्णा को शान्त कीजिए, प्राणियों के प्रति मेरी दया बढ़ाइए और संसारसागर से मुझे पार कीजिए—

अविनयमपनय विष्णो दमय मन: शमय विषयमृगतृष्णाम् ।
भूतदयां विस्तारय तारय संसारसागरत: ॥ (1)

इसके बाद आचार्य विष्णु के पदारविन्दों की वन्दना करते हैं, जिनका मकरन्द गंगा और सौरभ सच्चिदानन्द है और जो संसार के भय और खेद को नष्ट करने वाले हैं—

दिव्यधुनीमकरन्दे परिमलपरिभोगसच्चिदानन्दे ।
श्रीपतिपदारविन्दे भवभयखेदच्छिदे वन्दे ॥ (2)

स्तोत्र के तृतीय श्लोक में अद्वैतवेदान्त का तात्पर्य तथा भक्ति का स्वरूप प्रकट किया गया है। शंकराचार्य कहते हैं कि हे नाथ, यद्यपि मुझमें और आप में भेद नहीं, फिर भी मैं आपका हूँ, आप मेरे नहीं क्योंकि तरंग ही समुद्र की होती है, तरंग का समुद्र नहीं—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरंग: क्वचन समुद्रो न तारंग: ॥ (3)

हे गुणमन्दिर दामोदर सुन्दरवदनारविन्द गोविन्द, हे संसारसागर का मंथन करनेवाले मन्दराचल, आप मेरे महान् भय को दूर कीजिए—

दामोदर गुणमन्दिर सुन्दरवदनारविन्द गोविन्द।
भवजलधिमथनमन्दर परमं दरमपनय त्वम् मे ॥ (6)

षट्पदी के श्लोकों में माधुर्यगुण है और अनुप्रास की छटा अनेकत्र प्रकट हो रही है। आचार्य को प्रह्‌वीभाव अत्यधिक कोमलता से निबद्ध हुआ है। साक्षात्कार कर लेने वाले आचार्य के लिए भी भक्ति की किस प्रकार उपयोगिता है— यह इन श्लोकों से भासित होता है। भवताप से सन्तप्त जीव की जो बेचैनी है, उसे इन श्लोकों के माध्यम से प्रकट किया गया है।

शंकराचार्य के स्तोत्र में हरिमीडे स्तोत्र सबसे बड़ा है। इसमें 44 श्लोक हैं। मत्तमयूर छन्द का प्रयोग किया गया है। स्तोत्र की हरिमुक्तावली व्याख्या महत्त्वपूर्ण है स्तोत्र में अद्वैतवेदान्त का निरूपण मिलता है।

पहले श्लोक में "जगदादिम्" का प्रयोग मिलता है,[1] जिससे परमेश्वर ही जगद् के (कर्त्ता सिद्ध होते हैं—"सकलजगदुत्पादनत्वे सति तत्कर्तृकत्वमिति विवक्षितम्" " (हरिमुक्तावली व्याख्या)

यह जगत् उन परमेश्वर के अंश से उत्पन्न हुआ है, उन्हीं से सुदृढ़ रूप से बद्ध है अर्थात् पालित है, उन्हीं से व्याप्त तथा प्रकाशित है और वे ही संसार रूपी अन्धकार को नष्ट करने वाले हैं।[2] श्रुति कहती है कि परमात्मा का एक अंश यह जगत् है और इनके अमृतस्वरूप तीन अंश द्युलोक में हैं— "पादोऽस्यविश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि"।

स्तोत्र में कहा गया है कि वह परमेश्वर सर्वत्र है, वही सब कुछ है, वही प्रकृति है, वही अधिष्ठाता है, वही आनन्द है, वही अनन्तगुण है, शुद्ध सत्त्वरूपा माया उपाधि है, वह अव्यक्त है, वही भोक्ता है, वही भोग्य है, वही ; सदसद्रूप है।[3]

जगद्रूप से जो स्थित दिखाई पड़ रहा है, वह परमार्थ नहीं है। परम तत्त्व तो विषयापेक्ष विज्ञानस्वभाव वाला है। वह ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय से रहित होने पर भी (अविद्याद्युपहित होने के कारण) ज्ञाता है।[4]

1. स्तोष्ये भक्त्या विष्णुमनादिं जगदादिं
   यस्मिन्नेतत् संसृतिचक्रं भ्रमतीत्थम्। (श्लोक 1)
2. यस्यैकांशादित्थमशेषं जगदेतत्
   प्रादुर्भूतं येन पिनद्धं पुनरित्थम्।
   येन व्याप्तं येन विबुद्धं सुखदुःखै—
   स्तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥ (2)
3. सर्वज्ञो यो यश्च हि सर्वः सकलो यो
   यश्चानन्दोऽनन्तगुणो यो गुणधामा।
   यश्चाव्यक्तो व्यक्तसमस्तः सदसद्य—
   स्तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥ (3)
4. यस्मादन्यन्नास्त्यपि नैवं परमार्थः
   दृश्यादन्यो निर्विषयज्ञानमयत्वात्।
   ज्ञातृज्ञानज्ञेयविहीनोऽपि सदा ज्ञ—
   स्तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥ (4)

जो आचार्यों से अच्युततत्व की प्राप्ति कर लेता है तथा वैराग्य और अभ्यास के बल से दृढ़ता प्राप्त करके एकाग्र ध्यान में लीन हो जाता है, वह ईश्वर को जान लेता है।[1]

साधक प्राणों का उपसंहार करके ओम् उच्चारण करता हुआ चित्त को हृदय में निरुद्ध करके अन्य किसी का स्मरण नहीं करता है तथा चित्त के लीन होने पर "स्वप्रकाशचिद्रूप परमात्मा मैं हूं"—इस प्रकार जिस तत्व का ध्यान करता है, वह तत्व विष्णु ही है।[2]

ब्रह्म तत्व का निरूपण करते हुए आचार्य कहते हैं कि वे देव अनन्य, परिपूर्ण हृदय में स्थित, भक्तों द्वारा प्राप्य, अज, सूक्ष्म और अतर्क्य हैं—(श्लोक 7)। वे परमेश्वर चक्षुरादि के अग्राह्य हैं, अन्तःकरण में उनका विशेष बोध होता है, वे ज्ञेयातीत, ज्ञानस्वरूप, भावग्राह्य और आनन्दस्वरूप हैं। (श्लोक 8)। जो कुछ विषय दिखायी पड़ रहा है, वह ब्रह्म ही है। (श्लोक 9)। जो विकल्पयुक्त समस्त प्रपंच का परित्याग करके स्वप्रकाशचिन्मात्र को जान लेता है, वह देह का परित्याग करके हरि में प्रविष्ट हो जाता है (श्लोक 11)। वह सर्वत्र विद्यमान है, सबको जानता है, किन्तु उसे कोई नहीं जानता। वह सर्वान्तर्यामी है (श्लोक 12)। अपने में सबको देखें और सभी जनों में अपने को देखें। इस सर्वात्मैकत्व के बोध से युक्त होने पर उस परमेश्वर को जान लेता है (श्लोक 13)। वह साक्षी है। वह कर्ता, कार्य और कारण को भाषित करता है।[3] जीव जाग्रतवस्था में स्थूल पदार्थों को देखता है, निद्रा में मायाकल्पित पदार्थों को देखता है, सुषुप्ति में सुखपूर्वक सोता है और तृतीयावस्था आत्मदर्शन से आनन्दित होता है (श्लोक 16)। परमेश्वर अनेक प्रकार के गुणभेदों को देखता हुआ रक्तकाद्युपाधिभेद से विचित्र स्फटिकशिला की भांति अनेक रूपों में प्रकट होता है (श्लोक 17)।

ऋग्वेद के मन्त्र के आधार पर अधोलिखित श्लोक की रचना की गयी है—

> ब्रह्माविष्णू रुद्रहुताशौ रविचन्द्रा—
> विन्द्रो वायुर्यज्ञ इतीत्थं परिकल्प्य।
> एकं सन्तं यं बहुधाहुर्मतिभेदात्
> तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥(18)

ऋग्वेद का मन्त्र इस प्रकार है—

> इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः सः सुपर्णो गरुत्मान्।
> एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ 1/164/46.

वह परमेश्वर सत्य, ज्ञान, शुद्ध अनन्त शान्त, गूढ़, निष्फल और आनन्दरूप है। वह कोशपंचक से भिन्न है (श्लोक 12)। आचार्य ने उपदेश दिया है कि विषयों का परित्याग करके "अहं ब्रह्मास्मि"

1. श्लोक 5।
2. प्राणानायम्योमिति चित्तं हृदि रुद्ध्वा
   नान्यत् स्मृत्वा तत्पुनरत्रैव विलाप्य।
   क्षीणे चित्ते भादृशिरस्मीति वैदुर्य
   तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे ॥ (6)
3. साक्षी चास्ते कर्तृषु पश्यन्निति चान्ये"—श्लोक 14,
   "कर्तृ कार्यकारणानि पश्यन् भासयन् साक्षी केवलमास्ते।"
   —हरिमुक्तावली व्याख्या।

का निश्चय करना चाहिए (श्लोक 20)। वेदान्त, आध्यात्मिकशास्त्र, पुराण तथा सात्वततन्त्र उसी ईश का उपदेश देते हैं, जो संसार के अन्धकार को नष्ट करने वाला है (श्लोक 23)। वह श्रद्धा, भक्ति, ध्यान, शमादि के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता ।[1] "**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**" के द्वारा प्रतिपादन किया है (**सर्वं खल्वित्यत्र निरुक्तं श्रुतिविद्भिः**— श्लोक 25)। जो मैं हूं, वही वह है और जो वह है, वही मैं हूं—इस प्रकार का बोध ही सच्चा बोध है (श्लोक 28)। वह एक ही अनेक शरीरों में विद्यमान है। जो इस प्रकार जान लेता है, वह वही हो जाता है उसमें लीन होने पर पुनर्जन्म की प्राप्ति नहीं होती (श्लोक 29)।

तीसवें श्लोक में बृहदारण्यकोपनिषद् के मधुब्राह्मण का उल्लेख हुआ है—

> द्वन्द्वैकत्वं यच्च मधुब्राह्मणवाक्यैः
> कृत्वा शक्रोपासनमासाद्य विभूत्या।

बृहदारण्यकोपनिषद् के द्वितीय अध्याय के पंचम तथा षष्ठ ब्राह्मण में मधुविद्या का उपपादन किया गया है। कहा गया है कि यह आत्मा सभी भूतों का मधु है और सभी भूत इस आत्मा के मधु हैं। जो इस आत्मा में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है, ओ आत्मा है। यह अमृत है, यह ब्रह्म यही सब है—

"अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मध्वस्यात्मनः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमात्मा तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्।"—बृहदारण्यक 2/5/14

शंकराचार्य ने अपने भाष्य में प्रतिपादित किया है कि यह मधुविद्या इन्द्र द्वारा रक्षित है और देवों द्वारा भी दुष्प्राप्य है—"**या इन्द्ररक्षिता सा दुष्प्राप्य देवैरपि, यस्मादश्विभ्यामपि देवभिषग्भ्यामिन्द्ररक्षिता विद्या महतायासेन प्राप्ता।**" (बृहदारण्यक, शाङ्करभाष्य 2/5/16)

वह परमात्मा विज्ञान है, वही ज्ञाता, श्रोता, आनन्दयिता तथा ज्ञांश है (श्लोक 32, 33)। आचार्य ने उपनिषद् की शैली का प्रयोग करते हुए कहा है कि मैं न तो प्राण हूं, न शरीर हूं, न मन हूं, न बुद्धि हूं, न अहंकार हूं और न ही हूं; जो ज्ञांश है, वही मैं हूं—

> ना हं प्राणो नैव शरीरं न मनोऽहं
> नाहं बुद्धिर्नाहमहङ्कारधियौ च।
> योऽत्र ज्ञांशः सोऽस्म्यहमेवेति विदुर्यं। (श्लोक 36)

वह सत् है, सूक्ष्म है, नित्य है। "**तत्वमसि**" के द्वारा उनका निरूपण किया जाता है (श्लोक 37)।

"**नेति नेति**" के द्वारा उसी उत्सव के प्रतिपादन में असमर्थता व्यक्त की जाती है (श्लोक 38). उसी में सारी दृष्टि ओतप्रोत है—(श्लोक 39)। जब तक "वह मैं हूं"—इस रूप में आत्मदर्शन नहीं हो जाता, तब तक यह सारी सृष्टि सत्य प्रतीत होती है। उसका साक्षात्कार हो जाने पर सारा दृश्यप्रपंच असत्य ही जाता है। (श्लोक 40)।

1. श्रद्धाभक्तिध्यानशमाद्यैर्यतमानै—
   ज्ञातुं शक्यो देव इहैवाशु य ईशः। —श्लोक 24

शंकराचार्य के स्तोत्रों में दो पक्ष स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होते हैं—(1) भक्तिभावना तथ (2) अद्वैत का निरूपण। उपासना के माध्यम से परम तत्व की प्राप्ति के मार्ग का भी निर्देश किय गया है। जो मन्दाधिकारी हैं, उसके लिए भक्ति का महत्व है। दक्षिणामूर्ति तथा हरिमीडे में अद्वै का वह रहस्य निरूपित हुआ है जो शंकराचार्य के भाष्यों में सन्निविष्ट है। सूक्ष्मविवेचनमण्डि उक्तिप्रत्युक्तिसमन्वित शैली का दर्शन भाष्यों में होता है और उनके अनुशीलन से तत्तद्विषयों क समझने की अद्भुत शक्ति का उदय होता है। यह विशेषता स्तोत्रों के अनुशीलन से नहीं पाती, किन यह कहा जा सकता है कि भाष्यों के विवेचनों का भी अनुसरण स्तोत्रों में प्राप्त होता है। इन स्तोत्र में निरूपित तत्वों के स्फुटीकरण के लिए भाष्यों के अनुशीलन की अपेक्षा है। शाङ्कर वेदान्त क समझने के लिए दक्षिणामूर्ति तथा हरिमीडे स्तोत्रों के उनकी व्याख्याओं के आलोक में परिशीलन क आवश्यकता है।

तेलुगु साहित्य पर आचार्य शंकर का प्रभाव तथा शंकर-विषयक तेलुगु साहित्य

डॉ० सरगु कृष्णमूर्ति सत्यूराम

आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
बंगलोर विश्वविद्याय, बंगलोर

आचार्य शंकर का अद्वैतदर्शन केवल भारत में नहीं, वरन् समस्त संसार में मान्य है, भाष्यकार शंकर ने प्रस्थानत्रय का अद्वैतपरक भाष्य लिखकर समग्र संसार को परमात्मा का अंश एवं आत्मा को परमात्मा ही घोषित किया है। अद्वैत के अनुसार आत्मा और परमात्मा भिन्न नहीं, बल्कि अभिन्न हैं। अद्वैतपरक यह व्याख्या अपने वैश्विक आयामों के कारण अत्यंत वैज्ञानिक एवं सर्वमान्य है।

विश्वशांति पर शंकर का प्रभाव

आचार्य शंकर ही संसार के दार्शनिकों में ऐसे हैं, जिनका प्रभाव विश्व के प्रायः समस्त भाषा-साहित्यों व वैचारिक विषयों पर पड़ा है, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तेलुगु, बंगाली, अंग्रेजी, फ्रेंच, स्विस, जापानी आदि भाषाओं के मनीषियों की विचारधारा पर अखण्ड रूप से यह प्रभाव पड़ता आ रहा है। पाश्चात्य विद्वानों ने शंकर सिद्धांत को विश्जनीय एवं एकीकरण धर्म माना है। तेलुगु साहित्य के आदि कवि नन्नया से लेकर अत्यंत आधुनिक कवि शषेन्द्र शर्मा के काव्यों में इस विचारधारा का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

नन्नया के काव्य में अद्वैत

तेलुगु के आदि कवि नन्नया भट्टारक पूर्णतः आचार्य शंकर के अद्वैत दर्शन से प्रभावित हैं। 'ब्रह्माण्डादि नाना पुराण विज्ञान निरत' नन्नया आदि पर्व में (1·19) त्रिमूर्ति स्तवन संस्कृत में भाषाद्वैत स्फूर्ति के साथ करते हैं। आध्यात्मिक चिंतनधारा से अनुप्राणित उनका चरित्र-चित्रण विधान परवर्ती कवियों के लिए आदर्शप्राय बना।

पाल्कुरिकि सोमनाथ (1160-1240)

वीरशैव कवि पाल्कुरिकि सोमनाथ 'अनुभव सार' में बसवेश्वर और शिव के अद्वैत मानते हैं।

व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्दों का दीर्घीकरण किया गया है—यथा—नन्नय के लिए नन्नया, तिक्कन के लिए तिक्कना।

'वृषाधिप शतक' में भक्ति अद्वैत के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत है। 'चतुर्वेद सार' में ये अपने काव्य के नाना तत्वों के अद्वैत तत्व को यों ध्वनित करते हैं—

वैदिकुलिदि शुद्ध वैदिकंबनि येन्न
शास्त्रज्ञु लिदि धर्मशास्त्र मन (ग
तार्किकु लिदि महा तर्क बनंग (
पौराणिकु लिदिये पुराण मन (ग···
पद्यमुल् रचितु बसवलिंग···[1]

'चेन्नमल्लेश्वर' में कवि को सारी धरती शिवमय गोचर होती है। इनके वीरशैव धर्म प्रतिपादन में अद्वैत का योग है। 'बसव पुराण' का लिंगैक्य वर्णन अद्वैत सिद्धांत के अनुसार हुआ है।

मल्लिकार्जुन पण्डित

डॉ० जी० नागय्या तेलुगु समीक्षा[2] में मल्लिकार्जुन के शिवतत्वसार को शैव स्मृति मानते हैं। शैव को सर्वैदिक संस्कार देकर आपने आराध्य शाखा स्थापित की है।

नन्नेचोड़

आपका 'कुमारसंभव' प्रथमांध्र शोध प्रबंध है। इसमें भी परम एवं आत्मा का ऐक्य-तत्व स्वीकृत है।

वेमुलवाड़ भीम कवि

'शतकंधर रामायण', 'हरविलास' आदि के रचयिता माने जाते हैं। उनकी अधिकतर कविता अप्राप्त हैं। प्राप्त कविता में अद्वैत तत्व यत्किंचित् दृष्टगोचर होता है।

तिक्कना के काव्य पर आचार्य शंकर का प्रभाव

'महाभारत' के रचयिता कवित्रय अर्थात् नन्नया, टिक्कन्ना एवं एर्रना आचार्य शंकर के अद्वैत दर्शन से अत्यंत प्रभावित हैं। 'निर्वचनोत्तर' रामायण में तिक्कना आत्मा परमात्मा की एकता एवं अभिन्नता का निरूपण करते हैं। तिक्कना 'महेश्वरांध्रि कमल ध्यानैकशील' हैं। अतः हरिहर पद्मगर्भ' तीनों की स्तुति करते हैं।[3]

हरिहर अभेद सिद्धांत

तिक्कना हरिहराभेद सिद्धांत के स्थापनाचार्य हैं। धर्मोद्वैत के साथ वे हरिहराद्वैत एवं जीव ब्रह्माद्वैत का प्रतिपादन भी करते हैं। आश्वासद्यंत कविताओं, धर्मोपदेश एवं भगवत्स्तुति-संदर्भों में यह देखा जा सकता है। आरम्भ में तिक्कना शैव हैं। महाभारत रचनाकाल तक पहुंचते-पहुंचते वे पूर्णतः जीवन, रचना एवं विचारों में अद्वैतवादी बनते हैं। 'नमशिवाय' के साथ-साथ 'विष्णुरूपाय नमशिवाय, कहते हैं। अद्वैत का प्रभाव तिकन्ना पर इतनी प्रचुर मात्रा में पड़ा है कि वे सब धर्मों,

1. चतुर्वेद सारमु—22
2. तेलुगु साहित्य समीक्षा—पृ० 132
3. निर्वचनोत्तर रामायण, 1-13

सम्प्रदायों, देवताओं एवं मनुष्यों में अद्वैत तत्त्व स्थापित करते हैं। मनुमसिद्धि महाराज एवं अनेक महामंत्री तिक्कना के बीच में अद्वैत भाव संबंध है।

सोमयाजी

तिक्कना केवल कवि ही नहीं, बल्कि महायाज्ञिक एवं सोमयाजी भी है। वैदिक पथ निष्ठा के साथ अभेद शक्ति से यज्ञ एवं सोमयाग करते हुए सदा भगवत्स्मरण करते हैं।

हरिहरनाथ साक्षात्कार

भारत रचना संदर्भ में तिक्कना हरिहरनाथ का साक्षात्कार स्वप्न में करते हैं। विष्णु और शिव के अद्वैत की की कल्पना आचार्य शंकर के प्रभाव का ही परिणाम है। अद्वैत भावना के कारण ही टिक्कना के हृदय में सभी कवियों के प्रति विशेष सद्भावना उमड़ पड़ती है। वे उभयकवि-मित्र हैं। दीन जनों में दीनानाथ के दर्शन कर उनकी सहायता में टिक्कना जीवन व्यतीत करते हैं। महाभारत के पात्रों के चित्रण में ये महाकवि परमतत्व का स्वर्णलेपन संयोजित करते हैं। टिकन्ना के लिए श्री व उमा एवं विष्णु व शिव एक ही हैं—

श्रीयन गौरि ना (वरणु चेल्वकु
चितमु पल्लविप भ-
व्रायित मूतयै हरिहरंबगु रूपमु
दालिचि विष्णु रू—
पाय नमश्शिवाय यनि पल्केडु
भक्त जनंबु वैदिक
ध्यायित किच्चमेच्चु
परतत्वमु (गोल्चेद निष्टसिद्धिकिन्।

ब्रह्मानंद की दशा में वे परम सत्ता का साक्षात्कार करते हैं। हरिहरनाथ उन्हें परमज्योति का प्रसाद प्रदान करते हैं। काव्य कला परिपक्वता के साथ सर्वरस परिपक्वता उनके काव्य में गोचर होती है। महाभारत में चित्रित टिक्कना के कृष्ण जीव-जीव में संव्याप्त हरिहरनाथ हैं। रस पोषण में भी भक्तिभावेश से युक्त अद्वैत भावना दिखाते हैं। उनके काव्य में काव्य-कला, संगीत एवं चित्रमयता का अभिन्न अद्वैत रूप परिलक्षित होता है।

काव्यानंद एवं ब्रह्मानंद

टिक्कना परमहंस बनकर महायोग में मग्न होकर काव्यानंद एवं ब्रह्मानंद की अभेद प्रतिपत्ति संपन्न करते हैं। दीक्षा के साथ व योग एवं काव्य दोनों को संघटित करते हैं। इसलिए उनका 'महाभारत' विश्व श्रेयस्कर एवं धर्मार्थकाममोक्ष प्रदायक बन पड़ा है।

स्मृति-श्रुति समन्वय

हरिहरनाथ की उपासना में स्मृति-श्रुति के समन्वय की साधना कर ब्रह्मज्ञानी तिक्कना शैव-वैष्णवों के बीच में होने वाले रक्तपात को रोकने के उद्देश्य से देवताओं में अद्वैत दशा दिखाकर हरिहरनाथ के अभेद को निरूपित करते हैं। उनके हरिहरनाथ शैव, वैष्णव, ज्ञानी, भक्त, योगी-भोगी, मांत्रिक, तांत्रिक—सबके संरक्षक हैं। इस अद्वैत भावना के संप्रसरण के द्वारा तिक्कना सर्वजन सामरस्य स्थापित करते हैं। डॉ० जी० नागइया के शब्दों में—"महाभारत का मुख्य संदेश

धर्माद्वैत है। महाभारत पुरुषार्थ प्रसंगों में धर्मप्रधान एवं दार्शनिक प्रसंगों में अद्वैतप्रधान है। तिक्कना अद्वैत-तत्त्व का श्रीगणेश कर्ममार्ग से करते हुए भक्ति-मार्ग पर अग्रसर होकर ज्ञान-मार्ग तक पहुंचते हैं। वे समन्वयवादी दार्शनिक हैं।"[1]

महाभारत के दार्शनिक प्रसंग

भारत में तीन प्रधान दार्शनिक प्रसंग हैं—(1) भीष्म पर्वगत गीतोपदेश (2) उद्योगपर्वस्थ सनत्सुजातीय एवं (3) शांति आनुशासनिक पर्वगत धर्मज को प्रदत्त भीष्म विज्ञानोपदेश। तिक्कना द्वितीय प्रसंग को छोड़ देते हैं। तृतीय प्रसंग में तिक्कना आचार्य शंकर के तत्वों को प्रश्रय देते हैं। शरशय्यागत भीष्म कृष्ण का स्मरण परब्रह्म के रूप में करते हैं। तिक्कना भी हरिहरनाथ से ऐसा ही परमपद चाहते हैं। ब्रह्मज्ञान उनका लक्ष्य है। इस अद्वैत निष्ठा में तिक्कना महाभारत को अपूर्व शालीनता प्रदान करते हैं।

केतना और तिक्कना :

केतना 'दशकुमार चरित्र' तिक्कना को समर्पित करते हैं। अपने काव्य में केतना तिक्कना के बहुआयामयुक्त अद्वैतमय व्यक्तित्व का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

सुकवींद्र बृंद रक्षकु (डेव्व (डनिन वी(
डनु नालुककुर (दोड वैन वा(डु
चित्त नित्यस्थित शिवु (डेव्व (डनिन वी(
डनु शब्दमुन कहं मैनवा (डु
दशदिशा विश्रांत यशु (डेव्व (डनिन वी(
डनि चेप्पुटकु (बात्र मैन वा(डु
सकल विद्याकला चणु (डेव्व (डनिन वी(
डनि चूप्पुटकु गुरियैन वा (डु
मनुम सिद्धि महीश समस्त राज्य
भाग्य धैरेयु (डभिरूप भाव धवु (डु
कोट्टरुवु कोम्मनामात्यु कूर्मि सुतुं (डु[2]
दीन जनता निधानंबु तिक्क शौरि।[3]

तेरहवीं सदी में अद्वैत :

तिक्कना की अद्वैतपरक दार्शनिक दृष्टि का प्रभाव समूचे आंध्र-देश पर, प्रमुखतः काकतीय साम्राज्य पर पड़ा। 'महाभारत' भारतीय विज्ञान-कोश है। वह सामाजिक सुधार का आधार बना है। तिक्कना की दार्शनिक विचारधारा का प्रभाव शैव, वैष्णव, जैन आदि धर्मों के अनुयायियों पर भी पड़ा है। इस युग में धर्माद्वैत के कारण देश में शैव, वैष्णव, बौद्ध एव जैन मन्दिर निर्मित हुए।

1. तेलुगु साहित्य समीक्षा : प्रथम खण्ड—पृष्ठ 214।
2. '('—तेलुगु में—अर्धबिंदु है।
3. दशकुमार चरित्र, 1-89।

साकण्डेय पुराण :

तिक्कना के शिष्य मारना के 'मार्कण्डेय पुराण में भी हरिहरद्वैत भक्ति का प्रांजल प्रस्फुटन दृग्गोचर होता है। इस युग के अन्य कवि मंचना भी इसी धारा के अनुयायी हैं।

विशिष्टाद्वैत में अद्वैत तत्व :

वैष्णव कवि कृष्णमाचार्य के सिंहगिरि नरहरि वचनों में रामानुज तत्वों के साथ शंकर-तत्व भी यत्र-तत्र परिलक्षित होते हैं।

शिवदेवय्या-(1250-1300)

शिवदेवय्या के 'पुरुषार्थसार' में लोक-नीति के साथ अद्वैत नीति भी है। इस युग के काच-विभु, विट्ठलनाथ, बध्यना, कमलनाभ भास्करुनि केतना आदि कवि भी अपने युग के सूर्य तिक्कना की दार्शनिकता से प्रभावित हैं।

एर्रना की कृतियों में अद्वैत तत्व :

एर्रना के 'हरिवंश,' 'भारत अरण्यपर्वशेष', 'रामायण,' 'नृसिंहपुराण,' आदि में नन्नया और तिक्कना के दार्शनिक तत्वों का विकसन गोचर होता है। अद्वैत भाव के कारण ही अरण्यपर्वशेष में अपना नाम न देकर नन्नया का ही नाम देते हैं। सभी जीव जब साईं के ही अंश हैं तो नामों का भेदभाव कहां से आये ? प्रबंध परमेश्वर एर्रना शंभुदास होते हुए भी शिव केशव में अद्वैत भाव के कारण ही समान भक्ति दिखाते हैं। 'नृसिंहपुराण' में वे यह सम-भक्ति प्रदर्शित करते हैं—

> गिरिश वद भक्ति रसत—
> (पर भावमु कलिमि शंभुदासु (डून(गा (
> बर(गियु गोविंद गुणा
> दर संक्रुत सौमनस्य धन्यु(डवेंदुन् ।[1]

नाचन सोमनाथ :

महाकवि नाचन सोमनाथ के 'उत्तर हरिवंश' में ब्रह्म एवं जीव के अभेद का निरूपण है। अगल-बगल में खड़े हुए शिव एवं केशव दोनों का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

> अभ्रंक षंबैन याल पोतु नितंडु
> त्रुंचि ना (डीतंडु पेंचिना (डु
> साधु सम्मतमुगा सामजंबु नितंडु
> गाचिना (डीतंडु द्रोचिना (डु
> बर्हिमुखार्थंमै पर्वतेशु नितंडु
> दाल्चिना (डीतडु ब्राल्चिना (डु
> फण परंपर तोडि पन्नगेंद्रु नितंडु
> मेट्टिना (डीतंडु सुट्टिना (डु
> ने(डु ना (डुनु ना (डुन ने (डु मनकु (
> जूप (जेप्पंग (जेप्पंग (जूपगलिगे

1. नृसिंहपुराण; 1-89

ननुचु (गोनियाडु संयमि जनुल कादवे
रजत गिरि मी(द हरिहरा राधनंवु ।[1]

भास्कर रामायण में अद्वैत तत्त्व

'भास्कर रामायण' बहुकर्तृक चंपू काव्य है। भास्कर, तत्पुत्र मल्लिकार्जुन, शिष्य कुमार रुद्रदेव, मित्र अय्यलार्य—इन चारों ने इस ग्रंथ को प्रणीत किया है। इस ग्रंथ में कहीं भी धर्म-भेदों की भावना छू तक न पाई है।

गणपनाराध्य

गणपनाराध्य के 'स्वरशास्त्र' में योगशास्त्र का ऐक्यपरक विवरण है।

महाकवि श्रीनाथ

मारय एवं भीमांबा के वरद पुत्र महाकवि श्रीनाथ अद्वैत-तत्व के महान् आधारस्तम्भ हैं। 'पंडिताराध्यचरित श्रृंगार नैषध आदि में वे आत्मा परमात्मा के ऐक्य का वर्णन करते हैं। 'हरविलास' में शैव-भक्ति के साथ विष्णु-भक्ति का भी विश्लेषण कर श्रीनाथ अपने देवाद्वैत का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। 'समुद्रमंथन' एवं दारुकावन शिवविहार' में उनकी अत्मा की तन्मयता कविता का रूप लेती है। 'भीमेश्वर पुराण' में सप्तर्षि भीमाभिषेकार्थं गोदावरी से प्रार्थना कर उसे गंगा बनाकर शिवजी के यहाँ ले चलते हैं। यहां गोदावरी और गंगा का अद्वैत है। काशी में अन्न न मिलने से व्यास उसे शाप देते हैं। इस प्रसंग से सम्बन्धित वर्णन में शैव तत्व का अद्वैतपरक विश्लेषण है। काशी खण्ड में भी इसका वर्णन है। 'शिवरात्रि माहात्म्य' में परिलक्षित अद्वैत-अपेक्षा प्रक्षिप्त अंश है। अद्वैत भावना से माता को ही देवाधिक मानकर महाकवि श्रीनाथ कहते हैं—

सर्वतीर्थंबुल कंटे समधिकंबु
पावनंबैन जनयित्रि पादजलमु
वरतनूजुद कखिल देवतलकंटे
जननि येक्कुडु सन्नुताचार निरत ।[2]

गोरना (सन् 1380-1450)

'नवनाथचरित' में गोरना परकाय प्रवेश का वर्णन करते हैं।

मड़िकि सिंगना

पद्मपुराणोत्तर खण्ड में रामायण एवं भागवत की कथाएं प्रस्तुत करते हैं। 'वशिष्ठ रामायण' में विरक्त राम को विश्वामित्र की इच्छा के अनुसार वशिष्ठ ज्ञान-बोध कराते हैं। यह ज्ञान पूर्णतः अद्वैतपरक है।

दग्गुपल्लि दुग्गना

इनका 'नासिकेतोपाख्यान' ज्ञानोपदेशक आत्म-तत्त्व निरूपण काव्य है।

नंदी मल्लय : घंट सिंगना

कृष्णमित्र के 'प्रबोध चंद्रोदय' के आधार पर सर्ववेदांत सार तत्त्व समंचित के समनाम श्राव्य काव्य इन्होंने लिखा है।

1. उत्तरहरिवंश, 2.178।
2. काशीखण्ड, 4-20।

चिदानंद नगर पालक ईश्वर व माया समागम के बिना ही मन नामक पुत्र उत्पन्न होता है। यह मन ही संसार का कर्त्ता है। अमूर्त भावों का मानवीकरण इस काव्य में किया गया है।

कोरवि गोपराजु (15 वीं सदी)

'सिंहासन द्वात्रिंशिका' हरिहरनाथ को समर्पित कर गोपराजु परम सत्ता में एक होने की कामना करते हैं।

संकीर्तनों में अद्वैत चेतना :

ताल्लपाक अन्नमाचार्य के संकीर्तनों में भक्ति का प्रांजल प्रस्फुटन हुआ है, वैष्णव-शैव कवियों के संकीर्तनों में अद्वैत दर्शन के कतिपय तत्व स्वीकृत हुए हैं, त्यागराज (1756-1847) के कीर्तन व 'प्रह्लाद विजय' में आत्मा-परमात्मा की एकता का निरूपण हुआ है। इसमें माया का खण्डन भी हुआ है। ये राम-साक्षात्कार प्राप्त करते हैं।

पोतना का आंध्रभागवत :

दक्षाध्वर कथा में कृत शिवनिंदा-पाप-परिहार के लिए पोतना, 'वीर-भद्रविजय' लिखते हैं—भागवत विष्णु-पारम्य भक्ति-प्रबोधक काव्य है। यह काव्य अद्वैत—तत्व को स्वीकार करता है, ज्ञान की महत्ता मानकर भक्ति-मार्ग को प्रतिष्ठापित करता है। चैतन्य का कृष्ण-तत्व अद्वैतपरक है। चैतन्य से पचास वर्ष पूर्व ऐसी भक्ति का विवेचन पोतना में मिलता है। राम और कृष्ण के नामों में भेद नहीं मानने वाले पोतना अद्वैतवादी ही हैं।

शिवकेशवाभेद का निरूपण देखिये—

चेतु लारंग शिवुनि (बूजिय (डेनि
नोरु नोव्वंग हरिकीर्ति नुडुव (डेनि
दययु सत्यंबु लोनुगा (दलप (डेनि (
गलुग नेटिकि (दल्लुल कडुपु (जेटु ।[1]

भावतीव्रता में किसी भी भाव से मुक्ति मिलती है। पोतना इसी मुक्ति रहस्य को समुद्घाटित करते हैं—

कोमोत्कंठत गोपिकल् भयमुनं
　　गंसुंडु वैरक्रिया
सामग्रिन शिशुपाल मुख्य नृपतुल्
　　संबंधुलै वृष्णुलुं
ब्रेमन् मीरलु भक्ति नेमु निदे
　　चक्रि गंटि मेट्लैन नु
छाम ध्यान गरिष्ठु (डैन हरि (
　　जेंदन् वच्चु धात्रीश्वरा।

1. भागवत—1-14
2. भागवत, 5-18।

यह पोतना अद्वैत का ही परिणाम है।

गजेंद्रमोक्ष

महाभक्त पोतना अपने परम द्वैत के विराट स्वरूप का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

एव्वनिचे जनिंचु जग
मेव्वनि लोपल नुंडु लीनमै
येव्वनि यंदु डिंदु (बरमेश्वरु (
डेव्व (डु मूल कारणं
बेव्व (डनादिमध्यलघु (
बेव्व (डु सर्वमु (दानयैन वा (
डेव्व (डु वानि नात्मभव
नीश्वरु ने शरणंबु वे (डेदन्[1]

मुसलमानों का आक्रमण

दिल्ली के सुल्तान ने सन् 1320 में ओरुगल पर अक्रमण किया तब प्रताप रुद्र ने उसे मार भगाया। पर दूसरी बार वे बंदी बन गये। आंध्र के ओरुगल में दिल्ली सुल्तान का राज्य कायम हुआ। इस युग में हिन्दुओं में एकता स्थापित करने हेतु कवियों ने आचार्य शंकर के अद्वैत सिद्धांत की महत्व-भूमिका निभायी।

विजयनगर साम्राज्य में अद्वैत

कंपिलि राज्य ही विजयनगर साम्राज्य का रूप धारण करता है। प्रथम बुक्कराय ने अनेक कवियों एवं दार्शनिकों का सम्मान किया। उनके दरबार के महापण्डित सायना और माधव ने वेदभाष्य लिखकर उनको समर्पित किया। महान् दार्शनिक विधारण्य ने ही इस साम्राज्य की स्थापना की प्रेरक शक्ति प्रदान की। रायवंश, संगमवंश, सालुववंश, तुलुववंश व आर्वीटिवंश के राजाओं ने शैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध-सब धर्मों को अद्वैत भाव से देखकर उन्हें प्रोत्साहन प्रदान किया। श्री कृष्णदेवराय के युग में विशिष्टाद्वैत के साथ अद्वैत को भी प्रश्रय मिला। शैव और वैष्णत कवियों ने प्रमुखतः शैव दर्शन एवं विशिष्टाद्वैत के तत्त्वों को प्रश्रय दिया। द्वैत दर्शन को भी पनपने का अवसर मिला। वीरशैव धर्म का दर्शन अद्वैत से भिन्न है। किन्तु वीरशैव कवियों ने लिंगजंगम प्रसंग व लिंगैक्य के वर्णन में आत्मा-परमात्मा की एकता का वर्णन किया है। एक तथ्य स्पष्ट है कि चौदहवीं सदी से समस्त दार्शनिक पक्षों ने यत्किंचित रूप में अभेद तत्त्व को स्वीकार किया है। कर्नाटक में हरिहराद्वैत के प्रभाव के कारण हरिहरनगर स्थापित हुआ। वहां का हरिहर मंदिर अद्वैत के प्रभाव का प्रमाण है। संगम वंश के प्रथम हरिहर राय (सन् 1336—1344) ने शृंगेरि अद्वैतमठाधीश विद्यातीर्थ के शिष्य माधव विधारण्य के द्वारा वेद भाष्य लिखाया है। प्रथम बुक्कराय ने भी वेदांत व्याख्या लिखवाई है। इनके पुत्र कंपराय की पत्नीं गंगादेवी ने संस्कृत में 'मधुराविजयम्' काव्य लिखा है। द्वितीय हरिहरराय अद्वैतपरक वेदभाष्य को पूरा कराते हैं। इम्मड़ि प्रौढ़देवराय ने स्वयं ब्रह्मसूत्र का भाष्य लिखा है। यह वंश पूर्णतः अद्वैत दर्शन के लिए समर्पित हुआ है। मादयगारि मल्लना में आत्मा-परमात्मा एकता तत्व है। इस काल की कवीयत्री आतुकूरि मोल्ल की रामायण 'अध्यात्म रामायण' से प्रभावित है।

1. भागवत, 8-73

श्रीकृष्णदेवराय

संगीत साहित्य समरांगण सार्वभौम श्रीकृष्णदेव का 'आमुक्त माल्यद, आंध्रभाषा के पंच महाकाव्यों में एक है। इस काव्य की वैष्णवता पर अद्वैत की सूक्ष्म रेखा अंकित हुई है। गोदादेवी एवं रंगनाथ का ऐक्य आत्मा और परमात्मा का ऐक्य है। विजयनगर के इस सम्राट् ने धर्माद्वैत को मानते हुए अपने आस्थान में सब धर्मों एवं जातियों के आचार्यों एवं कवियों को स्थान दिया। अष्टदिग्गज कवि इनके आस्थान के आभूषण थे।

अल्लसानि पेद्दना (1470-1540)

'मनुचरित्र' एवं 'हरिकथा सार' में इस महाकवि ने यत्र-तत्र अद्वैतावेश दिखाया है।

मुक्कुतिम्मना

इनके 'पारिजातापहरण' में प्रेममूलक अद्वैत तत्त्व है।

धूर्जटि :

'कालहस्तिमाहात्म्य' और 'कालहस्तीश्वरशतक' में काव्य एवं ईश्वराधना को अद्वैत मानकर शिवैक्य की कामना करते हुए धूर्जटि अद्वैत-साधना करते हैं।

तेनालिरामकृष्ण ,

इनका 'उद्भटाराध्यचरित्र' शैव प्रबंध है। पांडुरंग महात्म्य लिखकर देताद्वैत सिद्धांत निरूपित करते हैं। बालकृष्ण ही पाण्डुरंग बनता है। पार्वती से कवि विष्णु भक्ति की प्रार्थना करते हैं। भक्ति में कैसा अमोघ अद्वैत तत्त्व है।

पिंगलिसूरना (सन् 1560)

अनेक काव्यों के रचयित सूरना राघव पांडवियमु द्व्यर्थी काव्य में कथाद्वैत संपन्न हुआ है।

रामराजभूषण कवि (सन् 1510-1580)

इनका 'वसुचरित्र' एक मेरुग्रंथ है। 'हरिश्चन्द्रनलोपाख्यान' द्व्यर्थी काव्य में कथाद्वैत है। ये हनुमानजी के परम भक्त हैं। राम भक्त बनकर ये अपना काव्य राम को समर्पित करते हैं।

श्रीपति पण्डित

इनका श्रीकर भाष्य संस्कृत में है, ब्रह्मसूत्रों का विवेचन शैव तत्त्वों के आधार पर किया है।

यंचवाक्कूल अन्नमय्या

शिवभक्त होकर भी अपना काव्य कृष्ण को समर्पित करते हैं।

रंगनाथ रामायण

गोनबुद्धा रेड्डी के इस रामकाव्य पर कई दार्शनिक तत्त्वों का प्रभाव पड़ा है।

योगानंदावधूत स्वामी

इसका शैव सिद्धांत बोधक आत्मैक्य बोध अद्वतपरक है।

तंजावुर राज्याश्रय में अद्वैत

इस राज्य के प्रश्रय में विविध धर्मों के अनुयायियों को स्थान मिला है। शुद्ध काव्य की रचना

इस काल के कवियों का ध्येय है। यक्षगानों का विकास इस काल में हुआ है। तंजवुर रघुनाथ नायक (सन् 1600-1631) 'वाल्मीकि चरित्र एवं रामायण, में जीव-ब्रह्मैक्यपरक भक्ति भावना दिखाते हैं। इनके रामकाव्य का संस्कृत अनुवाद मधुर वाणी ने किया है।

वेंगमांबा :

वेंगमांबा के द्विपद काव्य में परिलक्षित अद्वैत चेतना अन्य दार्शनिक तत्त्वों के धरातल पर प्रतिष्ठापित है। वे परम में लीन हो परम ही हो जाती हैं। क्षेत्रय पदों में मायातत्त्व का निरूपण अद्वैत दर्शन के परिपार्श्व में हुआ है।

कट्टा वरदराजु (1630)

कट्टा वरदराजु की रामायण में परम भागवत तत्त्व हैं। अन्य राम काव्यों की भांति इस काव्य में भी मोह व माया का निरूपण हुआ है।

वेमना

अवतार पुरुष, महायोगी, महाकवि एवं भक्त वेमना की कविता में यथार्थवाद व प्रगतिवाद के साथ अद्वैत तत्व का भी प्रांजल प्रस्फुटन है। वेमना तेलुगु के मार्क्स भी हैं, कबीर भी हैं, एवं शंकर भी। सामाजिक भ्रष्टाचारों का खण्डन आप मानवतावाद के भावावेश के साथ करते हैं। भक्ति, नीति, शृंगार, वैराग्य, दास्य, कालज्ञान, अद्वैत-न जाने आपके काव्य में कितने तत्त्वों एवं विषयों की सक्षम अभिव्यक्ति मिलती है। जीवब्रह्माद्वत व धर्माद्वैत के साथ ये कुलाद्वैत भी प्रस्तुत करते हैं— 'कुलमुलन्नि ओक्क कुलमुगा (देलियुडी' । एक ही भगवान के अस्तित्व को मानते हुए आप ज्ञान एवं निर्गुणपथ को प्रशस्त करते हैं। किसी प्रकार के भेद को उनकी आत्मा नहीं मानती। आत्म लिंग से परज्योति शिव साक्षात्कार प्राप्त करते हैं। वे अद्वैत दर्शन से आगे बढ़े हुए एक एकतावादी हैं।

शतक साहित्य में अद्वैत तत्व :

शैव, वैष्णव, सिद्ध, सगुण-निर्गुण भक्त आदि सभी कवियों के कई शतकों में प्रत्यक्ष-परोक्ष रूपों में परम सत्ता एवं जीव की अंतर्लीनता निरूपित है। 'वृषाधिपशतक,' 'कालहस्तीश्वरशतक', 'पोतन-नारायण शतक', 'कंचर्ल गोपन्न-दाशरथी शतक,' 'कोटयामात्य-श्री आंजनेय शतक' आदि इसके प्रमाण हैं। बंचपल्लिराम जोगाराव के 'गुरुशतक' में गुरु को परब्रह्म एवं मातूरि अप्पावुमोदलि के 'मातृशतक' में माता को ही दैव माना गया है। 'नारायणशतक' अद्वत दर्शन का निरूपण है। सगुण भक्ति के निरूपक सरगु कृष्णमूर्ति 'श्रीवेंकटेश शतक' की कतिपय पंक्तियों में जीव एवं दैव को एक मानकर माया का खण्डन कर सत्य पथ पर अग्रसर होते हैं। 'मारुती स्तव' एवं 'गांधीशतक' में आत्मा के अनेक ऐसे ही उद्गार हैं।

परशुराम पंतुल लिंग मूर्ति

आपका 'सीतारामांजनेय संवाद' में जीव-परम के ऐक्य का निरूपण योग की पार्श्वभूमि पर हुआ है। ब्रह्मज्ञानी के आनंद की ऊर्ध्व धारा का त्रैलोक्य विहार इसमें गोचर होता है। कवि निरूपित करते हैं कि जीव भाव लेने वाला परमात्मा, परमात्मा ही है, न कि जीव। अद्वैत कवियों के लिए यह ग्रंथ-रत्न चारू चिंतामणि है। आपके पुत्र राममूर्ति का 'शुक चरित्र' इसी आलोक मण्डल का नक्षत्र है।

तत्व वचन

कालज्ञान तत्व के ज्ञानाश्रयी कवियों की वाणी आत्मगत परमात्मा के ही हृदत की ध्वनि है

पोतुलूरि वीर ब्रह्मम् के काल ज्ञान तत्त्व का भविष्यन्निरूपण जीवात्मा की त्रिकालज्ञता का प्रमाण है। एतन्महामति शिष्यरत्न सुन्दरी मणि (सन् 1829) का 'भावालिंग शतक' इसी पंथ का रत्नदीप है। सिद्धय्या, एर्गटि, वेमना, शेषाचलस्वामी आदि की रचनाएँ अद्वैतपरक हैं। कैवारम् नाराणप्प अंजनप्प। आदि की कृतियां अद्वैत सिद्धांत् के आधार स्तम्भ हैं।

आधुनिक युग

आधुनिक युगीन तेलुगु पद्य साहित्य नव्य कविता, भाव-कविता, मर्म कविता, प्रगतिवादी कविता, क्रांति (विप्लव) कविता, राष्ट्रभक्तिपरक कविता, परंपरा-कविता, दिगंबर कविता, वचन कविता आदि न जाने कितने नाम लेकर भारतीय एवं पाश्चात्य भाव-परंपरा का समन्वय प्रस्तुत कर रहा है। इस काव्य धाराओं में दर्शन के दर्शन कभी-कभी हो जाते हैं। महाकवियों के काव्य में अद्वैत-तत्वों के न होने से उनका नामोल्लेख नहीं हो रहा है। लेखक क्षमाप्रार्थी है वीसेशलिंगम्, रामलिंगा-रेड्डि, तिरुपति वेंकट कविद्वय आदि मानवीय अद्वैतपरक विचार व्यक्त करते हैं।

वेदुल सत्यनारायण के काव्यमय सौंदर्याराधन में जीव-ब्रह्म के नित्यैक्य का निरूपण है। विविध चिन्तनधाराओं के कवि यथा आरुद्रा, सी० रेड्डि, तंगिराल वेंकट सुब्बाराव, आत्मार्पण, राष्ट्रगान व आत्माकथा के कवि तुम्मल सीतारामर्मूति चौदरी, पुष्पविलाप व अद्वैतमूर्ति के गायक जंध्याल पापय्य शास्त्री, महाप्रस्थान के आराधक श्री श्री, शिवभारत प्रणेता गडियारम वेंकट शेष शास्त्री, राणप्रताप के रचयिता दुर्भाक राजशेखर, प्रगतिवादी पठाभि, 'चीकटि नीडलु' के चितेरे आलूरि बैरागी, 'अग्निधारा' के कवि दाशरथी इंद्रगटि हनुमच्छास्त्री आदि में प्रगतिवाद एवं नव्य चेतना से अनुप्राणित अद्वैत भावधारा के अल्पाधिक स्वर सनाई पड़ते हैं, नायनि सुब्बारव की 'फल श्रुति' एवं 'सौंदर्य लहरी, में जीवेश्वर ऐक्यानुसंधान प्रणय-प्रसंग में किया गया है। इंद्रगंटि हनुमच्छा-स्त्री के काव्य में जीव एवं ब्रह्म की एकता ध्वनि है। चावलि बंगारम्मा, बसवराजु राज्य लक्ष्मम्मा, तल्लाप्रगड विश्वसुन्दरम्मा आदि अद्वैत तत्त्व से प्रभावित हैं। ईसाई होते हुए भी महाकवि गुर्रं जाषुवा अपने सात खण्डकाव्यों एवं फिरदौसी, गब्बिलमु, बापूजी आदि काव्यों में विश्वैक्य निरूपण आचार्य शंकर के तत्वों के परिप्रेक्ष्य में करते हैं। पुट्टपर्ति नारायणाचार्य शिवकेशवाद्वैत के साथ विश्वाद्वैत तत्त्व को भी ध्वनित करते हैं। डॉ० टी० बी० यम० अय्यवारु की 'तुम और मैं, 'पौलस्त्य हृदय' आदि कविताओं में आदि शंकर की विचारधारा की काव्याभिव्यक्ति हुई है। डॉ० सरगु कृष्णभूर्ति महवीर हनुमानजी के स्तवन में धर्माद्वैत, विश्वाद्वैत आदि के साथ जीवपरमाद्वैत तत्त्व को हृदयांजलि समर्पित करते हैं। बाड़ाल रामकवि ने अद्वैत तविचारधारा के परिप्रेक्ष्य में रामकाव्य की रचना की है। आदि शंकर की अमृतवाणी उनकी रामायण में ध्वनित है। 'चैतन्य कविता, में डां० टी० वी० सुब्बाराव की अद्वैत निष्ठा व्यक्त हुई है।

वेंकट पार्वतीश्वर कवि

कवि युग्म की एकांत सेवा तेलुगु की गीतांजली है। आत्मा की भावतन्मयता वर्ण में अनुरंजित है।

गुरजाड अप्पाराव

गुरजाड अप्पाराव का 'मुत्याल 'सरालु, मानवतावाद का आभूषण है। आप नरस्थ नारायण के उपासक हैं। आपकी घोषणा है कि धर्म नहीं बचेंगे, ज्ञान ही बचेगा।

रायप्रोलु सुब्बाराव (सन् 1892-1984)

रवीन्द्र कवीन्द्र के शिष्य रायप्रोलु ने भजगोविंदम् व सौंदर्यलहरी का तेलुगीकरण किया है।

'तृणकंकण' में परतत्व प्रदर्शन है । अद्वैत तत्व के प्रभाव के कारण ही आप आंध्र साहित्य को परंज्योतिमय अमलिन शृंगार प्रदान कर सके । अद्वैत के आराधक आप अस्पृश्यता के विरोधी हैं । राधा-माधव आत्मा परमात्मा के प्रतीक बनकर मधुर भक्ति विलसन दिखाते हैं । प्रकृति-पुरुष के अद्वैत में कवि की आत्मा लीन है । ललिता कुटीर वासी रायप्रोलु ललितादेवी के आराधक हैं । राजराजेश्वरी का साक्षात्कार कर वे परम में लीन होते हैं ।

भाव कविता में अद्वैततत्व

वेंकटपार्वतीश्वर, कृष्ण शास्त्री, नालं कृष्णराव, विश्वनाथ, बसवराजु, वेदुल, दुव्वूरि, कवि-कोंडल वेंकटराव, बसवराज अप्पाराव, अडवि बापिराजु, पिंगलि-काटुरि, तल्लावझ्झल आदि कवियों की प्रेमाभिव्यक्ति एवं मानवरक्ति से समंचित वाणी में यत्र-तत्र स्पष्टतः अद्वैत ध्वनि मुखरित है ।

विश्वनाथ सत्यनारायण

विश्वनाथ की समस्त कृतियों में अद्वैत तत्व का प्रतिष्ठापन हुआ है । 'मा स्वामि' अद्वैत की विजयपताका है । 'कुमाराभ्युदमु' में आपका शिव भक्तिपरक अद्वैत चिंतन का प्रस्फुटन है । 'श्रीमद्-रामायण कल्पवृक्ष' अद्वैत प्रतिपादनार्थ कृत महाकाव्य प्रणयन है ।

गुंटूरु शेषेंद्र शर्मा

विश्वनाथ की तरह गुंटूरु शेषेंद्र शर्मा भी अद्वैत चिंतन के महा आधारस्तंभ हैं । अद्वैत सिद्धांत, प्रगतिवाद एवं भाव कविता की प्रवृत्तियों की त्रिवेणी है उनकी कविता । कवि सेना के संस्थापक शेषेंद्रजी के 'दहकता सूरज', 'प्रेमलेख, 'मेरी धरती मेरे लोग, आदि मानवाद्वैत के घोषणा-पत्र हैं ।

तेलुगु नाटक में अद्वैत तत्व

तिरुपति वेंकट कवियुग्म कृत पाण्डवोद्योगादि नाटक, धर्मवरम् राम-कृष्णमाचार्य कृत 'पादुका पट्टाभिषेक', बलिजेपल्लि लक्ष्मीकांत कृत 'सत्य हरिश्चंद्र' आदि नाटकों में अद्वैत तत्व निहित हैं । नाटक विधा में दर्शन की अपेक्षा सामाजिकता को अधिक प्रश्रय मिला है ।

उपन्यास व कहानी

आंध्र उपन्यास व कहानी में दर्शन की अपेक्षा धार्मिकता, मानवीयता एवं समाज सापेक्षता की अधिक अभिव्यक्ति हुई है । विश्वनाथ सत्यनारायण के 'सहस्रफणु', 'धर्मचक्र' आदि उपन्यास अद्वैत तत्व से अनुप्राणित हैं । उन्नव लक्ष्मीनारायण का 'मालपल्लि' में सर्वैक्य भाव निहित है । कथा साहित्य में दार्शनिकता की अपेक्षा आधुनिकता की अधिक गंध है ।

निबंध-प्रबंध

राल्लपल्लि 'वेमन' में, आर-वी० यस सुन्दरम् जानपद शोध प्रबंध में, सी० तिरुपति राव पारिजातापहरण परिशोधन ग्रंथ में, जी० नागय्या दिपद वाङ्मय में साहित्यगत अद्वैत तत्व का समुद्-घाटन करते हैं । डॉ० गंधम् अप्पाराव वेमना एवं सर्वज्ञ के अद्वैत का निरुपण करते हैं ।

शंकर विषयक तेलुगु साहित्य

आद्य शंकर के अद्वैत तत्व के प्रतिपादन के अतिरिक्त तेलुगु लेखकों ने आद्य शंकर की

समस्त कृतियों का अनुवाद भी प्रस्तुत किया है। उनकी कृतियों की सुन्दर व्याख्याएँ निकली हैं। शंकर के जीवन चरितों का भी सक्षम प्रणयन तेलुगु में हुआ है। संक्षेप में यहां उनका उल्लेख किया जाता है।

आदिशंकर जीवन चरित

डॉ० पप्पु वेणुगोपाल राव की इस कृति में शंकर के जीवन चरित का वर्णन हुआ है। उनके जीवन, दर्शन, अद्वैत तत्व, आत्मतत्व, काल निर्णय, ज्ञान की महत्ता, आत्मशक्ति, 'सोऽहम्' का निरूपण आदि कई विषयों का स्पर्श किया गया है इस ग्रंथ में।

प्रस्थान त्रय व्याख्या

आंध्र में आद्य शंकर की प्रस्थानत्रय व्याख्या का अनुवाद भी प्रस्तुत किया गया है। उपनिषद् व ब्रह्म सूत्रों के अनुवाद की अपेक्षा बहुतों ने गीता भाष्य को अधिक प्रश्रय दिया है। विवेक चूड़ामणि व उपदेश सहस्री की व्याख्या भी हुई है।

वेदांत सार

इसमें शंकर मत के मूलभूत सिद्धांतों का विवेचन है। यह निरूपति किया गया है कि शंकर ने अद्वैत प्रतिपाद विश्वता धर्म के रूप में किया है ब्रह्म से जीव जन्म लेते हैं, उसी में जीते हैं और उसी में लीन होते हैं। आत्म ही परमात्मा है। सगुण निर्गुण ब्रह्म एक ही है। माया मुक्ति दशा में ऐक्य का संधान होता है।

अर्चना

इसमें शंकर कृत अर्चना श्लोकों का अनुवाद है।

शंकर विजय

कई कवियों ने शंकर विजय काव्य लिखे हैं। संस्कृत के सार तत्व को इसमें संधानित किया है।

सौन्दर्य-लहरी

'सौन्दर्य-लहरी' की नयी व्याख्या डॉ० बाड़ाल रामय्या ने प्रस्तुत की है।

माधव विद्यारण्य कृत शंकर विजय

इस काव्य की टीका तेलुगु में प्रस्तुत है।

शंकराचार्य

श्री यम० पी० महादेवन् कृत 'शंकराचार्य' का विवेचन वेणुगोपाल ने किया है।

श्री दक्षिणामूर्ति स्तोत्र

वेणुगोपाल राव ने इस स्तोत्र का अनुवाद प्रस्तुत किया है। 'अन्नपूर्णस्टकम्', 'श्री शिवपंचाक्षरी स्तोत्रम्', 'यलितापंचरत्नम्', 'निर्वाण षट्कम्': 'भजगोविन्दम्' आदि का अनुवाद तेलुगु में हुआ है। शंकराचार्य पर नाटक भी प्रणीत हुए हैं।

आद्यशंकर ने इस संसार के दुःखमोचन एवं मायामुक्ति के लिए ज्ञान का जो पथ बनाया है एवं 'सोऽहम्' याने 'वह परम मैं ही हूं'—का जो वैश्विक सेतु निर्मित किया है, उन्हें आंध्र के कवि लेखकों ने जनता की मुक्ति के लिए कृतियों में प्रदर्शित किया है। शणताचार्य शंकर की आत्मा परमात्मा के रूप में आंध्र साहित्य में ध्वनित है। वैश्विक आयामों से युक्त आद्यशंकर के अद्वैत सिद्धांत् ग्रसण से आंध्र साहित्य की शालीनता में प्रवर्द्धन हुआ है। सोऽहम्।

शंकर और भारतीय संस्कृति

ले० विनोदचन्द्र सिन्हा
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, गुरुकुल कांगड़ी
विश्वविद्यालय, हरिद्वार

भारतीय ज्ञान-मंडल में स्वामी शंकराचार्य अलौकिक पुरुष थे। उनकी गणना हिन्दू धर्म के महान आचार्यों में की जाती है। वे अध्यात्म ज्ञान के महापण्डित, दार्शनिक, महान सुधारक और महान सन्यासी थे।

शंकर बचपन से ही प्रतिभाशाली थे। जब वे केवल तीन वर्ष के थे उन्होंने मलयालम सीख ली तथा पुराणादि के विशिष्ठ आख्यान कंठस्थ कर लिये थे। पांच वर्ष की आयु में विद्याध्ययन के लिए वे पाठशाला गये और सात वर्ष की अवस्था में वेद, वेदांग आदि शास्त्रों का ज्ञान अर्जित कर लिया। आठ वर्ष की अल्पायु में वे सन्यासी बन गये। इनके सन्यास धारण करने के विषय में एक रोचक कथा प्रचलित है। कहा जाता है कि एक बार शंकर गंगा में स्नान कर रहे थे कि उनका पैर मगर ने पकड़ लिया। किनारे पर खड़ी माता ने जब शोर मचाया तो पुत्र ने कहा यदि वे उन्हें सन्यास सन्यास लेने की अनुमति प्रदान करें तो मगर उनका पैर छोड़ देगा। इस पर माता ने शंकर को सन्यास धारण करने की अनुमति दे दी। कथा में कितनी सत्यता है, यह तो निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता किन्तु यह निर्विवाद है कि किसी न किसी प्रकार अपनी माता से सन्यासी बनने की अनुमति प्राप्त करके वे घर से निकल पड़े। चलते समय अपनी माता को उन्होंने आश्वासन दिया कि जब कभी माता को उसकी आवश्यकता होगी, वे तुरन्त उपस्थित होंगे।

विन्ध्य प्रदेश में शंकर ने गौड़पाद के शिष्य गुरु गोविन्द से शिक्षा ग्रहण की। थोड़े ही दिनों में वे एक सिद्ध योगी हो गये। कुछ वर्ष अपने गुरु के साथ रहने के पश्चात वे काशी चले गये जो उस समय शिक्षा का सबसे बड़ा केन्द्र था। काशी पहुंचकर शंकर ने अपने वेदान्त दर्शन का प्रतिपादन किया। काशी के अनेक विद्वान पंडित उनके अनुयायी बन गये। यहीं पर उन्होंने उपनिषदों, गीता तथा बादरायाण के वेदांत सूत्र पर अपनी प्रसिद्ध टीकायें लिखीं। उपनिषदों, गीता तथा वेदांत सूत्रों पर की गई इनकी भाष्य रचना तथा प्रस्थानत्रयी के नाम से प्रसिद्ध है। बादरायण के वेदांत सूत्र पर शंकर का भाष्य विश्व के दार्शनिक साहित्य में बेजोड़ है "कुमारिल ने तो वैदिक कर्मकाण्ड पर जोर दिया पर उनका आन्दोलन समय के प्रवाह के प्रतिकूल होने से कुछ जागृत होकर भी बहुत व्यापक नहीं हुआ। शंकराचार्य ने उस समय के जनसाधारण में प्रचलित एक बहुत ऊंचा तत्वज्ञान "वेदान्त" का विकास और प्रचार किया। भारतीय जीवन पर इसकी छाप अब तक बनी हुई है। इसमें प्राचीन

उपनिषदों और गीता का दर्शन तो था ही, उनके पीछे की सबसे प्रबल धार्मिक धारा बौद्ध धर्म और दर्शन का उत्तमांश भी आ गया। ऐसा कहा जाता है कि शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म का लोप किया। परन्तु यह लोप युद्ध और वैमनस्य के द्वारा नहीं हुआ। अत्यन्त मैत्री भाव से शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म के उच्च सिद्धान्तों का अपने धर्म और दर्शन में समावेश किया और उस समय के पौराणिक धर्म में बुद्ध को अपने दस प्रधान अवतारों में मान लिया। इसके बाद ब्राह्मण और बौद्ध धर्म में कोई विशेष अन्तर न रहा और बौद्ध धर्म क्रमशः नवजागृत ब्राह्मण या वैदिक धर्म में विलीन हो गया।"[1]

अपने अद्वैत दर्शन को लिपिबद्ध करने के पश्चात स्वामी शंकराचार्य काशी छोड़कर भारत भ्रमण के लिए निकल पड़े। उनका प्रयोजन उस काल में प्रचलित वेद विरोधी मत-मतान्तरों के विरुद्ध वेदांत को प्रतिष्ठित करना था। उज्जयिनी तथा कांची आदि स्थानों पर अपनी विजयपताका फहराते हुए वे प्रयाग पहुंचे। वहां उनकी भेंट कुमारिल भट्ट से हुई। उस समय कुमारिल आत्मदाह को जा रहे थे। उन्होंने शंकर को महिष्मती नगरी जाकर मण्डन मिश्र से शास्त्रार्थ करने का आदेश दिया। मण्डन मिश्र उस समय के योग्यतम पण्डित और महानतम कर्मकाण्डी थे। शास्त्रार्थ में पराजित होने के फलस्वरूप मण्डनमिश्र शंकराचार्य के शिष्य हो गये। उन्होंने सन्यास धारण करके अपना नाम सुरेश्वराचार्य रखा। यही सुरेश्वराचार्य शंकर द्वारा स्थापित श्रृंगेरी मठ के प्रथम उत्तराधिकारी बने। शंकर उज्जैन के पशुपताचार्य को भी शास्त्रार्थ में हराया। असम भी उस समय विद्या का एक महत्वपूर्ण केन्द्र था। शंकर ने वेदान्त की धाक वहां भी जमाई। तत्पश्चात वे काश्मीर गये और वहां के पण्डितों से शास्त्रार्थ करके उन्हें पराजित किया। इस प्रकार काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक अद्वैत की स्थापना हो गई। स्वामी शंकराचार्य इसी मत को वेदों और उपनिषदों का वास्तविक सार बताते थे। "काफी अंशों में दक्षिण भारत से बौद्ध और जैन धर्म की जनप्रियता को समाप्त करने में शंकर ने सफलता प्राप्त की।"[2]

स्वामी शंकराचार्य भारतीय ज्ञानकोष के ज्वलन्त प्रतीक हैं। उनके जीवन में ज्ञान के साथ-साथ मानव प्रेम की भावना सन्निहित थी। अपनी माता के प्रति उनका बड़ा अनुराग था। माता की मृत्यु के पश्चात उन्होंने सन्यास-प्रथा के विरुद्ध उनका दाह संस्कार स्वयं किया। उनके इस कार्य से अनेक कट्टरपन्थी लोग उनके विरुद्ध हो गये किन्तु निर्भीक शंकर ने उनकी तनिक भी परवाह न की। आश्चर्य की बात है कि अत्यन्त अल्प काल में शंकराचार्य ने अनेक महान कार्यों को पूरा कर दिया। जब वे केदार क्षेत्र की ओर जा रहे थे, कैलास के निकट 820 ई० में 32 वर्ष की अवस्था में उन्होंने ब्रह्म-लोक प्राप्त किया।

चार मठों की स्थापना

शंकर राष्ट्रोत्थान की भावना से ओत-प्रोत थे। भारतवर्ष के चार कोनों पर चार मठों की स्थापना से उनकी राष्ट्र को एक सूत्र में बांधने की भावना का परिचय प्राप्त होता है। इन मठों में मुख्य श्रृंगेरी मठ है, जो दक्षिण भारत में स्वामी जी के जन्म-क्षेत्र में स्थापित है। अन्य तीन मठ पश्चिम में द्वारिका, पूर्व में जगन्नाथपुरी और उत्तर में बद्रीनाथ हैं। शंकराचार्य ने धार्मिक और दार्शनिक क्षेत्र में जो क्रान्ति उत्पन्न की विश्व के इतिहास में वह बेजोड़ है। उनके महान कार्यों के

1. उपेन्द्र ठाकुर, प्राचीन भारत (भाग दो), पृ० 402।
2. ई० लेकब्रिज, हिस्ट्री आफ इण्डिया, अध्याय एक, पृ० 63।

फलस्वरूप ही उन्हें "जगद्गुरु" की उपाधि प्रदान की गई। अत्यन्त अल्पकाल और अल्पायु में उन्होंने जो महान कार्य सम्पन्न किये वैसा उदाहरण विश्व के इतिहास में दूसरा नहीं मिलेगा।

शंकराचार्य का अद्वैतवाद

भारतीय दर्शन को स्वामी जी की मुख्य देन उनका अद्वैत सिद्धान्त है। स्वामी शिवानन्द ने लिखा है कि "इस मत को अन्तिम सुन्दर और पूर्ण रूप प्रदान करने का कार्य शंकर ने ही किया।"[1] इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि अदैत मत को एक सफल वैदिक मत बनाने का कार्य स्वामी शंकराचार्य ने किया।

शंकर ने इस ब्रह्मांड के मूल कारण के रूप में एक निर्विकार, निर्विकल्प एवं निस्पाधिक सत्ता ब्रह्म की कल्पना की है। जगत् की रचना और उसके कारणों को लेकर दार्शनिक जगत में बड़ा विवाद है। सामान्य रूप से विश्व की दृष्ट वस्तुओं के निर्माण में तीन कारणों को स्वीकार किया जाता है। पहला निमित्त कारण, दूसरा उत्पादन कारण और अन्तिम साधारण कारण और चक्रादि साधारण कारण हैं। प्रायः दृष्ट वस्तुओं का इन्हीं तीन कारणों से सर्वत्र निर्माण दृष्टिगोचर होता है। "यदि उच्च दार्शनिक चिन्तन को समीचीन माना जाय तो स्पष्ट है कि इस विश्व की सृष्टि रचना में ब्रह्म निमित्त कारण, प्रकृति उपादान कारण और जीवादि साधारण कारण हैं।"[2] आचार्य शंकर ब्रह्म को जगत का निमित्त कारण नहीं मानते क्योंकि उसके फलस्वरूप ब्रह्म में कर्तृत्वादि गुणों को स्वीकार करना पड़ेगा। वे ब्रह्म को जगत का अभिन्न निमित्तोपादन कारण मानते हैं। जब रस्सी में सर्प का निमित्त कारण होने के साथ-साथ उपादान कारण भी है। अतः रज्जु सर्प का अभिन्न निमित्तोपादन सिद्ध हो जाता है। ब्रह्म को अभिन्न निमित्तोपादन सिद्ध करने के लिए शंकराचार्य मुण्डूकोपनिषद् का प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जैसे मकड़ी अपने में से जाला उत्पन्न करती है और अपने में समेट लेती है ठीक उसी प्रकार इस ब्रह्म से यह जगत् उत्पन्न हुआ है और उसी में लीन हो जायेगा।[3] ब्रह्म जगत की सृष्टि, पालन और संहार का कारण है। वह अनन्त, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी है। समस्त भूत जगत का आधार है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि शंकर के अद्वैत मत के अनुसार ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव तथा ब्रह्म में अन्तर नहीं है।

शंकर ने आत्मा और ब्रह्म में द्वैत नहीं माना।[4] वास्तव में आत्मा ब्रह्म ही है। वह सर्वव्यापक, अद्वैत, निर्विशेष, कालातीत, परमार्थ और सत्य है। आत्मा और ब्रह्म दोनों सच्चिदानन्द हैं। आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए शंकर ने चेतना की विभिन्न अवस्थाओं का विश्लेषण किया है और यह दिखलाया है कि आत्मा प्रत्येक अवस्था में विद्यमान रहती है। आत्मा नित्य मुक्त है, जीव का बन्धन और मोक्ष होता है परन्तु जीव और आत्मा के समस्त भेद व्यवहारिक स्तर पर हैं, पारमार्थिक स्तर पर सभी प्रकार के भेद समाप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्तिम रूप में ब्रह्म अथवा आत्मा ही एकमात्र नित्य सत्य है।

आचार्य शंकर ने एक ही ब्रह्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। अतः जगत् की व्याख्या के

1. स्वामी शिवानन्द, आल एबाउट हिन्दूज्म, पृ० 280।
2. जयदेव वेदालंकार, भारतीय दर्शन की समस्यायें, पृ० 137।
3. मुण्डकोपनिषद 1.7।
4. बृहदारण्य : 4.4.5।

लिए उन्होंने माया के सिद्धान्त का सहारा लिया। जिस प्रकार दाहिका शक्ति अग्नि से पृथक नहीं हो सकती, उसी प्रकार माया भी ब्रह्म से पृथक नहीं है। वेदान्त ने माया को अनिर्वचनीय स्वीकार किया गया है। वह न तो सत् है और न असत्। शंकर के अनुसार माया के कारण ही ब्रह्म से जीव की उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार आचार्य शंकर के अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म और ईश्वर में कोई भेद नहीं है और न ही ब्रह्म व जगत में। इसी प्रकार ब्रह्म और जीव में भी कोई भेद नहीं है। ये सब भ्रम माया रूपी अज्ञान के कारण उत्पन्न होते हैं। ज्ञान के इन सब भेदों से मुक्ति तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है। "कुछ विद्वानों की सम्मति में शंकराचार्य ने माया और मायावाद को बौद्ध दर्शन, विशेषतः नागार्जुन की मध्यामिककारिका से ग्रहण किया, जहां इसको संवृत कहा गया है। वेदों, उपनिषदों और इतिहास-पुराणों में माया का वर्णन करते हुए यह उल्टी गंगा बहाना विद्वानों को शोभा नहीं देता। स्वयं नागार्जुन वेदों के महान पंडित थे। उन्होंने वेदों से ही मायावाद और शून्यवाद ग्रहण किया। अतः शंकर या बादरायण के मायावाद का मूल नागार्जुन नहीं, श्रुति ही थी।"[1]

भारतीय संस्कृति में योगदान

भारत के सांस्कृतिक इतिहास में शंकराचार्य महान युगप्रवर्तक सन्त और महानतम दार्शनिक तथा समाज सुधारक हुए। भारतीय दर्शन के क्षेत्र में उन्होंने सर्वोच्च मान्यतायें प्रदान की और धार्मिक क्षेत्र में सम्पूर्ण देश को उन्होंने एक सूत्र में बांधने का प्रयास किया। आज भी भारतीय संस्कृति पर शंकराचार्य के उपदेशों की छाप अमिट है।

शंकर से पूर्व महात्मा बुद्ध सन्यास और अहिंसा का उपदेश दे चुके थे। अतः जगद्‌गुरु के सन्यास के उपदेश का जनता पर अत्यन्त ही अनुकूल प्रभाव पड़ा। बुद्ध की शिक्षाओं से कुछ समानता के कारण ही वे प्रच्छन्न बौद्ध कहलाये, यद्यपि जगत को माया कहने से उनका अभिप्राय शून्यवाद नहीं था। जन-मानस पर अपना आधिपत्य स्थापित करते हुए शंकर ने अपने देश में वैदिक धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा की और वर्णाश्रम धर्म का प्रचार किया।[2]

स्वामी शंकराचार्य का समय धार्मिक उथल-पुथल का काल था। प्राचीन वैदिक धर्म का ज्ञानात्मक स्वरूप नष्ट हो रहा था। शंकर ज्ञानवादी थे। उनके अनुसार केवल तत्वज्ञान के द्वारा ही जीव जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो सकता है। तत्वज्ञान के लिए अन्तकरण की शुद्धि आवश्यक है। इसलिए आचार्य ने अन्तःकरण की शुद्धि पर बल दिया। उन्होंने मण्डन मिश्र के कर्मवाद का विरोध किया। शंकर ने भक्ति प्रधान पौराणिक धर्म की त्रुटियों को दूर करके उपनिषदों के ज्ञान मार्ग का प्रतिपादन किया। उनका उद्देश्य हिन्दू समाज को उपनिषदों के आध्यात्मवाद की ओर ले जाना था। स्वामी जी का ज्ञान मार्ग वास्तव में अत्यन्त ही कठिन था फिर भी लोग उनके अद्वैतवाद की ओर आकृष्ट हुए। अद्वैतवाद का यह विचार कि जीव वास्तव में ब्रह्म ही है, सबको बड़ा रुचिकर लगा। उपनिषदों और गीता के पश्चात जीव को ब्रह्मत्त्व के सिद्धान्त को उच्चतम शिखर पर पहुंचाने का कार्य शंकर ने ही किया। "संक्षेप में शंकर ने एक ऐसे धर्म और दर्शन को आध्यात्मिक दिशा देने की चेष्टा की जो उस समय प्रचलित बौद्ध धर्म, मीमांसा तथा भक्तिवाद से अधिक अच्छी तरह लोगों

1. कुंअरलाल व्यास शिष्ट, भारतीय दर्शन, पृ० 145-46।
2. रामनाथ शर्मा और भूपेशचन्द्र, भारत में धर्म और संस्कृति, पृ० 70।

को नैतिक व आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करे और इसमें वे पूर्णतया सफल हुए। जीव-ब्रह्म के एक भाव ने समाज में इतना प्रबल वेग धारण किया कि तब से अब तक प्रायः प्रत्येक हिन्दू के मन में यह भाव चेतन या अचेतन रूप में क्रियाशील है।"[1]

शंकराचार्य की प्रखर बुद्धि और उत्तम कार्यकुशलता के कारण बौद्ध तथा जैन धर्म की लोकप्रियता कम हुई। शाक्त और वैष्णव भी इनके प्रभाव से अछूते न रहे तथा बाद में आने वाले प्रमुख आचार्यों ने भी किन्हीं न किसी रूप में अद्वैतवाद को स्वीकार किया।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि विश्व-गुरु शंकर की सांस्कृतिक देन भारत ही नहीं वरन् विश्व की अत्यन्त मूल्यवान धरोहर है।

1, कैलाशचन्द्र गुप्त तथा अन्य, भारतीय धर्म और संस्कृति, पृ० 140।

महाकवि तुलसीदास और शांकर अद्वैतवाद

मानस मराल पं० जगेशनारायण शर्मा

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जार्जग्रियर्सन

डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र प्रभृति हिन्दी-साहित्य के मूर्धन्य विद्वानों ने तुलसी-साहित्य पर शंकराचार्य के अद्वैतवादी प्रभाव को स्वीकार किया है। इनके अतिरिक्त विद्वानों का एक बहुत बड़ा दल ऐसा भी है जो तुलसी साहित्य पर विशिष्टाद्वैत दर्शन तथा अन्य दर्शनों के प्रभाव को भी स्वीकार करता है। किन्तु हम यहां किसी विवाद में पड़कर तुलसी दर्शन के प्रभाव की समीक्षा करेंगे।

आचार्य शंकर ब्रह्म को सत्य और जगत् को मिथ्या मानते हैं—

श्लोकोर्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

उनकी मान्यता के अनुसार नानात्व और भेद का कारण अविद्या है। शंकराचार्य एकमात्र ब्रह्म की सत्ता को ही स्वीकार करते हैं। "वह ब्रह्म, सत्-चित आनन्द स्वरूप है और सर्वत्र व्याप्त है। वही दृश्यमान जगत् का आधार है। शंकर का ब्रह्म सत्, चित और आनंद होता हुआ भी निर्गुण और निराकार है। वह अज और अमर है। वह पालक और संघारक होते हुए भी निर्लेप है।"[1] तुलसी के राम भी व्यापक ब्रह्म हैं। वे सभी क्रियाओं में व्याप्त होने पर अकार्ता और अभोक्ता हैं—

बिनुपद चलइ सुनइ बिनु काना।
कर बिनु करम करइ विधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी।
बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा।
ग्रहइ घ्यान बिनु बास असेखा॥
असि सब भांति अलौकिक करनी।
महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥
—मा 1-118. 4-8.

1. तुलसीदास : जीवनी और विचारधारा—डॉ० राजाराम रस्तोगी—पृ० 321

किन्तु जहां शंकर का ब्रह्म केवल अद्वैत और निर्गुण निर्विशेष हैं वहां तुलसी के राम निर्गुण होने पर भी सगुण और साकार हैं। वे निराकार से नराकार होने का सामर्थ्य भी रखते हैं। वे अजन्मा होकर भी दशरथ नंदन हैं तथा संकल्पमात्र से सर्वक्रिया सम्पन्न होने पर भी भक्तों की इच्छा के अनुसार लीलाविग्रह धारण करते हैं—

जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दशरथ सुत भगत हित कोसल पति भगवान॥ मा० 1.118

तुलसी द्वारा वर्णित ब्रह्म के स्वरूप का समर्थन भगवती श्रुति भी करती है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में ब्रह्म का निरूपण करते हुए कहा गया है कि वह परम पुरुष परमात्मा हाथ पैर से रहित होकर भी ग्रहण करने वाला और वेग के साथ गमन करने वाला है। नेत्रों के बिना देखता है तथा कानों के बिना सुनता है। वह सभी बातों को जानता है पर उसे कोई नहीं जानता। वह आदि पुरुष और महान् है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता, तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥[1]

आचार्य शंकर ने ब्रह्म को मात्र निर्गुण निराकार और अजन्मा स्वीकार किया है किन्तु तुलसी के राम सगुण निर्गुण के समवाय हैं। तुलसी के अनुसार निर्गुण और सगुण में कोई भेद नहीं है। जो निर्गुण है वही भक्तों के कारण लीला शरीर धारण करता है। जिस प्रकार जल, हिम और उपल में में तत्वत कोई भेद नहीं है, उसी प्रकार निर्गुण और सगुण भी एक ही हैं—

(क) सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा।
गावहिं मुनि पुरा बुध बेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई।
भगत प्रेम बस सगुम सो होई॥
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे।
जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसे॥ —मा० 1.116. 1-3.

(ख) जो भुसुंडि मन मानस हंसा।
अगुन सगुन जेहि निगम प्रसंसा॥[2]

(ख) यह राम रूप अनूप निर्गुन सगुन गुन प्रेरक सही।[3]

(ग) जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप अनूप भूप सिरोमने।[4]

आचार्य शंकर के अनुसार आत्मा ही ब्रह्म है—"अयं आत्मा ब्रह्म"। आत्मा के अस्तित्व को कोई

1. श्वेताश्वतर उपनिषद् 3/19
2. मा० 1.146.4.
3. मा० 3.32.3.
4. मा० 7.13.1.

भी अस्वीकार नहीं कर सकता। "मैं हूं" ऐसा सभी मानते हैं। "मैं नहीं हूं" ऐसा कोई नहीं मानता। शंकर का अद्वैत वेदान्त आत्म केन्द्रित है। आत्मा के स्तित्व को गोस्वामी भी स्वीकार करते हैं। आत्मानुभव सुखरूप है, वह प्रकाशस्वरूप है। आत्मा का अनुभव होते ही अविद्या का नाश हो जाता है—

सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा।
दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा॥
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा।
तब भव मूल भेद भ्रम नासा॥
प्रवल अविद्याकर परिवीरा।
माहे आदितम मिटइ अपारा॥ मा० 7.118. 1-3

आत्मा

आचार्य शंकर के विचार के अनुसार 'आत्मा ही एकमात्र सत्ता है, जगत् की सत्ता केवल व्यावहारिक है। आत्मा की सत्ता पारमार्थिक है और जगत् की सत्ता मात्र व्यवहारिक है। जगत् की भ्रान्ति का कारण माया है। जीव और जगत् की सत्ता भ्रान्ति के कारण प्रतीत होती है। जैसे रज्जू में सर्प, सीप में रजत और रेत में जल की प्रतीत मात्र भ्रान्ति मूलक है, ठीक उसी प्रकार त्रिकाल में असत्य जगत् की माया या भ्रम के कारण सत्य प्रतीत होता है। तुलसीदास, शंकराचार्य की जगत् सम्बन्धी मान्यता के प्रति पूर्ण सहमति प्रकट करते हैं—

रजत सीप महं भास जिमि जथा भानु कर वारि।
जदपि मृषा तिहुंकाल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टरि॥

भ्रम का निवारण आत्मज्ञान या तत्वज्ञान के उपरान्त ही संभव है। आचार्य शंकर जिसे तत्वज्ञान कहते हैं उसे महाकवि तुलसी भगवत्कृपा के रूप में स्वीकार करते हैं—

एहि विधि जग हरि आश्रित रहई।
जदपि असत्य देत दुख अहई॥
जौं सपने सिर काटै कोई।
बिनु जागे ने दूर दुःख होई॥
जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई।
गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई॥

आचार्य शंकर ने जगत् की सत्ता दो प्रकार से स्वीकार की है, एक है व्यावहारिक सत्ता और दूसरी पारमार्थिक सत्ता। उन्होंने भी—"ईश्वरानुग्रहा—देव पुमान द्वैतवासनः"[1] कहकर ईश्वरानुग्रह और आचार भक्ति एवं उपासना की महत्ता स्वीकार की है। तुलसीदास की भजन और उपासना की सत्ता को स्वीकार करते हुए जगत् के मिथ्यत्व की घोषणा करते है—

उमा कहउं मैं अनुभ अपना।
सत हरि भजन जगत सब सपना॥

शंकराचार्य के मतानुसार ब्रह्म अनिवर्चनीय है। उसका वास्तविक ज्ञान तर्क या बुद्धि के आधार पर नहीं किया जा सकता। गोस्वामी जी के राम भी मन बुद्धि और तर्क के परे हैं—

राम अतर्क बुद्धि मन बानी।
मत हमार अस सुनहि सयानी ॥ (मा० 121.3.)

श्रुतियां भी ब्रह्मविषयक उपर्युक्त कथनों का समर्थन नाना प्रकार से करती हैं।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य—
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।[1]

अर्थात् वह परमात्मा या आत्मा प्रवचनशक्ति, बुद्धि और श्रुतिज्ञान से परे है। केनोपनिषद् की कई श्रुतियों में भी इसी से मिलते-जुलते भाव अभिव्यक्त हुए हैं—

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥[2]

जीव और आत्मा का संबंध

आर्ष ग्रन्थों में आत्मा शब्द का प्रयोग दो अर्थों में आया है—कहीं 'जीवात्मा' के अर्थ में तथा कहीं 'परमात्मा' अर्थ में। शंकर दर्शन में आत्मा और परमात्मा में अभेद प्रतिपादन किया गया है। वस्तुतः मायोपहित चैतन्य के तीन भेद हैं—प्रथम—ईश्वर हिरण्यगर्भ प्रजापति आदि माया के उत्कृष्ट सत्योपाधियुक्त चैतन्य है। ये ही सृष्टिकर्ता, पालन और प्रलयकर्ता हैं। दूसरा—अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्यजीवात्मा है, जो मलिय सत्त्व उपाधियुक्त है। तीसरा—तमविष मायोपहित चैतन्य है। समस्त जगत् समष्टि और व्यष्टि उपाधिविष्ट है।[3] इस प्रकार जीवात्मा और परमात्मा में निम्न-लिखित भेद द्रष्टव्य हैं—

(1) ब्रह्म के दो रूप हैं—एक तो नाम रूप विकार भेद की उपाधिवाला, दूसरा इसके विपरीत छूटा हुआ।[4]

गोस्वामीजी ब्रह्म के दोनों रूपों का समर्थन करते हैं—

(क) उपाधिसहित—कौशल्यानन्दन—

सो दसरथ सुत भगतहित कोसलपति भगवान। (मा. 1.118)

1. कठोपनिषद—1.2.23.
2. केनोपनिषद—1.1 4-6.
3. शंकराद्वैतदर्शन—डॉ० जयदेव वेदालंकार—यतीन्द्रतिलक पृ० 250
4. द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते—ब्रह्मसूत्र (शांकरभाष्य—1.1.12)

(ख) राम ब्रह्म चिनमय अबिनासी ।
सर्ब रहित सब उर पुर बासी ॥ (मा. 1.120.7)

(2) वहां अविद्या की अवस्था ब्रह्म में उपास्य और उपासक आदि लक्षण वाले व्यवहार होते हैं, ये सब इनमें औपाधिक होता है ।

(क) जगत प्रकास्य प्रकासिक रामू ।
मायाधीस ज्ञान गुण धामू ॥
जासु सत्यता ते जड़ माया ।
भाव सत्य इव मोह सहाया ॥ (मा० 1.117.7—8)

(3) पर ब्रह्म ही देह, मन, बुद्धि की उपाधियों से परिच्छिन्न होकर शरीर धारण करता है अर्थात् ईश्वर कहलाता है ।[1]

राम सच्चिदानन्द दिनेसा ।
नहिं तहँ मोहनिसा लवलेसा ॥
राम ब्रह्म व्यापक जग जाना ।
परमानन्द परेस पुराना ॥
पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट परावर नाथ ।
रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिवँ नायउ माथ ॥ (मा० 1.116.4.8)

(4) जीव और ब्रह्म का भेद अविद्या के कारण है । तत्पतः दोनों एक हैं, वे दो नहीं सकते। यथा—

(क) ईश्वर अंस जीव अविनासी ।
चेतन अमल सहज सुख रासी ॥
सो माया बस भयउ गोसाईं ।
बंधेउ कीर मर्कट की नाईं ॥ (मा० 7.112,2-0)

(ख) भूमि परत भा ढाबर पानी ।
जिमि जीवहि माया लपटानी ॥ (मा० 4.14.6)

गीता में भी भगवान ने जीव को अपना अंश ही स्वीकार किया है ।[2]

(ग) मधुभेद जधपिकृत माया ।
बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया ॥ (मा० 7.78.8)

(5) आत्मा एक है वह कूटस्थ नित्य है। वाली वध के उपरान्त तारा के उपदेश में गोस्वामीजी ने आत्मा की नित्यता का स्पष्ट संकेत किया है—

छिति जल पावक गगन समीरा ।
पंच रचित अति अधम सरीरा ॥

1. शांकरभाष्य—1.1.6
2. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ गी० 15.7

प्रगट सो तनु तव आगें सोवा ।
जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा ॥ (मा० 4.11.4-5)

सृष्टि रचना

ब्रह्म को सृष्टि का अभिन्न निमित्तोपादन कारण माना गया है। अद्वैत मतानुसार जगत् प्रपंच वस्तुतः ब्रह्म से भिन्न नहीं है। अद्वैतदर्शन का सृष्टिवाद, 'दृष्टि—सृष्टिवाद' कहलाता है। इसके अनुसार आचार्य शंकर जगत् की व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार करते हैं। जिस प्रकार सीपी में रजत अध्यस्त है उसी प्रकार ब्रह्म में जगत् या सृष्टि अध्यस्त है। सृष्टि की सत्ता व्यावहारिक है पारमार्थिक नहीं। जिस प्रकार स्वप्नकाल में स्वप्न की क्रियाएं सत्य प्रतीत होती हैं उसी प्रकार अज्ञान दशा में सृष्टि भी सत्य प्रतीत होती है। किन्तु जग जाने पर जैसे स्वप्न का व्यवहार असत्य प्रतीत होता है उसी प्रकार आत्मज्ञान होने पर संसार भी असत्य प्रतीत होता है। गोस्वामी जी भी सृष्टिवादी इस सिद्धान्त को ज्यों का त्यों स्वीकार करते हैं—

रजत सीप महं भास जिमि जथा भानु कर वारि।
जदपि मृषा तिहुं काल महं, भ्रम न सकइ कोउ टारि ॥
एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई।
जदपि असत्य देत दुःख अहई ॥
जौं सपने सिर काटै कोई।
बिनु जागें न दूरि दुःख होई ॥ (मा० 1.117-118/1-2)

माया

महाकवि तुलसी निरूपित माया पर शंकर के मायावाद की स्पष्ट छाया प्रतीत होती है। शंकर के अनुसार जगत् की प्रतीति माया के कारण हो रही है। केवल ब्रह्म सत्य है और सब कुछ मिथ्या है। माया को शंकर ने अविद्या भी कहा है—वस्तुत: माया अविद्या के सिवा कुछ और नहीं है। शंकराचार्य ने सारे प्रपंच को मायामय और मिथ्या कहा है। जगत् माया मात्र है। पति-पत्नी, मां-बाप भाई-बन्धु अमीर-गरीब सब माया की रचना है। गोस्वामीजी भी दृश्यमान प्रपंचकात्मक जगत् को माया कृत मानते हैं। मन, वाणी, बुद्धि का जहां तक व्यापार और विस्तार हो सकता है वह सब मायाकृत हैं—

गो गोचर जहँ लगि मन जाई।
सो सब माया जानेहु भाई ॥[1]

इस माया के दो भेद हैं—1 विद्या माया और दूसरी अविद्या माया। अविद्या माया दुष्ट और दुःखरूप है। उसके अधीन होकर जीव नाना प्रकार का क्लेश उठाता है। विद्यामाया ईश्वराधीन है। इसी का अवलंबन लेकर ईश्वर सृष्टि की रचना करता है—

मैं अस मोर तोर तैं माया।
जेहि बस कीन्हें जीव निकाया ॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई।
सो सब माया जानहु भाई ॥

1. मानस—3.15.3

तेहिकर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ।
विद्या अपर अविद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुःखरूपा।
जा बस जीव परा भव कूपा॥
एक रचइ जग गुन बस जाकें।
प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥ (मा० 3.15.2-6)

माया ने त्रिगुणात्मिका शक्ति से सारे जगत् को अपने अधीन कर रखा है। विधि प्रपंच माया के अधीन होकर गुण-अवगुण में सना हुआ है—

कहहिं वेद इतिहास पुराना।
विधि प्रपंच गुन अवगुन साना॥ (मा० 1.6)

माया ब्रह्म की सहचरी और अनुचरी दोनों है। ईश्वर मायापति होकर भी माया से निर्मित है किन्तु जीव माया का अभिमानी बनकर उसी के अधीन चल रहा है। माया ईश्वर के अधीन है जीव माया के अधीन है। ईश्वर और जीव के बीच में यही भेद है। उत्तरकाण्ड में माया की व्याख्या गोस्वामीजी इसी प्रकार करते हैं—

ग्यान अखण्ड एक सीतावर।
माया बस्य जीव सचराचर॥
जौं सबके रह ग्यान एकरस।
ईश्वर जीवहि भेद कहहु कस॥
माथा बस जीव अभिमानी।
ईस बस माया गुनखानी॥
परबस जीव स्वबस भगवंता।
जीव अनेक एक श्रीकंता॥
मुधा भेद जद्यपि कृत माया।
बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥ (मा० 7.78,4-8)

माया का अवलम्बन लेकर ईश्वर जगत् की रचना करता है। माया और भक्ति दोनों नारी वर्ग में हैं। किन्तु भक्ति भगवान की प्रिया है ओर माया उनके दरबार की नर्तकी है। भक्तिविहीन को माया लूट लेती है किन्तु भक्तिमान के पास जाने में वह संकोच करती है—

माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ।
नारि वर्ग जानहि सब कोऊ॥
पुनि रघुबीरही भगति पियारी।
माया खलु नर्तकी बिचारी॥
भगति ही सानुकूल रघुराया।
ताते तेहि डरपति अति माया॥
राय भग्रति निरुपम निरुपाधी।
बसइ जासु उर सदा अबाधी॥
तेहि बिलोकि माया सकुचाई।
करि न सकइ कछु निज प्रभाताई॥

अद्वैत वेदान्त में माया को अविद्या कहा गया है। ब्रह्म के अतिरिक्त अविद्या आदिद्वैत प्रपंच मिथ्या है। उस मिथ्या प्रतीति का आश्रय भी ब्रह्म ही है। आचार्य शंकर ने अविद्या का आश्रय ब्रह्म को माना है।[1] बाद के आचार्यों ने भी शंकर का अनुशरण करते हुए अविद्या को ब्रह्माश्रित माना है। शंकर के अनुसार अविद्या और माया में कोई भेद नहीं है।[2] अविद्या की दो शक्तियां हैं—आवरण और विक्षेप। आवरण शक्ति से अविद्या वस्तु के वास्तविक स्वरूप को ढक लेती है तथा विक्षेप शक्ति से वह वस्तु में विपरीत रूप की प्रतीति कराती है। अविद्या की सिद्धि में अद्वैत वेदान्तियों ने प्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापति आदि प्रमाण भी प्रस्तुत किए हैं। माया या अविद्या संबंधी गोस्वामीजी का बिचार भी शंकराचार्य से मिलता-जुलता है।

गोस्वामीजी ने माया को चराचर में व्याप्त माना है। माया रघुनाथजी की दासी होने पर भी अतिशय प्रबल है। कामादि उसके सेनापति तथा दंभ, कपट पाखंड आदि उसके प्रबल सेनापति है। माया के अमित परिवार को देखकर शिव चतुरान भी भयभीत हो उठते हैं—

यह सब मायाकर परिवारा।
प्रबल अमित को बरनै पारा॥
सिव चतुरानन जहि डेराहीं।
अपर जीब केहि लेखे माहीं॥
व्यापि रहेउ संसार महुं माया कटक प्रचंड।
सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाषंड॥
सो दासी रघुबीर कै समुझे मिथ्या सोपि।
छूट राम कृपा बिनु नाथ कहउं पद रोवि॥ (मा० 7.71.7-8)

किन्तु जो माया अपने प्रभाव से शिव-चतुरानन को भी नचाती है, वही माया राम की भृकुटि-विलास के भय से अपने पूरे समाज के सहित स्वयं नृत्य करती है—

जो माया सब जगहि नचावा।
जासु चरित लखि काहु न पावा॥
सोइ प्रभु भ्रूबिलास खगराजा।
नाच नटिइव सहित समाजा॥ (मा० 7.72.1-2)

माया आद्याशक्ति है और उसी के माध्यम से ईश्वर सृष्टि की संरचना करता है। मनु-शतरूपा के प्रकरण में श्रीराम स्वयं अपने मुख से कहते हैं—

आदि सक्ति जेहि जग उपजाया।
सो अवतरहि मोरि चल माया॥ (मा० 1.115.4)

पुनः उत्तर काण्ड में काकभुशुण्डि के प्रकरण में भी वे इस बात को पुष्टि करते हैं—

मम माया संभव संसारा।
जीव चराचर विबिध प्रकारा॥ (मा० 3·15)

1. ब्रह्मसूत्र—शांकरभाष्य—पृ० 378
2. वेदान्तसार—पृष्ठ 25

अयोध्या काण्ड में महर्षि वाल्मीकि भी श्रीराम से यही कहते हैं—

श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीश माया जानकी।
जो सृजति जग पालति हरति, रुख पाइ कृपा निधान की॥

(मा० 3.126)

सीता राम की माया है इसकी पुष्टि अन्यत्र भी हुई है—

सीय सासु प्रति वेष बनाई।
सादर करइ सरिस सेव काई॥
लखा न मरम राम बिनु काहू।
माया सब सिय माया माहू॥ (मा० 2.252)

सीता महामाया हैं। उनके अंतर्गत सभी प्रकार की माया अन्तर्मुक्त हैं। उनके अंशमात्र से अगनित रमा, उमा और ब्रह्मानी उत्पन्न होती है। सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश उनकी भृकुटि-विलास के अधीन है—

जासु अंस उपजहिं गुन खानी।
अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥
भृकुटि बिलास जासु जग होई।
राम वाम दिसि सीता सोई॥ (मा० 1.148.3-4)

बालकाण्ड के मंगलाचरण के श्लोकों में भी सीता को उत्पत्ति और विनाश का कारण माना गया है—

उद्भवस्थितिसंहारकारिणी क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥ (मा० 1.1.5)

माया के कारण ही यह असत्य जगत् सत्य प्रतीत हो रहा है तथा नाना प्रकार से क्लेश दे रहा है। माया की निवृत्ति मायापति की शरण जाने पर ही संभव है। माया के प्रकरण में अद्वैतदर्शन में रज्जु-सर्प, रजत-सीपी, खरगोश के सिंग बन्ध्यापुत्र आकाश कुसुम आदि दृष्टान्तों का सहारा लिया है। मानसकार ने तो इन सभी दृष्टान्तों का उपयोग सहज भाव से किया है। यथा—

(क) रजत सीय महुं भास जिमि, जथा भानुकर बारि।
जदपि मृषा तिहुं काल सोइ, भ्रम न सकइ कोउ टारि॥[1]

(ख) झूठहु सत्य जाहि बिनु जाने।
जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने॥[2]

(ग) कमठ पीठ जामहिं बरु बारा।
बन्ध्या सुत बरु काहुहि मारा॥
फूलहि नभ बरु बहु विधि फूला।
जीव न लह सुख हरि प्रति कूला॥

1. मानस—1.117
2. मानस—1.112.1

तृषा जाइ बरु मृग जल पाना।
बरु जामहिं सस सीस विषाना। ।।[1]

माया भक्ति बन्धन से मुक्त करने वाली है। माया प्रबल और प्रचण्ड है। किन्तु जिसने भक्ति का सहारा ले लिया है वह माया फंदे से मुक्त हो जाता है—

देखी माया सब बिधि गाढ़ी।
अति सभीत जोरे कर ठाढ़ी ।।

मुक्ति और भक्ति

चार पुरुषार्थों में मोक्ष को परम पुरुषार्थ माना गया है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार दुःख की आत्यान्तिक निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति ही मोक्ष है। यह ब्रह्म की स्वरूपभूत स्थिति है।[2] मोक्ष कोई अलभ्य लाभ नहीं बल्कि आत्मा का स्वरूप है। गोस्वामी जी ने मोक्ष की स्थिति का वर्णन कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। अहं ब्रह्मास्मि या सोऽहं की स्थिति को वे मोक्ष मानते हैं। ज्ञान की चरम स्थिति जहां अविद्या का सर्वथा बाध हो जाता है। ज्ञान के परम प्रकाश में जब जीव अविद्या की ग्रन्थि से सर्वथा मुक्त हो जाता है, गोस्वामीजी के अनुसार वही मोक्ष है। उस स्थिति में जीव कृतार्थ हो जाता है। उत्तरकाण्ड के 'ज्ञान-दीपक' प्रकरण में वे इस स्थिति का निरूपण करते हैं—

एहि विधि लेसै दीप तेज राशि बिग्यानमय।
जातहिं जासु समीप जरहिं मदादिक सलभसब ।।
सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा।
दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा ।।
आतम अनुभव सुख सो प्रकासा।
तब भव मूल भेद भ्रम नासा ।।
प्रबल अविद्या कर परिवारा।
मोह आदि तम मिटइ अपारा ।।
तब सोइ बुद्धि पाइ उजियारा।
उर गृह बैठि ग्रंथि निरुआरा ।।
छोरन ग्रंथि पाव जौं सोई।
तब यह जीव कृतारथ होई ।।[3]

मुक्ति की दो अवस्थाएं हैं—जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति। शंकर के शिष्य मंडन मिश्र जीवनमुक्ति को मुक्ति नहीं मानते क्योंकि उसमें अविद्या लेष मात्रा में विद्यमान रहती है। अतः जीवन मुक्ति सिद्धावस्था नहीं अपितु साधनावस्था है। वे विदेहमुक्ति को ही तत्वतः मुक्ति मानते हैं। किन्तु परवर्ती सुरेश्वराचार्य आदि अद्वैतवादी विचारक जीवन्मुक्ति को स्वीकार करते हैं। मुक्ति का एक मात्र साधन ज्ञान है। आत्मज्ञान होते ही हृदय की सारी ग्रन्थियां खुल जाती हैं और पाप कर्मों का नाश हो जाता है। मुण्डक-उपनिषद में इस स्थिति का बड़ा सुस्पष्ट वर्णन किया गया है—

1. मानस—7.122.15-17
2. डॉ॰ अभेदानन्द—अद्वैत वेदान्त—यतीन्द्रकुलतिलक—पृ॰ 271
3. मानस—7.117/118.1-6

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वं संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ — मुण्डक-2.2.8

शंकराचार्य स्वीकार करते हैं कि आत्मज्ञान से ही अविद्या की निवृत्ति होती है। उसके लिए तत्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, अयं आत्मा ब्रह्म आदि महावाक्यों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन अनिवार्य है। मोक्ष के लिए साधन चतुष्टय सम्पन्नता अनिवार्य है।[1] यही अद्वैत का परम पुरुषार्थ है, यही अमृतत्व है और यही ब्राह्मी स्थिति है। इसीके लिए ब्रह्म जिज्ञासा की जाती है।

महाकवि तुलसीदास ने 'ज्ञान दीपक' प्रकरण में मोक्ष की स्थिति और साधन का वर्णन बड़े विस्तार से रूपकात्मक शैली में किया है। शंकराचार्य ने मोक्ष को कैवल्यमुक्ति के नाम से भी अभिहित किया है। 'ज्ञान दीपक' प्रकरण में कैवल्य मोक्ष की चर्चा गोस्वामीजी इस प्रकार करते हैं—

ग्यान पंथ कृपान कै धारा।
परत खगेस होइ नहि बारा॥
जौं निर्बिघ्न पंथ निर्बहई।
सो कैवल्य परम पद लहई॥
अति दुर्लभ कैवल्य परम पद।
संत पुरान निगम आगम बद॥[2]

'ज्ञान दीपक' प्रकरण में गोस्वामीजी शंकराचार्य के मोक्ष सिद्धान्त को स्पष्टतः स्वीकार करते हैं। अद्वैत दर्शन में मोक्ष अन्तिम पुरुषार्थ या परमपद हे किन्तु गोस्वामीजी भक्ति को मोक्ष से भी दुर्लभ मानते हैं। ज्ञान के लिए साधन चतुष्टय सम्पन्नता अनिवार्य होने के कारण यह कठिन है। भक्ति के लिए ऐसी कोई शर्त नहीं है। ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया लम्बी और जटिल है। ज्ञान मार्ग की यात्रा तलवार की धार पर चलने जैसी है, किन्तु भक्ति राजमार्ग की तरह प्रशस्त और सुगम है। परम अकिंचन भी भक्ति मार्ग का अधिकारी है। ज्ञान दीपक की तरह और भक्तिमणि की तरह है। ज्ञान का दीप जलाने के लिए कई प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता है किन्तु भक्ति तो स्वयंप्रमाण की तरह है। उसे दीया, घृत और वत्ती की सहायता की भी अपेक्षा नहीं है। 'ज्ञानदीपक' और भक्तिमणि प्रकरण में दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए गोस्वामीजी ने भक्ति की श्रेष्ठता बतलायी है। हालांकि फल प्राप्ति की दृष्टि में ज्ञान भक्ति में तत्वतः कोई भेद नहीं है। उत्तर काण्ड में रूपक के माध्यम से महाकवि ने दोनों का अन्तर स्पष्ट किया है—

कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन बिबेक।
होइ घुनाक्षर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक॥
ग्यान पंथ कृपान कै धारा।
परत खगेस होइ नहिं बारा॥
जो निर्विघ्न पंथ निर्बहई।
सो कैवल्य परम पद लहई॥[3]

1. (क) नित्य अनित्य वस्तु विवेक, (ख) इहामूत्रफलभोग विराग, (ग) शमादिषट् सम्पत्ति, मुमुक्षत्व—ये ही साधन चतुष्टय है।
2. मानस—7.119.1-3
3. मानस—7.119.1-3

ज्ञान में जहां इतनी कठोर साधना के पश्चात् कैवल्यपद की प्राप्ति होती है वहां भक्ति में मोक्ष-सुख बिना इच्छा किये स्वतः प्राप्त होता है—

राम भजत सोइ मुकुति गोसाई।
अनइच्छित आवइ बरिआई ॥
जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई।
कोटि भांति कोउ करै उपाई ॥
तथा मोक्ष सुख सुनु खगराई।
रहि न सकइ हरि भगति बिहाई ॥[1]

भक्तिमणि स्वयंप्रभा है, उसे किसी अन्य साधना की अपेक्षा नहीं है। मोहादि उसे बुझा नहीं सकते तथा लोभादि का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। भक्तिमणि के आलोक में अविद्या का तम मिट जाता है। जिसके हृदय में भक्ति की जोत जलती है उसके पास खलकामादि का प्रवेश नहीं है—

राम भगति चिन्ता मनि सुन्दर।
बसइ गरुड़ जाके उर अन्तर ॥
परम प्रकास रूप दिन राती।
नहिं कछु चहिअ दिया घृत बाती ॥
मोह दरिद्र निकट नहिं आवा।
लोभ वात नहिं ताहि बुझावा ॥
प्रबल अविद्या तम मिट जाई।
हारहिं सकल सलभ समुदाई ॥

× × × ×

ब्यापहि मानस रोग न भारी।
जिन्ह के बस सब जीव दुखारी ॥
राम भगति मनि उर बस जाके।
दुख लवलेस न सपनेहु ताके ॥[2]

भक्ति की अखण्ड महिमा निरूपित करने के पश्चात् भी गोस्वामीजी ज्ञान की उपेक्षा नहीं करते। उनके अनुसार चार प्रकार के भक्त हैं, किन्तु ज्ञानी भक्त राम को विशेष प्रिय हैं—

राम भगत जग चारि प्रकारा।
सुकृती चारिउ अनघ उदारा ॥
चहू चतुर कहुं नाम अधारा।
ज्ञानी प्रभुहि बिसेषि पियारा ॥

गीता में भी चार प्रकार के भक्तों की कोटियां निर्धारित की गयी हैं। किन्तु ज्ञानी तो भगवान का हृदय है। ज्ञानी भक्त उन्हें अतिप्रिय है—

1. मानस—7.119.4-6
2. मानस—7.120.2-9

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रिय ॥

गीता

भक्ति और ज्ञान को लेकर लोगों में नाना प्रकार का भ्रम और मतभेद भी है। शास्त्रों में दोनों की चर्चा विस्तार के साथ की गयी है। किन्तु जिन लोगों ने शास्त्रों का एकांगी अध्ययन किया है वे शास्त्रों का मर्म समझ नहीं पाते और अपनी रुचि के अनुसार किसी एक के प्रति विशेष आग्रह रखने लगते हैं। किन्तु गोस्वामीजी ने ज्ञान और भक्ति में समन्वय की चेष्टा की है । ज्ञान और भक्ति दोनों ही भवखेद नाश में समर्थ हैं—

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा ।
उभय हरहिं भव संभव खेदा ॥ (मानस 7.114)

ज्ञान का काल अविद्या की निवृत्ति है। आत्मज्ञान दीप के परम में अविद्या का तम स्वतः विनष्ट हो जाता है—

सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा ।
दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा ॥
आतम अनुभव सुख सुप्रकाला ।
तब भव मूल अविद्या नाला ॥
प्रबल अविद्या कर परिवारा ।
मोह आदि तम मिटइ अपारा ॥ (मानस 7.118.1-3)

जो फल ज्ञान का है वही फल भक्ति का है। भक्ति के उदय के पश्चात् भी अविद्या की समाप्ति और संशय की निवृत्ति हो जाती है—

भगति करत बिनु जतन प्रयासा ।
संसय सकल अविद्या नासा ॥

भगवान का हृदय है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियोहि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ गीता—7.16-17

जीव

अद्वैत वेदान्त में जीव वास्तविक अर्थ में अविद्या कल्पित है। अविद्या में प्रतिबिम्ब ही जीव है। अप्पय दीक्षित ने 'कार्योपाधिरयि जीवः कहा है।[1] जिस प्रकार नाना जलपात्रों में एक ही सूर्य अलग-अलग प्रतिबिम्बित होता है उसी प्रकार शुद्धचैतन्य अंतःकरण में प्रतिबिम्बित होने पर जीव

1. सिद्धान्तलेश संग्रह—पृ० 85

भाव को प्राप्त होता है। जिस प्रकार महाकाश घटादि उपाधियों से परिच्छिन्न होकर घटाकाश और महाकाश के रूप में भिन्न-भिन्न प्रतीत होने लगता है उसी प्रकार विशुद्ध और अपरिसीम चैतन्य उपाधियों के कारण जीव के रूप में प्रतीत होता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार शुद्धचैतन्य ही अहं अभिमानी जीव के रूप में प्रतीत होता है।[1] गोस्वामीजी ने अद्वैतवादियों के इस सिद्धान्त को इस रूप में स्वीकार किया है—

> ईस्वर अंस जीव अबिनासी।
> चेतन अमल सहज सुख रासी ।।[2]

जीव ईश्वर का ही अंश है किन्तु माया के अधीन होने के कारण वह सुख-दुख का भागी बनता है। अविद्या माया के मोहांधकार में उलझने के कारण वह अज्ञानजनित ग्रंथियों का भेदन नहीं कर पाता है। जीव असमर्थ है। सर्वसमर्थ ईश्वर जब उस पर कृपा करता है तो देहमुक्त हो जाता है—

> जीव हृदय तम कोह बिसेषी।
> ग्रन्थि छूट किमि परइ न देखी ।।
> अस संजोग ईस जब करई।
> तबहुं कदाचित सो निरुअरई ।। —मा० 7.117,7-8

माया के प्रतिकूल और ईश्वर के अनुकूल होने पर जीव सुख की प्राप्ति करता है। ईश्वर के प्रतिकूल होने पर जीव स्वप्न में भी सुख नहीं पा सकता—

> फूलहि नभ बरु बहुबिधि फूला।
> जीव न यह सुख हरि प्रतिकूला ।।
> अंधकार बरु रबिहि नसावें।
> राम बिमुख न जीव सुख पावै ।।

ईश्वर ज्ञानस्वरूप है अतः वह मायापति है किन्तु जीव अज्ञान के कारण माया के अधीन है। परमात्मा सर्वत्र स्वतंत्र है लेकिन जीवात्मा माया के वशीभूत है। गोस्वामीजी उत्तरकाण्ड में लिखते हैं—

> ग्यान अखंड एक सीतावर।
> माया बस्य जीव सचराचर ।।
> जौं सबके रह ग्यान एकरस।
> ईश्वर जीवहि भेद कहहु कस ।।
> माया बस्य जीव अभिमानी।
> ईस बस्य माया गुन खानी ।।
> परबस जीव स्वबस भगवंता।
> जीव अनेक एक श्रीकंता ।। (मा० 7.78.4-7)

माया के फेरे में पड़कर यह अविनाशी जीव चौरासी लाख योनियों में नाना प्रकार का दुःख

1. डॉ० अभेदानन्द—अद्वैतवेदान्त (यतीन्द्रतिलक पृ० 218)
2. मानस—7.117.2

उठाता है। जीवात्मा काल, कर्म, गुण और स्वभाव के अधीन होकर सुख-दुख का भागी बनता है। परमात्मा की कृपा होने पर यह माया बन्धन से मुक्त होता है—

आकर चारि लच्छ चौरासी।
जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर फेरा।
काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कवहुंक करि करुना य देही।
देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

इस प्रकार जीवात्मा परमात्मा का अंश होने पर भी माया उनपहित होने के कारण नाना प्रकार का दुःख उठाता है। यद्यपि यह नित्य शुद्ध-बुध और आनन्दरूप है, फिर भी माया के संस्पर्श से सुख-दुख का कर्ताभरण बनता है। वस्तुतः मायाजीव में है नहीं किन्तु यह माया को आरोपित कर लेता है। शंकराचार्य के अनुसार तो यह जीव भी नित्यमुक्त आत्मा ही है। वह सच्चिदानंद रूप और मुक्तिबन्धन विहीन साक्षात् शिव तत्व ही है—

अहं निर्विकल्पो निराकाररूपो,
विभुर्व्याप सर्वत्र सर्वेन्द्रियाणि।
सदा मे समत्वं न मुक्तिर्न बन्धः,
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥[1]

तारा को उपदेश देते हुए तुलसी के राम ने भी जीव को नित्य और अविनाशी कहा है—

प्रगट सो तनु तव आगे सोवा।
जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥[2]

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि तुलसी साहित्य पर अद्वैतवेदान्त का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। किन्तु सत्य तो यह है कि गोस्वामीजी किसी दर्शन या सम्प्रदाय विशेष के प्रचारक या चारण नहीं होकर स्वतंत्र चिन्तक हैं। उनके निम्नलिखित पंक्तियां इसी बात की ओर संकेत करती हैं—

कोउ कह सत्य झूठ कोउ जाने,
युगल प्रबल करि माने।
तुलसी जो परिहरै,
तीनिभ्रम सो आया पहिचानै॥

1. शंकराचार्य विरचित—आत्मषटकम्—6
2. मानस—4.11.5

वेदान्त में मिथ्यात्व निरूपण

श्रीमत्परमहंस स्वामी योगेन्द्रानंद गिरि जी महाराज
मंगलाश्रम, कनखल (हरिद्वार)

उपनिषद् के अनुसार वेदांतियों के द्वारा माने हुए इसमिथ्यात्व के संबन्ध में भी लोग तरह-तरह की शंका किया करते हैं। कुछ लोग तो यहां तक कह डालते हैं कि वेदान्त के उपदेशक लोग जगद् को तीनों कालों में नहीं और मिथ्या हैं। कह कर लोगों को ठगते हैं, अपने आप तो अच्छे खाकर, अच्छे वस्त्र पहनकर रहते हैं, मौज उड़ाते हैं, भले यह अच्छी तरह से दिखाई देने वाला जगत् तीनों कालों में नहीं है ऐसा कैसे कह सकते हैं। आगे पीछे भले न हो, परन्तु वर्तमान समय में तो जगत् का अस्तित्व मानना ही होगा। यदि नहीं मानते हैं तो उपदेशक कहां स्थित होकर बोल रहे हैं, क्यों खा रहे, है क्यों पी रहे हैं, क्यों सब कुछ कर रहे हैं ; वास्तव में ये सब उपदेशक नहीं हैं। अतः उन लोगों से दूर में ही रहना चाहिए- इत्यादि-इत्यादि।

इस प्रकार की शंका के निराकरण करने के लिए प्रसंगवश यहां पर वेदान्तियों के अभिप्राय से मिथ्यात्व का स्वरूप वचा है इस विषय में विचार किया जायेगा। वास्तव में जो इस प्रकार शंका करता है उसने वेदान्त के सिद्धान्त को कुछ भी नहीं जाना है बिना जाने ही अथवा जानने की इच्छा किये बिना ही अपने मन के कलुषित उदार निकाला है। मननशील अधिकारी लोगों के लिए तो यह जगत् का मिथ्यात्व" प्रत्यक्षरूप से सिद्ध हो सकता है। मैं आगे मिथ्यात्व को प्रत्यक्ष सिद्ध करने के लिए युक्ति कहूंगा, परन्तु उसके पहले उन युक्तियों के सहायक कुछ आवश्यक बातें कहूंगा, इसके उपर भी अवश्य ध्यान देवें लोगों के व्यवहार इस संसार में तीन दृष्टिकोणों के अनुसार होते हैं। पहला है प्रतिभाषिक दृष्टिकोण, इस दृष्टिकोण से—रज्जु भी यह सर्प है इत्यादि भ्रम का व्यवहार होता है। दूसरा है व्यवहारिक दृष्टिकोण, इस दृष्टिकोण से लौकिक आचार विचार खाना-पीना, चलना-फिरना आदि जो कुछ भी प्रचलित है, वे सब व्यवहार हो जाते हैं। तीसरा है पारमार्थिक दृष्टिकोण, इस दृष्टिकोण से किसी एक वस्तु के वास्तविक स्वरूप अथवा तत्व को जानने के व्यवहार होता है। व्यावहारिक दृष्टिकोण को रखकर कोई भी आदमी किसी भी वस्तु का तत्व नहीं जान सकते है। तत्व जानने के लिए तो पारमार्थिक दृष्टिकोण रखना ही होगा जैसे वायु और जल के तत्व अर्थात् कारण को जानना हो तो व्यवहारिक वायु और जल मात्र को देखने से ही जाना नहीं जा सकता है। उसके लिए पारमार्थिक दृष्टिकोण रखकर खोज करनी पड़ेगी।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने परिश्रम से खोजकर पता लगाया है कि यह लोक व्यवहार सिद्ध वायु आक्सीजन गैस (Oxygen gas) और नाइट्रोजन गैस (Nitrogen gas) दोनों मिल कर बनी हुई वायु स्वतः मूलतत्व (Element) नहीं है, परन्तु कार्य है। वायु का मूल तत्व आक्सिजन और नाईट्रोजन

है। वायु में 29 प्रतिशत आक्सीजन और 79 उन्नासी प्रतिशत नाईट्रोजन है। इन दोनों तत्वों के अतिरिक्त वायु नाम के कोई पदार्थ नहीं है। आधुनिक वैज्ञानिक लोगों के द्वारा पता लगाये हुए इन तत्वों के विषय में भी यहां पर कुछ विस्तार से कहना कोई असंगत नहीं होगा क्योंकि हमारे पूर्वज महर्षियों ने हजारों साल से पहले आकाशतत्व, वायु तत्व आदि पांच भूतों के पांचतन्मात्र (Element) का पता लगाया था उससे आधुनिक आक्सीजन आदि मूल यत्वों से कितनी मान्य ही जाता है यह बात अच्छी तरह से मालूम हो जायगी। आक्सिजन रूप-रंग से रहित, स्वाद रहित तथा गन्ध रहित एक तत्व है, परन्तु उसमें थोड़ी बहुत दाहशक्ति वर्तमान है अर्थात् दाह होने में निर्मित बन जाता है। इसके विपरीत नाईट्रोजन दाह होने नहीं देता, जली हुई मोमबती नाईट्रोजन गैस के बीच रखेगे तो उस समय तुरन्त बुझ जायेगी। यह भी आक्सीजन के जैसे रूप-रंग गन्ध से रहित है। तीसरा तत्व है हाईड्रोजन (Hydrogen) यह अग्नितत्व है। इसमें इतनी दाहशक्ति है कि फौरन ही अपने आप जल उठेगा इसलिए इसका प्रयोग अत्यन्त सावधानी से किया जाता है यह तत्व सबसे हलका तत्व है । यह हाईड्रोजन जलकर आक्सिजन का साथ मिल कर पानी बन जाता है।

हम व्यवहार में जो जल का प्रयोग करते रहते हैं, वह जल आक्सीजन और हाईड्रोजन के अतिरिक्त और कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। इस कारण आधुनिक वैज्ञानिक लोग जल को आक्सिजन और हाईड्रोजन ही समझते हैं स्वतन्त्र कोई जलतन्त्र नहीं समझते। एतावता इन वैज्ञानिकों को पागल कहा नहीं जा सकता है, बल्कि बुद्धिमान ही कहा जाता है, क्योंकि इन लोगों ने परमार्थिक दृष्टिकोण से जल को देखा है। उस दृष्टिकोण से आक्सिजन और हाईड्रोजन से अतिरिक्त जल का अत्यन्त अभाव है। **शुद्ध जल में एक नव अंश हाईड्रोजन और आठ अंश आक्सिजन रहता है ।**

इस प्रकार वेदान्तियों ने इस जगत् के मूल तत्व को देखकर अथवा समझकर परमार्थिक दृष्टिकोण से वही मूलतत्व ही वास्तविक है, जो देखन में आ रहा है, जगत् तो मिथ्या ही है तीनों काणों में है ही नहीं ऐसा कहा है तो उन कहने वालों ने कौन सा अपराध किया है, जिससे उनको गाली जैसी निन्दा सुनना पड़े। इसलिए यह सदा ही समझना चाहिए कि यह विचार परमार्थिक दृष्टिकोण से कहे और ग्रहण करने वाले व्यावहारिक दृष्टिकोण से ग्रहण करें तो सब बातें उल्टी (विपरीत) हो जायेगी। इसलिए ग्रहण करने वालों को भी चाहिए कि वे भी विचार से पारामार्थिक दृष्टिकोण अपनाये। अब प्रसङ्ग के अनुसार मिथ्यात्व के विषय में पारामर्थिक दृष्टिकोण से विचार किया जायेगा। पहले मिथ्यात्व का स्वरूप क्या है—यह समझना चाहिये। शास्त्रकारों ने कहा है—"स्वाश्रयत्वेनाऽभिमतनिष्ठाऽत्यन्ताऽभाव—प्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्" अपने आश्रयपना से अभिमत अर्थात् अपने उपादान कारण रूप से अभिमत पदार्थ में अपने आपका तीनों कणों में अत्यन्ता भाव हो जाय तो वह मिथ्या कहलाता है। इस मिथ्यात्व के लक्ष्य को पहले प्रतिभासिक पदार्थों में घटाये। जैसे—प्रतिभासिक सूर्य का अपने आश्रय रूप से अभिमत पदार्थ रज्जु हुआ, उस में सर्प का तीनों कोणों में अत्यन्त अभाव है, क्योंकि जिस समय सर्प प्रतीत होता है, उस समय में भी वास्तव में सर्प नहीं, अत: अत्यन्ताऽभाव सिद्ध होता है, इसलिए सर्प मिथ्या हुआ। अब इस मिथ्यात्व के लक्षण को व्यावहारिक पदार्थों में भी घटाये। जैसे—लोक में प्रसिद्ध और प्रतिदिन प्रत्येक मनुष्यों ने व्यवहार में आने वाला वस्त्र को ही लीजिये। इस वस्तु के आश्रय अर्थात् उपादान रूप से अभिमत तन्तु पदार्थ है क्योंकि तन्तुओं के आधार पर वस्त्र की प्रतीति होती है।

अब बताये कि यह वस्तु तन्तुओं से भिन्न कोई पदार्थ है? भले ही आप व्यवहार में उसको वस्तु कहें परन्तु तत्वविचार की दृष्टि से देखकर जाय तो वस्तु नाम वाला स्वतन्त्र

पदार्थ नहीं मिलेगा। उन तन्तुओं के आतान वितान रूप आकार विशेष मात्त को ही वस्तु कहा जाता है। वास्तव में तन्तु ही तन्तु है, वस्तु है ही नहीं। वस्तु की उत्पत्ति के पहले वस्तु नहीं था, तन्तु ही था, उत्पत्ति होने के बाद वर्तमान समय में भी वस्तु नहीं है क्योंकि गौर से उसमें देखने पर जिस अंश में देखो, उस अंश में मिलाये हुए तंतुओं के अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता, यदि दिखाई पड़ता है और तन्तुओं से अतिरिक्त कोई वस्तु नाम वाला पदार्थ है तो हमें भी तन्तुओं से भिन्न वह वस्तु जरा देखा दीजिए। इसलिए आपको कहना ही पड़ेगा वर्तमान दशा में भी तन्तु ही है, वस्तु नहीं है। नष्ट होने के बाद भविष्य में वस्तु का न होना तो प्रसिद्ध ही है। तब तो इस रीति से भूत-वर्तमान तीनों कालों में वस्तु नहीं है—यह सिद्ध हुआ; इसलिए वस्तु मिथ्या हुआ। इस प्रकार पारमार्थिक दृष्टि से वस्तु का मिथ्यात्व साक्षात प्रत्यक्ष सिद्ध होता है। इस प्रत्यक्ष सिद्ध मिथ्यात्व को कोई भी इन्कार नहीं कर सकता है। अर्थात् तीनों कारणों में वस्तु का अत्यन्त 'अभाव किया जा सकता है। इसका मतलब यह हुआ कि अपनी दृष्टि में भी वस्तु तीनों कालों में नहीं है, जो कुछ है, वह तन्तु ही है, वस्तु तो मिथ्या ही है। तब तो आपको वस्तु का प्रयोग नहीं करना चाहिये था, क्योंकि आपकी दृष्टि में वस्तु तीनों कालों में नहीं है। जो तीनों कालों में नहीं है, उसका प्रयोग कैसे किया जा सकता है? यह है—माया का खेल। यह अनिवचनीय माया अत्यन्त विचित्र है। यह माया असम्भव को सम्भव बनाकर दिखाती है। असम्भव को भी सम्भव बनाकर देखना ही माया का महात्व है। यदि वह ऐसा कर नहीं पाती है तो मायाहीन कहलायेगी। अभी तो वेदान्तियों के ऊपर कोसने वालों का यथोचित उत्तर मिल गया। जैसे वस्तु को परामार्थिक दृष्टि-कोण से मिथ्या समझने वाले और बतलाने वाले आप व्यवहार दशा में वस्त्रों का प्रयोग करते हैं, वैसे ही वेदांति लोग परामार्थिक दृष्टिकोण से जगत् को मिथ्या बताते हैं, व्यवहार दशा में जैसे आप वैसे वे भी खाना-पीना आदि सब कुछ करेंगे। यदि वस्तु को मिथ्या समझकर प्रयोग करने वाले आप में कोई आपराध नहीं है तो जगत् को मिथ्या समझकर व्यवहार करने वाले वेदान्तियों ने कौन-सा अपराध किया है, जिससे उनकी पेट भर निन्दा की जाय। अस्तु यह प्रसङ्गवश योंहि कह गया; अब प्राकृत मिथ्यात्व के विषय में अच्छी तरह से विचार कर लिया जाए। आप लोगों ने मिथ्यात्व भी प्रत्यक्ष कर लिया है। वस्तु में मिथ्यात्व किस अंश में है इसको भी समझ लीजिये। पहले कह चुके है कि तन्तुओं का आतान वितान रूप आकार विशेष तन्तु ही वस्तु है। इसलिये यह कहना होगा कि उन तन्तुओं के आकार विशेष का नाम वस्तु है और उन तन्तुओं में आरोपित वही आका विशेष वस्तु का स्वरूप है। ये नाम और रूप तन्तुओं में ही कल्पित है, अतः तीनों कालों में नहीं, इस कारण ये दोनों मिथ्या हैं। आरोहित इन दोनों के आधारभूत तन्तु वस्तु की अपेक्षा सत्य है क्योंकि कार्य सदा असत्य और आरोपित होता है, कारण सत्य होता है। भगवती श्रुतिदेवी भी कहती हैं—यथा-सोम्य ! एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञान स्यात् **वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।**' छ्य. 6।1 4।। हे प्रियदर्शन ! लोक में जिस प्रकार—एकेन मृत्पिण्डेन=घटशराबादि यों के कारण भूत एक ही मृत्पिण्ड के ज्ञान होने पर उसका विकारजात—सर्वं मृण्मयं=सम्पूर्ण मृत्तिका का कार्य समूह-विज्ञातं स्यात्=जान लिया जाता है। इस यन्त्र के भाष्य करते समर्थ भाष्यकार इसमें शंका उठाते है—कथं **मृत्पिण्डे** कारणे विज्ञाते कार्यमन्य द्विज्ञातं स्यात्? अर्थात् मृत्तिकापिण्डरूप कारण का ज्ञान होने पर अन्य कार्य वर्ग का ज्ञान कैसे हो सकता है?

इसका उत्तर देते है—नैष दोषः, कारणेनाऽनन्यत्वात्कार्यस्य। अर्थात् यह कोई दोष नही है,

क्योंकि कार्य अपने कारण से अभिन्न होता है। अन्य के ज्ञान से अन्य का ज्ञान नहीं होता है, जब कारण से कार्य भिन्न होता है, किन्तु कार्य कारण से भिन्न नहीं है, अतः कारण मृत्तिकर पिण्ड जाना जायेगा तो कार्य घटशरावादि भी तत्वतः जाना ही जायेगा। पुनः इसमें शंका होती है—फिर तो लोक में ऐसा क्यों कहा जाता है कि यह कारण है, और यह इसका कार्य है। यदि एक है तो इस प्रकार व्यवहार होना नहीं चाहिए। इस शंकर के उत्तर में प्रति कहती है—वाचारम्मणं विकारो नाम धेय मृत्तिकेत्येव सत्यय—यह कार्य तो वाणीमात्र में अवलम्बित है, केवल नाम मात्र है, कार्य नाम वाला वास्तविक कोई वस्त्र नहीं है, वास्तविक तो मृत्तिका ही है—अतः कारण भूत मृत्तिका ही सत्य है। इसी से यह निविाद सिद्ध हुआ कि कार्य का वास्तविक स्वरूप कारण ही है। जिस कार्य का स्वरूप व्यवहार दशाये देख रहे हैं, वह कारण में ही आरोपित स्वरूप है, अतः मिथ्या है और तीनों कारणों में नहीं हैं। इसलिए आरोपित कार्य स्वरूप जानने पर कारण जाना नहीं जाता है क्योंकि असत्य के ज्ञान से सत्य का ज्ञान नहीं होता है जैसे कि असत्य सर्प के ज्ञान से सत्य रज्जु का ज्ञान नहीं होता है। यदि सत्य रजु का ज्ञान हो जाय तो सर्प के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है।

इसके अतिरिक्त यदि कार्य के ज्ञान के कारण का ज्ञान अनिवार्य रूप से होना मान लिया जाय तो आधुनिक बड़ी-बड़ी प्रयोगशालाएं प्रायः व्यर्थ हो जायेंगी, मूलतत्त्व का अनुसन्धान करना नहीं पड़ेगा, क्योंकि कार्य का ज्ञान तो प्रायः सबको हो ही जाता है। इसलिए वास्तविक ज्ञान के लिये पारमार्थिक दृष्टिकोण अपनाना तो अत्यन्त स्थूलरूप है, उसी से किसी भी पदार्थ का तत्वज्ञान नहीं हो सकता है। अतः हर एक पदार्थ को सदा ही व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखना नहीं चाहिए। जो इसी दृष्टि से देखता रहेगा, वह सदा ही धोखा खाता रहेगा, उनको कदापि तत्त्व का ज्ञान नहीं हो सकेगा। इसलिए तत्त्व की दृष्टि से देखने पर घटादि व्यावहारिक सब पदार्थ मिथ्या ही मालूम होगा। विवेकी लाग इन घटादियों की स्वतन्त्र सत्ता को कभी भी स्वीकृत नहीं करेंगे क्योंकि कारण ही सत्ता के अतिरिक्त कार्य की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नहीं होती। सत्ता का अर्थ है अस्तित्व अर्थात् होनापन। जिसका होनापन ही नहीं वह किसी काल में है ऐसा कहना ही विरोध होता है। अतः कार्य का तीनों कारणों में अभाव तो स्वतः सिद्ध होता है, उसको सिद्ध करने की भी आवश्यकता नहीं है। हां, कार्य में स्वतन्त्र सत्ता नहीं है—इस बात को तो सिद्ध करने की आवश्यकता है। देखिये, कार्य में स्वतन्त्र सत्ता नहीं है—इस बात को मैं सिद्ध करता हूं। लोक में वैसा ही देखने में आता है कि कार्य कारण के बिना कभी भी नहीं होता है अर्थात् कारण से ही कार्य उत्पन्न होता है, कारण अभाव होने पर कार्य उत्पन्न होता है और इसके बिपरीत कारण कार्य के बिना भी स्वतन्त्र रूप से रहता है। जैसेकि तन्तु वस्त्ररूप कार्य के बिना भी स्वतन्त्र रहता है, परन्तु वस्त्ररूप कार्य अपने कारण तन्तु के बिना क्षणभर भी नहीं रह सकता है। इसी से सिद्ध होता है कि तन्तु की स्वतन्त्र सत्ता है, परन्तु वस्त्र की स्वतन्त्रत सत्ता नहीं है। यदि तन्तु की सत्ता के अतिरिक्त वस्त्र की भी स्वतन्त्र सत्ता होती है तो तन्तु के बिना भी वस्त्र स्वतन्त्र रूप से रहना चाहिए था, जैसे घर की सत्ता तन्तु की सत्ता से भिन्न स्वतन्त्र होने के कारण। वह घर तन्तु के बिना स्वतन्त्र रहता है। परन्तु वह ऐसा नहीं कर सकता है। इसी से मालूम होता है कि तन्तु की सत्ता से भिन्न वस्त्र की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। तन्तु की सत्ता में ही अवलम्बित होकर वस्त्र केवल प्रतीत मात्र मात्र होता है, वास्तव में तीनों कालों में नहीं है। इसलिए वस्त्र मिथ्या है। यहां पर मिथ्या का अर्थ न समझने के कारण से भी लोगों की उट्-पटांग शंका उठती है। मिथ्या का अर्थ वे लोग समझते हैं कि अत्यन्त असत्, क्योंकि अत्यन्त असत् भी तीनों कालों में नहीं

होता है—जैसे बन्ध्या या पुत्र, खरगोश का शृङ्ग, आकाश पुष्प आदि। परन्तु मिथ्या वस्तु बन्ध्या पुत्र आदि के जैसे अत्यन्त असत् नहीं है, उसी से भिन्न वस्तु है, क्योंकि मिथ्या वस्तु प्रतीत होती है। अर्थात् देखने में आती है। अत्यन्त असत् बन्ध्यापुत्र आदि तो कभी भी देखने में नहीं आता है। शास्त्रों में उनको मिथ्या नहीं कहते, परन्तु तुच्छकालीन, निरूपाख्यादि शब्दों से कहते हैं। सत् और असत् से विलक्षण प्रतीत होने वाली वस्तु को ही शास्त्र में मिथ्या कहते हैं। वह मिथ्या वस्तु सत् नहीं, क्योंकि उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं, असत् भी नहीं, क्योंकि वह प्रतीत होती है; परन्तु असत् वस्तु प्रतीत नहीं होती है। इसलिए मिथ्या वस्तु सत् और असत् से विलक्षण एक अनिर्वचनीय पदार्थ है; जो प्रतीत होने पर भी वास्तव में तीनों कालों में नहीं है, और जब तक प्रतीत होता है, तब तक कार्य सम्पादन करने की क्षमता भी रखता है।

अब आप लोगों ने मिथ्यात्व का स्वरूप समझ लिया होगा और वस्त्र, घटशरावादि व्यावहारिक पदार्थ भी किस प्रकार मिथ्या सिद्ध होता है—इस बात को भी समझ लिया होगा। आश्रय अथवा कारण का स्वरूप ही आरोपित पदार्थ का वास्तविक स्वरूप है, उसी से भिन्न कार्यरूप से प्रतीयमान स्वरूप तो आरोपित हैं। इसी से यह नियम सिद्ध हुआ कि जो कार्य होता है, वह कारण में आरोपित मात्र होने से मिथ्या है। इस नियम के अनुसार यह दृश्यमान प्रपञ्च भी कार्य होने से अपने कारणों में आरोपित मात्र है; अतः मिथ्या है, अपने कारण से अतिरिक्त होकर वस्तुतः तीनों कालों में उसका अस्तित्व नहीं है—यह सिद्ध हुआ। इस प्रपञ्च का परिणामि उपादान कारण परमेश्वरी माया शक्ति ही—यह बात पहले कही जा चुकी है। अतः यह प्रपञ्च माया के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। माया भी परमेश्वर में ही आश्रित है। इसलिए उसकी सत्ता भी स्वतन्त्र नहीं, अतः मिथ्या है। उसका आश्रयभूय शुद्धचैतन्य परमब्रह्म किसी में आश्रित नहीं रहता है, बल्कि सबका आश्रय है। अतः वह मिथ्या नहीं, तीनों कालों में एक स्वरूप में ही कुटस्थ होकर रहता है, कदापि बांछित नहीं होता। वही वास्तविक है, सबको सत्ता-स्फुर्ति देने वाला है, वही एकभव अद्वितीय होकर सबका परम कारण है। इसलिए श्रुतिदेवी कहती है—"**तस्माद एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः वायोरग्निः, अग्नेरापः पृथिवी, पृथिव्यां औषधयः, औषधीभ्योऽन्नम्; अन्नात्पुरुषः** (तै० ब्र० वल्ली-1 य अनुवाक)। लोक में प्रसिद्ध इस जीव चैतन्य से अभिन्न उस (माया विशिष्ट) परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से औषधि, औषधियों से अन्न, और अन्न से यह कर-चरणादिविशिष्ट शरीर क्रम से उत्पन्न हुआ। पूर्व-कथित युक्तियों के अनुसार यहां भी विचार करिए। यह शरीर अन्न से उत्पन्न हुआ कार्य है, अतः अन्न के अतिरिक्त शरीर नाम वाला कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं रहा, अन्न में आरोपित शरीर है, अतः शरीर मिथ्या है। यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है कि अन्न के बिना शरीर टिक ही नहीं सकता है। एक दिन भी अन्न न खाए तो क्या हाल होता है—यह सबको अनुभव है। अन्न भी औषधियों से उत्पन्न है, अतः औषधि अर्थात वनस्पति ही अन्न की अपेक्षा सत्य है, अन्न मिथ्या हैं। इसी प्रकार औषधी की अपेक्षा पृथिवी सत्य है; औषधी मिथ्या है। पृथिवी जल से उत्पन्न हुई है, अतः जल कारण होने से सत्य है, पृथिवी कार्य होने में मिथ्या है। जल भी अग्नि से उत्पन्न होने से उसकी अपेक्षा अग्नि सत्य है। अग्नि भी अपने कारण वायु की अपेक्षा मिथ्या है। वायु सत्य है। वायु आकाशतत्त्व (Ether) से उत्पन्न है। अतः वायु की अपेक्षा आकाश सत्य है। आकाश पञ्चमहाभूतों का आदि कार्य है। जितने ऊपर कहे गये कार्य हैं, वे सब अपने-अपने कारण की अपेक्षा स्थूल है तथा मिथ्या है, और कारण क्रम से सूक्ष्म से सूक्ष्म होते गए हैं। आकाश प्रथम कार्य होने के कारण इतना सूक्ष्म है कि वह किसी इन्द्रिय के द्वारा

प्रत्यक किया नहीं जाता है। इतना सूक्ष्म आकाश भी मायाविशिष्ट परमात्मा से ही उत्पन्न हुआ है। अत: परमात्मा की अपेक्षा वह मिथ्या है, माया का प्रथम परिणाम है। माया कार्य न होने पर भी शुद्ध चेतन परमब्रह्म में आश्रित रहने के कारण वह अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखती, केवल परमात्मा की सत्ता से वह सत्ता वाली है। अत: वह भी मिथ्या है। केवल शुद्ध चैतेन्य रूप परमब्रह्म ही सबके अधिष्ठान और निर्विकार होने से पारमार्थक सत्य है। न वह किसी का कार्य है, न तो वह किसी कार्यं का परिणामी उपादान है। सबके अधिष्ठान होने मात्र से परब्रह्म को स्थिति उपादान कहा गया है। इसलिए उसमें परिणाम होने की शंका नहीं कही जा सकती है। परिणाम तो माया का होता है; उसको तो हम मिथ्या और अनित्य मानते ही हैं। अत: ब्रह्म जगत के कारण होने से परिणाम भी होना चाहिए—ऐसा भ्रम नहीं होना चाहिए।

फिर भी इसमें शंका होती है—ऊपर कही गयी श्रुति के अनुसार आकाश ही साक्षात् मायाविशिष्ट ब्रह्म का कार्य है। अत: भले ही वह आकाश ब्रह्म से अभिन्न हो, परन्तु वायु आदि कार्य तो ब्रह्म का कार्य नहीं। आकाश आदि का कार्य है। 'अत: सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "नेह नानास्ति किञ्चन" इत्यादि श्रुति के उपदेश किस प्रकार समन्जस्य हो सकता है ?

इसका समाधान यह है कि---आकाश मात्र का ही परमब्रह्म अधिष्ठान रूप से साक्षात् कारण है, वायु आदि का तो साक्षात् कारण नहीं है—सो बात नहीं है। वायु आदि का भी परमब्रह्म ही अधिष्ठान रूप से साक्षात् कारण है, क्योंकि यह तो मान ही लिया कि आकाश के अधिष्ठान रूप से परमब्रह्म यावत् आकाश में अनुगत है। तब तो आकाशोपाधिक परमब्रह्म ही साक्षात् वायु का अधिष्ठान रूप से कारण सिद्ध होगा। इसी प्रकार वायूपाधिक ब्रह्म अग्नि का, अग्नि-उपाधिक ब्रह्म जल का और जलोपाधिक ब्रह्म पृथियी का अधिष्ठान रूप से साक्षात् कारण सिद्ध होता है। इसलिए सबके सब ब्रह्म में अध्यस्त होकर मिथ्या सिद्ध होते हैं। शंका के अनुसार ब्रह्म को वायु आदि का साक्षात् कारण न मानकर क्रम से आकाश आदि को कारण मानने पर भी "यह सब कुछ ब्रह्म ही है" इत्यादि श्रुति का उपदेश हो सकता है क्योंकि एक नियम है---तदभिन्नाभिन्नत्व तस्यभिन्नत्वम्"। अर्थात् किसी एक पदार्थ के अभिन्न वस्तु से अभिन्न वस्तु उस पदार्थ से भी अभिन्न होता है—जैसे, दूध पदार्थ के अभिन्न वस्तु दही हुआ, उस दही से निकाला हुआ माखन दही से अभिन्न होकर उस दूध पदार्थ से भी अभिन्न होता है। इसी प्रकार कार्य और कारण में वास्तविक भेद न होने के कारण परमब्रह्म से साक्षात् उत्पन्न आकाश ब्रह्म से अभिन्न है—और आकाश से उत्पन्न वायु आकाश से अभिन्न होने से भी ब्रह्म से भी अभिन्न है। इस रीति से अग्नि वायु से अभिन्न है, वायु ब्रह्म से अभिन्न है अग्नि भी ब्रह्म से अभिन्न है। इस प्रकार परम्परा से जल और पृथिवी का भी ब्रह्म से अभेद सिद्ध होता है। इसको हम इस प्रकार कह सकते हैं—ब्रह्म = आकाश, आकाश = वायु, वायु = अग्नि, अग्नि = जल, जल = पृथिवी इसलिए :

ब्रह्म = आकाश = वायु = अग्नि = जल = पृथिवी। अत, "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "नेहनानास्ति किञ्चन" इत्यादि श्रुतियों के उपदेश में कोई दोष नहीं आता है। वास्तव में श्रुति का अभिप्राय दूसरा है, क्योंकि आरोपित मिथ्या वस्तु अनारोपित ब्रह्मस्वरूप नहीं हो सकती है। जैसेकि आरोपित सर्प रज्जुस्वरूप नहीं हो सकता है। अत: श्रुति का तात्पर्य यह है कि आरोपित प्रपञ्च मिथ्या है, उसका अधिष्ठानभूत परमब्रह्म ही वास्तव में सत्य है। उसकी सत्ता से जगत् सत्ताभास् होकर मालूम होता हैं। इसलिए परमब्रह्म ही सत्य वस्तु होने से वही सब कुछ है, मिथ्याभूत जगत् में आसक्ति

करना अनर्थ का कारण है। अपनी अज्ञानता को छोड़कर विवेक से परमार्थस्वरूप ब्रह्म को अधिष्ठानरूप से सब दृश्यमान पदार्थों में देखने लग जावें। उसमें ही कल्याण है, उसमें ही शास्वत अर्थात् स्थायी रहने वाली शान्ति है। उसके बिना कथमपि शान्ति नहीं मिलेगी। जहां शांति है, वहां न जाकर अशान्त स्थान में चला जाय तो कैसे शान्ति मिल सकती है? मरुभूमि में मृगतृष्णा का जल देखकर उसको लेने के लिए जाये तो कैसे जल मिल सकता है? अतः वास्तविक शान्तिस्वरूप परमब्रह्म को प्राप्त करने के लिए शान्ति चाहने वालों को उसकी ही खोज करनी चाहिए, उसकी ही सत्ता राज्य में देखनी चाहिए—उसके स्वरूप में भ्रम नहीं होना चाहिए। यह श्रुति का अभिप्राय है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

श्री आद्य शंकराचार्य ही जगद्गुरु

श्री स्वामी शिवरत्न पुरीजी महाराज

(त्रिचुर स्वामी)

श्री आय शंकराचार्य की जीवनी, कर्तव्य एवं सिद्धान्त इतिहास सिद्ध है। उनके शिष्यों और शिष्य परम्परा ने वेदान्तशास्त्र के प्रचार-प्रसार के लिए पिछले बारह सौ वर्षों में देश-विदेश में घूम-घूम कर जो रचनात्मक कार्य किया है, उसने हिन्दू धर्म और संस्कृति के वैज्ञानिक रूप को उजागर किया है। अंधश्रद्धा और श्रद्धातिरेक छोड़कर यदि हम तथ्यपरक अध्ययन करें तो मध्यकालीन भारत में राजनीतिक, संस्कृतिक धार्मिक तथा वैचारिक एकता की ज्योति केवल भगवत्पाद श्री शंकर के दण्ड से निर्गत हुई। उनके कमण्डल में भारतीय अस्मिता की मंदाकिनी सुरक्षित थी। कर्म, ज्ञान, उपासना की त्रिवेणी के घाट पर बैठकर उन्होंने श्रुति स्मृति अनुमोदित जिस सनातन वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा की उसने हिन्दूत्व की विपरीत स्थितियों में भी रक्षा की। बौद्ध, जैन, आजीवक, चार्वाक, शाक्त-शैवतेज और अनेक कठोर साधनाओं और अवैदिक धर्मों के घटाटोप से हिन्दूत्व की पवित्र धारा को श्रुति के गोमुख से जोड़े रखने का कार्य श्री शंकर ने किया। वह अगर न होते तो हिन्दूत्व नहीं होता। देश अपनी पहचान खो देता।

अथर्ववेद में एक मंत्र आया है—

मनसा संकल्पयति, तद् देवां अपि गच्छति
अथो ह ब्राह्मणो वशाम्, उपप्रयन्ति याचितुम्। (12.4.31)

अर्थात् मन संकल्प करता है, वह मन देवों (ज्ञानेन्द्रियों) तक जाता है। अतएव विद्वान् बुद्धि के लिए गुरुदेव के समीप जाते हैं। हिन्दू समाज निर्मल बुद्धि मांगने के लिए आचार्य शंकर की शरण में गया। जिसने हिन्दू धर्म की विभिन्न शाखा प्रशाखाओं को निर्मल किया, उदात्त बनाया और स्मार्त धर्म की प्रतिष्ठा कर अद्वयमयता का उपदेश दिया, कण-कण में व्याप्त सूत्रों के सूत्र का दर्शन कराया मानव मात्र की एकता का प्रतिपादन किया। वही जगत्गुरु कहलाने का अधिकारी था। श्री शंकर जगद्गुरु हैं। उनका 'ब्रह्मैव जीवः सकलं जगच्च' सिद्धान्त कालातीत विचार हैं अकाट्य और युक्ति-युक्त है। शिवावतार श्री शंकर का अवतरण जनमात्र की मुक्ति के लिए हुआ था। कुछ लोग उन्हें ईर्ष्यावश प्रच्छन्न बौद्ध कहते हैं पर यह धारणा नितान्त भ्रमक है। बौद्ध विचार जहां उनके सिद्धान्तों का विरोध करते हैं, वहां कभी नहीं कहते कि उनके सिद्धान्त बौद्धों से लिए गए हैं। यदि ऐसा होता तो वह उद्घोष करते कि शंकर उनके ऋणी हैं। विज्ञानवाद तथा शून्यवाद की बात शंकरानुयाइयों के सामने

दु:साहस ही कहा जाएगा। जितना खण्डन साहुन आचार्य के सिद्धान्तों को अवैदिकों तथा वैदिक द्वैतवादियों ने किया, उतना ही आचार्यश्री का सिद्धान्त अटल और स्पष्टतर होता गया। विवर्तवाद अद्वैत वेदांत की मौलिक देन है।

मुझे प्रसन्नता है कि द्वादशताब्दी समरोहों के आयोजगा से आचार्य श्री के योगदान की चर्चा पुन: देश-विदेश में होने लगी है। मनुष्य के पूर्णत्व का मार्ग आचार्य श्री की संकल्पों में ही निहित है। उसके अज्ञानजनित अहंकार का नाश वेदांत से ही हो सकता है। उसके भीतर छिपी दैवी शक्ति जाग्रत हो सकती है तथा वह आत्मदर्शन द्वारा प्राणिमात्र का कल्याण कर सकता है। अद्वैत वेदांत का यह व्यवाहारिक पात्र है। आत्मत्याग, सार्वभौमप्रेम और निममित आचार्य की पावन जीवनी में पद-पद पर देखने को मिली है। इन तीनों गुणों को जीवन में उतार कर हम आचार्य श्री को सच्ची श्रद्धान्जलि दे सकते हैं।

संन्यासी संघ आचार्य श्री के जीवनदर्शन से आलोक पाकर आदर्श विश्व के निर्माण का दुष्कर कार्य अपने हाथ में ले और वैदिक धर्म के अभ्युत्थान में स्वयं को नियोजित कर दे, यही मेरी एकमात्र आभलाया है।

श्री जद्गुरु शंकर की जय

स्मार्त दर्शन

डॉ० श्री मुरलीधर पाण्डे एम० ए० आचार्य, डी० लिट०

निदेशक शंकरवेदान्त कोशयोजना
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी

भारतीय द्वादश दर्शनों में उत्तरमीमांसा का एक विशिष्ट स्थान है। इसे वेदांत दर्शन भी कहते है। वेदांत दर्शन की मूल भीत्ति तीन प्रस्थान माने जाते हैं। प्रथम श्रौतप्रस्थान अर्थात् उपनिषत्प्रतिपादित दर्शन, द्वितीय स्मार्त प्रस्थान अर्थात् महाभारतान्तर्गत गीतोक्त दर्शन तीसरा आर्सप्रस्थान अर्थात् महर्षि बादरायणप्रणीत ब्रह्मसूत्रनिषारित दर्शन। इन तीनों को प्रस्थानों में सिद्धान्तित दर्शन तत्व ही ही वेदांत दर्शन है। इन तीनों को प्रस्थानत्रय कहते हैं। इन तीनों पर सर्वप्रथम भाष्य भगवत्पाद श्रीमद् आद्य शंकराचार्य ने किया और इन तीनों के सिद्धान्तिक तत्व पर पूर्व प्रवर्तित निर्विशेष ब्रह्माद्वैत का समर्थन किया एवं बौद्धों से निरुद्ध उक्त अद्वैतवाद के प्रचार को पुनः प्रचलित तथा प्रसारित किया।

इसके बाद तो यह परम्परा ही चल पड़ी कि यदि किसी आचार्य को निर्विशेष ब्रह्माद्वैत के मानने में कुछ अरुचि है तो वह अपने नये वेदांत सिद्धान्त के समर्थन के लिए उक्त प्रस्थानत्रयी पर भाष्य बनाये और अपने स्वीकृत सिद्धांत को प्रस्थानत्रयी से प्रमाणित करें।

इसके फलस्वरूप अनेक आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य बनाये तथा अपनी-अपनी वेदांत प्रक्रियायें बनायी तथा अपने अपने सिद्धांत स्थापित किये। इनमें कुछ प्रमुख आचार्यों के नाम एवं सिद्धांत इस प्रकार हैं आचार्यश्री भास्कर आचार्य श्री रामानुज, श्री मध्वाचार्य, श्री निम्बार्काचार्य श्री बल्लभाचार्य श्री शंकराचार्य श्री कृष्णाचार्य एवं श्री रामानन्दचार्य श्री विज्ञानभिक्षु प्रभृति हैं तथा इनके सिद्धांत द्वैताद्वैव (भेदाभेद) विशिष्टाद्वैत द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत, शतयद्वैत, शिवाद्वैत विशिष्टाद्वैत आदि हैं। इनमें किसी ने तीनों प्रस्थानों पर किसी ने दो पर तथा उनके सिर्फ तीसरे पर एवं किसी ने एक पर ही भाष्य बनाये। सब के सभी पर पूर्ण भाष्य प्राप्त नहीं होते। केवल पूज्यपाद आद्य श्री शंकराचार्य जी के ही तीनों प्रस्थानों पर पूर्व अविकल भाष्य आज सुलभता से प्राप्त हो रहे हैं।

इन में गीतोक्त दर्शन स्मार्त दर्शन है। इसको विशद रूप देने का श्रेय भगवत्पाद आद्य श्री शंकराचार्य महाराज को है गीता पर सर्वप्राचीन जो भाष्य आज उपलब्ध हो रहा है वह शंकरभाष्य है। इस शंकरभाष्य में कुछ स्थल ऐसे हैं जिनसे संकेत प्राप्त होता है कि भगवत्पाद श्री शंकराचार्य के समक्ष कुछ और भाष्य टीका या व्याख्यान थे जिनका भगवत्पाद ने खण्डन किया है जैसे श्री मद्भगवद्गीता के शंकर उपक्रमभाष्य में—

तदिदं गीता शास्त्रं समस्त वेदार्थसारसंग्रहभूतं दुर्विज्ञेयर्थम्

इस प्रतीत की व्याख्या में स्वामी श्री आनन्द गिरि जी लिखते हैं—

शास्त्रस्य पूर्वाचार्यैः व्याख्यातत्वात् ।

इसी प्रकार— इदं चान्यत् पाण्डित्य कस्यचिदस्तु······यः सः पाण्डतापसदः तस्याद् असम्प्रदायवित् सर्वशास्त्रविदपि मूर्खवदुपेक्षणीयः (गी० 13.2 शा०मा०)

श्री सुरेश्वराचार्य जी के ग्रंथों तथा श्री आनन्द गिरि जी की व्याख्या से ज्ञात होता है कि आचार्य से पूर्ववर्ती आचार्य भर्तृप्रपञ्च थे । ब्रहदारयकोपानिषद् के शंकरभाष्य में किसी आचार्य के लिए इसी प्रकार के पद संकेत 14 बार प्रयुक्त हुए हैं । आचार्य सुरेश्वर के ब्रह्मदारण्यकोपनिषद् भाष्य वार्तिक में भी इसी प्रकार के पद प्रयुक्त हुए हैं । श्री आन्दद गिरि जी ने अपनी व्याख्या में इन संकेतों की व्याख्या लिखी है कि ये आचार्य भर्तृप्रपञ्च हैं जिनकी विस्तृत व्याख्या ब्रहदारयकोपनिषद पर उस समय उपलब्ध थी । ये भर्तृप्रपञ्च आचार्य भेदाभेदवादी या द्वैताद्वैतवादी थे । ये ब्रह्म तथा जीव में भेद मानते थे और अभदेभी ये जीव की संसारवयवस्था में भेद तथा मुक्तावस्थामें ब्रह्म से अभेद मानते थे । इसी प्रकार मुक्ता के लिए ज्ञान तथा कर्म दोनों को समान साधन लानते थे । अतः ये ज्ञान कर्म समुच्चयवादी थे । ये जीवात्मा को परमात्मा का अंश मानते थे और प्रकृति को नित्य मानते थे । ये बातें एकायन सम्प्रदाय, सात्वत, सम्प्रदाय तथा पांचरात्र सिद्धांत से बहुत ही साम्य रखती हैं ।

आचार्य शंकर ने गीता के अपने भाष्य के उपोद्घांत में इन का संकेत किया और अपने भाष्य में मान्यमाओं का स्थल स्थल पर खण्डन किया है । आचार्य शंकर का कहना है कि जीव और ब्रह्म एक ही है । इन दोनों में अंशाशिभाव नहीं है जीव सदा मुक्त ही रहता है ब्रह्म रूप ही रहता है, वह बद्ध कभी नहीं होता बद्ध होना जीव का स्वभाव ही नहीं है । उसकी बद्धता की प्रीति अविद्या अथवा अज्ञान से होती है और वह मिथ्या है । ज्ञानोदय होते ही मिथ्यात्व गिर जाता है अर्थात् जीव अपने ब्रह्म स्वरूप को पहचान जाता है । मोक्ष को सम्पन्न करना या बनना या उत्पन्न करना नहीं होती नित्य मुक्त जीव को ब्रह्म विद्या के द्वाका अपने असली स्वरूप को समझना ही मोक्ष है घठ में घट पर आदि वस्तु पहले से ही हैं । दृष्टि प्रतिबन्धक अन्धकार के कारण उस वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता । प्रकाश के आते ही दृष्टि प्रतिबन्धक अन्धकार दूर हो जाता है और वस्तु दीखायी देने लगती है । तद्वत् ज्ञान प्रतिबन्धक अज्ञान के दूर होते ही जीवात्मा अपने स्वरूप का अनुभव करने लगता है यह मोक्ष किसी साधन से सम्पन्न या निष्पन्न नहीं किया जाता ऐसा होने पर यह साध्य या भाव्य या कार्य हो जाएगा । कार्य या साध्य होने से मोक्ष को अनित्य मानना पड़ेगा जो अनित्य नहीं है । अनित्य मानने पर जीव को मुक्ति के बंधन बार बार सांसारिक ही बनना पड़ेगा मोक्ष को अनित्य हो जाने पर मोक्ष का वर्चस्वता एवं महत्त्व भी समाप्त हो जाएगा । साथ ही अपसिद्धांत की आपत्ति आ जाएगी । सही वस्तु सदा एक समान ही रहता है । जीव का ब्रह्म में यदि भेद है तो भेद में ही रहेगा यदि अभेद है तो अभेद ही रहेगा और भेद-अभेद दोनों विरोधीतत्व है । इस तत्व को आचार्य शंकर ने गीता भाष्य के उपोद्घात में तथा 12.12 एवं 18 अध्ययां के भाष्य में बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है ।

गीता भाष्य में आचार्य शंकर ने कहा है कि इस अवस्था को प्राप्त करने का समाधान एक ही है । वह है ज्ञान । ज्ञान के बीच किसी अवान्तर व्यापार या साधन की आवश्यकता नहीं होती । जैसे प्रकाश आते ही प्रतिवाधक अन्धकार दूर हो जाता है और वस्तु दर्शन हो

जाता है। तद्वत् ब्रह्मविद्योदय होते ही अविद्या हट जाती है। यही स्वस्वरूपावगति है जो हो जाती है। जैसे तिष्ठन् गायति = बैठा हुआ गा रहा है इसके बीच कोई क्रिया या साधन नहीं है। हां, ज्ञान के लिए भक्ति आदि की आवश्यकता हो सकती है। उपासना तथा विधियुक्त कर्मकांड उसे अन्तःकरण की शुद्धि होती है। शुद्ध अन्तः करण में विद्योदय होता है। विद्योदय के लिए शुद्ध अन्तः करण होना चाहिये और अन्तः करण की शुद्धि के लिए उपासना, निष्काम भाव से कर्म करना, कर्मफल का त्याग करना तथा भगवद् शरणगति या प्रपत्ति आदि की आवश्यकता होती है। चित्त शुद्ध हो जाने पर विवेक का उदय होता है। विवेक से वैराग्य उत्पन्न होता है, वैराग्य से शम दमादि आते हैं तब ब्रह्मविद्योदय होता है।

इस तत्त्व को आचार्य शंकर ने गीता भाष्य के उपोद्घात में तथा शंकर भाष्य अपने भाष्योत्कर्ष में अठारहवें अध्याय के अन्त में श्री धन पतिपणित ने इस प्रकार लिखा है—

तथास्य गीता शस्त्रिस्य संक्षेपतः प्रयोजनं परं निःश्रेयसं सहेतुकस्य संसारस्यात्यन्तोपरमलक्षणम्, तच्च सर्वकर्मसंन्यास पूर्वकादात्मज्ञाननिष्ठाद् धर्माद् अवति। तमिममेव गीतार्थधर्ममुद्दिश्य भगवतैवोक्तम्—स हि धर्मः स पर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदनम् इत्यनुगीतासु।................ज्ञानं संन्यासलक्षणम्।

(शाङ्कर भाष्य उपोद्घात)

सङ्ग्रहः।.........ज्ञानादेव तु कैवल्यम्, ऋते ज्ञानान्न मोक्षः इत्येवमाद्या अज्ञानपरिकल्पितस्य संसारस्य ज्ञानेनैव निवृत्तिर्युक्ता न तु कर्मणा उपास्तिक्रियया वा। तथा सति मोक्षस्यानित्यत्वं सातिशयत्वं च प्रसज्येत इत्यन्यत्र विस्तरः। एतेनोपासनायाः साक्षात् मोक्षसाधनत्वं ज्ञानस्य चावान्तरव्यापाररूपत्वं च वदतामपरेषामुक्तिर्निरस्ता।

(भाष्योत्कर्ष, 18 अध्याय के अन्त में)

संक्षप में यही गीतोक्त स्मार्तदर्शन है। जिसका समय-समय पर पूज्य अचार्य चरणों ने उप बृहण किया है और आज भी करने चले जा रहे हैं। इतिशम्।

हिन्दू धर्म और शंकर

आचार्य महामण्डलेश्वर महेशानन्दगिरि,

(श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, काशी)

प्रत्येक धर्म में उत्थान और पतन आता रहता है। हिन्दू धर्म में भी यह होता रहा है, परन्तु हिन्दू धर्म की विशेषता यह है कि प्रत्येक पतन के बाद एक उत्थान हुआ है, और वह पूर्व की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ बना रहा है। जिस किसी ने सुधार का प्रश्न उठाया उसके सुधार को हिन्दू धर्म ने अपने में आत्मसात् किया, और नव निर्माण किया। ढाई हाजर वर्ष पूर्व बुद्ध और महावीर ने तत्कालीन हिन्दू समाज की दुर्बलताओं की परख करके बहुदेववाद, कर्मकाण्ड और इहलौकिकवाद का प्रबल विरोध किया, एवं नैतिकता के आधार पर वैराग्यपूर्ण जीवन के संदेश से सुधार को प्रारम्भ किया। एक हजार वर्ष तक यह सुधरी स्थिति चलती रही। परन्तु जैसा कि प्रत्येक सुधार में होता है, किन्हीं चीजों पर आवश्यकता से अधिक बल देने के फलस्वरूप वही सुधार आगे विकृति का कारण बन जाता है। यही इनके भी हुआ, एवं अनात्मवाद के प्रश्रय के कारण बौद्ध धर्म में वैराग्य की जगह वामाचार का प्रवेश होकर भिक्खु-भिक्खुनियों में भोगवाद की प्रबल धारा बह निकली। नैतिकवाद की जगह तरह-तरह के नवीन कर्मकाण्ड आ गये। इतना ही नहीं, बौद्ध धर्म ने चूंकि सभी वर्ग व देश के लोगों को एक साथ मिला लिया था, अतः उसमें अराष्ट्रीयता भी पनपने लगी थी और विदेशियों को वे लोग प्राथमिकता देने लगे थे। ऐसी परिस्थिति में कुमारिल भट्ट और आचार्य शंकर का अवतार हुआ जिन्होंने बौद्धों के नैतिकवाद को अपने में मिलाकर वैराग्य की दुर्बलता का मूल जो समाज के सभी अंगों का बिना अधिकारी भेद के संसार को छोड़ने की प्रवृत्ति कराना रूप था, उसका निरोध करके वर्णाश्रम व्यवस्था को पुनः संतुलित किया। बुद्ध और महावीर ने जिस अध्यात्मवाद पर जोर दिया था वह यद्यपि उपनिषद्मूलक था, परन्तु साक्षात् उपनिषदों से संबंन्ध तोड़ देने के कारण परवर्ती बौद्धों ने आत्मशून्य अध्यात्मवाद को जन्म दे दिया था।

आचार्य शंकर ने पुनः उपनिषदों के अध्ययन पर जोर देकर ब्रह्मात्मवाद के आधार पर अध्यात्मवाद को स्थिर किया।

आचार्य शंकर की देन न केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में है, वरन् दार्शनिक क्षेत्र में भी है। उन्होंने जिस अद्वैतवाद का प्रतिष्ठापन किया वह विश्व को सर्वोच्च दर्शन माना जाता है। विश्व एक पहेली है। इसमें सत्य और मिथ्या का, एकता और अनेकता का, भेद और अभेद का, जड़ और चेतन का ऐसा मिश्रण है जिसमें यह निर्णय करना कठिन है कि वास्तविकता क्या है। दार्शनिक का कार्य है इस पहेली को हल करना। आचार्य शंकर ने एक ऐसे ब्रह्मवाद की शिक्षा डाली जो अपने में अविकृत

रहते हुए सभी विकारों का अधिष्ठान बना रहता है। इस अधिष्ठान को ही अभिन्न निमित्तोपादान कारण कहा जाता है। यह कारणता से सम्पृक्त हुआ ईश्वर कहा जाता है। व्यावहारिक भूमि के इस ईश्वर के प्रति अपने सभी भावों का समर्पण, सभी कर्मफलों का समर्पण आवश्यक है। इस प्रकार आचार्य शंकर ने आदर्शवाद और व्यवहारवाद का सुलझा हुआ रूप हमारे सामने रखा।

ईश्वर को समर्पण करने की भावना ही भक्ति कही जाती है। आचार्य शंकर ने अनेक स्तोत्रों के द्वारा अपने गंभीर हृदय से अनुभूत तत्वों को अत्यन्त सुन्दर, शिष्ट और मधुर शब्दों में प्रकट किया। यह वास्तविकता किसी से छिपी नहीं है कि जन सामान्य में प्रचलित स्तोत्रों में सत्तर प्रतिशत से अधिक आचार्य शंकर के ही स्तोत्र हैं। भक्ति के अनेक आचार्य आये, पर किसी ने ऐसा स्तोत्र साहित्य नहीं बनाया जो भक्तों का संबल बन सके। इस प्रकार जैसे उन्होंने दर्शन पथ से चलने वाले साधक के लिए भाष्य साहित्य का निर्माण किया, वैसे ही भक्ति पथ पर चलने वालों के लिए स्तोत्र साहित्य का निर्माण किया। ज्ञान और भक्ति का ऐसा समन्वय और कहीं उपलब्ध नहीं होता। स्वयं अपने कर्मठ जीवन के द्वारा उन्होंने भारत के कोने-कोने में जाकर लोगों को सनातन वैदिक धर्म में दीक्षित किया और तत्कालीन राजवंशों को प्रभावित कर एक ऐसा तन्त्र उपस्थापित किया जिसने मुसलमानों का तीन सौ साढ़े तीन सौ साल तक दृढ़ विरोध करके भारत को सुरक्षित रखा। आज जब हम उनकी बारह सौवीं जयन्ती मना रहे हैं, हमें इन आदर्शों को समान रखते हुए पुनः भारत में परमेश्वर के प्रति दृढ़ निष्ठा को उत्पन्न करके राष्ट्र को न केवल एकात्मता का संदेश देना है वरन् उस प्रगति की ओर ले जाना है जिसमें भारत का प्रत्येक नागरिक उस पूर्णता को अपना केन्द्र बनाकर अपनी अपनी शक्ति के अनुसार आगे बढ़ते हुए स्वयं अपने को बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक पूर्णता की ओर ले जाते हुए राष्ट्र को भी पूर्ण बनावें यही हमारी अभिलाषा है।

शंकर की जीवनी : चित्रों में

ये चित्र कलाडी के निकट पेराम्बूर निवासी कलाकार सुकुमारन के तैल चित्रों के छायांकन हैं। सुकुमारन एक आस्थावान कलाकार हैं, जिन्होंने जगद्गुरुओं के निर्देशानुसार शृंगेरी में 1986 में ये चित्र बनाये थे।

विष्णु और ब्रह्मा के नेतृत्व में देवता और ऋषिगण भगवान शंकर से सनातन धर्म की रक्षा के लिए प्रार्थना कर रहे हैं, जिसका 8वीं शताब्दी में बहुत पतन हो गया था। भगवान शिव ऐसा करने को सहमत होते हैं। इस प्रकार जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य के आविर्भाव की पृष्ठभूमि बन जाती है।

केरल के कोच्चिन नगर के 25 किलोमीटर उत्तर में स्थित कलाडी के शिवगुरु और आर्याम्बा त्रिचूर स्थित भगवान वृषचलेश्वर से संतान के लिए प्रार्थना करते हुए।

शिव [illegible] को दर्शन देते हैं और उन्हें संतान का वरदान देते हैं।

बालक शंकर द्वार-द्वार पर भिक्षा माँगते हुए ब्रह्मचर्य व्रत धारण करते हैं।
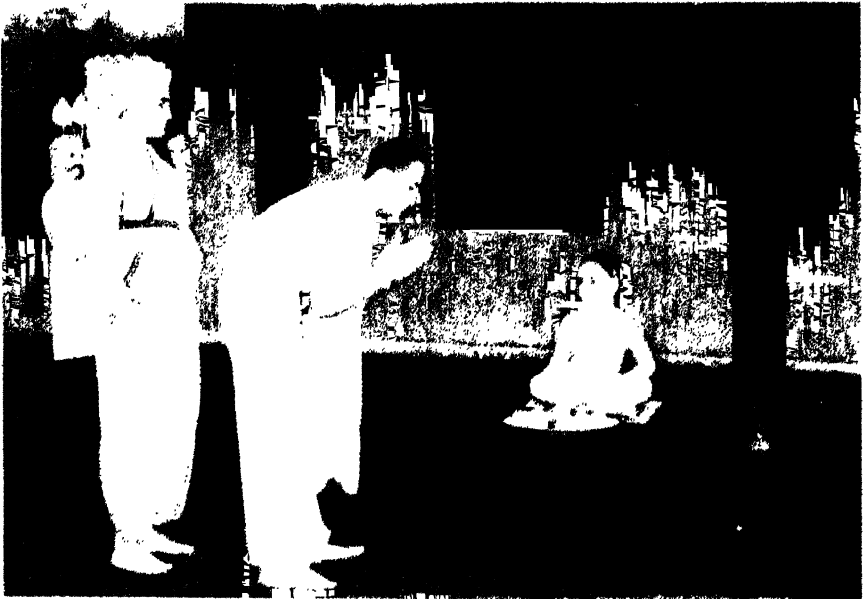
केरल के राजा, सुधन्वा बटुक शंकर के पास आते हैं और अपनी साहित्यिक कृति उन्हें समर्पित करते हैं।
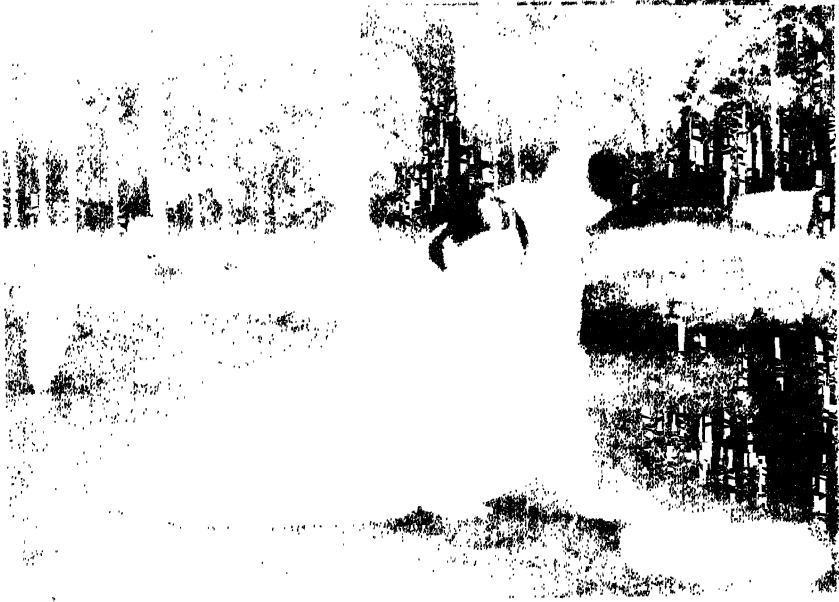
पूर्णा नदी का स्नान के लिए जाती हुई शंकर की माँ जब थकान से गिर पड़ती हैं तो शंकर उनकी सेवा करते हुए।

ईश्वर से प्रार्थना करके शंकर पूर्णा नदी की धारा बदल देते हैं, जिससे उनकी माँ को अपने नित्यकर्म में सुविधा हो।

घड़ियाल द्वारा पकड़ लिये जाने का बहाना बनाकर शंकर अपनी माता से संन्यासी बनने की आज्ञा प्राप्त करते हुए, जो बेमन से राज़ी होती हैं।

संन्यास व्रत लेने के लिए घर छोड़ने के पहले माता का आशीर्वाद प्राप्त करते हुए शंकर।

संन्यास ग्रहण करने के बाद अपने गुरु भगवत्पाद के साथ शंकर।

गाँव को डूबने से बचाने के लिए विक्षुब्ध तथा बढ़ी हुई नर्मदा नदी को अपने कमंडलु में धारण करते हुए शंकर।

शिष्य, सनानंद गुरु शंकर की कृपा प्राप्त करते हैं। जब सनानंद गुरु शंकर की प्रार्थना करते हैं और बढ़ी हुई नदी को पार करने चलते हैं तो जहाँ भी उनके चरण पड़ते हैं वहीं पर एक कमल उग आता है। तभी से उनका नाम पद्मपाद (कमल चरण वाले) पड़ जाता है।
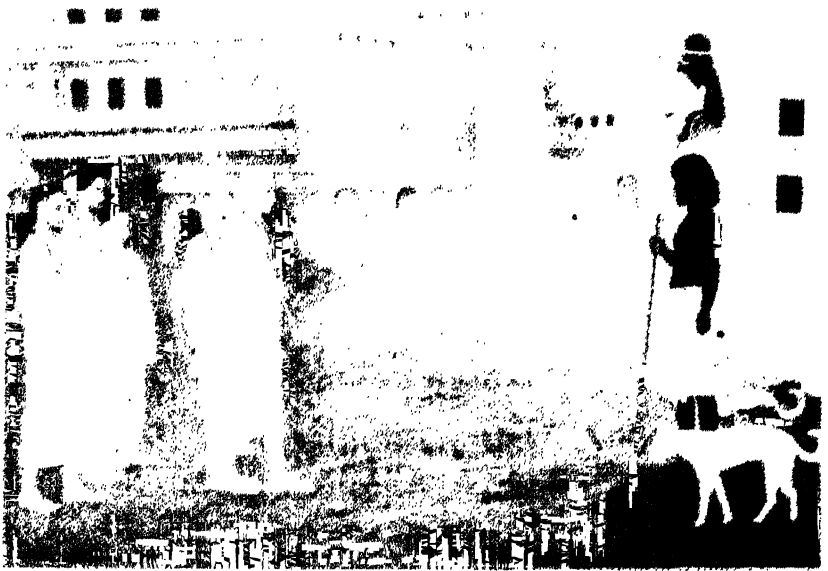
काशी में चांडाल वेश धारण करके भगवान विश्वनाथ शंकर से मिलते हैं और शंकर वहीं पर भगवान विश्वनाथ की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए अपने प्रसिद्ध मनीषा पंचक स्तोत्र की रचना करते हैं।

शंकर को दर्शन देते हुए मुनि वेदव्यास।
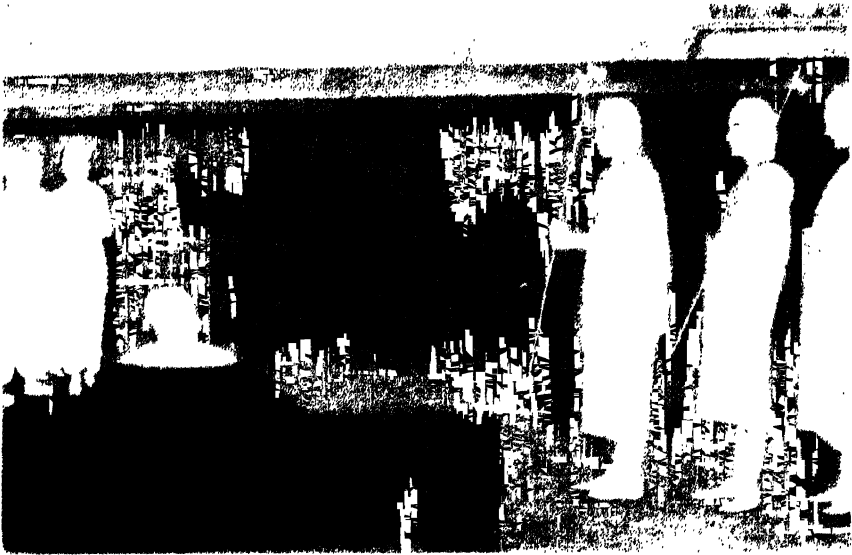
शंकर कुमारिल भट्ट से मिलने जाते हैं, जो अपने गुरु के प्रति किये गये पाप के प्रायश्चित्तस्वरूप भूसी की आग में आत्माहुति दे रहे थे।

मंडन मिश्र को शास्त्रार्थ में परास्त करते हुए शंकर। निर्णायिका उभयभारती उन्हें देखती हुई।
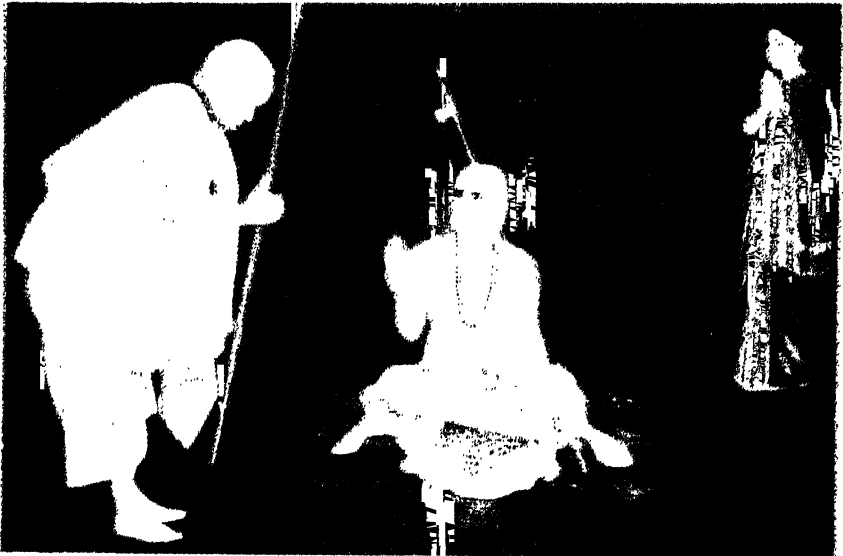
शास्त्रार्थ की शर्त के अनुसार हारे हुए मंडन मिश्र सुरेश्वर नाम से संन्यास ग्रहण करते हुए।
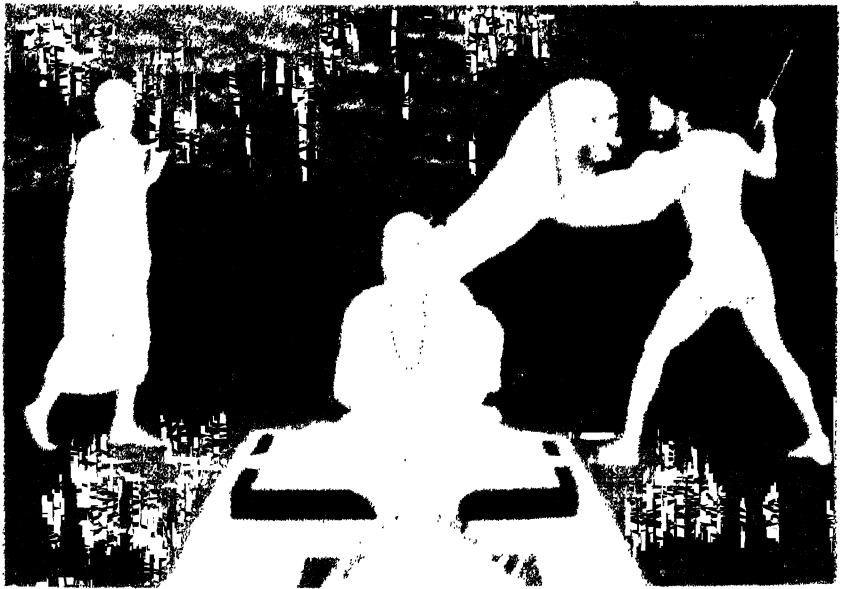
पद्मपाद की स्तुति सुनकर भगवान नृसिंह कापालिक द्वारा शिरोच्छेद से शंकर की रक्षा करते हुए।
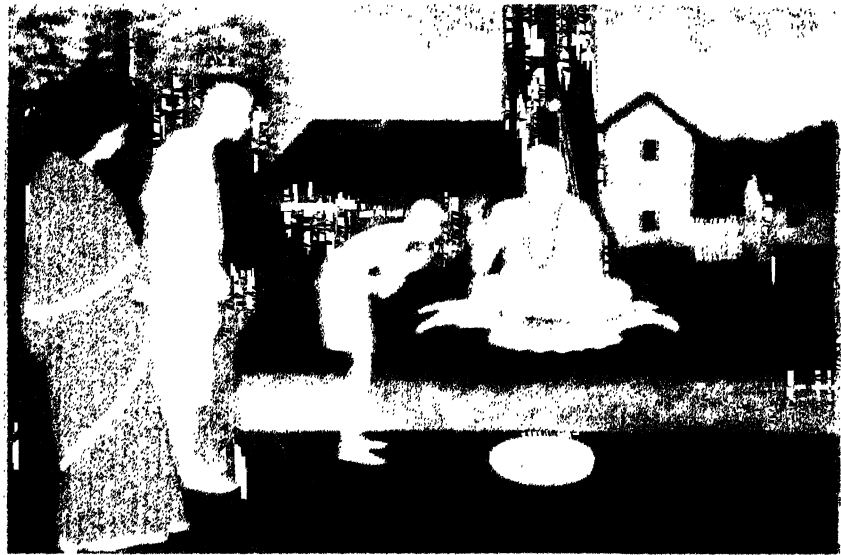
अपनी यात्रा के दौरान मूकाम्बिका के पास श्रीवेली नामक स्थान पर एक गूँगे बालक को शिष्य स्वीकार करते हुए शंकर। यह बालक बाद में हस्तामलक कहलाया।

शिष्य गिरि को, जो बाद में टोटक कहलाया, उसकी सेवाओं के लिए आशीर्वाद देते हुए शंकर।
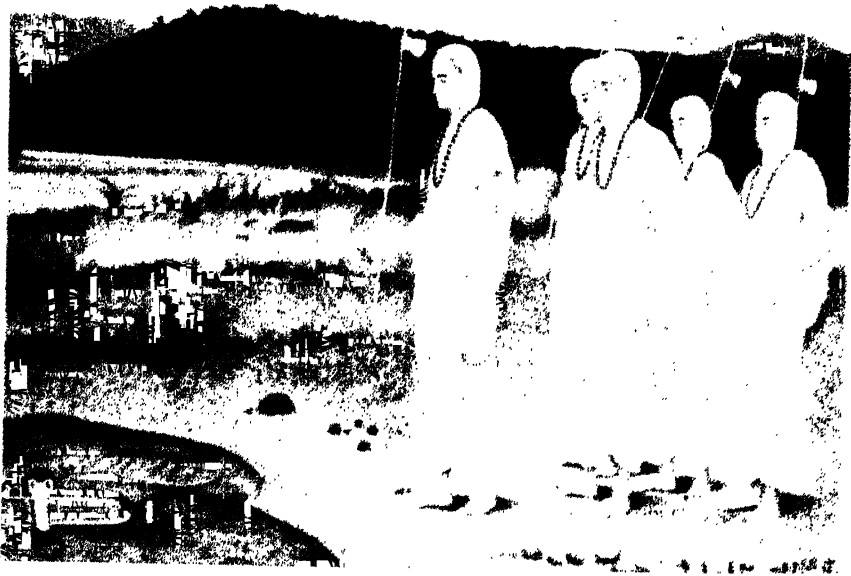
शंकर ने अपना पहला मठ स्थापित करने लिए शृंगेरी को चुना, जब उन्होंने देखा कि प्रसव-पीणा में व्यथित एक मेढकी को उनका सहज शत्रु एक साँप प्रचंड धूप से फन फैलाकर रक्षा कर रहा है।
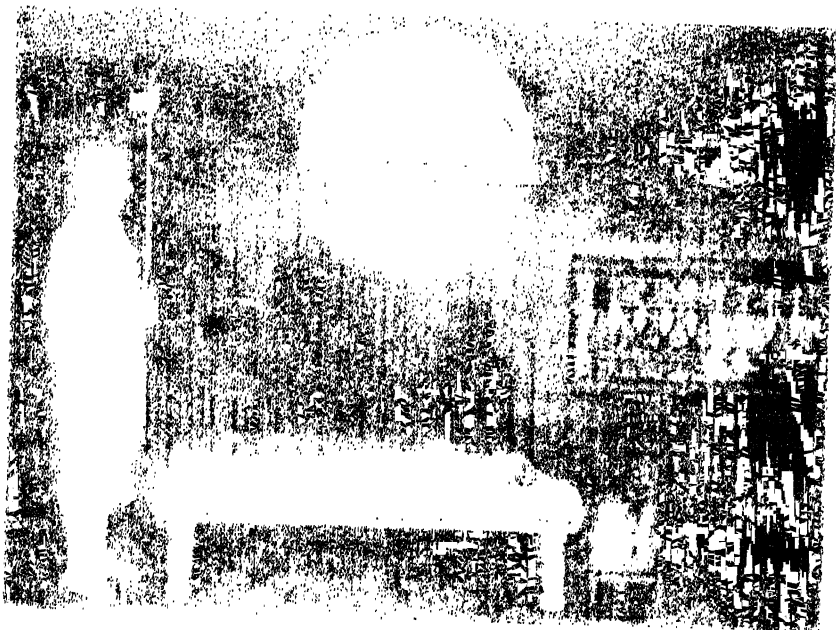
मरणशय्या पर पड़ी अपनी माता को शंकर सायुज्य प्रदान करते हुए शंकर।
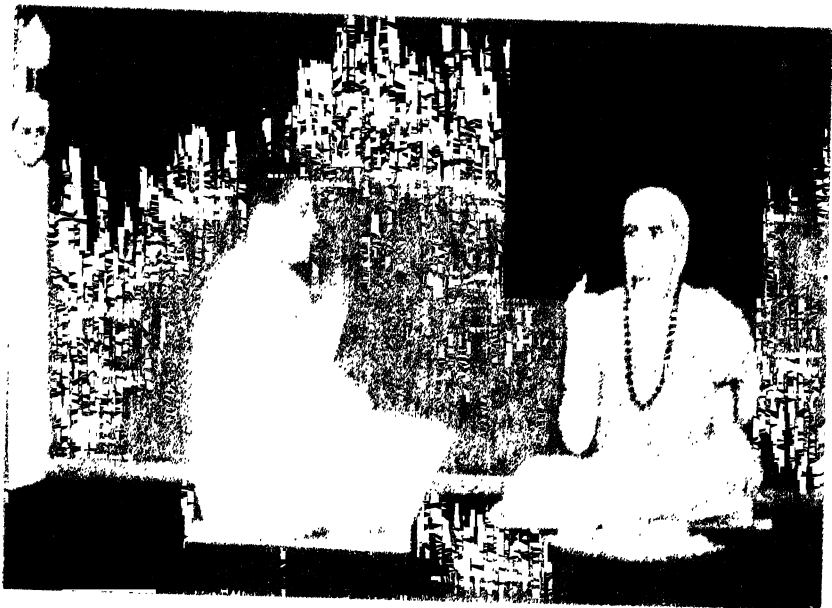
अपनी साहित्यिक कृतियों के खो जाने पर शंकर का परामर्श माँगते हुए राजा सुधन्वा।

कश्मीर स्थित सर्वज्ञ-पीठ पर आसीन शंकर।

अपने जीवन का उद्देश्य पूर्ण कर लेने पर अंतिम बार केदारनाथ में शंकर का दर्शन करते हुए उनके शिष्य गण।

भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद का आविर्भाव समय

महामण्डलेश्वर स्वामी काशिकानन्द गिरि

आचार्य शंकर को प्रायः सभी सनातन धर्मावलम्बी अवतारी पुरुष मानते हैं, चाहे वे आचार्य सिद्धान्तों के अनुयायी हों, चाहे विरोधी। यह बात अलग है कि उनके अनुयायियों ने उनको बोधदायी अवतार के रूप में माना और विरोधियों ने मोहकारी अवतार के रूप में। जैसे बुद्ध को अवताररूप मानते हुए भी उनके अनुयायी बोधक अवतार और विरोधी मोहक अवतार मानते हैं। फर्क इतना ही है कि बुद्ध को समस्त सनातनी मोहकारी के रूप में ही देखते हैं क्योंकि उन्होंने वेदों की प्रामाणिकता स्वीकार नहीं की। इसके विपरीत आचार्य शंकर को कुछ इने-गिने सम्प्रदायवादी ही मोहक कहते हैं, सनातन धर्मावलम्बियों का एक बड़ा भारी भाग उन्हें बोधदायक के रूप में ही आज भी देखता है, क्योंकि वे वैदिक धर्म के रक्षक थे।

अवतारवाद को यद्यपि बहुत से मनीषियों ने अमान्य किया है, और कुछ ने अवतारवाद को मानते हुए भी राम-कृष्णादि को ही अवतार माना, इतर अवतारों को स्वीकार नहीं किया। परन्तु ऐसा लगता है कि इन लोगो ने सनातन सिद्धान्तों की गहराई में उतरने का प्रयास नहीं किया। हम तो कहेंगे कि राम-कृष्ण आदि क्या प्रत्येक जीव भगवान् का ही अवतार है। गीता की यह उद्घोषणा है कि--

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"

सभी जीव परमात्मा का ही सनातन अंश हैं तब ये सभी जीव परमेश्वर के अंशावताररूप ही तो हुए। परन्तु सबको हम अवतार इसलिए नहीं कहते कि भगवत्स्वरूप की अभिव्यञ्जक कुछ विशेषता उनमें प्रकट नहीं है। अतएव—

"यद्यद्विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥"

इस प्रकार गीता में विशेष बताया। जो भी ऐश्वर्ययुक्त, श्रीयुक्त या बलयुक्त हो उसे मेरे अंश से उत्पन्न समझो। सभी 'ममैवांशो' के अनुसार परमेश्वर के ही अंश हैं तो "यद्यद् विभूतिमत्" इत्यादि विशेषण देने की क्या आवश्यकता थी? जब कि इसी के बाद—

"अथवा बहुनतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

इस प्रकार साक्षात् सबको अंश से धारित कहना है? तात्पर्य यही निकलता है कि विशिष्ट शक्ति की अभिव्यक्ति हो तो ही उसे भगवान् का अवतार या अंश कहना उचित है। उसके अभाव में अंश होते हुए भी अंश या अवतार कहने योग्य नहीं माना जा सकता।

इससे कुछ आगे, केवल अधिक महत्त्व मात्र से भी अवतार स्वीकार करना सबको नहीं जचा क्या

"मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं" "द्यूतं छलयतामस्मि" आदि प्रमाणों को रखकर शेर, जुओं आदि को भी अवतार कहा जाये ? इन विद्वानों ने अवतारों के अवतारत्व के लिये कुछ सीमा बाँधी और अवतारों के कुछ भेद किये, जैसे अंशावतार, अंशांशावतार, ज्ञानावतार, पूर्णावतार, आवेशावतार एवं पूर्णतमावतार आदि। यह उचित भी था। यदि ऐसा न होता, सभी निशिशेष अवतार ही होते तो अवतार लेने में हेतु एवं समय का जो निर्धारण गीता में किया है वह संगत न होता।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे ॥

धर्म का ह्रास और अधर्म की वृद्धि होने लगती है तो वह समय अवतार का काल होता है। यह प्रथम श्लोक का तात्पर्य है। धर्म का सम्यक् स्थापन अवतार का प्रयोजन है, वही निमित्त है, यह द्वितीय श्लोक का अभिप्राय है। ये दोनो बातें जिसमें घटती हों वह अवतारी पुरुष कहने के योग्य है यही निष्कर्ष है। देखना यह है कि आचार्य शंकर में ये दोनो बातें खरी उतरती हैं या नहीं। अवश्य उतरी होंगी। तभी तो मनीषियों को उन्हें अवतार मानने के लिये बाध्य होना पड़ा। यह प्राचीन प्रसिद्धि अवश्य ही उन हेतुओं को लेकर ही हुई होगी। अतएव आचार्य के समय निर्धारण के लिये यह भी उपयोगी है कि ऐसा काल और निमित्त कब एकत्रित हुआ था इसका निश्चय करना। और आचार्य के अवतार से वह प्रयोजन सिद्ध हुआ तो वह किस काल में ? इस विषय को हम अन्त में चर्चा लिये रखते हैं, प्रथम प्रचलित समयवाद तथा अन्वेषकों के द्वारा निष्कर्षित समयवाद को लेकर थोड़ा विचार करना चाहेंगे।

आश्चर्य की बात यह है कि ये जितने भारी दार्शनिक हुए उनके आविर्भाव को लेकर उतनी ही भारी विप्रतिपत्ति भी है। कोई दो सौ चार सौ वर्षों को लेकर नहीं, बल्कि तेरह सौ या उस से भी अधिक वर्षों के दीर्घ समय को लेकर है। क्राईष्ट पूर्व छठी शती से लेकर उत्तर नवमी शती तक अर्थात् चौदह सौ वर्षों का यह विवाद है। कुछ लोग ख्रिस्तपूर्व छठी के बदले सातवीं शती ले जाने के भी पक्ष धर हैं। अस्तु, आचार्य के द्वारा प्रतिष्ठापित चार मठ तो प्रसिद्ध ही हैं ! (1) दक्षिण में शृंगेरी मठ (पश्चिम में शारदा मठ, (3) उत्तर में ज्योतिर्मठ और (4) पूर्व में गोवर्धन मठ हैं। इनके अलावा पञ्चम कामकोटि पीठ भी बताया जाता है। इनमें कुछ मठों में उपलभ्यमान लेख आदि के अनुसार आचार्य को अविर्भूत हुए तेईस सौ वर्ष हो गये हैं। द्वारिकापीठ की वंशानुमातृका के अनुसार आचार्य का जन्म 2631 युधिष्ठिर संवत् में हुआ अर्थात् ईसा पूर्व 509 वर्ष तथा समाधि यु. स. 2663 अर्थात् ईसा पूर्व 400। कांची कामकोटि पीठ के लेख के अनुसार आचार्य का प्रादुर्भावकाल 2563 कलि संवत् है और समाधि 2625 कलि संवत् है यद्यपि यह परिवर्तन सन्देहजनक हो सकता है। किन्तु युधिष्ठर संवत् उनके राज्याभिषेक से लेकर होने से 36 या अड़तीस वर्ष का अन्तर लेखों में आ गया है। वह वास्तविक अन्तर नहीं है। गोवर्धनपीठ की वंशानुमातृका के अनुसार आचार्य का जन्म तेईस सौ वर्ष पूर्व सिद्ध होता है। ज्योतिर्मठ की परम्परा मध्य में विच्छिन्न होने से वहाँ से कोई निश्चित समय प्राप्त नहीं हुआ। परन्तु शृंगेरी पीठ के अनुसार 3889 कलि संवत् आचार्य का आविर्भावकाल है।

"निधिनागेभवह्यब्दे विभवे मासि माधवे
शुक्ले तिथौ [तु पञ्चम्यां] शंकरार्योदयः स्मृतः ॥"

ऐसा प्रमाण मिलता है। यद्यपि "शुक्ले तिथौ दशम्यां तु" ऐसा पाठ मिलता है किन्तु प्रसिद्धि के अनुसार पञ्चम्यां पाठ ठीक लगता है। "शंकर मन्दार मरन्दर सौरभ" नाम के ग्रन्थ में।

प्रासूत तिष्यशारदामतियात वत्या-
मेकादशाधिकशतोनचतुः सहस्त्राम् ।
संवत्सरे विभवनाम्नि शुभे मुहूर्ते
राधे सिते शिवगुरोर्गृहिणी दशाम्याम् ॥

इस प्रकार समयनिर्देश किया है । यहाँ भी दशम्यां पाठ दीखता है । किन्तु तिथिविशेषण 'दशोन्यां' को 'दशम्यां' ऐसा लेखक ने बना लिया हो । यह संभावित है । क्योंकि 15 तिथियों में दशोन्यां कहकर पञ्चमी का बोध कराना जटिल काम है । यद्यपि कुछ आधुनिक अन्वेषकों ने 'काशी में कुम्भकोणमठविषयक विवाद, नाम के ग्रन्थ का उद्धरण देकर आचार्य का 684 से 716 ई तक का समय शृंगेरी वालों को मान्य बताया है । और कुछ अन्य विचारकों ने सुरेश्वराचार्य को दीर्घायु बताकर सैकड़ों वर्ष पूर्व आचार्य को ले जाने की बात लिखी है । किन्तु 1988 ई० में द्वादश शताब्दी मनाने के प्रसंग में शृंगेरी के शंकराचार्य के साथ जो पत्रव्यवहार हुआ उसमें वर्तमान पीठाधिपति ने उसे स्वीकृत करते हुए प्रामाणिक बताया अतः उस विषय में शृंगेरी को लेकर हम अधिक गहराई में उतरना नहीं चाहते । पीठाधीश्वरो से जब स्वतन्त्र वार्तालाप हुआ तो उनमें कामकोटि-पीठवालों से इस परस्पर विरोधी मान्यताओं के बारे में जवाब यही मिला कि शृंगेरी मठपरम्परा बीच में टूट गयी थी और हमारे यहीं के एक अभिनव शंकराचार्य शृंगेरी की रक्षा के लिये वहां गये और 788 ई० में उनका अभिषेक काल होने से उसे उन्होंने जन्मकाल माना । 'निधिनागेन्दु' इत्यादि श्लोकों में किस शंकराचार्य का जन्म 3889 कलिसंवत् है यह तो नहीं बताया है । शृंगेरी मठवालों से जवाब यह मिला था कि शृंगेरी के उत्कर्ष को कम करने और अपने महत्व को बढ़ाने के लिये दूसरे मठवालों ने आचार्य को तेरह सौ वर्ष पीछे ले जाने का परस्पर निश्चय किया इस का यह परिणाम है । दक्षिण में एक कुण्डलीमठ भी है । वहाँ के मठवाले अपने मठ को असली शृंगेरीपीठ बताते हैं । उनका कहना है शृंगेरी परम्परा प्रथम ही टूट गयी थी और आचार्य की परम्परा कुण्डली में ही चली । किन्तु ये सारी बातें समझ के परे की चीज हैं । परम्परा नाम की कोई रस्सी नहीं है जो बीच में खींचने पर टूटी और दूसरी रस्सी बनायी । जब शृंगेरी का महत्त्व स्वतः सिद्ध है तो उस पीठ पर किसी आचार्य का बैठना ही तो परम्परा है । उसके लिये कुण्डली में मठ बनाकर शंकर सुरेश्व-रादि को वहाँ बैठने की क्या जरूरत थी ? कामकोटि आदि को आचार्य मिलते रहे किन्तु महत्वपूर्ण शृंगेरी को तेरह सौ वर्ष तक कोई आचार्य नहीं मिला और कामकोटि को वहाँ जाकर उद्धार करना पड़ा इत्यादि बेसिरपैर की बातें वे ही मान सकते हैं जो अपने स्वीकृत समय में अभिनिवेश रखते हैं । कुछ लोगों का कहना है कि शृंङ्गेरी मठ में सुरेश्वराचार्य के बाद नित्यबोधघन और ज्ञानघन के जो नाम आते हैं ये कामकोटि के ही हो सकते हैं । क्योंकि शृंगेरी के नामों में घनशब्दान्त नहीं आता । कामकोटि में ही चिद्घन, सच्चिद्घन, विद्याघन, इत्यादि नाम आते है । शृंगेरी तो सरस्वती, भारती और पुरी ही आते हैं । किन्तु यह बात उनकी संन्यासी सम्प्रदाय के नामों के विषय में अत्यन्त अज्ञता मात्र प्रकट करती है । दशनाम में 'घन' नामान्त होता ही नहीं तीर्थ, आश्रम, वन, अरण्य, गिरि, पर्वत, सागर, सरस्वती, भारती और पुरी ये ही दस नाम हैं । इनमें प्रथम दो शारदा मठ के द्वितीय दो गोवर्धनाम्नाय के, तृतीय तीन ज्योतिर्मठ के और चतुर्थ तीन दक्षिणाम्नाय के हैं । कामकोटि के लिये इन्द्र सरस्वती नाम है । जैसे सदा शिवेन्द्र सरस्वती जयेन्द्र सरस्वती आदि । और दशनाम में यह भी नियम नहीं हैं । कि पूर्वविभक्त नामा वाले ही सम्बद्ध पीठ पर बैठे । शृंगेरी में गिरि नाम भी आचार्य हुए । और ज्योतिष्पीठ में ब्रह्मानन्द सरस्वती कुछ समय पूर्व बैठे ही थे । गोवर्धन मठ में भारतीय कृष्ण तीर्थ कुछ समय पूर्व आचार्य थे ही । वहाँ शृंगेरी की परम्परा टूट गयी इसकी पुष्टि के रूप में अज्ञात कारणों से ध्वस्त हो गया विरोधियों द्वारा ध्वस्त किया गया, तात्कालिक प्रबन्धकर्ता किसी तरह जान बचाकर वहाँ से भाग खड़ा हो गया । किन्हीं भक्तजनों के सहयोग से कुण्डली में आश्रम प्राप्त किया इत्यादि कल्पनायें कितनी

हास्यास्पद हैं यह वाचकवर्ग स्वयं सोच सकते हैं। और आगे हम शंकराचार्य के समय का आज निर्धारण करेंगे उससे ये सारी बातें शरारत पूर्ण गढंतमात्र हैं यह स्पष्ट होगा।

अब हम कुछ मान्य ऐतिहासिक तथ्यों पर दृष्टिपात करें। यह तो सर्वमान्य है कि आचार्य शंकर का आविर्भाव भगवान बुद्ध के बाद हुआ। आज के इतिहास-विशेषज्ञ यह मानते हैं कि भगवान बुद्ध का जन्म ईस्वी पूर्व 561 वर्ष में हुआ। और अस्सी वर्ष तक इस संसार में जीवित रहे अर्थात् ईस्वी पूर्व 481 में निर्वाण हुआ। यदि आचार्य शंकर का समय ई० पू० 509 से ई० पू० 477 हो तो इसका अर्थ है कि दोनों समकालिक थे। बुद्ध के मरण के समय आचार्य न्यूनतम बाईस वर्ष के रहे (यदि 481 में निर्वाण हुआ तो अट्टाईस वर्ष के) ऐसी स्थिति में बुद्धानुयायियों के साथ न होकर साक्षात् बुद्ध के साथ ही उनकी संनिधि में उनके अनुयायियों के साथ शास्त्रार्थ सम्भव था। क्या इस बात को इतिहास पढ़ने वाला बच्चा भी मान सकता है? समस्त शंकर दिग्विजयशंकराचार्यचरितादि के रचयिता एक स्वर से यह स्वीकार करते हैं कि बौद्धों ने जो वैदिक धर्म पर प्रहार किया। इसके प्रतिविधानार्थ ही शंकर का प्रयत्न रहा।

शाक्याद्युद्दामकण्ठीखनखरकराक्रान्तसं जातमूर्च्छाम्
छन्दोधेनुं यतीन्द्रः प्रकृतिमगमयत् सूक्तिपीयूषवर्षैः
सोऽयं श्री शंकराचार्य

इत्यादि उक्तियों का कुछ भी अर्थ पूर्वोक्त पक्ष में नहीं रहता है। क्योंकि यह बात विश्वविदित है कि बुद्ध के बाद में ही बौद्धमत का पूर्ण विस्तार हुआ। तब यही कहना होगा आचार्य का वेदोद्धारार्थ प्रयत्न पूर्णरूपेण असफल ही रहा। इस प्रकार अपने पाँव पर ही कुल्हाड़ा मारने वाला यह पक्ष वे ही मान सकते हैं, जो अपने पकड़े खरगोश के चार सींग करने में लगे हैं। दूसरी बात यह है कि आचार्य ने वैभाषिक सौत्रान्तिक योगाचार एवं माध्यमिक इन चारों सिद्धान्तों का यथा सम्भव निराकरण किया है। यह निश्चित बात है। कि ये चार मत भेद बुद्ध के काफी समय बाद में हुए हैं। इनमें वैभाषिक मत का प्रवर्तक कात्यायनी पुत्र बुद्ध के तीन सौ वर्ष बाद में हुआ। इनके अभिधर्म ज्ञानप्रस्थान शास्त्र नाम के ग्रन्थ में 15 हजार श्लोक थे जिनका चीनी अनुवाद मात्र आज प्राप्त है। उस पर कनिष्क के समय में विभाषा नाम की एक विस्तृत व्याख्या लिखी गयीजिसको लेकर वैभाषिक नाम पड़ा। सूत्र पिटक सिद्धान्ततः मानने वाले सौत्रान्तिक हैं। इसका मुख्य प्रवर्तक कुमार लात बुद्ध के चार सौ वर्ष बाद में हुआ। योग विशेषरूप से जहां वर्णित है वह योगाचार है। मैत्रेयनाथ इसके मुख्य प्रवर्तक हैं। मैत्रेय का शिष्य असंग समुद्र गुप्त के समय काश्मीर से अयोध्या आकर बसा था। अतः ये संवतः ई० चतुर्थशती के आस-पास के हो सकते हैं। माध्यमिक माध्यमा प्रतिपत् से जो चलता हैं। उसको कहते हैं। इसका मुख्य प्रवर्तक नागार्जुन था। इन्हीं के नाम से आन्ध्र में नागार्जुन सागर बनाया गया है। आन्ध्र राजा गौतमी पुत्र यज्ञश्री के ये समकालिक माने जाते हैं। यज्ञ श्री का समय है 166 ई० से196 ई० तक। अर्थात् द्वितीय शतक। आचार्य ने प्रायः इन सबका निराकरण किया है। अतः द्वितीय शतीसे पूर्व आचार्य को ले जाना संभव नहीं है। परन्तु प्रतिपक्षी तुरन्त बोल उठेंगे कि ये सब सिद्धान्त पहले से ही प्रचलित हैं। अर्थात् बुद्ध ने ही सब कुछ बताया है। इसके लिये हम आगे और बढ़ते हैं।

ब्रह्मसूत्र में तर्कपाद के शंकर भाष्य में बौद्ध निराकरण के अवसर पर आचार्य ने बौद्धाचार्य दिङ्नाग की 'आलम्बन परीक्षा' से यह अर्ध श्लोक उद्धृत किया है—

"यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद् बहिर्वदवभासते"

आलम्बम परीक्षा में सिर्फ 8 पद्य हैं। जिन में छटा पद्य इस प्रकार है—

"यदन्तर्ज्ञेयरूपं तु बहिर्वदवभसाते।
सोऽर्थो विज्ञानरूपत्वात् तत्प्रत्ययतयापि च ॥"

दिङ्नाग का जन्म कांची के पास सिंहवक्त्र नाम के ग्राम में एक ब्राह्मण कुल में हुआ। ये आचार्य वसुबन्धु के शिष्य थे। वसुबन्धु का समय 283 ईस्वी से 363 ई० तक बताया जाता है। अर्थात् वे चतुर्थशती के थे। उनके शिष्य दिङ्नाग उसी शती के अन्तिम भाग में या अधिक से अधिक पञ्चम शती के आदिम चरण तक रहे होंगे।

दिङ्नाग के बाद अत्यन्त प्रसिद्ध बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति हुए। धर्मकीर्ति की विज्ञान वादविषयक एक कारिका प्रसिद्ध है—

सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियो:
भेदश्च भ्रान्तविज्ञानैर्दृश्यतेन्दाविवाद्वये

भामती में पूरा श्लोक उद्धृत किया है। किन्तु इसमें पूर्वार्ध प्रमाण विनिश्चय में और उत्तरार्ध प्रमाण-वार्तिक में उपलब्ध होता है। धर्मकीर्ति के वादन्याय नाम के ग्रन्थ में यथानुपूर्वी पूरा श्लोक ही है। ऐसे अनु-संधानकर्ता विद्वानों ने खोज निकाला है। आचार्य शंकर ने इस श्लोक का कुछ अर्थत: और कुछ शब्दत: उद्धरण वहीं तर्कपाद में किया है।

सहोपलम्भनियमादभेदो विषयविज्ञानयोः

इस प्रकार वहाँ की पंक्ति है।

श्रीमान् उदयवीर शास्त्री का कहना है कि, इस प्रकार यत्किंचित् साम्य को लेकर उसे धर्मकीर्ति के वचन का उद्धरण मानना ऐतिहासिक तथ्यों के साथ अन्याय है। "यदन्तर्ज्ञेयं रूपं तत्" इत्यादि पूर्वदर्शित वचन पर विशेष विचार करने का भी वादा उन्होंने पाठकों से किया है। आपका खयाल है कि यह सभी विषय दिङ्नाग और धर्मकीर्ति आदि का कोई मौलिक चिन्तन नहीं है। उनके पूर्वाचार्यों ने भी इस पर विचार किया है। उनका विचार है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जो चौबीस सौ वर्ष पूर्व आचार्य का समय लिखा है वह महर्षि वचन होने से मिथ्या नहीं हो सकता है। परन्तु बात यह है कि शास्त्री महोदय केवल दूसरों के लिखे हुए उद्धरण तक ही जा सके। स्वयं आचार्य के अन्य ग्रन्थों का अध्ययन नहीं कर सके। उपदेशसाहस्री आचार्य शंकर भगवत्पाद का निःसन्दिग्धा ग्रन्थ है। क्योंकि स्वयं सुरेश्वराचार्य ने अपने वार्तिकादि ग्रन्थों में वहाँ के श्लोकों का उद्धरण दिया है। वहाँ आचार्य ने धर्मकीर्ति का एक पूरा श्लोक लिखा है—

अभिन्नोऽपि हि बुद्ध्यात्मा विपर्यसितदर्शनैः।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते। (उप 18142)

कोई कह सकता है कि यहाँ के पूर्व पक्ष श्लोक को धर्मकीर्ति ने उठाया। अपने सिद्धान्तार्थ तो यह केवल इतिहास पर धूल डालना ही नहीं बल्कि एक सुप्रतिष्ठित विद्वान् पर चोरी का कलंक लगाना भी है। आचार्य के किये खण्डन का मण्डन धर्मकीर्ति को करना चाहिए था वह भी नहीं हुआ। अत: एव अभिनिवेशप्रयुक्त कुतर्कमात्र पर इतिहास बनाना कहाँ तक न्याय्य है यह सोचना ही होगा। दूसरी बात—इसी श्लोक को बृहदारण्यवार्तिक (4-3-476) में भी पूर्णपक्षरूप से उठाया है। वहाँ आनन्दगिरिकृत व्याख्या देखिये—"ग्राह्यग्राहकभावस्य कल्पितत्वं न बौद्धराद्धान्त:, ते खल्वेकत्र विज्ञाने तद्भावं वास्तविकमिच्छन्तीत्याशङ्क्य तत्कल्पितत्वे कीर्तिवाक्य-मुदाहरति—अभिन्नोऽपीति। तस्मान्न वस्तुतो ग्राह्यग्राहकभेदोऽस्तीति शेष:।" यहाँ स्पष्ट ही उक्त श्लोक को आनन्द गिरि ने कीर्तिवाक्य बताया है। धर्मकीर्ति को ही अल्पाक्षर में सर्वत्र कीर्तिशब्द से उल्लिखित किया जाता है। जैसे चिन्तामणिकार को मणिकार कहते हैं।

यह श्लोक इन नवीन अन्वेषियों की नजर में नहीं पड़ा है। क्योंकि इस पर प्रकाश डालने का किसी ने प्रयत्न नहीं किया है। अब दृष्टिगोचर होने के बाद इस पर भी धूलिप्रक्षेप करने का प्रयास होगा ही। कह देंगे कि यह श्लोक बृहदारण्यक वार्तिक से धर्मकीर्ति ने लिया होगा। आनन्दगिरि ने भ्रान्ति से इसेकीर्ति वचन कह दिया है। परन्तु इस प्रकार ऐतिहासिक तथ्य को उल्टा सीधा करने वालों के दुर्भाग्य से या इतिहासान्वेषकों के

सद्भाग्य से एक जगह सुरेश्वराचार्य ने साक्षादेव धर्मकीर्ति का नाम ले लिया है। यह श्लोक इस प्रकार है :

त्रिष्वेव त्वविनाभावादिति यद्धर्मकीर्तिना।
प्रत्यज्ञायि प्रतिज्ञेयं हीयेतासौ न संशयः ।। (43.753)

इसका भी यदि अन्यथा-अन्यथा अर्थ करते हुए और पूरे प्रकरण में आनन्दगिरीय व्याख्या को भी गलत बताते हुए यदि कोई आचार्य को पूर्व ले जाने को कोशिश करे तो यह इतिहास का गला घोटने के अलावा कुछ नहीं माना जा सकता। इस श्लोक ने तथाकथित विचारको को जितना नुकसान पहुँचाया उतना किसी अन्य ने नहीं। काश ! सुरेश्वराचार्य धर्मकीर्ति का नाम न लेते तो इन नवीनों का विजयडिण्डिमघोष पूरे जगत् में गूंजता।

कुछ मनीषी इस भयंकर पाप से बचने के लिए नया रास्ता यह निकालने की कोशिश करते हैं कि धर्मकीर्ति, दिङ्नाग आदि शंकर से पूर्व जरूर हुए किन्तु उनके समय के बारे में भी पुन: शोध होना चाहिए। उनकी मान्यता यह है कि हमें अंग्रेजी पादरियों पर लट्टू होकर अपना अस्तित्व खोना नहीं चाहिए। आचार्य शंकर आज से बारह सौ वर्ष पूर्व नहीं, पच्चीस सौ वर्ष पूर्व हुए अर्थात् आजकल के इतिहास के समय से तेरह सौ वर्ष उन्हें पूर्व ले जाना चाहिए। उसी अनुपात से धर्मकीर्ति, दिङ्नाग, वसुबन्धु, नागार्जुन आदि सभी बौद्धाचार्यों को आधुनिक निश्चित समय से तेरह-तेरह सौ वर्ष पूर्व ले जाना चाहिए। धर्मकीर्ति का समय 625 ई०से 650 ई० तक की कल्पना करते हैं। उनको तेरह सौ वर्ष पीछे ले जाइये तो ई० पू० 675 से ई० पू० 650 तक उनका अस्तित्वकाल होगा। इसी प्रकार दिङ्नागादि का भी हिसाब कर लो। किन्तु इसमें सबसे भारी तकलीफ यह आ गयी कि हुएनसांग और इत्सिंग नाम के दो चीनी यात्री इस बीच में भारत में आ टपक पड़े और कुछ ऐतिहासिक सामग्री छोड़ गये। हुएनसांग (हुएन च्यांग) का समय था ई० उ० 679। यह उनके लेख से निश्चित है। उस समय नालन्दा विश्वविद्यालय जोरों पर था। धर्मपाल नाम के आचार्य का शिष्य शीलभद्र उस समय नालन्दा का प्रधानाचार्य था जिससे हुएनसांग ने अध्ययन किया। और ये धर्मकीर्ति धर्मपाल के ही शिष्य थे। यह इत्सिंग ने बताया है। इत्सिंग (671-695) ने अपने ग्रन्थ में धर्मकीर्ति का सम्यक् उल्लेख किया है। अत: धर्मकीर्ति को सातवीं शताब्दी से पीछे ले जाने का कोई रास्ता नहीं है। हाँ सारी दुनिया को मिथ्या सिद्ध कर अपनी बात को सामने रखिये तो अलग बात है। इस प्रकार आचार्य शंकर और सुरेश्वर का समय एक होने से और सुरेश्वर के द्वारा धर्मकीर्ति का स्पष्ट नामोल्लेख होने से सातवीं शती के धर्मकीर्ति के परवर्ती आचार्य शंकर आठवीं शती के ही सिद्ध होते हैं। ऐसी स्थिति में "यदन्तर्ज्ञेय-रूपं" इत्यादि दिङ्नाग की कारिका के आचार्यकृत उल्लेख पर और "सहोपलम्भनियमादभेदः" इस धर्मकीर्तीय कारिकैकदेश के उद्धरण पर नानाविध कल्पनायें करते हुए ऐतिहासिक निष्कर्ष को अन्याय बोलना ही घोर अन्याय माना जायेगा।

अब हम एक दूसरे प्रकार से भी विचार करें। इन सब बौद्धाचार्यों को तेरह-तेरह सौ वर्ष पीछे ढकेलकर शंकर को पचीस सौ वर्ष पूर्व सिद्ध करने के प्रयास से भी काम नहीं चलेगा। क्योंकि इन बौद्धाचार्यों ने न्यायादि-शास्त्रों का भी खण्डन किया है। उनको भी उसी प्रकार पीछे पहुँचाना होगा अर्थात् चतुर्थ या पंचम शती के दिङ्नाग को ईसा पूर्व अष्टम या नवम शती में ले जाओ। परन्तु दिङ्नाग ने वात्स्यायन भाष्य का खण्डन किया है। अत: न्यायभाष्यकार को कम से कम अड़तीस सौ वर्ष पूर्व (आज से) ले जाना पड़ेगा। क्योंकि वात्स्यायन का समय आधुनिक अन्वेषको के अनुसार ई० पू० दो सौ से चार सौ तक है और दिङ्नाग का खण्डन उद्योत करने न्यायवार्तिक में किया है। परन्तु सुप्रसिद्ध धर्मकीर्ति का कहीं भी खण्डन नहीं किया है—अतएव

"कुतार्किका ज्ञाननिवृत्तिहेतुः
करिष्यते तस्य मया निबन्धः।"

इस प्रतिज्ञा से ग्रन्थारम्भ करने वाले के द्वारा धर्मकीर्ति का अस्पर्शन धर्मकीर्ति से उनका पूर्वकालीनत्व सिद्ध करता है। किन्तु धर्मकीर्ति नाम ग्रहण किये बिना ही वार्तिक का खण्डन करते हैं। वार्तिककार ने 'प्रत्यक्षं

कल्पनापोढं' यह अंश उठाया है। वाचस्पति ने टीका में इसे दिङ्नाग का लक्षण बताया है। दिङ्नाग का श्लोक है—

"नापि पुनः प्रत्यभिज्ञाऽनवस्था स्वात्स्मृतोदिवत्।
प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नाम जीत्याद्यसंयुतम्॥" (प्रमाण समुच्चय)

वार्तिककार उद्योत करने कल्पनापोढं का अनेक विकल्प कर अर्थ किया और खण्डन किया। शब्दाविषय कल्पनापोढ है तो कल्पनापोढं शब्द का ही विषय कैसे बन गया। फिर प्रत्यक्ष शब्द से उसी को ही तो कहना है। और पूर्णस्वरूप ज्ञान शब्दादि से नहीं होता। ऐसा आशय कहो तो सारे जगत् का हो यह लक्षण होगा। इत्यादि। धर्मकीर्ति इसका निराकरण सूत्र द्वारा सूचित करते हैं।

"द्विविधं सम्यग् ज्ञानं (प्रत्यक्षमनुमानं च)
तत्र कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्"

'तत्र' का अर्थ है ज्ञानद्वयमध्ये। अब बताइये जगत् में लक्षण कैसे जायेगा? कल्पनापोढं ज्ञानं यह प्रत्यक्ष लक्षण है। कल्पनापोढं का अर्थ है कल्पना-अनुमान स्वभाव से रहित। यह लक्षण केवल प्रत्यक्ष में ही जायेगा। भ्रान्ति-प्रत्यक्षवारणार्थ अभ्रान्त विशेषण है। इसका दूषण वार्तिककार ने नहीं किया, बल्कि स्पर्श तक नहीं किया। वाचस्पति ने अवश्य खण्डन किया है। वाचस्पति ने विकल्प में अतिव्याप्ति बतायी है। "शब्दज्ञानानुपाती वस्तु-शून्यो विकल्पः" यह विकल्प लक्षण है। शशश्रृंगादि शब्द से वस्तुरहित एक ज्ञान होता है। वह कल्पना-अनुमान नहीं है। भ्रान्त इसलिये नहीं कहा जा सकता है कि वह विफल प्रवृत्तिजनक नहीं है। उसमें कोई अर्थ ही नहीं है। हम यहाँ व्याख्या विस्तार करना नहीं चाहते हैं। मूल ग्रन्थ में ही देख सकते हैं।

इससे यह निष्कर्ष निकला कि उद्योतकर के बाद धर्मकीर्ति हुआ। अर्थात् उद्योतकर को भी तेरह सौ वर्ष पीछे ले जाओ। ईसवी पूर्व कम-से-कम 6 शती पीछे को इन्हें भगाओ फिर उसके बाद न्याय शास्त्र और वेदान्तादिशास्त्र के विद्वान एकमात्र वाचस्पति आते हैं। न्यायशास्त्र पर लगभग पन्द्रह सौ वर्ष तक कोई लेखक नहीं रहा, वेदान्तादि पर भी तेरह-चौदह सौ वर्ष तक कोई लेखक नहीं रहा क्योंकि वाचस्पति ने अपना समय स्पष्ट लिख दिया है (वस्वङ्क वसुवत्सरे) अगर वाचस्पति ने यह न लिखा होता तो उनको भी तेरह सौ वर्ष पहले ये इतिहासवेत्ता परक देते। अब वाचस्पति की न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका की ये पंक्तियाँ बाँचिये—

यद्यपि भाष्यकृता कृतव्युत्पादनमेतत् तथापि दिङ्नागप्रभृतिभि—
रर्वाचीनैः कुहेतसन्त मससमुत्थापनेनाच्छादितं शास्त्रम्"........

इस पंक्ति में 'अर्वाचीनैः' यह पद विचारणीय है। अर्वाचीन का प्रयोग नव्य अर्थ में होता है। केवल परवर्ती अर्थ हो तो वह स्वतः सिद्ध होने से व्यर्थ कथन होगा। क्योंकि भाष्यकार कृत व्युत्पादन भाष्यात्मक ही है उसका आच्छादन भाष्योत्तर ही होगा और प्राचीन विद्वान व्यर्थ पद प्रयोग नहीं किया करते थे। प्रत्येक पद का पदकृत्य न्यायशास्त्र में सुप्रसिद्ध है। अतः अर्वाचीन पद सम्बद्ध व्यक्ति के काफी बाद और अपने थोड़ा पीछे होने से ही प्रयुक्त हुआ है। यही ग्रन्थकार सम्प्रदाय भी है। यहाँ भाष्यकार से दिङ्नाग दो-तीन सौ वर्ष बाद में और वाचस्पति दिङ्नाग से सोलह-सत्रह सौ वर्ष बाद। ऐसी स्थिति में अर्वाचीन पद सर्वथा असंगत होगा। हमें तरस तो तब आती है कि स्वयं मूल ग्रन्थों का अध्ययन न कर दूसरों के उद्धृत वचनों पर ही निर्भर रहते हुए उन्हीं को गाली देने लगते हैं। अवश्य ही हमें स्वतन्त्र रूप से विचार करना चाहिए। किन्तु स्वतन्त्र विचार किस प्रकार किया जाता है? उसके मार्गदर्शक एवं गहन चिन्तकों पर कीचड़ फेंकना तो उचित है ही नहीं।

धर्मकीर्ति तथा दिङ्नाग के स्पष्ट परवर्ती होने मात्र से ही आचार्य की तथा उनके प्रायः समकालिक रूप प्रसिद्ध महापुरुषों की ईस्वी उत्तरवर्तिता सिद्ध हो जाती है तथापि सनातन धर्मावलम्बियों की सन्तुष्टि के लिए कुछ अन्य प्रमाण भी हम प्रस्तुत करना चाहते हैं। यह अत्यन्त सुप्रसिद्ध है कि भर्तृहरि विक्रमादित्य के बड़े भाई थे।

एवं महान वैयाकरण थे। स्फोटवाद के प्रवर्तक नहीं तो भी स्फुट वर्णन करने वाले भर्तृहरि ही प्रसिद्ध है। अतएव स्फोटवाद का खण्डन या मण्डन जो भी करना हो उसके लिए भर्तृहरि का ही उदाहरण प्रायः सभी आचार्य देते हैं, चाहे वे वैदिक हों चाहे बौद्ध। स्फोटवाद का खण्डन आचार्य ने शारीरक भाष्य में किया है। यद्यपि वहाँ भर्तृहरि का नाम नहीं लिया गया है फिर भी भर्तृहरि प्रतिपादित सिद्धान्त पर सम्यक् विचार किया है इतना ही नहीं, आचार्य के समकालिक रूप से प्रसिद्ध कुमारिल वभट्ट एवं मण्डन मिश्र दोनों ने वाक्यपदीय श्लोकों का उद्धरण न दिया है।

तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते (वा: 1: 13)

इस वाक्यपदीय श्लोक का उद्धरण देकर कुमारिल ने व्यंग्य किया है कि

'अत एव श्लोकोत्तरार्धं वक्तव्यं:

तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति श्रोत्रेन्द्रियादृते'

यह तन्त्रवार्तिक (जै. अ. 1 पा. 3 अ. 8 सूत्र 24) में देखा जा सकता है। अन्य भी कई उद्धरण पूर्व पक्ष रूप में और कहीं संवाद रूप में भी दिया है। आचार्य समकालीन मण्डन मिश्र ने भी ब्रह्म-सिद्धि में—

"सत्यमाकृतिसंहारे यदन्ते व्यवतिष्ठते"

इस प्रकार अपने समर्थन में हरिकारिका का उद्धरण दिया है। (हरिभर्तृहरिःस्मृतः इस त्रिकाण्डशेष कोष से भर्तृहरिको ही हरि भी कहते थे।) भर्तृहरि विक्रमादित्य के बड़े भाई थे यह लोक प्रसिद्ध है ही, "नामूला हि जनश्रुतिः" के अनुसार उसे अत्यन्त निर्मल मानना उचित भी नहीं और जराधर ने भी यही बात लिखी है। अब भर्तृहरि को भी इन नवीन अन्वेषकों के अनुसार तेरह-सौ वर्ष पीछे ले जाना पड़ेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि उनके कनिष्ठ भ्राता विक्रमादित्य को भी तेरह सौ वर्ष पूर्व ले जाइये अर्थात् आज से तैंतीस सौ वर्ष पहले बिक्रमादित्य हुए। बिक्रम संवत् आज 2045 वाँ चल रहा है। क्या कोई सनातन धर्मी इस बात को मानेगा कि बिक्रम संवत् 2045 झूठा है, असल में सं० 3345 वाँ चल रहा है? ऐसा कहने वाले को चाहे वह सनातनी हो, पाश्चात्य हो या और भी कोई हो पागल से अतिरिक्त कोई संज्ञा नहीं दी जा सकती। हमारे लिये विक्रम संवत् सुदृढ़तर प्रमाण है। यद्यपि अंग्रेजों ने विक्रम को पाँचवीं शती में रखने की कोशिश की है और भर्तृहरि के प्रमाणों का उद्धरण देनेवाले विद्वान लेखक पाँचवी शती तक के ही प्राप्त होते हैं तथापि हम इस बात पर सुदृढ़ हैं कि विक्रम संवत् 2045 सही है। परन्तु इससे पीछे ले जाने के लिये कोई भी तैयार नहीं है। इससे आचार्य शंकर को ईस्वी पूर्व पंचम या षष्ठ शताब्दी में ले जाने के पक्षधरों की बात पूरी तरह से कट ही जाती है। साथ ही दिङ्नाग धर्म कीर्ति आदि के अन्वेषित समय पर भी आँच नहीं आ सकती। तब सप्तम शती के धर्मकीर्ति का उल्लेख करने वाले सुरेश्वराचार्य एवं श्लोकोद्धरण देने वाले शंकराचार्य का समय ईस्वी पूर्व नहीं किन्तु ई० उत्तर आठवीं शती ही सत्य ठहरती है।

अब हम अपने इतिहासों के धरोहर के रूप में प्रसिद्ध इतिहास पुराणादि पर भी थोड़ी नजर डालें। यह तो सर्वविदित और इतिहास प्रसिद्ध है कि राजा कनिष्क और अश्वघोष समकालिक थे। इनके बाद में ही दिङ्नागादि हुए। कनिष्क का समय निर्णय हम पुराणों से निश्चित कर सकते हैं। पुराणों की अवहेलना भारतीयों के लिए एक भयंकर भूल है। जिसके शिकार हमारे आर्य भाई हमेशा रहे हैं भले ही वहाँ (पुराणों में) अर्थवाद रूप में लाखों वर्षों की तपस्या आदि का वर्णन किया हो या 'अहोरात्रेवै संवत्सरः' आदि के अनुसार कहीं वर्णन किया हो। किन्तु जहाँ प्रसिद्ध इतिहास बताना है वहाँ पुराणकार ठीक-ठीक बताते हैं। श्रीमद्भागवत् में नवम-स्कन्ध के बाईसवें अध्याय के अन्त में—

अथ मगधराजानो भवितारोवदामिस्ते ॥

भविता सहदेवस्यं मार्जारियेछुतच्छ्रुवाः ॥

इस प्रकार जरासन्ध के पुत्र सहदेव (राजा परीक्षित समकालीन) से उपक्रमकर भावी मगध राजाओं का सहस्रवर्षपर्यन्त राज्य बताया। अन्तिम श्लोक है—

सुनिथ: सत्यजिदथ विश्वजिद् यद् रिपुञ्जय: ।
बार्हद्रथाश्चे भूपाला भाव्या: साहस्रवत्सरम् ॥

इसके अनुसंधान में फिर द्वादस्कन्ध में पुरञ्जमय को, जिसको श्री धरी टीका में पूर्वोक्त रिपुञ्जय बताया, उठाकर उसके अमात्य शुनक द्वारा उनकी हत्या करने और अपने पुत्र प्रद्योत को राजा बनाने की बात बतायी। तदन्तर प्रद्योतवंश के पाँच राजा 138 वर्ष राज्य करते हैं। फिर शिशु नागवंश के दन्त राजा 360 वर्ष नन्दवंश के नौ राजा 100 वर्ष, मौर्यदंश के दन्त राजा 137 वर्ष शृंगवंशी दस राजा 100 वर्ष से कुछ अधिक, कण्ववंशी 345 वर्ष, आंध्रजातीय तीस राजा 456 वर्ष राज्य करते हैं। श्री कृष्ण के उत्तर 30 वर्ष बाद यह कथा चलती है तो उसे भी मिलाने पर (30+1000+138+360+100+134+100+345+456-) 2666 कलि वर्ष होते हैं। इसके बाद 7 अभीर, 10 गर्दभी, 16 कङ्क, 8 यवन और 14 तुरुष्क 55 राजा 1099 वर्ष राज्य करते हैं। एक एक्का समय सम भाग करने से प्राय: बीस-बीस वर्ष निकलता है। कल्हण के अनुसार हुष्क-जुष्क के बाद कनिष्क आता है। अर्थात् 44 वाँ राजा कनिष्क है। फलत: 860 वर्ष बाद। इस हिसाब से 2666 860 3526 कलिसंवत में कनिष्क आया अर्थात् 425 ई० में। परन्तु सबने बीस-बीस वर्ष राज किया हो ऐसा नहीं हो सकता। अत: सौ दो सौ वर्ष का फरक भी आ सकता है। सर्वथापि कनिष्क का काल दूसरी या तीसरी शती आता है। जो बहुत से आधुनिक गवेषकों को इष्ट है। फिर जो कुछ कम बेसी करना है वह इसी 1099 में ही करना पड़ेगा माना जाय कि सात अभीर परस्पर भाई थे एवं दस गन्दर्भ, सोलहकङ्क तथा आठ यवन भी थे। फिर चतुर्दश तुरष्क को पृथक मानना होगा। तब एक-एक के पीछे (18,1099'61) इकसठ-इकसठ वर्ष पड़ते हैं। जो बहुत ज्यादा है। फिर भी छह राजाओं के बाद कनिष्क माना जाता है तो भी न्यूनतम 366, वर्ष बाद ही मानना होगा। तब 2666 366=3032 कलिसंवत में कनिष्क का राज्य मान्य होगा। अर्थात् आज से (5089—3032=) 2057 वर्ष पूर्व। अर्थात् ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी या अधिक से अधिक ई० पू० 5 द्वितीय शताब्दी का अन्त। ऐसी स्थिति में कलहण का यह कहना है कि कनिष्क से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व बुद्ध का निर्वाण हुआ यह हिसाब या किंवदन्ती की गड़बड़ी ही लगती है। कम-से-कम तीन सौ-साढ़े तीन सौ वर्ष कहना चाहिए था। सर्वथापि कनिष्क कालीन अश्वघोष के बाद ही दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि काल आता है जो ईस्वी पूर्व हो ही नहीं सकता।

धर्मकीर्ति धर्मपाल का शिष्य था। 635 में धर्मपाल का अस्तित्व ह्वेनसांग के लेखों से स्पष्ट है। 627 ई० से 698 तक जीवित राजा सोत्संगम्पो के समकालीन धर्मकीर्ति था यह भी प्रसिद्ध है। छोटा होने से ह्वेनसांग ने धर्मकीर्ति का नाम न लिया हो। 'पर 671 ई० से 695 तक भारत यात्रा में स्थित इत्सिंग ने धर्मकीर्ति का प्रभावशाली ढंग से वर्णन किया है। फलत: धर्मकीर्ति का समय सातवीं शती का मध्य स्थिर होता है। नया प्रश्न यह है कि इसके बाद आचार्य शंकर के लिए 788 तक की क्यों प्रतीक्षा ? या उनको कुछ और बाद तक क्यों न ले जाये ? कुछ लोग 3785 कलि सं० अर्थात् 684 ई०, और कुछ अन्य नवमी शती के मध्य मानते भी हैं। किन्तु बाद में ले जाने के लिए खूंटे के रूप में वाचस्पति का समय आता है।

न्यायसूचीनिबन्धोऽयमकारी विदुषां मुदे ।
श्री वाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्कवसुवत्सरे ॥

यह स्वयं वाचस्पति ने लिखा है। वसु 8=अङ्क=9 वसु=8/898 वि० स० में न्यायसूची निबन्ध की रचना हुई। विक्रम संवत् और इस्वी सन् में 57 वर्ष का फरक पड़ता है। अर्थात् ई० 842 में वह रचना हुई। वह शकसवत्सर ही क्यों न माना जाये इस प्रकार अर्थात् 78 और जोड़कर 976 ई० ही क्यों न माना जाय इस पूर्व

पक्ष का उत्तर यह है कि वाचस्पति कृत न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका पर तात्पर्य परिशुद्धि लिखने वाले उदयनाचार्य ने भी अपना समय निर्देश किया है। लक्षणावली नाम के अपने लघु ग्रन्थ में उन्होंने उसका समय 906 लिखा है। यदि 898 शकाब्द हो तो सिर्फ आठ वर्ष का अन्तर रह जाता है। इतना अन्तर किसी भी हालत में पर्याप्त नहीं है। क्योंकि न्यायसूची निबन्ध वाचस्पति का प्राथमिक ग्रन्थ लगता है। अतः वस्वङ्क वसुवत्सरे यह विक्रम संवत् ही होना चाहिए। आचार्य का समय यदि 788 ई० से 820 ई० तक हो तो ई० 842 के वाचस्पति के बीच में 22 वर्ष का ही अन्तर रह जाता है। किन्तु यह न्यायसूची निबन्ध ग्रन्थ का समय होने से वाचस्पति का जन्म उससे कुछ वर्ष अर्थात् उपनयन अध्ययनादि में आवश्यक वर्ष से पहले मानना होगा। तो क्या वाचस्पति आचार्य के समकालीन थे ? दूसरी बात यह है कि शंकर भाष्य का खण्डन करने का प्रयास भास्कराचार्य ने किया है और उसका उद्धार वाचस्पति ने भामती में किया है। किसी भी ग्रन्थ के प्रचार एवं खण्डन-मण्डन के लिए न्यूनतम 50 वर्ष तो रखता ही होगा अर्थात् वाचस्पति तक तीसरी पीढ़ी होने से वाचस्पति के समय 842 से सौ वर्ष पूर्व आचार्य का समय होना चाहिए तब आठवीं शती का प्रारम्भ या सातवीं शती का अन्त आचार्यकाल मानना ही उचित है। जिस के अनुसार 684 से 716 तक आचार्य के जीवनकाल की पुष्टि होती है इतनी ही बात नहीं, तीसरी बात यह कि 783 ई० के जैनाचार्य जिनसे मैंने अपने जैन ग्रन्थ अष्टसाहस्री के रचयिता नित्यानन्द का उल्लेख किया है। नित्यानन्द ने सुरेश्वराचार्य के वार्तिक का उद्धरण दिया है फलतः आचार्य शंकर, सुरेश्वर, नित्यानन्द, जिनसे न इस क्रम में न्यूनतम सौ वर्ष होते हैं तो जिनसेन 783 ई० से सौ घटाने पर वही 683 या 684 हिसाब आता है। इस जटिल पूर्व पक्ष का समाधान यह है कि जनमत के खण्डन में आचार्य ने जिस सिद्धान्त का वर्णन किया है वह अकलंक के साक्षात् गुरु समन्त भद्र का प्रतीत होता है क्योंकि वाचस्पति ने भाष्योद्धृत जैनमत को उन्हीं का मत साबित करने के लिए समन्त भद्र के—

"स्याद्वादः सर्वथैकन्त त्यागात्किंवृतचिद्विधेः।
सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयवि शेषकृत्"

इस श्लोक का उद्धरण दिया है। जैसे बौद्धमत प्रति पादक धर्मकीर्ति के वचन का उद्धरण है वैसे ही यह भी है। अतः किसी अतिपूर्वाचार्य का मत मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। समन्तभद्र के साक्षात् शिष्य का समय 753 है तो गुरु का भी वही समय होगा। तब आचार्य को सातवीं शती में मानना सम्भव नहीं है। और जैनमत को सनातनी तक पहुँचने में काफी समय लगता है अतोत्ति मतोद्धर आठवीं में ही सम्भव हैं।

इस विषय में अपनी ओर से यही कहना चाहूँगा कि प्रथम विप्रतिपत्ति में आचार्य का भाष्य प्रणयन षोडश वर्ष में होने से 804 ई० तक भाष्य रचना का कार्य पूरा हो चुका था। स्वयं उद्भट प्रचारक होने से दो-चार साल में ही पूरे भारत वर्ष में भाष्य का प्रचार हो चुका था अतएव भास्कर के हाथ तक भाष्य के पहुँचने में पचास वर्ष की कल्पना व्यर्थ है। भास्कर दस साल के अन्दर ही खण्डन में प्रवृत्त हुआ होगा। भास्कर के ग्रन्थ प्रचरण में थोड़ा अधिक समय अवश्य लगा होगा उसके लिए पचास वर्ष भी रखे तो भी 10 + 50 = 60 वर्ष जोड़ने पर 864 ई० हो सकता है। इधर वाचस्पति का न्यायसूची निबन्ध प्राथमिक ग्रन्थों में एक होना चाहिए क्योंकि उसमें व्याख्या की प्रौढ़ता आदि का कोई सवाल ही नहीं है। उसका लिखना तो प्रामाणिक गुरु के पाठ-दर्शन मात्र से विद्यार्थी अवस्था में भी सम्भव है। भांमती तो वाचस्पति का अन्तिम ग्रन्थ माना जाता है। अर्थात् तीस चालीस वर्ष बाद का। मतलब 870 ई० 880 के अन्दर कभी भी हो सकता है। तब तक भास्कर का ग्रन्थ वाचस्पति ने यदि वस्वङ्क वसुवत्सरे यह शकाब्द का निर्देश किया हो तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। केवल उदयनाचार्य के शकाब्द से ही थोड़ी गड़बड़ी होती है। परन्तु लक्षणावली भी तो उदयन का प्राथमिक ग्रन्थ है। वाचस्पति की प्रसिद्धि भी द्वादशदर्शन काननपञ्चानन के रूप में त्वरित गति से हो गयी थी। उदयनाचार्य ने तात्पर्य परिशुद्धि नाम की टीका लिखी परिशुद्धि शब्द से ऐसी ध्वनि निकलती है कि उसमें जो अशुद्धि जैसी है उसे

साफ किया। परितः शुद्धिः परिशुद्धिः। अर्थात् सिद्धान्त सही है। युक्ति आदि में जो दूसरों ने कीचड़ डाला उसकी शुद्धि की। जो भी हो यह शब्द समान कक्षता का सूचक जैसा लगता है। अतएव इससे समसामयिकत्व की भी कुछ झलक मिलती है। अन्यथा किरणावली जैसे शब्द के समान किसी शब्द का प्रयोग करते। खैर, यह तो एक कल्पनामात्र है। तात्पर्य इतना ही है कि कदाचित् 898 का शकसंवत् मानने में कोई भारी आपत्ति नहीं आती फिर भी सर्वसम्मति विक्रम् संवत की ओर होने से उस पक्ष को स्वीकारने में भी कोई आपत्ति नहीं यह हम दिखा ही चुके।

द्वितीय विप्रतिपत्ति में हमारा कहना यह है कि अकलंक का जन्म समय या बाल्य समय यदि 783 ई० हो तो ग्रन्थ रचना तो नवम शती के मध्य के आसपास ही हो सकती है अतः सुरेश्वर वार्तिक का उद्धरण कोई बड़ी बात नहीं है। क्योंकि आचार्य के जीवन काल में ही वार्तिक निर्माण भी हो गया था। 783 ई० के अकलंक के गुरु समन्त्रभद्र को बीस साल पहले रखा जाये तो यह भी कोई असंगत नहीं है। बल्कि हम यही कहेंगे कि समन्त्रभद्र और उनके शिष्य ये दो आगे और पीछे के लिए बाड़ बनकर आचार्य शंकर तथा सुरेश्वरादि को 750 ई० से 830 ई० के मध्य समय के ही साबित करते हैं। तब

"निधिनागेभ वह्न्यब्दे विभवे शंकरोदयः"

यह वचन बीच के खूंटे के समान शंकर के समय को सुदृढ करेगा।

इस प्रकार ऐतिहासिक गवेषणादृष्टि से शंकर का समय 788 ई० से 820 ई० पर्यन्त निश्चित हो जाता है। तो कामकोटी शारदा, गौवर्धन आदि मठों में जो तिथिपत्र है। उनकी क्या व्यवस्था होगी यह प्रश्न सामने आयेगा। जिनको लेकर ही पूर्वापर विरुद्ध अनेक बातें शास्त्री महोदय लिखते हैं। "सहोपलम्भनियमाद भेदो-विषयविज्ञानयो "में धर्मकीर्ति का अंशतः उद्धरण मानना एक जगह अनुचित बताया (पृ० 357) दो पृष्ठ पहले धर्मकीर्ति को शंकर से पूर्ववर्ती होने में वार्तिक श्लोक को सूर्य समान माना। तब प्रत्यक्ष वाक्य को मूलत्वेन स्वीकार न कर अप्रत्यक्ष वाक्यान्तर की कल्पना करना कौन-सी बुद्धिमत्ता है। खैर हम इस आलोचना में नहीं पड़ना चाहते। मठों की परम्परा के विषय में ही विचारणीय है। श्रंगेरीवालो के कहने के अनुसार कामकोटि आदि का इतिहास बनावटी है तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यदि अन्य मठों की परम्परा को प्रामाणिक मानने का आग्रह है तो जैसे भर्तृहरि, वात्स्यायन, पतंजलि आदि नाम के भिन्न-भिन्न अनेक व्यक्तियों को निधड़क स्वीकार करनेवालों के लिए शंकराचार्य नाम के अनेक व्यक्तियों की कल्पना करने में क्या तकलीफ है ? बल्कि शंकराचार्य नाम के व्यक्ति आज भी हो रहे है। हमें तो भाष्यकार भगवत्पाद शंकराचार्य के समय का केवल विवेचन करना है। भाष्य में और वार्तिक में आये हुए पूर्वाचार्यों के नाम एवं सिद्धान्त निरूपण को लेकर जब विचार करते हैं तो शृंगेरी में पाये जाने वाले तिथिपत्र के साथ उसका मेल खाता है इससे पूर्व भी संन्यास परम्परा चली ही आ रही थी। उसमें भी शंकर नाम का कोई प्रभावशाली आचार्य हुआ हो यह असम्भाव्य नहीं है। उन्होंने कांची मठ की स्थापना की हो और उसको स्थापित हुए पच्चीस सौ वर्ष भी हुए हों ता क्या आपत्ति ? और यह भी हो सकता है कि उनके शिष्य का भी नाम सुरेश्वर रहा हो उसी का अनुकरण अन्य मठवालों ने भी किया हो। अन्यथा मठम्नायानुसार शृंगेरीके आचार्यसुरेश्वर हुए तो कामकोटि, शारदामठ के और अप्रसिद्ध-कुण्डली मठ के आचार्य एक ही सुरेश्वराचार्य कैसे बने ?

मैं अपना एक विचार प्रस्तुत करता हूँ, मैं इसे मानने के लिए किसी से आग्रह भी नहीं करता हूँ। औचित्य प्रतीत हो तो मान सकते हैं। मोती लाल बनारसी दास दिल्ली और वाराणसी आदि के यहाँ मुद्रित उप निषत्संग्रह में एक मठाम्नायोपनिषत् भी है। यद्यपि उसके अन्त में शंकराचार्य विरचित लिखा है। किन्तु वैदिक सम्प्रदायानुसार उपनिषदें वेद रूप होने से अपौरुषेय होती है, यदि शंकराचार्य से ही वह प्रादुर्भूत हुई हो तो भी वह शंकराचार्य दृष्ट ही मानी जा सकती है, शंकराचार्यकृत नहीं। स्वयं अपौरुषेयवेदसिन्तवादी होकर उपनिषत्

को खरचित लिखें यह असम्भावित बात है। फलतः यह मठाम्नायोपनिषत् भी उपनिषत् कालीन है। चाहे उसे अनादि कहो चाहे अतिप्राचीन। उसमें चार प्रसिद्ध मठाम्नायों से अतिरिक्त तीन अन्य भी बताये हैं। उनमें पंचम ऊर्ध्वाम्नाय काशी में सुमेरु मठ अभी भी है। उसके बाद षष्ठाम्नाय के रूप में आत्माम्नाय बताया है। यह यद्यपि आध्यात्मिक सा लगता है फिर भी उसका वाह्य प्रतीक भी आवश्यक है। उसमें 'नाभिकुण्डली क्षेत्र' लिखा है। कुण्डलिनी को कुण्डली भी कहते हैं। पुल्लिग प्रयोग भी होता है। नाभि-शब्द जैसे भद्रपद्मपादाचार्य में भद्र-पद जुड़ गया वैसा हो सकता है। कामकोटिका का भी लगभग वही अर्थ है। काम कलाविलास इत्यादि श्रीविद्या कुण्डलिनी आदि को लेकर ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। और काम कोटि में भी श्रीचक्रार्चनादि प्रसिद्ध है। त्रिकुटी तीर्थ लिखा हुआ है। शास्त्रों में त्रिकूट पर्वत पर लंका की स्थिति बतायी है। त्रिकूट पर्वत पर किसी सरोवर का भी वर्णन है। कुट शब्द ह्रस्व उकार वाला भी शिखरार्थक प्रसिद्ध है। (कुटः कोट्टे शिला कुटे घटे गेहे) इत्यादि कोष में बनाया है। हेमचन्द्र में ह्रस्व पाठ मेदिनी में दीर्घ पाठ है। यद्यपि कुन्डली मठ को भी कुण्डली का अपभ्रंश माना जा सकता है किन्तु वहाँ समीप में तुंगभद्रा होने से त्रिकुटी तीर्थ ठीक नहीं बैठता। दूसरी बात अपभ्रंश का मूल नाम वहाँ प्रसिद्ध नहीं है और कुण्डली वाले स्वयं उसे षष्ठाम्नाय के रूप में मानते भी नहीं हैं। सप्तम तो आध्यात्मिक मात्र लगता है। इस उपनिषत् को हमने अपने संक्षिप्त शंकर दिग्विजय के अन्त में दिया है) मेरे मन में सातों मठ आदि काल सिद्ध हैं समय-समय पर हर आश्रम मठादिका ध्वंस होता ही रहता है और पुनरुद्धार भी होता है। उज्जैनन में पुरातत्ववेत्ता क्या-क्या खोज कर निकालते रहते हैं।

पचीस सौ वर्ष पूर्व में कोई प्रभावशाली शंकर नाम का आचार्य हुआ होगा। जिन्होंने इन मठों का, जो ध्वस्त हो गये होंगे, उनका पुनरुद्धार किया होगा। बारह सौ वर्ष में पुनः ये ध्वस्त प्राय हो गये और शृंगेरी पूर्णरूपेण ध्वस्त हुआ जिनका और विशेष रूपेण शृंगेरी का पुनरुद्धार भाष्यकर शंकराचार्य ने किया। यह मेरा मन्तव्य मठाम्नायोपनिषत् की प्रामाणिकता एवं काम कोटि आदि के लेखों की यथार्थता मानना जो अनिवार्य मानते हैं उनके अनुरूप है। अतएव शारदा मठ में ब्रह्मस्वरूपाचार्य आज भी जो लिखा हुआ है उसकी भी उपपत्ति है। जिसको हस्तामलकाचार्य मठाम्नाय में बताया है। परन्तु भूल से ब्रह्मस्वरूपाचार्य को सुरेश्वराचार्य मानने लगे। यह ब्रह्मस्वरूपाचार्य पद मठाम्नायोपनिषद्त है। अतः वहाँ का लेख मठाम्नायोपनिषत् के अनुसार है यह भी निश्चित होता है। इन चारों मठों का एक साथ जो नेतृत्व करें वे शंकराचार्य पदोपाधिक होते हैं। और प्रत्येक के आचार्य सुरेश्वराचार्य, त्रोटकाचार्य, पद्मपादाचार्य और हस्तामलकाचार्य होते हैं। ऐसी स्थिति में आजकल प्रत्येक पीठ पर बैठे हुए आचार्य को शंकराचार्य पदवी किस प्रकार? यह चिन्त्य है। क्या सुरेश्वराचार्य, पद्मपादाचार्य आदि में किसी ने अपने नाम के आगे शंकराचार्य लिखा है? जैसे 'अभिनव सच्चिदानन्द शंकराचार्य' ऐसो सुरेश्वराचार्य शंकराचार्य आदि कहीं लिखा है? निश्चित रूप से कहा जायेगा कि कहीं नहीं लिखा है? तब अद्यतन पीठाधिपतियों के साथ शंकराचार्य कैसे लिखा जाता है? फिर प्रत्येक पीठ के आचार्य केरूप में सुरेश्वरादि आचार्य को निश्चित किया तो वही आजकल के पीठास्थोंके साथ जुड़ना चाहिए था। इत्यादि प्रश्न सामने आते हैं। उत्तर शायद यही होगा कि ऐसी परिपाटी चली आयी है। अस्तु, इस बीच के विचार को हम यहीं समाप्त करते हैं।

ऐतिहासिक खोजबीन के अनुसार यहाँ हम इतना ही कहना चाहते हैं कि आदि शंकराचार्य कौन है कौन नहीं यह विचार करते रहें। किन्तु भाष्यकार भगवत्पाद शंकराचार्य तो 788 ई० में अवतीर्ण शंकर ही हैं। जैसे सूर्यवंश में अवतीर्ण राम ही भगवद्‌वतार है वैसे 788 में अवतीर्ण शंकर ही कैलासपति शंकर के अवतार हैं क्योंकि अवतार का हेतु जो हमने प्रथम दिखाया वह अष्टम शती में ही उत्पन्न है। धर्म की ग्लानि तथा अधर्म का अभ्युत्थान तो बुद्धोत्तर होने ही लगा था। क्योंकि वेदों को बौद्धों ने अप्रमाणिक घोषित कर दिया था और वह चरमसीमा को प्राप्त हो गया था। सप्तम शती में आकर आचार्य शंकर ने वैदिक धर्म की पुनः स्थापना की

और धर्म प्रतिकूल बौद्धों को समाप्त किया। यदि भाष्यकार का जन्म पच्चीस सौ वर्ष पूर्व माने तो उसके बाद ही बौद्ध धर्म का पूरा प्रसार हुआ, इसलिए उन्हें अवतार मानने का कोई हेतु नहीं बनता। भाष्य लिखना मात्र अवतारत्व का प्रयोजक नहीं है। वैसे तो प्रमाणिक भाष्य शबरस्वामी आदि ने भी लिखा है जिनको स्वयं शंकराचार्य ने ही विशेष आदर के साथ तात्पर्यविदः आदि शब्दों से सम्बोधित किया है। आचार्य के बाद बौद्ध रहे भी तो तिब्बत, चीन आदि में रहे। अतः धर्म-संस्थापन रूपी अवतार कार्य आठवीं-नवमीं शताब्दी में होने से वही आचार्य का समय है।

साम्प्रतिक पीठस्थ एक शंकराचार्य का सन्देहवाहक मेरे पास आया था। मुझसे उसने प्रश्न किया कि आप आचार्य को आठवीं शती के बतलाकर उनकी गरिमा क्यों कम करते है? मैंने उत्तर यही दिया कि गरिमा में कारण पूर्ववर्तित्व नहीं किन्तु कार्य-कलाप की महत्ता हैं। क्या श्री राम की अपेक्षा श्री कृष्ण की महत्ता कम रही है? क्या इन दोनों से अधिक इन दोनों से पूर्ववर्ती परशुराम की गरिमा रही? जिसने महान कार्य किया उसी की गरिमा मानी जाती है चाहे वह दस हजार वर्ष पहले हो, चाहे आज हो। आज यदि कोई नवीन शंकराचार्य नष्ट होते हुए धर्म का संस्थापन करे तो वे महान होंगे, हजार वर्ष पूर्व के नहीं। बल्कि शंकर को ढाई हजार वर्ष पूर्व मानते हैं तो शंकर, सुरेश्वर कुमारिल अवतारों का ढेर भी बौद्धों का बाल बाँका न कर सका। वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। इतिहास प्रमाण से यह सिद्ध है कि आठवीं शती के मध्य तक भारत में बौद्धों का बोल-बाला रहा। इसके बाद भारत में बौद्ध शून्यप्रायः हो गये और अन्ततः समाप्त हो गये शान्तरक्षित आदि कतिपय बौद्ध विद्वान आठवीं शती के मध्य में भारत में रहे। किन्तु बाद वालों का इतिहास थोड़ा बहुत तिब्बत एवं चीन आदि में ही उपलब्ध है। जो यह कहते हैं कि ह्वेनसांग के समय में ही बौद्ध धर्म नष्ट होने लगा था, गलत है। वैसी चर्चा तो हमेशा होती रहती है। उसी समय के धर्मकीर्ति, अनन्तरकालीन, शान्तरक्षित, कमलशीलादि धुरन्धर विद्वानों का अस्तित्व ही उक्त बात को मिथ्या ठहराता है। हाँ कुमारिल का वर्चस्व बढ़ने लगा था जिसको देखकर बौद्ध धर्म पर खतरे का लक्षण दीखने लगा था और यही ह्वेनसांग के भय का कारण भी सम्भव है।

दुष्टाचार विनाशाय प्रादुर्भूतो महीतले
स एव शंकराचार्यः साक्षात्कैवल्य नायकः
निधिनागे भवह्न्यब्दे विभवे शंकरोदयः

निष्कर्ष यह है कि श्रृंगेरी के तिथिपत्र में लिखा हुआ यह वचन

येनाधीतानि शास्त्राणि भगवच्छङ्कराह्वयात्।
निःशेषसूरिमूर्द्धालिमालाली ढाङ्घ्रिपंकजात्॥

सर्वथा प्रमाण है। निधि-9, द्वय-8, वह्नि-3, अंकानाँ वामतो गति-3889 क० सं०। सम्प्रति कलि 5089-3889=1200। कम्बोडिया में शिवसोम लिखित आठवीं शती का यह शिलालेख—उस समय का पूर्ण उपोद्वलक है। जो जगह-जगह यह प्रश्न उठाते हैं कौन से शंकराचार्य? क्योंकि जो पीठ पर बैठते हैं वे सब ही शंकराचार्य कहलाते हैं, वे भूल में हैं। कोई भी पीठस्थ शंकराचार्य अपने नाम के साथ उपाधि के रूप में ही शंकराचार्य लिखते हैं, नामात्मना नहीं। विशेष विद्वता हो तो अभिनव शंकराचार्य लिख देते है जहाँ स्वयं का नाम भी शंकर हो। अतएव सौन्दर्य लहरी के रचयिता कौन शंकराचार्य इत्यादि प्रश्न उठाना भी वृथा है। दूसरी बात—जैसे हमने पहले लिख दिया कि सुरेश्वराचार्यादि के ग्रन्थों में कहीं भी पुष्पिका आदि में शंकराचार्य नहीं लिखा है। अतः यह पदय तो कुछ शतकों से प्रारम्भ हुआ है या फिर उस गद्दी पर बैठने वाले को केवल लोग कहते थे शंकराचार्य। स्वामी विद्यारण्य जी आदि शंकराचार्य पीठ पर बैठे थे ऐसी प्रसिद्धि है। फिर भी उनके किसी भी ग्रन्थ में शंकराचार्य नाम या उपनाम नहीं लिखा है। अतएव अनेक शंकर ग्रन्थों पर कर्त्ता के

बारे में कौन शंकराचार्य ? यह प्रश्न उठाने वाले भी झूठा ही प्रश्न उठाते हैं। यथार्थतः भाष्यकार भगवत्पाद शंकराचार्य एक ही हुए हैं और वे अष्टम् शती में हुए, यही यथार्थवाद है। फलतः विक्रम संवत् 845 वैशाख शुक्ला पंचमी (सन् 788)को केरल प्रदेश के कालटि ग्राम में शिवगुरु और सती के पुत्र के रूप में अवतीर्ण भाष्यकार भगवत्पाद श्री शंकराचार्य का 2045 वैशाख शुक्ला पंचमी (21-4-1988) को बारह सौ वर्ष पूरे होते हैं। इस बारहवीं शती की पूर्णता के अवसर पर हम आचार्य-चरणों में अपनी श्रद्धा-पुष्पाञ्जलि सादर समर्पित करते हैं।

श्री शंकराचार्य भारतीय एकता के सूत्रधार

डा० विद्यानिवास मिश्र
कुलपति काशी विद्यापीठ

आज सहस्राब्दी से अधिक जो भारत दिखायी पड़ता है वह आचार्य शंकर का पुनर्निर्माण है। भारत की जो भी पहचान थी, नदियों, पर्वतों के द्वारा या परम्पराओं ऋषियों के द्वारा, वह पहचान आचार्य शंकर के द्वारा और गहरी बनी। हम आचार्य शंकर द्वारा स्थापित उत्तर दक्खिन पूर्व-पश्चिम के पीठों की बात अलग कर दें, उनके द्वारा पुनर्जीवित चारों धामों की बात अलग कर दें, उनके द्वारा प्रतिपादित अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त को अलग कर दें और उनके द्वारा पुनर्व्याख्यात उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद् भगवदगीता से अलग कर दें तो भारत की कल्पना कैसी होगी ?

सुदूर दक्षिण केरल के एक गाँव कालडि में जन्म, पाँच वर्ष की अवस्था से वेदों, शास्त्रों का अध्ययन, बचपन में ही अपने को पहचानने के लिए देश की यात्रा के लिए प्रव्रजन, सोलह वर्ष अवस्था में देश की मध्य-बिन्दु ओंकरेश्वर में संन्यास की दीक्षा, अनेक विद्यातीर्थों और देव देवतीर्थों और ऋषितीर्थों की यात्रा, सुदूर उत्तर बदरि आश्रम' ध्वजा गुफा में बैठकर भाष्य की रचना, नर-नारायण की सोयी हुई मूर्ति की पुर्नप्रतिष्ठा, और सुदूर उत्तर श्रीनगर के पास तक, सुदूर पूर्व कामाक्ष्या और पूरी तक, सुदूर पश्चिम द्वारका तक और सुदूर दक्षिण रामेश्वर तक यात्रा, शृंगेरी, पुरी, द्वारका और बदरिकाश्रम में चार पीठों की स्थापना, पुनः विचित्र परिस्थिति में संन्यासी होते हुए माँ की मृत्युबेला में माँ की सन्निध्य और माँ की मृत्यु के बाद उसकी अन्त्येष्टि और पुनः देश का परिभ्रमण।

यह सब आज एक स्वप्न लगता है : जो व्यक्ति श्री शंकर के जीवन यात्रा के पड़ावों का स्मरण तक करता है, वह विचित्र भाव से भर जाता है और जो उन स्थलों की यात्रा करता है तो वह अभिभूत हो जाता है श्रीराम, श्रीकृष्ण के बाद श्री शंकराचार्य के ही स्पर्श से इतने सारे स्थल बहुत बड़ी जातीय ऊर्जा के मार्मिक केन्द्र बने हैं।

मैंने कालाद्रि, ओंकारेश्वर, बदरिकाश्रम, केदार, श्रीनगर में शंकराचार्य पर्वत, पुरी, द्वारका जैसे तीर्थों की यात्रा की, चारों धामों की यात्रा की, शृंगरी को छोड़कर शेष सभी पीठों में गया और अधिक तो नहीं कुछ उनकी रचनाओं का मैंने पारायण किया। मुझे बराबर लगा कि श्री शंकराचार्य भारत के प्राण-पुरुष हैं और उनके बिना भारतीयता अपरिभाषित रह जाती है, अस्पष्ट रह जाती है। नानात्व में एकता का दर्शन ही तो भारतीयता है, व्यवहार और परमार्थ की अलग-अलग पहचान ही तो भारतीयता है, भाव और ज्ञान का ऐक्य ही तो भारतीयता है, सुचारू सामाजिक व्यवस्था को सुनिश्चित करते हुए उस व्यवस्था के अतिक्रमण में ही भारतीय जीवन की सोद्देश्यकता हेतु आचार्य शंकर ने कोई राजनीतिक दिग्विजय नहीं की, कोई दल नहीं बनाया, अकेले चलते रहे, अकेले हर प्रकार के मोहजालों को काटते रहे, अकेले अनेकों के साथ एक होते रहे

और अनेकों में उस एक परम सत्ता का चैतन्य प्रवाह संचरित करते रहे, उन्होंने न कोई अखबार निकाला, न पर्चे छपवाये, न भाषण दिये, न कोई रोना रोया कि हाय कितनी दुर्दशा है, देश में कितना बिखराव है, बस केवल चिन्तन और बौद्धिक संवाद द्वारा, देश की सुषुप्त कुण्डलिनी के उत्पादन द्वारा भारतीय महाजाति की एकता की अनुभूति कराथी। वही अनुभूति सबसे स्थायी और व्यापक राष्ट्रीयता की अनुभूति है।

एकता एकरूपता नहीं है इसलिए आचार्य शंकर ने एक केन्द्र नहीं बनाया, उन्होंने अनेक केन्द्र बनाये, मुख्य रूप से देश की चार दिशाओं में चार केन्द्र बनाये, बीच-बीच में अनेक उपकेन्द्र भी बनाये, उन्होंने साधना के स्तर पर प्रत्येक केन्द्र में भिन्न-भिन्न उपासना क्रमों का प्रवर्तन किया, चारों धामों में धाम के क्षेत्र से बाहर के पुजारियों की व्यवस्था की और अधिकाधिक भेद से अनेक प्रकार के ग्रन्थ लिखे, भाष्य लिखे बहुत ऊँचे स्तर के अधिकारियों के लिए प्रकरण ग्रन्थ लिखे कुछ तो यतियों के लिए, कुछ सामान्य पढ़े-लिखे लोगों के लिए स्तोत्र लिखें भावुक भक्तों के लिए और लिखना और चलना जैसे उनकी यात्रा का बायाँ-दायाँ पग हो, इस तरह दोनों सतत चलते रहे। उन्होंने पूरे देश में एकसी व्यवस्था हो, इस पर भी बल नहीं दिया, केवल समस्त व्यवस्थाओं को एक सुदृढ़ आधार-भूमि देकर और एक चिदाकाश देकर परात्पर साकांक्ष बनाया। उनकी ही यह देन है कि गंगोत्री का जल रामेश्वर में चढ़ता है और उत्तर से दक्षिण को जोड़े बिना भारतीय को लगता ही नहीं जीवन सार्थक हुआ।

इतने शास्त्रों का मन्थन और स्वयं इतने शास्त्रों का प्रणयन करने वाला व्यक्ति इतना सहज हो सकता है कि कहें

दिनमपि रजनी सायं प्रातः
शिशिर वसन्तो पुनरायातः
कालः क्रीडति गच्छत्यायुः
तदपि न मुंचत्याशावायुः
प्राप्ते सन्निहिते मरणे नहि नहि रक्षति डकृञकरण
भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढ़ मते रे।
अंगं गलितं पलितं मुण्डं
दशनविहीनं जातं तुण्डं
वृद्धो याति गृहीत्वा दंडं
तदपि न मुंचत्याशा पिण्डं
प्राप्ते सन्निहिते मरणे नहि महि रक्षतिड्कृञ वरणे
भगवद्गीता किंचिदधीता
गंगा जललव कणिका पीता
सकृदपि यस्य पुरारिसमर्चा
तस्य यमः किं कुरुते चर्चाम्

जैसी चर्पट पंजरिका लिखे, विश्वास नहीं होता। संस्कृत भाषा को इतना तरल, इतना प्रसन्न और इतना पारदर्शी अकेले किस एक व्यक्ति ने बनाया तो आचार्य शंकर ने। एक प्रकार से उन्होंने ही संस्कृत भाषा को देशमात्र की विचार भाषा बनाया, किसी भी मत के हों, किसी भी क्षेत्र के हों, सबने भारत में विचारों के आदान-प्रदान के लिए संस्कृत को इतने गहरे और व्यापक रूप में स्वीकार किया, इसके पीछे आचार्य श्री की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका है। उनके स्तोत्रों का पाठ देश के कोने-कोने में गुंजरित होता है, उनके नाम का ऐसा जादू है कि अनेक स्तोत्र दूसरों ने भी लिखे पर छाप उन्हीं की थी। ऐसे स्तोत्रों में देव्यपराध क्षमायन स्तोत्र भी हैं जिसमें बार-

बार दोहराया जाता है।

कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।

आचार्य शंकर के पिता की मृत्यु बचपन में हुई, माँ की स्नेहच्छाया में वे बड़े हुए, माँ का वात्सल्य इतना प्रबल था कि वैराग्य भी उसको दबा न सका और वह वात्सल्य उन्हें माँ के अन्तिम क्षण में उन्हें पास खींच लाया, जो संन्यासी आग नहीं छूता, उसी ने माँ की चिता पर मुखाग्नि दी जिस कुल में पैदा हुए, जिस ब्राह्मण वर्ग में पैदा हुए, उसके किसी व्यक्ति ने उनकी माँ की महायात्रा में साथ नहीं दिया, पर उन्होंने कन्धे पर माँ का शव रखा और पेठीयार नदी के किनारे उनका दाह-संस्कार किया और संकुचित मनोवृत्ति वाले पूर्व आश्रम के सजातीयों की अमानवीय दयावृत्ति की भर्त्सना की। मातृशक्ति से इस लगाव ने ही उन्हें कभी भी रूखा न होने दिया, वे प्रखर मेधावी और प्रचण्ड तपस्वी होते हुए भी सौम्य और मधुर ही बने रहे। उनकी अधिकतर स्तुतियाँ जगदंबा को ही सम्बोधित हैं और उनके द्वारा स्थापित प्रत्येक पीठ में कोई-न-कोई शक्ति अधिष्ठित है। इन स्तुतियों में आनन्द लहरी, सौन्दर्य लहरी और श्यामला दण्डव अधिक प्रसिद्ध हैं। श्यामला दण्डव की वर्णच्छटा बड़ी चित्ता-कर्षक है, ऐसा लगता है, देवी ही इन वर्णों में उतर रही है इस स्तोत्र के अन्तिम छन्द—

श्रवण हरिण दक्षिण क्वाणया वीणया किन्नरेर्गीयसे।
यक्षगन्धर्व सिद्धांगनामण्डलैस्चर्यसे। सर्व सौभाग्य वांछावती-
भिर्वधूभिः सुराणां समाराध्यसे।
सर्व विद्याविशेषात्यकं चाटुगाथा समुच्चारणं कण्ठमूलोल्लसद् वर्ण
राज्यिचयं कामेिल श्यामलो दारपक्षद्वयं तुण्ड शोभानि दूरी भवत
किं शुकं तं शुकं लालयन्ती परिक्रीडसे।
पाणिपद्मद्वयेनाक्षमालामपि स्फाटिकीं ज्ञान सारात्यकं पुस्तकं
चापरेणांकुशे पाशया बिभ्रती येत संचित्यशे चेतसा तत्र
वक्तात्तराद चात्मिका भारती निःसरेत।

येन वा यावकाभाकृतिर्भान्यसे तस्य वश्याः भवन्ति स्त्रीयः पुरुषाः। येन वा शातकुमाद्युति भविन्यर्स-सोविलक्षण सहस्त्रैः परिक्रीडते। किं न सिध्येद वपु श्यामलं कोमलं चन्द्र चूडान्वितं तसवकं ध्यथितः तस्य लील श्ररोवारिधिः तस्य केलीवन्दं नन्दनं तस्य भद्रासनं भूतलं तस्य गी देविता किंकरी, तथ्य याज्ञावरी श्री स्वयं सर्व-तीर्थात्मिके सर्व मंत्रात्मिके सर्व तंत्रात्मिके सर्व यन्त्रात्मिके सर्व पीठात्मिके सर्व तत्वात्मिके सर्व शक्त्यात्मिके सर्व-विद्यात्मिके सर्व योगात्मिके सर्व नादात्मिके सर्व शब्दात्मिके सर्व वर्णात्मिके सर्व विश्वात्मिके सर्वक हे जगन्मातृके पाहिमां पाहिमां पाहिमां देवि तुभ्यं नमो देवि तुभ्यं नमो देवि तुभ्यं देवि तुभ्यं नमः।

यह श्यामला ही शस्यश्यामला भारत की जननी है, इसका लीला सरोवर समुद्र है, इनका केलिवन हिमालय में स्थित नन्दन वन हैं, संस्कृत भाषा इसकी सेविका है, श्रीदेवी इसकी आज्ञाकारी है, सभी तीर्थ, सभी यन्त्र-तन्त्र-मन्त्र सभी पीठ, सभी तत्व, सभी शब्द सभी भाषाएँ, सभी योग-तप, सभी नाद, सभी वर्ण इसमें समाये हुए हैं, यक्ष-गन्धर्व किन्नर इसी की गरिमा गाते हैं, देवियाँ इसके आगे हाथ पसारती हैं। इस जगंजननी रूप से अभिभूत श्री शंकराचार्य ने भारतीय चिन्तन की ऐसी पीठिका तैयार की है जो समस्त विश्व की हो सकें। जिन लोगों ने श्रुतियों का प्रामाण्य नहीं भी स्वीकार किया, उन्होंने भी शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैत सिद्धान्त को स्वीकारा। आचार्य शंकर के बाद जितने आचार्य हुए उन्होंने आचार्य शंकर द्वारा निर्मित पीठिका पर ही अपने विचारों के भवन बनाये, आचार्य शंकर का प्रतिपक्ष ही उनके खण्डन-मण्डन का आधार बना। आचार्य शंकर ही वह उपमान हैं जिनसे दूसरे विशिष्ट या अलग होते हुए भी उसी में तुलनीय होते हैं।

उन्होंने सर्वमान्य की क्षमता की पहचान करायी और पूरी जाति में आत्मविश्वास जगाया कि उठो,

अपना उद्धार स्वयं करो, हमारे जैसे असंख्य लोग उनके सिर ऋणी रहेंगे और उनके माध्यम से भारत की अखण्ड ज्योति का दर्शन करके अन्धकार को नगण्य करते रहेंगे।

वस्तुतः भारतीय एकता का आधार एक और ऐसी मातृदेवी की अवधारणा है, जो सबकी है और सब में है, अपनी समस्त सन्तानों को स्नेहपाश से बाँधे रहती है और साथ ही अंकुश लगाये रहती है कि पारिवारिक एकता के भाव से कोई विच्छिन्न न हो, दूसरी ओर भारत अद्वैत है जो व्यक्ति के अतिक्रमण की संभावना उत्पन्न करता है, जिससे व्यक्ति सर्वात्मा में विलीन हो जाता है, प्रकाश की खोज करते-करते प्रकाश बन जाता है। भारत अग्नितत्व और सोमतत्व की समरसता है और इसे मूर्त्त आकार आद्य शंकराचार्य ने दिया, उन्हें प्रणाम अर्पित करता हूँ।

आचार्य शंकर का राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक अवदान

डा० उपेन्द्र ठाकुर, बोधगया

"ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापर:"—इस अमर वाणी के साथ अद्वैत दर्शन का उद्‌घोष करनेवाले आदि शंकराचार्य का चाहे जिस रूप में मूल्यांकन किया जाय, वह मानव-इतिहास में सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी, अद्‌भुत समन्वयवादी, साम्प्रदायिक एकता के अग्रदूत तथा अलौकिक जीवन-दर्शन द्वारा राष्ट्रीय जीवन में एकरूपता लानेवाले राष्ट्र-निर्माता के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं—एक ऐसा कालजयी इतिहास-पुरुष जो न उनसे पहले कभी हुआ था और न अब सम्भवत: कभी होगा ही। बारह शताब्दियों की ऐतिहासिक उथल-पुथल तथा चमत्कारी वैज्ञानिक अन्वेषण भी उनके दर्शन की सार्थकता को कम न कर सके। बुद्धिजीवियों, दार्शनिकों, वैज्ञानिकों तथा भारत के सामान्य नागरिकों के जीवन और विचारों पर आज भी उनका प्रभाव पूर्ववत् है। सच तो यह है कि समय के प्रवाह के साथ उनके विचारों का प्रभाव भारत ही नहीं, विदेशों में भी उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया है।

दार्शनिक और भाषाविद्, निष्काम कर्म एवं अदम्य सहिष्णुता के प्रतीक आचार्य शंकर ने मानव-समुदाय को सत्य से प्रेम, तर्क के प्रति सम्मान, तथा जीवन के चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर होने को प्रेरित किया। अपने अकाट्य तर्कों द्वारा उन्होंने समाज में व्याप्त अनेक निस्सार पुरानी मान्यताओं और कुरीतियों को दूर कर उनके स्थान पर सारगर्भित विचारों को प्रतिपादित किया जो व्यावहारिक होते हुए भी पूर्णत: अध्यात्मिक हैं। उन्होंने उपनिषद-ग्रन्थों में प्रतिपादित, किन्तु सदियों से उपेक्षित, अजस्र ज्ञान-रश्मि को एक बार पुन: ज्योतित कर, वर्तमान के पट पर अतीत को प्रतिष्ठापित कर, एक नूतन युग का आविर्भाव किया जिसमें तर्क और सहिष्णुता की प्रधानता थी, घृणा, धर्मान्धता तथा हठवादिता का कोई स्थान नहीं था। वह स्वप्न द्रष्टा आदर्शवादी नहीं थे, वरन् एक व्यावहारिक भविष्यद्रष्टा और दार्शनिक : साथ ही एक महान कर्मयोगी जिन्हें हम "सामाजिक आदर्शवादी" कह सकते हैं। उनके दर्शन से सहमत न होनेवाले पण्डित भी इस बात को हृदय से स्वीकार करते हैं कि विश्व की महान आत्माओं में आचार्य शंकर का उच्चतम स्थान है।

आचार्य शंकर केसमय में भारत के समक्ष जो समस्याएँ थीं, ठीक वैसी ही समस्याओं से भारतीयों को आज भी जूझना पड़ रहा है। समाज में सदियों से प्रचलित धार्मिक रीति-रिवाजों की शालीनता एवं स्वच्छता नष्ट हो चुकी थी, आत्मानुशासन तथा आत्मोन्नति की भावना तिरोहित-सी हो चुकी थी, पूजा का प्रमुख ध्येय धनोपार्जन मात्र रह गया था, और सामाजिक मान्यताओं का क्रमिक ह्रास हो चला था। फलस्वरूप, चतुर्दिक छल-कपट तथा द्वेष-जन्य संघर्षों का बोलबाला था।

भारतीय संस्कृति, या यों कहिए कि प्राच्य संस्कृतियों, की यह विशेषता रही है कि ऐसे संघर्षकाव्य में वह किसी-न-किसी ऐसे मृत्युंजयी, महान विचारक को जन्म देती है जो शाश्वत मूल्यों की तर्कपूर्ण व्याख्या कर

अतीत के ऐश्वर्य को वर्तमान की गरिमा के साथ सम्बद्ध कर देता है। उन महान् मनीषियों के विचारों में ऐसी शक्ति होती है जो राष्ट्रीय मस्तिष्क को, उसकी अखण्ड एकता को बिना किसी प्रकार का आघात पहुँचाये झकझोर देती है। भगवान् बुद्ध हों अथवा महावीर, लाओजे हों अथवा कन्फ्यूशियस, परमेजिद्स हों अथा इम्पोदोकल्स, जरथ्रुष्ट्र हों अथवा शंकर—सभी महाप्राणों ने सदियों से धर्म के नाम पर शोषित, जीवन से हारी-थकी मानवता को जीवन का एक नया सन्देश, एक नयी वाणी तथा नूतन मार्ग दिखाया और उनके अक्षय सन्देश आज भी विश्व के कोने-कोने में प्रतिध्वनित हो रहे हैं, पीड़ित मानवता के जर्जर, म्रियमाण जीवन में नूतन प्राण का संचार कर रहे हैं, उसे जीवन-पथ पर आगे बढ़ने की प्रेरणा दे रहे हैं। सच तो यह है कि आचार्य शंकर ने कोई नया सन्देश नहीं दिया, उन्होंने तो हिन्दू धर्म के उस परम्परागत वैभव का ही उपयोग किया जिसे उनसे पहले उपनिषद्-युग में जनक तथा याज्ञवल्क्य—जैसे महान् दार्शनिकों ने किया था।

उस युग का प्रधान उद्देश्य जीवन में सत्यान्वेषण था। गम्भीर साधना एवं चिन्तन के बाद उस युग का साधक सहसा अनुभव करता है : ईश्वर के बारे में हम जो कुछ कह सकते हैं वह नकारात्मक है—यह वह नहीं है, वह यह नहीं है : यह वही है और आत्मा का स्वरूप बोधगम्य नहीं है, इसे हम साधारण ज्ञान द्वारा नहीं जान सकते। यह एक ऐसा रहस्य या पहेली है जिसे सर्वप्रथम मिथिला के दार्शनिक चूड़ामणि याज्ञवल्क्य ने अपनी दार्शनिक पत्नी मैत्रेयी के साथ सम्भाषण के सिलसिले में प्रस्तुत किया था जो कालान्तर में वेदान्त-दर्शन का मूलमन्त्र बना और जिसके सबसे ओजस्वी व्याख्याकार तथा प्रचारक सातवीं-आठवीं सदी में आचार्य शंकर हुए। उन्होंने अपने **'सूत्र भाष्य'** (**'शंकर भाष्य'** अथवा **ब्रह्मसूत्र-भाष्य**") में परम्परागत विभिन्न परम्पराओं, पूजा के विभिन्न स्वरूपों तथा विभिन्न सिद्धान्तों को समन्वित कर हिन्दू धर्म को एक नया रूप दिया।[1] शंकर-दर्शन का गम्भीरता से अध्ययन करने पर अध्येता की जीवन-शैली स्वतः परिवर्तित हो जाती है, कारण इसमें वह जीवनी-शक्ति है जो मनुष्य और मनुष्य के बीच का भेद मिटा देती है, जो घृणा द्वेष को समाप्त कर जीवन में चिरन्तन आनन्द का उद्रेक करती है। उनके अद्वैत सिद्धान्त की छाया में सभी धर्मों के लिए एक-सा स्थान है, जहाँ आपसी टकराहट नहीं, एक-दूसरे के प्रति सद्भावना है।

II

शंकराचार्य का जीवन परस्पर विरोधी तत्वों का प्रतीक है। जहाँ एक ओर वह महान् दार्शनिक थे, वहीं विलक्षण कवि भी, विद्वान् मनीषि और गूढ़ साधक भी; रहस्यमय व्यक्तित्व और समाज-सुधारक भी। उनका मूल्यांकन करते समय, इन्हीं विविध गुणों के कारण, उनके विभिन्न रूप हमारे सामने आते हैं। युवावस्था में कोई उन्हें अदम्य बौद्धिक जिज्ञासाओं से उद्वेलित, हठी किन्तु निर्भीक तार्किक के रूप में देखता है तो दूसरा उन्हें एक सफल प्रतिभा-सम्पन्न राजनीतिज्ञ के रूप में जो सामान्य जन में एकता की भावना लाने का अथक प्रयास करता है। वहीं तीसरे व्यक्ति के लिए वह एक शान्त, गम्भीर दार्शनिक हैं जो जीवन तथा जगत के परस्पर-विरोधी तत्वों का विश्लेषण कर मानव-समाज को कल्याण का मार्ग दर्शाते हैं। और चौथा व्यक्ति उन्हें एक गूढ़ रहस्यमय व्यक्तित्व के रूप में देखता है जो इस बात की घोषणा करता है कि "हम जितना जानते हैं उससे हम कहीं अधिक महान् हैं।[2] दूसरे शब्दों में, शंकर हमारे समक्ष परम्परागत विश्वास के रक्षक तथा आध्यात्मिक सुधारक के रूप में उपस्थित होते हैं जिन्होंने पौराणिक युग की धार्मिक विलासिता के स्थान पर उपनिषद-युग

1. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य : राधाकृष्णन्, **'इण्डियन फ़िलासफ़ी'**, भाग 1-2
1. राधाकृष्ण, **'हिन्दू व्यू ऑफ़ लाइफ़'**, 16-20
2. राधाकृष्णन्, **'भवन्स-जर्नल'**, भाग 30, संख्या 18, पृ० 30-31

के गूढ़ सत्य को स्थापित करने की चेष्टा की। फलस्वरूप, उन्होंने एक ऐसे दर्शन (अद्वैत वेदान्त) तथा धर्म की सर्जना की जो बौद्धमत, मीमांसा तथा भक्ति-मार्ग की अपेक्षा अधिक सरल ढंग से सामान्य जनों की आध्यात्मिक तथा नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। उन्होंने वेद 'ब्राह्मण और उपनिषद ग्रन्थों से सत्य को ढूँढ़कर उसकी ठोस नींव पर अद्वैत दर्शन की गगन चुम्बी अट्टालिका का निर्माण किया जिसका विस्तृत वर्णन उनके भाष्यों में मिलता है। 'ब्रह्म' सम्बन्धी समस्त बिखरे धागों (परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों) को एक सूत्र में पिरोकर उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि वास्तव में एक ही अनन्त सत्य है और मनुष्य अपनी साधना के द्वारा उस सत्य तक आसानी से पहुँच सकता है।

शंकर के अनुसार मनुष्य को परमेश्वर से दान-स्वरूप तीन अमूल्य वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं—(1) मानव शरीर, (2) ब्रह्म-ज्ञान की पिपासा तथा (3) शिक्षक अथवा गुरु जो हमें अन्धकार से ज्योति की ओर ले जाते हैं। इन तीन वस्तुओं को पा जाने पर मुक्ति आसानी से मिल सकती है। सिर्फ ज्ञान ही हमारी रक्षा कर सकता है, सांसारिक बन्धनों से मुक्ति दिला सकता है, किन्तु ज्ञान के साथ पुण्य की आवश्यकता है।

वेदान्त की सार-वस्तु है---ब्रह्म की प्राप्ति वह ब्रह्म जो अपने में पूर्ण रूप में हर जीव के भीतर वर्तमान है। जैसे सूर्य की रश्मि प्रत्येक ओस-कण में प्रतिबिम्बित होती है, ठीक उसी प्रकार यह ब्रह्म प्रत्येक जीवात्मा को हर क्षण प्रतिभासित करता रहता है। वह तो कण-कण में व्याप्त है और उसके लिए स्थान, काल और कार्य-कारण में कोई भेद नहीं।

अब प्रश्न उठता है कि शंकर-दर्शन के बावजूद आज जब हम शंकराचार्य की 1200वीं जयन्ती मना रहे हैं तो यही पाते हैं कि उनके असंख्य अनुयायियों में वह परिवर्तन नहीं हो सका हैं। जो अपेक्षित था। वास्तव में शंकर-दर्शन के अध्ययन के लिए एक विशेष प्रकार का नैतिक अनुशासन चाहिए जिसका इसयुग में सर्वथा अभाव है। उसका सम्पूर्ण आनन्द लेने के लिए उनकी शिक्षाओं की तह में जाना होगा। अपने ग्रन्थ, **विवेक-चूड़ामणि** के प्रारम्भ में शंकर कहते हैं कि इस दर्शन का अध्ययन वैसे ही जिज्ञासुओं को करना चाहिए जिन्होंने बाह्य इन्द्रिय-ज्ञान से प्राप्त आनन्द के क्षणिक स्वरूप का अनुभव किया है। तात्पर्य यह कि दर्शन का उद्देश्य अन्तर्निहित परमानन्द के मूल में जाना है जो चिरन्तन है, अक्षय है। किन्तु, इस प्रकार का दार्शनिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक विशेष मनःस्थिति चाहिए जो शंकर-दर्शन से सहज प्राप्य है। उसके दर्शन का साधारण ज्ञान भी किसी भी जिज्ञासु को अपने जीवन के अन्तिम चरण में उस अलौकिक आनन्द की प्राप्ति करा सकता है।

मनुष्य जीवन के चरम लक्ष्य—ब्रह्म अथवा मुक्ति की प्राप्ति के लिए शंकराचार्य ने बहुत ही ठोस, तर्कयुक्त दार्शनिक आधार प्रस्तुत किया है और यही कारण है कि उनका दर्शन सार्वभौम है जो किसी सिद्धान्त-विशेष अथवा पूर्वाग्रह से प्रतिबद्ध नहीं है। शंकर के अनुसार, यदि आप में दृढ़ इच्छा-शक्ति है, तो आप उस मार्ग पर चलकर अपने लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं जिस पर चलकर अनेक साधक जीव-मुक्त हो चुके हैं। लेकिन यह मार्ग अत्यन्त दुरूह है, यह तो तलवार की धार पर चलने के समान है। इस बात से कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि सभी विद्याओं में ब्रह्म विद्या सबसे कठिन है। अदम्य आकांक्षा, घोर साधना तथा समर्पण-भाव से ही कोई भी व्यक्ति इस लक्ष्य तक पहुँच सकता है, और इस दिशा में किये गये प्रयास कभी विफल नहीं होते : शंकर की ऐसी मान्यता है कि श्रुति अथवा दैवी अनुभूति का तर्क से कोई विरोध नहीं, वह तर्क से परे है, बौद्धिक अनुमान पर आधारित कोई भी वस्तु स्थायी नहीं हो सकती, उसमें परिवर्तन होगा ही।

जैसाकि हम जानते हैं, वेदान्त-दर्शन का आधार बादरायण का 'ब्रह्मसूत्र है जिसे उपनिषदों के परस्पर-विरोधी विचारोंमें सामंजस्य लाने के उद्देश्य से लिखा गया था। उपनिषदों की शिक्षाओं के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद था। कुछ लोगों के अनुसार उपनिषद् की शिक्षाओं में संगति नहीं है, कारण जिस बात की शिक्षा

एक उपनिषद् में दी गयी है, दूसरे उपनिषद् में उसका खण्डन किया गया है। कुछ उसमें 'एकवाद' (monism) की शिक्षा पाते हैं, तो कुछ 'द्वैतवाद' (dualism) की। इन्हीं विरोधी तत्वों को समन्वित करने की दृष्टि से **ब्रह्म-सूत्र** की रचना की गयी जिसमें बादरायण ने समस्त उपनिषदों में एक 'मत' की ही प्रधानता बतायी। उनके अनुसार उपनिषदों को ठीक से न समझने के कारण ही ऐसी विषमता दिखायी पड़ती है। इस ग्रन्थ को '**ब्रह्म-सूत्र**' इसलिए कहा गया कि इसमें ब्रह्म-सिद्धान्त की व्याख्या है। इसे **वेदान्त-सूत्र** भी कहते हैं, कारण **ब्रह्म-सूत्र** से ही वेदान्त-दर्शन पल्लवित और प्रस्फुटित हुआ है। इसके अतिरिक्त इसे **शारीरिक-सूत्र**, **शारीरिक-मीमांसा** तथा **उत्तर-मीमांसा** के नाम से भी पुकारा जाता है। इसके चार अध्यायों में ब्रह्म विषयक विचार, फिर तर्क द्वारा उसका पुष्टिकरण तथा विरोधी दर्शनों का खण्डन, साधना से सम्बन्धित सूत्रों तथा मुक्ति के परिणामों की व्याख्या की गयी है।

ब्रह्मसूत्र के संक्षिप्त किन्तु अत्यन्त दुर्बोध होने के कारण विद्वानों में नाना प्रकार की शंकाएँ उपस्थित होती रहीं और उन्हीं शंकाओं के समाधानार्थ विद्वानों ने इस पर अलग-अलग **भाष्य** लिखे और अपने मत की पुष्टि के निमित्त वेद और उपनिषद् में वर्णित विचारों की चर्चा की। फलस्वरूप जितने भाष्यकार हुए उतने ही सम्प्रदायों का भी विकास हुआ। शंकर, रामानुज, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्क आदि वेदान्त-दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों के प्रवर्तक बने जिनमें चार सम्प्रदाय—अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद, तथा द्वैताद्वैत—प्रमुख हुए। शंकर अद्वैतवाद के प्रवर्तक हैं, रामानुज विशिष्टाद्वैतवाद के, मध्वाचार्य द्वैतवाद के तथा निम्बार्काचार्यद्वैताद्वैत के।

ब्रह्म और जीव में क्या सम्बन्ध है, वेदान्त-दर्शन का यही प्रमुख प्राण है जिसके विभिन्न उत्तर दिये गये हैं और यही विभिन्नता विभिन्न सम्प्रदायों के जन्म का कारण बनी ! किन्तु इनमें सबसे प्रधान शंकर का अद्वैत-दर्शन माना जाता है, कारण अपनी प्रच्छन्न आलोचनात्मक तर्क-शक्ति तथा सृजनात्मक प्रतिभा से इस प्रश्न पर विचार कर उन्होंने जो मत प्रतिपादित किया वह सार्वभौम है और सारे विरोधी तत्वों को आत्मसात् कर लेता है।[1] उनकी इस अतुलनीय उपलब्धि की सराहना विश्व के सारे विचारकों ने एक स्वर से की है। स्पीनोजा हों अथवा ब्रैडले, अरविन्द हों अथवा विवेकानन्द—सभी इस दर्शन से किसी-न-किसी रूप में प्रभावित हैं। इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि विश्व-दर्शन—क्षितिज पर शंकर-अद्वैतवाद जाज्वल्यमान नक्षत्र की भाँति सदा-सर्वदा आलोकित रहेगा। राधाकृष्णन के शब्दों में "उनका दर्शन सम्पूर्ण रूप में उपस्थित है जिसमें न किसी पूर्व की आवश्यकता है, और न किसी अपर की।···चाहे हम सहमत हों अथवा नहीं, उनके मस्तिष्क का प्रकाश हमें प्रकाशित किये बिना नहीं छोड़ता।"[2] चार्ल्स इलियट के अनुसार "शंकर का दर्शन संगीत पूर्णता तथा गम्भीरता में प्रथम स्थान रखता है।"

III

शंकर ने विश्व को पूर्णतः सत्य नहीं माना है। उनके अनुसार ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है, शेष सभी वस्तुएँ ईश्वर, जीव, जगत, प्रपंच हैं। शंकर वेदान्त के अनुसार परमार्थ में एक ही ब्रह्म तल कूटस्थ नित्य पदार्थ है। इसके अतिरिक्त जो चराचरात्मक जगत प्रतीयमान हो रहा है, वह माया का ही विलास है, अर्थात् अविद्या का ही परिणाम है। जैसे, शक्ति रजत-रूप से भासित होती है और रज्जु सर्प-रूप से, वैसे ब्रह्म भी प्रपंच-रूप से भासित होता है, इसी को अध्यास अथवा विवर्त कहते हैं। जिस प्रकार शक्ति और रज्जु का ज्ञान हो जाने पर

1. राधाकृष्णन्, '**इण्डियन फ़िलासफ़ी**', भाग 2, पृ० 646-47
2. इलियट, '**हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म**', भाग 1, पृ० 208

रजत और सर्प का भान बिलकुल नहीं रह जाता, ठीक उसी प्रकार ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर प्रपंच का मान नहीं रहता। जिस प्रकार जादूगर अपने जादू से एक सिक्के को अनेक सिक्कों में परिवर्तित कर देता है, बीज से वृक्ष पैदा कर देता है, फल-फूल उगाता है, उसी प्रकार ब्रह्म माया की शक्ति के द्वारा विश्व का प्रदर्शन करता है। जिस प्रकार जादूगर अपने जादू से स्वयं प्रभावित नहीं होता, ठीक उसी प्रकार ब्रह्म भी माया से प्रभावित नहीं होता। तात्पर्य यह कि ब्रह्म ही आत्मा है। शंकर मत में जीवात्मा और परमात्मा एक ही पदार्थ हैं, इनमें भेद नहीं है। भेद की जो प्रतीति होती है, वह वास्तव में उपाधिकृत है। और व्यवहार में ही भेद की प्रतीति होने से व्यावहारिक ही भेद है। परमार्थ में दोनों एक ही हैं। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति', 'अयमात्मा ब्रह्म', 'तत्त्वमसि'—आदि अनेक श्रुतियाँ हैं जिनसे अद्वैतवाद का सिद्धान्त सिद्ध होता है। ये श्रुतियाँ भी इसमें प्रमाण-रूप से विद्यमान हैं।[1]

शंकर के विश्व-सम्बन्धी विचार और पाश्चात्य दार्शनिक ब्रैडले के विश्व-सम्बन्धी विचारों में साम्य है। शंकर ने विश्व को ब्रह्म का 'विवर्त' माना है और ब्रैडले भी विश्व को ब्रह्म का 'आभास'(appearance) मानते हैं। दोनो के दर्शन में विश्व का स्थान समान है। चूँकि बौद्ध दर्शन की भाँति शंकर ने भी विश्व को 'अनित्य और असत्य' माना है, इसीलिए कुछ विद्वानों ने उन्हें 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहा है। सच तो यह है कि शंकर के दर्शन में विश्व की व्याख्या कुछ इस प्रकार हुई है कि कुछ लोगों ने भ्रमवश यह मान लिया है कि शंकर विश्व को पूर्णतः असत्य मानते हैं। ऐसा मानना सर्वथा भ्रामक है। 'असत्य' (unreal) उसे कहते हैं जो 'असत्' (non-existent) है। इसके विपरीत विश्व का अस्तित्व है, वह दृश्य है, तो फिर यह प्रश्न उठता है कि क्या वह सत्य है? सत्य वह है जो त्रिकाल में विद्यमान रहता है, उसका विरोध न तो अनुभूति से होता है और न तर्क से ही। विरोध होने की क्षमता उसमें नहीं होती और इस दृष्टि से ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है, कारण वह त्रिकाल-अबाधित सत्ता है। जगत को सत्य और असत्य नहीं कहा जा सकता, कारण यह परस्पर-विरोधी है। इसलिए शंकर ने जगत को अनिर्वचनीय कहा है और जगत की अनिर्वचनीयता से विश्व की असत्यता प्रमाणित नहीं होती। दूसरे शब्दों में शंकर विश्व को अनित्य नहीं मानते और उन्होंने स्वयं बौद्धमत के विज्ञानवाद की आलोचना इसीलिए की है कि बौद्ध जगत को असत्य मानते!

वास्तविकता तो यह है कि शंकर के अद्वैत वेदान्त में बौद्धमत के सारे मूलभूत सिद्धान्त अन्तर्निहित हैं। यदि बौद्धमत में अध्यात्मवाद का समर्थन खोजना हो तो उसे शंकर-मत में देखा जा सकता है। यदि बौद्धमत उसी रूप में रहता जैसा भगवान् बुद्ध चाहते थे, यदि वह आत्मतत्व-ज्ञान सम्बन्धी विवाद में नहीं पड़कर मात्र चार आर्य सत्य तथा अष्टांग मार्ग का ही प्रचार-प्रसार करता तो संभवतः आचार्य शंकर की आवश्यकता नहीं होती! किन्तु, जब तथागत के उपदेशों के विरुद्ध तथा उनके निर्देशन के अभाव में, उनके अनुयायी अध्यात्म विज्ञान के जाल में उलझकर बौद्धिक तथा आध्यात्मिक अराकता के शिकार हो गये तो शंकर भारतीय अध्यात्म मंच पर अवतरित हुए और मानवता को अद्वैत वेदान्त जैसी अमूल्य निधि देकर उन्होंने उसकी रक्षा की। थिबौत के शब्दों में ?[2]

"It is, from a purely philosophical point of view, and apart from all theological considerations, the most important one whith has risen on Indian soil: neither those froms of the Vcdanta which diverge from the view represented by Shankara not.

1. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य : राधाकृष्णन्, इण्डियन फ़िलासफ़ी, भाग 2; रंगनाथ पाठक, षड्दर्शन-रहस्य पृ० 269-375।
2. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य : 'एडमण्ड होम्स, दि क्रीड ऑफ़ बुद्ध', पृ० 64।

any of the non Vedantic systems canbe compared with the so-called Orthodox Vedanta in boldness, depth and subtlety of speculation"[1]

कर्म में भी शंकर का विश्वास था और कर्म विश्व में ही रहकर किया जाता है। कर्म के प्रति शंकर की आस्था का सबसे बड़ा दृष्टान्त यह है कि यद्यपि उन्होंने बाल्यावस्था में ही संन्यास ले लिया था, फिर भी अपनी माता की मृत्यु के बाद उन्होंने संन्यास-परम्परा के विपरीत, एक गृहस्थ की भाँति, उनकी विधिवत् श्राद्ध-क्रिया सम्पन्न की।[2] राधाकृष्णन के शब्दों में "जीवन-मुक्ति का सिद्धान्त, कर्म-मुक्ति का सिद्धान्त, मूल्यों की भिन्नता में विश्वास, धर्म और अधर्म में विश्वास, मोक्ष-प्राप्ति की संभावना जो विश्व की अनुभूतियों द्वारा संभव है, प्रमाणित करती है कि आभास में सत्यता निहित है।"[3] उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शंकर विश्व को असत्य नहीं मानते, कारण विश्व का आधार ब्रह्म है और उसकी यथार्थता ही जगत का आधार है।

शंकर के दर्शन में धर्म और नैतिकता का भी महत्वपूर्ण स्थान है। उसमें नैतिकता और धर्म का वही स्थान है जो ईश्वर, जगत और सृष्टि का है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से उन्होंने धर्म और नैतिकता—दोनों को सत्य माना है। परमार्थिक दृष्टिकोण से नैतिकता और धर्म की असत्यता अवश्य विदित होती है, किन्तु जो सांसारिक व्यक्ति हैं, बन्धन-ग्रस्त हैं, उनके लिए व्यावहारिक दृष्टिकोण से सत्य होने वाली वस्तुएँ पूर्णतः यथार्थ हैं। आधुनिक युग के मनुष्यों के लिए तो शाङ्कर-मत और भी महत्वपूर्ण है, कारण उन्होंने धर्म को विवेक और तर्क की कसौटी पर कसकर एक ऐसा स्वरूप दिया है जिसमें अन्धानुकरण का कोई स्थान नहीं। धर्म उनके अनुसार व्यक्ति की जीवन-शैली है जो उसे जीव और ब्रह्म के तादात्म्य से उत्पन्न आनन्दानुभूति के फलस्वरूप निर्भीकता और शान्ति देती है। भय तो वहाँ उत्पन्न होता है जहाँ द्विधी-भाव है। "तत त्वं असि"—इन शब्दों में नीति तथा आत्मतत्वज्ञान का अद्भुत समन्वय है। सच्चा अद्वैतवादी न्यायी और ईमानदार होता है, न्याय की रक्षा के लिए वह किसी बात से नहीं डरता। उसका यह दृढ़ विश्वास है कि दूसरों को क्षति पहुँचाकर वास्तव में मनुष्य अपने आपको क्षति पहुँचाता है। यही कारण है कि अनुभूत (realised) आत्माओं (साधकों) के निकट असीम शान्ति का अनुभव होता है, कारण ऐसे अहम् से परे जीवन्मुक्त महात्मा समस्त जीवों के कल्याणार्थ जीते हैं—'सर्वभूत हिते रताः।' इसीलिए शंकर मुमुक्षु को वैराग्य अपनाने की सलाह देते हैं और इस बात पर जोर देते हैं कि उसे स्वार्थ एवं अहम् भावना का दमन कर निष्काम भाव से अपना कर्म करना चाहिए, जिसकी विशद व्याख्या भगवद्गीता में की गयी है।

धर्म क्या है, अधर्म क्या है ?—इसकी व्याख्या करते हुए शंकर कहते हैं कि धर्म और अधर्म ज्ञान श्रुति द्वारा होता है। सत्य, अहिंसा, उपकार, दया आदि धर्म हैं तथा असत्य, हिंसा, अपकार, स्वार्थ आदि अधर्म हैं। उचित और अनुचित कर्म की विवेचना करते हुए वह मानते हैं कि उचित कर्म वह है जो सत्य को धारण करता है और अनुचित कर्म वह है जो असत्य से पूर्ण है। उत्तम भविष्य की ओर ले जाने वाले कर्म कल्याण का ही कर्म हैं और जिन कर्मों से हम अधम भविष्य की ओर जाते हैं, वे पाप-कर्म हैं। आधुनिक युग में भी यही मान्यताएँ भारतीय संस्कृति के मूलभूत सिद्धान्त हैं। उसका परम लक्ष्य आत्मा का ब्रह्म के रूप में तदाकार हो जाना है, और ज्योंही आत्मा का ब्रह्म से साक्षात्कार हो जाता है, धर्म निस्सार प्रतीत होता है। यही मोक्षा-वस्था की स्थिति है जिसमें 'अज्ञान-जन्य द्वैत का अन्त होता है।

1. 'इण्ट्रोडक्शन टू दि वेदान्त सूत्र', पृ० xiv; 'इण्टर्नल वैल्यूज फ़ॉर ए चेंजिंग सोसाइटी' भाग 3 (भारतीय विद्या भवन प्रकाशन, बम्बई)।
2. परमहंस योगानन्द, 'दि ऑटोबायोग्राफ़ी ऑफ़ ए योगी', पृ० 126-27।
3. राधाकृष्णन्, उपरिवत्, भाग 2, पृ० 582।

अपने '**गीता रहस्य**' के प्राक्कथन में भी शंकर ने इस बात को दुहराया है कि वह इस ग्रंथ का प्रणयन इसलिए कर रहे हैं कि लोगों के मस्तिष्क में **गीता** के वास्तविक महत्व के सम्बन्ध में जो भ्रान्त धारणाएँ हैं उनका निराकरण हो जाय। शंकर की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपनी रचनाओं में विभिन्न सम्प्रदायों की मन:स्थिति तथा स्वभाव-जन्य अन्तर को ध्यान में रखा है। वह इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि निगूढ़ 'निर्गुण ब्रह्म' की ओर कम ही लोगों का झुकाव होगा, कारण अधिकाँश लोग 'व्यक्तिगत ईश्वर' को चाहते हैं। यही कारण है कि उन्होंने उपनिषदों को मथकर 'निर्गुण विद्या' और 'सगुण विद्या' का स्वरूप लोगों के समक्ष रखा। **विवेकचूड़ामणि** में तो उन्होंने मोक्ष-प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन भक्ति को ही माना हैं : "मोक्ष-साधन सांग्रयायाम् भक्तिरेव गरीयसे···स्वरूपानु संधानम् भक्तिरित्यभिधीतते।"

वेद में रुचि रखने वालों के लिए **विवेक-चूड़ामणि** सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। वेदान्त-दर्शन से सम्बन्धित विभिन्न विषयों पर उन्होंने कुल मिलाकर 1,25,000 (एक लाख पच्चीस हजार) श्लोकों की रचना की, और '**यज्ञ-गोविन्दम्**' उनकी अंतिम रचना है जिसमें उन्होंने समर्पण-भाव से ईश्वर की भक्ति का उपदेश दिया है : "गोविन्द को भजो, उनकी स्तुति करो, उनका नाम लो, उनकी शरण में जाओ ! ओ मूढ़मति। समय बीतता जा रहा है, मृत्यु दरवाजा खटखटा रही है। न तो पाण्डितत्यपूर्ण वक्तृता और न व्याकरण ही मृत्यु के समय तुम्हारी रक्षा कर सकता है। इसलिए ईश्वर की शरण में जाओ।" कहते हैं, जब अपनी दिग्विजय-यात्रा के सिलसिले में वह कश्मीर में थे तो देवी सरस्वती ने उनके पाण्डित्य से प्रसन्न होकर उन्हें दर्शन दिये और 'जगद्गुरु' की उपाधि से विभूषित किया।

IV

प्रचलित जनश्रुति के अनुसार जगद्गुरु शंकराचार्य भगवान शिव के अवतार थे। यद्यपि इसकी सत्यता के सम्बन्ध में कुछ कहना कठिन है, फिर भी महज आठ वर्षों की उम्र में संन्यास लेना, बत्तीस वर्षों की आयु में शरीर छोड़ देना और इसी छोटी अवधि में अपने अभूतपूर्व पाण्डित्य, अनिवर्चनीय ज्ञान तथा अलौकिक कार्य-कलापों द्वारा विश्व को चकित कर देना—यह किसी साधारण मनुष्य से संभव नहीं था, कोई अवतारी पुरुष ही ऐसा कर सकता था जो सदियों बाद किसी विशेष उद्देश्य को पूरा करने इस पृथ्वी पर आता है। शंकराचार्य एक ऐसे ही महाप्राण थे जिन्हें पाकर इतिहास धन्य हो जाता है।

आदि शंकराचार्य के काल-निर्णय के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। उनकी जन्म-तिथि से सम्बन्धित परम्परागत तथा आधुनिक मतों में लगभग तेरह सौ वर्षों का अन्तर है। माधव विद्यारण्य (माधवाचार्य)-कृत **शंकर-दिग्विजय** में उनकी जन्म-तिथि 509 ई० पूर्व मानी गयी है जबकि आधुनिक विद्वान् इसे 788 ई० (आठवीं सदी का चतुर्थचरण) मानते हैं। मूल संस्कृत से अंग्रेजी में **शंकर-दिग्विजय** का रूपान्तर करने वाले स्वामी तपस्यानन्द (श्री रामकृष्ण आश्रम) के अनुसार शंकर की जन्म-तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद महज 'विद्वतापूर्ण अज्ञान' के कारण है। वह उनकी जन्म-तिथि पाँचवी और सातवीं शताब्दियों के बीच मानते हैं। उन्होंने आधुनिक मत (788 ई०-820 ई०) की आलोचना करते हुए प्रसिद्ध दार्शनिक एस० एन० दास गुप्ता, सर्वपल्ली राधाकृष्णन् तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानों पर यह आरोप लगाया है कि इन्होंने पाश्चात्य प्राच्यविद् मैक्सभूलर के मत का अन्धानुकरण कर शंकर के प्रति अन्याय किया।[1]

किन्तु, स्वामीजी ने भी अपने मत की पुष्टि में कोई ठोस प्रमाण नहीं दिया है। यदि ऐतिहासिक दृष्टि-कोण से इन विभिन्न मतों की समीक्षा की जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि शंकराचार्य निश्चय ही सातवीं-

1. '**भवन्स जर्नल**', भाग 34, संख्या 18, पृ० 69।

आठवीं सदी के बीच हुए थे। **शंकर-दिग्विजय** से यह स्पष्ट है कि अपनी भारत-यात्रा के क्रम में उनकी भेंट मिथिला के स्वनामधन्य दार्शनिक कुमारिल भट्ट तथा मंडन मिश्र (सुरेश्वराचार्य) से हुई थी।[1] मंडन मिश्र कुमारिल के 'भगिनी-पुत्र' थे। कुमारिल सातवीं सदी में हुए थे और प्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्ति के समकालीन थे।[2] ऐसा कहा जाता है कि जिस समय शंकराचार्य से उनका शास्त्रार्थ हुआ था, वह काफी वृद्ध हो चुके थे जबकि शंकर उस समय युवावस्था में थे। गंगानाथ झा,[3] एस० कुप्पुस्वामी,[4] पी० वी० कणे[5] तथा अन्य विद्वान[6] 'मंडन-सुरेश्वर-समीकरण' को नहीं मानते और 615 ई०—695 ई० अथवा 690 ई०—710 ई० के बीच मंडन मिश्र का समय मानते हैं। दूसरे शब्दों क कुमारिल, मंडन और शंकर समालीन थे और शंकर का समय निश्चित रूप से सातवीं सदी के अंतिम चरण और आठवीं सदी के प्रथम चरण के बीच रहा होगा।[7]

आश्चर्य तो यह है कि जहाँ एक ओर शंकर की जन्म-तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में सहमति नहीं है, वहीं दूसरी ओर वे इस बात से पूर्ण सहमत हैं कि ये बत्तीस वर्ष की अल्पायु में ही इस लोक से चल बसे थे। ये बत्तीस वर्ष क्या थे, राष्ट्र की श्रेष्ठतम बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उपलब्धियों के वर्ष थे जिसकी अमिट छाप भारत के सांस्कृतिक इतिहास के हर पृष्ठ पर अंकित है। अद्वैत वेदान्त अथवा केवलाद्वैत, सत्-चित्-आनन्द, ज्ञान-योग—ये सब हमारी अक्षय सांस्कृतिक निधियाँ हैं। आज जब विज्ञान पदार्थ की यथार्थता से जूझ रहा है तो उसे शंकर के दर्शन तथा भारत के प्राचीन मनीषियों की आत्मानुभूतियों में विस्मयकारी चिरन्तन सत्य का अनुभव हो रहा है।

शंकर का जन्म दक्षिण भारत के केरल-स्थित कलादी गाँव में हुआ था। पिता का नाम था शिवगुरु तथा माता का नाम आर्यम्बा। तीन वर्ष की उम्र में ही पिता का देहान्त हो गया।[8] उपनयन के बाद नर्मदा नदी के किनारे वह गुरु गोविन्द भगवद्पाद की शरण में जाकर विद्याध्यन करने लगे। गुरु गोविन्द श्री गौड़पाद के शिष्य थे। गोविन्द भगवद्पाद की महान योगी थे। उन्होंने शंकर को, संन्यास तथा ब्रह्मविद्या की शिक्षा दी। उनकी असाधारण प्रतिभा से कभी-कभी उनके गुरु भी चकित हो जाते थे। माधव विद्यारण्य के अनुसार, वेद के ज्ञान में वह ब्रह्म की तरह थे, वेदांग में गार्ग्य की भाँति, धर्मशास्त्र में वृहस्पति की भांति, मीमांसा में जैमिनी की भांति तथा दर्शन में बादरायण की भांति।[9] गुरु के आदेश से ही शंकर ने **विष्णुसहस्रनाम** पर अपना भाष्य

1. विस्तृत वर्णन के लिए द्रष्टव्य : उपेन्द्र ठाकुर, **जैनिज्म ऐण्ड बुद्धिज्म इन मिथिला**, अध्याय पृ० 61
2. उपेन्द्र ठाकुर, उपरिवत, पृ० 61-62 और **हिस्ट्री ऑफ़ मिथिला**, पृ० 8-11; गंगानाथ झा, **पूर्व मीमांसा इन इट्स सोर्सेज**, पृ० 15-19; राहुल सांस्कृत्यायन, **बौद्धचर्या**, पृ० 11-12; एस० एन० दासगुप्ता, **हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फ़िलॉसफ़ी**, भाग 1 पृ० 370, 417-29
3. **पूर्व मीमांसा**, पृ०21 और आगे।
4. मण्डन मिश्र कृत, **विभ्रमविविक**, मद्रास, 1922, पृ० 1-11
5. **हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र**, भाग 1, पृ० 252-64
6. एस० एन० दास गुप्ता **उपरिवत्**, भाग 2, पृ० 82 (उनके अनुसार शंकर 800 ई० में हुए थे)।
7. उपेन्द्र ठाकुर, **जैनिज्म एण्ड बुद्धिज्म** पृ० 62-64।
8. माधव की **शंकर दिग्विजय** के अनुसार वह तीन वर्ष के थे, नेपाली वृत्तान्त के अनुसार पाँच वर्ष के।
9. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य : **शंकर-दिग्विजय** तथा **नेपाली वृत्तान्त**।

लिखा। कुछ विद्वानों के अनुसार उन्होंने यह भाष्य बहुत बाद में बदरीनाथ में लिखा था।[1] गुरु गोविन्द भगवत्पाद ने शंकर को वाराणसी जाने का आदेश देकर स्वयं समाधि ले ली।

वाराणसी में उनके प्रथम शिष्य पद्मपाद (विष्णु शर्मा) हुए जो संन्यास लेने के बाद सनन्दन के नाम से विख्यात हुए। वहीं उनके दो और शिष्य हुए—हस्तामलक और तोतकाचार्य। कहते हैं, वाराणसी में ही शंकर का विश्वनाथ मंदिर जाते समय चांडाल के रूप में भगवान् शिव से विवाद हुआ था और उनके दर्शन से अभिभूत होकर उन्होंने **मनीषपंचकम** की रचना की थी। भगवान् शिव ने उनके सामने प्रकट होकर **ब्रह्मसूत्र** पर भाष्य लिखने के लिए कहा ताकि तर्क तथा धर्मग्रंथों के सहारे युग-युग से लोगों में व्याप्त धारणाओं को मिटाया जा सके।

वाराणसी से चलकर शंकर बदरीनाथ पहुँचे जहाँ उन्होंने बड़े-बड़े साधकों और मनीषियों से षड्-दर्शन तथा वेदों के सम्बन्ध में शास्त्रार्थ किया और बाद में दस उपनिषदों[2] पर अपने विलक्षण भाष्य लिखे जिनमें पहली बार 'आत्मा' सम्बन्धी सभी सिद्धान्तों की विशद विवेचना की गयी है। इसके बाद ही उन्होंने **भगवद्-गीता, विष्णु सहस्रनाम, उपदेशसाहस्री** आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की। कहते हैं, यहीं पर एक दिन संध्या-काल अपने शिष्यों को **ब्रह्मसूत्र** पर प्रवचन देने के बाद उनकी भेंट व्यास (वेदव्यास) से हुई जो महाविष्णु के अवतार माने जाते हैं। इस समय उनकी उम्र बारह वर्ष की थी।

किन्तु नेपाली **वृत्तान्त** में शंकर की काशी-यात्रा का कोई उल्लेख नहीं है। इसके अनुसार उन्होंने चार वर्ष (12 से 16 वर्ष की उम्र तक) बदरीनाथ में बिताये और वहीं उन्हें 120 वर्षीय गौड़पाद के दर्शन हुए और ब्रह्मसूत्र सम्बन्धी कुछ शंकाओं का उनके द्वारा समाधान कराने के बाद **प्रस्थानत्रय** की रचना के अतिरिक्त **माण्डूक्योपनिषद** पर गौड़पाद की **कारिका** पर भी भाष्य लिखा। माधवीय के अतिरिक्त प्रायः सभी ग्रन्थ से इस बात से सहमत हैं कि शंकर ने 16 (सोलह) वर्ष की अवस्था में ये सारे भाष्य लिखे।

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है कि इस महान अद्वैतवादी के जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना मिथिला के उद्भट मीमांसक स्वनामधन्य मण्डन मिश्र से शास्त्रार्थ है, जिसके सम्बन्ध में तरह-तरह की किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। मण्डन मिश्र वैदिक कर्मकाण्ड (मीमांसा) के अधिकारी विद्वान् थे जिनका लोहा समस्त उत्तर भारत के विद्वान् मानते थे। अतः, उन्हें शास्त्रार्थ में पराजित किये बिना कोई भी दार्शनिक समस्त भारत में मान्य नहीं हो सकता था। हिमालय छोड़कर शंकर जब देश की यात्रा पर चले तो सर्वप्रथम वह पूर्व-मीमांसा के अनन्य मैथिल विद्वान् कुमारिल भट्ट से मिले।[3] मिलने के दो उद्देश्य थे—(1) कुमारिल भट्ट को अद्वैत की सत्यता सिद्ध कर, अपना अनुवादी बनाना और (2) अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य (**सूत्र-भाष्य**) पर उनसे विवेचनात्मक वार्त्तिक लिखवाना। किन्तु, उस समय कुमारिल भट्ट, गुरु-द्रोह के प्रायश्चित स्वरूप-प्रयाग में आत्म-दाह कर रहे थे। अतः उन्होंने शंकर को निर्देश दिया कि वह मण्डन मिश्र (विश्वरूप) से इस कार्य के लिए मिलें। इस समय वह 18 वर्ष के थे।

शंकर मण्डन शास्त्रार्थ भारतीय दर्शन के इतिहास का एक गौरवपूर्ण अध्याय है। दो उद्भट दार्शनिकों का मिलन, वेदों में आख्यायित यहाँ कर्मकाण्ड आदि विषयों पर शास्त्रार्थ और उस युग की महान विदुषी सरस्वती (मण्डन मिश्र की पत्नी) द्वारा उसकी मध्यस्थता, मण्डन की पराजय और उनके द्वारा शंकराचार्य का

---

1. विस्तृत वर्णन के लिए द्रष्टव्य : जगद्गुरु चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती (रांची कामाकोटि पीठ)—कृत **आदि शंकर एण्ड हिज टाइम्स**, भारतीय विद्या भवन प्रकाशन; **भवन जर्नल**, भाग 34, संख्या 18, 1988 पृ० 75
2. ये उपनिषद् हैं—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंडक, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक।
3. उपेन्द्र ठाकुर, **जैनिज्म एण्ड बुद्धिज्म**, अध्याय 2

नेतृत्व स्वीकार, शंकर भाष्य पर उनके द्वारा 'टीका' (भाष्य) और तत्पश्चात् उत्तर भारत के मीमांसकों और नैयायिकों द्वारा शंकर की सार्वभौमता स्वीकार भारत के सांस्कृतिक इतिहास की एक अविस्मरणीय घटना है। और, इस घटना के बाद ही अद्वैत मत का विजय-ध्वज सारे भारत में फहराया जो आज विश्व के दार्शनिकों का सर्वाधिक आकर्षण है केन्द्र।[1]

इसके बाद अपने जीवन के शेष 14 वर्षों में शंकर ने तीन बार समस्त भारत की यात्रा की यह यात्रा सांस्कृतिक अखण्डता राजनीतिक एकता तथा साम्प्रदायिक सद्भावना की यात्रा थी जिसके पीछे समस्त देश को एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयास था। उनके उपदेशों में घृणा, द्वेष और जाति भेद का कोई स्थान नहीं। वह तो एक ब्रह्म को मानते हैं जो सभी जीव-जन्तुओं और कण-कण में व्याप्त है।

शंकर की दिग्विजय (भारत की चारों दिशाओं में उनकी आध्यात्मिक विजय की कथा) से सम्बन्धित जितने ग्रन्थ हैं, उनमें उन स्थानों की सूची में थोड़ा अन्तर है, जहाँ उन्होंने भ्रमण किया था। अधिकांश विद्वान इस बात से सहमत हैं कि वह कलादी, श्रृंगेरी, गोवर्ण, तिरूपति, कालाहस्ति, श्रीरंगम्, चिदम्बरम् रामेश्वरम्, श्रीशैलम् पुरी, द्वारका, बदरीनाथ तथा केदारनाथ गये थे। जब अपनी पहली यात्रा पर श्रृंगेरी में थे तो उन्हें अपनी बीमार माता का ध्यान आया। वह तुरन्त गाँव लौटे और मृत्यु के बाद माँ की श्राद्ध-क्रिया सम्पन्न की, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

शंकराचार्य द्वारा चार मठों की स्थापना के सम्बन्ध में भी विद्वानों में कुछ मतभेद है। नेपाली वृत्तान्त में मठों की स्थापना की तिथि और वर्ष भी दिये गये हैं— द्वारका मठ (812ई०) पुरी का गोवर्द्धन मठ (813 ई०) श्रृंगेरी मठ (814 ई०) तथा काँची स्थित कामाकोटि मठ (816 ई०)।[2] माधव विद्यारण्य (शंकर-दिग्विजय) के अनुसार ये मठ केदारनाथ, आनन्दगिरि, काँची, चिदविलासीय, बदरीनाथ आदि स्थानों में थे।[3] सन्त केशवदास के अनुसार शंकर ने बदरीनाथ के निकट ज्योतिमठ, पुरी, द्वारका, काँची तथा श्रृंगेरी में मठों की स्थापना की थी।[4] उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर यह कहना कठिन है कि शंकराचार्य ने स्वयं इन मठों की स्थापना की थी अथवा समाधि लेने के समय अपने अनुयायियों ने इनकी स्थापना के लिए कहा था। जो भी, ये मठ भारत की राष्ट्रीय, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक एकता के प्रतीक हैं जहाँ आज भी लाखों की संख्या में देश के सभी कोने से सभी वर्गों के लोग आपसी भेद भाव को भूलकर श्रद्धा-भक्ति से पूजन करने आते हैं और अपने विचारों का आदान-प्रदान करते हैं।

इन मंदिरों और स्थानों में पूजा करते समय शंकर ने नाना प्रकार की स्तुतियों की रचना की जो आज भी देश के सभी भागों में पूजा के समय गायी जाती हैं। अपनी तीसरी यात्रा के समय उन्होंने काशी में सुप्रसिद्ध स्तुति '**भज गोविन्दम्**' की रचना की थी जो आज भी भक्तों के बीच उतनी ही लोकप्रिय है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'पंचायतन पूजा' की परम्परा डाली जिसमें आदित्य अथवा सूर्यनारायण, अम्बिका अथवा दुर्गा, विष्णु, गणेश तथा महेश्वर अथवा शिव की पूजा-आराधना की व्यवस्था है। आज की 'पंचायतन पूजा' प्रत्येक दिन प्रत्येक हिन्दू घर में उसी रूप में की जाती है। इसके अतिरिक्त उन्होंने छः सम्प्रदायों—शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, गाणपत्य तथा कौमार—को पहली बार संगठित कर सम्प्रदाय-ग्रत भेद-भाव से दूर करने का प्रयास किया।

1. उपेन्द्र ठाकुर, उपरिवत्, अध्याय 2; **भवन्स जर्नल**, भाग 34, संख्या 18, पृ० 75-76
2. **भवन्स-जर्नल**, भाग 34, संख्या 18, पृ० 83
3. **उपरिवत्**, पृ० 85
4. **उपरिवत्**, पृ० 29

शंकराचार्य ने कहाँ समाधि ली, इस सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। कुछ केदारनाथ मानते हैं, तो कुछ काँची और कुछ बदरीनाथ। इस प्रकार उनकी समाधि के सम्बन्ध में बहुत ही जन श्रुतियां हैं जिन्हें न तो ऐतिहासिक कहना उचित होगा और न ही मनगढ़न्त। उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने कहीं हिमालय में ही समाधि ली, चाहे वह बदरीनाथ हो, अथवा केदारनाथ अथवा अन्य कोई स्थान।

(VI)

आज हमारे सामने स्वराज्य की जो अवधारणा है, उसका श्रेय आचार्य शंकर को है, कारण सर्वप्रथम उन्हें ही इस बात की अनुभूति हुई कि भारत की एकता राजनीतिक सम्बन्ध पर आधारित नहीं हो सकती। भाषा, धर्म और क्षेत्र के नाम पर स्वतन्त्र भारत में जो दुखद घटनाएं घट रही हैं। आज उसके फलस्वरूप, स्वतन्त्रता-संग्राम के समय हमने जो तथा कथित राजनीतिक और आर्थिक एकता कायम की थी, वह भ्रामक सिद्ध हो रही है। शंकर ने आध्यात्मिक तथा नैतिक मूल्यों पर आधारित सांस्कृतिक एकता का जो मार्ग दर्शाया था, यदि आज भी ईमानदारी से हम उसका अनुसरण करें तो देश टूटने से बच सकता है। शंकर के देहावसान से अब तक बारह सौ वर्ष बीत चुके हैं, लाखों मनुष्यों के प्रयोगों और अनुभवों के फलस्वरूप मनुष्य के ज्ञान-भण्डार में असाधारण वृद्धि हुई है, वैज्ञानिक प्रगति के अतिरिक्त उसकी दार्शनिक प्रकृतियों तथा तर्क-दृष्टि में भी कल्पनातीत प्रगति हुई है, फिर भी आचार्य शंकर के उपदेशों का महत्व ज्यों का त्यों बना हुआ है और वह आज भी अंधकार में भटकते आधुनिक मानव को अपनी ज्योति से दिशा-निर्देश कर रहे हैं।

यद्यपि धर्म और संस्कृति के नाम पर आये दिन कुछ न कुछ होता ही रहता है फिर भी विगत वर्षों में भारतीयों को उच्च आध्यात्मिक स्तर पर ले जाने का कदाचित् ही कोई ठोस प्रयास किया गया है। यदि समस्त देश में फैले हुए मन्दिरों, मस्जिदों, गुरुद्वारों तथा गिरजाघरों को पूजा और प्रार्थना के अतिरिक्त विभिन्न सम्प्रदायों के धार्मिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा-केन्द्र बना दिया जाय तो राष्ट्र की सांस्कृतिक एकता को तो बल मिलेगा ही, साथ ही धर्म की सार-वस्तु समझ लेने के बाद पारस्परिक घृणा-द्वेष का भी अन्त हो जायेगा। आचार्य शंकर ने अपने अद्वैत दर्शन के माध्यम से ठीक यही कार्य किया था। उन्होंने मानवीय चेतना एवं विचार धारा को एक नयी दिशा दी, और धर्मान्धता की भर्त्सना की। शंकर ने जो मार्ग दर्शाया है, उसका अनुसरण करने पर राष्ट्र का बहुत बड़ा कल्याण हो सकता है। काश, आज भी हम अपने इतिहास के इस गौरवपूर्ण अध्याय का ठीक से अध्ययन कर देश के भाग्य का निर्माण कर पाते !

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

ब्रह्मसूत्र (बादरायण-कृत) : स०-बकटे, बम्बई, 1909 ई०

बृहदारण्यक भाष्यम् (शंकराचार्य-कृत) स० अगाशे, 1909

बृहदारण्यक उपनिषद् (दस प्रमुख उपनिषद्) : शंकर-भाष्य सहित : स०-एच० आर० भगत, पूना, 1918

न्याय-कुसुमांजलि : चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी

शारीरक भाष्यम् (शंकर-भाष्य) : चौखम्बा, प्रकाशन, वाराणसी

शंकर दिग्विजय : माधव विद्यारण्य

ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन फ़िलॉसफ़ी भाग 1-2 एस० एन० दासगुप्ता, कैम्ब्रिज, 1951-52

दर्शन-दिग्दर्शन : राहुल साकृत्यायन

हिस्ट्री ऑफ इंडियन फ़िलॉसफ़ी भाग 1 : उमेश मिश्र, इलाहाबाद, 1958
हिस्ट्री ऑफ़ मिथिला (द्वितीय संस्करण) : उपेन्द्र ठाकुर, वाराणसी, 1988
स्टडीज इन जैनिज्म एंड बुद्धिज्म इन मिथिला : उपेन्द्र ठाकुर, वाराणसी,
इंडियन फ़िलॉसफ़ी; भाग 1-2, लन्दन, 1923
पूर्वमीमांसा इन इट्स सोर्सेज : गंगानाथ झा, वारणसी, 1942
वाचास्पति मिश्र ऑन अद्वैत वेदान्त : एस० एस० हसुरकर, दरभंगा, 1958
ए कन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फ़िलॉसफ़ी, आर० डी० रानाडे
न्याय दर्शन : हरिमोहन झा, दरभंगा।
शंकर वेदान्त : गंगानाथ झा, वाराणसी
सिक्स सिस्टम्स ऑफ इंडियन फ़िलॉसफ़ी : मैक्समूलर
आउटलाइन्स ऑफ इंडियन फ़िलॉसफ़ी : एम० हिरियन्ना।
पैनोरमा ऑफ़ इंडियन फ़िलॉसफ़ी : आ० सी० पाण्डेय
सोर्सबुक ऑफ़ शंकर : एन० के० देवराज
षड्दर्शन रहस्य : रंगनाथ पाठक, पटना
भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय
भारतीय दर्शन: वसन्त कुमार लाल

शंकराचार्य के ग्रन्थ

डा० जयराम मिश्र

शंकराचार्य की कृतियों के रूप में दो सौ से अधिक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। परन्तु क्या इन सभी कृतियों की रचना गोविन्दपाद के शिष्य आदि शंकराचार्य ने ही की? बात यह है कि परवर्ती शंकराचार्यों ने भी अनेक रचनाएँ कीं, और उन्होंने ग्रन्थों की पुष्पिका में अपने को आदि शंकराचार्य के समान गोविन्दपाद का ही शिष्य स्वीकार किया, अपने वास्तविक गुरु के नाम का निर्देश नहीं किया है। इससे आदि शंकराचार्य के ग्रन्थों का निर्णय करना टेढ़ी खीर है।

ग्रन्थों की अन्तरंग परीक्षा से भी यह निर्णय किया जा सकता है कि कौन-सी रचनाएँ आदि शंकराचार्य की हैं, क्योंकि उनकी शैली नितान्त प्रौढ़, प्रसादमयी और सुबोध है। पर जब तक समस्त ग्रन्थों का प्रकाशन नहीं हो जाता, यह भी निर्णय करना बहुत कठिन है।

आदि शंकराचार्य द्वारा लिखित ग्रन्थों को हम चार भागों में बाँट सकते हैं—(क) भाष्य-ग्रन्थ, (ख) स्तोत्र ग्रन्थ, (ग) प्रकरण ग्रन्थ, और (घ) तन्त्र ग्रन्थ।

भाष्य ग्रन्थों को दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—(अ) प्रस्थानत्रयी का भाष्य और (ब) इतर ग्रन्थों के भाष्य।

प्रस्थान का साधारण अर्थ है 'गमन' परन्तु 'प्रस्थान-त्रय' में इस स्थान पर 'प्रस्थान' का विशिष्ट अर्थ है 'मार्ग', जिसके द्वारा गमन किया जाय। वेदान्त के तीन प्रस्थान या मार्ग हैं—(1) सूत्र अथवा ब्रह्मसूत्र, (2) स्मृति अथवा श्रीमद्भगवद्गीता और (3) श्रुति अर्थात् उपनिषद्। इन तीनों मार्गों से यात्रा करने पर साधक। (अध्यात्म मार्ग का पथिक) अपने लक्ष्य ब्रह्म तक पहुँच सकता है।

शंकराचार्य ने प्रस्थानत्रयी पर प्राचीन तथा आदि टीकाएँ लिखीं। उनके पहले भी कतिपय वेदान्ताचार्यों ने इन ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी थीं। उदाहरणार्थ भर्तृप्रपंच ने कठोपनिषद् तथा बृहदारण्यकोपनिषद् पर भाष्य-रचना की थी और आचार्य उपवर्ष ने ब्रह्मसूत्र तथा मीमांसा सूत्रों पर वृत्तियों की रचना की थी। परन्तु ये भाष्य ग्रन्थ और वृत्ति ग्रन्थ काल-कवलित हो गये। इस कारण उनके रचयिताओं के पूर्ण तथा मौलिक सिद्धांतों का पता हमें नहीं चल पाता। दूसरी बात यह भी हो सकती है कि आचार्य शंकर के भाष्य इतने पूर्ण, प्रौढ़ मौलिक और पांडित्यपूर्ण थे कि विद्वान् अध्येता की वृत्ति आचार्य शंकर के भाष्यों के अध्ययन तक ही सीमित रह गयी।

(क) भाष्य-ग्रन्थ

आचार्य शंकर द्वारा लिखित भाष्य-ग्रन्थों को दो कोटियों में विभाजित किया जा सकता है—(अ) प्रस्थानत्रयी भाष्य और (ब) इतर ग्रन्थों पर भाष्य। प्रस्थानत्रयी भाष्य के अन्तर्गत—(1) ब्रह्मसूत्र भाष्य, (2)

गीता भाष्य और (3) (उपनिषद् भाष्य आते हैं। अब प्रत्येक का विवरण पृथक्-पृथक् दिया जा रहा है—

(अ) प्रस्थानत्रयी भाष्य—(1) **ब्रह्मसूत्र भाष्य**—यह आचार्य की अद्वितीय कृति मानी जाती है। व्यासकृत ब्रह्मसूत्र परम लघु और संक्षिप्त हैं। बिना भाष्य का अवलम्बन ग्रहण किये, इनके वास्तविक रहस्य को समझना अत्यन्त कठिन है। आचार्य शंकर ने बड़ी सरल, सुबोध, मधुर, कोमल तथा प्रसन्न शैली में ब्रह्मसूत्र का भाष्य किया है। भाषा बड़ी प्रौढ़ साथ ही प्रसादगुण युक्त है। इतने कठिन दार्शनिक विषय को इस सुन्दरता और सरलता से समझाया है कि पढ़कर सुधी पाठक का मन बरबस मुग्ध हो जाता है। वाचस्पति मिश्र जैसे उद्भट विद्वान् और प्रौढ़ दार्शनिक ने आचार्य शंकर के इस भाष्य को केवल 'प्रसन्न-गम्भीर' ही भर नहीं कहा है, बल्कि इसे गंगाजल के समान पवित्र बतलाया है।

इस भाष्य को 'शारीरक' भाष्य भी कहा जाता है। 'शारीरक' शब्द का अभिप्राय है शरीर में निवास करनेवाला 'आत्मा'। इन सूत्रों में आत्मा के स्वरूप की मीमांसा की गयी है। इसीलिए इन सूत्रों को 'शारीरक सूत्र' और इस भाष्य को 'शारीरक भाष्य' कहा जाता है।

(2) **श्रीमद्भगवद्गीता-भाष्य**—इस भाष्य में आचार्य शंकर ने गीता की निवृत्तिमूलक और ज्ञानपरक व्याख्या की है। उन्होंने इस भाष्य में यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति केवल 'तत्त्वज्ञान' से ही होती है, ज्ञान और कर्म के समुच्चय से नहीं। इस भाष्य में उन्होंने कर्म के सिद्धान्तों का खण्डन किया है।

(3) **उपनिषद्-भाष्य**—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर और नृसिंहतापिनी, इन बारह उपनिषदों का शंकर ने भाष्य किया। परन्तु केन, श्वेताश्वतर, माण्डूक्य और नृसिंहतापिनी उपनिषदों पर लिखे गये भाष्यों पर विद्वानों को पूर्ण सन्देह है। वे इन चारों को आदि शंकराचार्य की कृति न मानकर किसी अन्य शंकराचार्य की कृति मानते हैं। इसका कारण यह है कि केनोपनिषद् पर एक—एक पद वाक्य भाष्य है और दूसरा वाक्य भाष्य। वाक्य भाष्य में आचार्य के शंकर प्रसिद्ध मत भी कभी भिन्न रूप में तथा कभी विरुद्ध रूप में वर्णित हैं। दोनों भाष्यों की व्याख्या में पर्याप्त भिन्नता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् के भाष्य में विष्णु पुराण, लिंग पुराण, वायु पुराण आदि के लम्बे-लम्बे उद्धरण मिलते हैं। लम्बे-लम्बे उद्धरण देना शंकराचार्य की भाष्य शैली नहीं है। माण्डूक्योपनिषद् के भाष्य के प्रारम्भ में मंगलाचरण मिलता है, यह भी आचार्य की शैली के अनुरूप नहीं हैं। मंगलाचरण के द्वितीय श्लोक में छन्द-दोष भी है। इसी प्रकार नृसिंहतापिनी उपनिषद् के भाष्य में तान्त्रिक सिद्धान्तों की प्रमुखता है।

उपनिषद् के भाष्यों की शैली बड़ी उदात्त, गम्भीर, सरल, सुबोध और आकर्षक है। अपने मत की पुष्टि के लिए आचार्य ने प्राचीन वेदान्ताचार्यों के सिद्धान्तों का उद्धरण दिया है। इस दृष्टि से बृहदारण्यकोपनिषद् का भाष्य सबसे अधिक विद्वत्तापूर्ण, व्यापक और प्राञ्जल है। ब्रह्म प्राप्ति के साधनों में उन्होंने कर्मकाण्ड की उपादेयता का बड़ी युक्ति और तर्क से खण्डन किया है। आचार्य शंकर के प्रस्थानत्रयी के ये भाष्य प्रौढ़ शास्त्रीय गद्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। आचार्य के सिद्धान्तों को हृदयंगम करने के लिए प्रस्थानत्रयी के भाष्यों का अध्ययन करना नितान्त आवश्यक है।

(ब) इतर ग्रन्थों पर भाष्य

वैसे तो आचार्य शंकर रचित इतर ग्रन्थों की भाष्य-रचना पचासों के लगभग बतायी जाती है। पर वे भाष्य ग्रन्थ किसी अन्य शंकराचार्य की रचना हैं, आदि शंकराचार्य की नहीं। जो निःसंदिग्ध रचनाएँ हैं, वे इस प्रकार हैं—

(5) **विष्णु सहस्त्रनाम भाष्य**—इस भाष्य में परमात्मा के प्रत्येक नाम की युक्तियुक्त व्याख्या की गयी है और उसकी पुष्टि में उपनिषद्, पुराण आदि ग्रन्थों का प्रमाण उद्धृत किया गया है।

(2) **सनत्सुजातीय भाष्य**—धृतराष्ट्र के मोह को दूर करने के लिए सनत्सुजात ऋषि ने जो आध्यात्मिक उपदेश दिया था, वह महाभारत के उद्योग पर्व (अध्याय 42 से अध्याय 46 तक) में वर्णित है। इसे 'सनत्सुजातीय पर्व' कहते हैं। इसी का यह भाष्य है।

(3) **ललितात्रिशती भाष्य**—ललितात्रिशती में भगवती ललिता के तीन सौ नाम हैं। आचार्य ललिता के अनन्य उपासक थे। इस ग्रन्थ पर उन्होंने विशद पांडित्यपूर्ण भाष्य लिखा है। उपनिषदों तथा तन्त्रों से प्रचुर प्रमाण दिये गये हैं। इसकी व्याख्या अत्यन्त सुन्दर एवं चित्ताकर्षक है।

(4) **माण्डूक्यकारिका भाष्य**—गौड़पादाचार्य ने माण्डूक्य उपनिषद् पर कारिकाएँ लिखीं। अद्वैत सिद्धान्त में उनकी कारिकाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्हीं के ऊपर आचार्य ने भाष्य-रचना की।

(ख) स्तोत्र-ग्रन्थ

अद्वैतानुभूति आध्यात्मिक जीवन का परम और अन्तिम लक्ष्य है। किन्तु इसमें प्रतिष्ठित होने के लिए जिस सोपानावलि के द्वारा उत्क्रमण करना पड़ता है, आचार्य शंकर ने उसके प्रति पूर्ण श्रद्धा और भक्ति प्रदर्शित की है। इसी कारण हम आचार्य को उपासना, भक्ति और पूजार्चना आदि के उत्साही प्रवर्तक के रूप में देखते हैं। अतः वे परमार्थतः अद्वैतवादी होने पर भी व्यवहार क्षेत्र में देवी-देवताओं, तीर्थों, पवित्र नदियों की उपासना और आराधना की सार्थकता को भलीभाँति समझते थे। सगुण ब्रह्म की उपासना से ही निर्गुण ब्रह्म के क्षेत्र में प्रवेश होता है। अतः सगुण ब्रह्म की उपासना का विशेष महत्त्व है। लोक-संग्रह के निमित्त आचार्य स्वयं सगुण ब्रह्म की उपासना करते थे। वे परम उदारमना थे। साम्प्रदायिक क्षुद्रता उन्हें छू तक नहीं गयी थी। उन्होंने शिव, विष्णु, गणेश, शक्ति आदि देवी-देवताओं की भावपूर्ण स्तुतियों की रचना की है। ये स्तुतियाँ ललित, कोमल, रसभाव से परिपूर्ण हैं। साथ ही इनमें भाषा और अलंकारों की सुन्दर छटा भी दिखायी पड़ती है। शंकर के नाम से सम्बन्धित मुख्य स्तोत्रों की नामावली इस प्रकार है—

(1) गणेश स्तोत्र—इससे सम्बन्धित 4 स्तोत्र हैं।
(2) शिवस्तोत्र—इससे सम्बन्धित 18 स्तोत्र हैं।
(3) देवी स्तोत्र—इससे सम्बन्धित 19 स्तोत्र हैं।
(4) विष्णु स्तोत्र—इससे सम्बन्धित 10 स्तोत्र हैं।
(5) युगल देवता स्तोत्र—इससे सम्बन्धित 4 स्तोत्र हैं।
(6) नदी तीर्थ विषयक स्तोत्र—इससे सम्बन्धित 5 स्तोत्र हैं।
(7) साधारण स्तोत्र—इससे सम्बन्धित 4 स्तोत्र हैं।

इस प्रकार शंकराचार्य के 64 स्तोत्रों का उल्लेख किया गया है। उन्हें शृंगेरीमठ के शंकराचार्य की अध्यक्षता में श्री वाणीविलास से प्रकाशित 'शंकर-ग्रन्थावली' में स्थान दिया गया है। शंकराचार्य के नाम से कम-से-कम 240 स्तोत्र छपे अथवा हस्तलिखित रूप में उपलब्ध होते हैं। परन्तु उनका परिशीलन करने से इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि अधिकांश स्तोत्रों में कृत्रिमता की भरमार है। अतः उन्हें आदि शंकराचार्य द्वारा रचित मानने में पूर्ण सन्देह है।

निम्नलिखित स्तोत्र आदि शंकराचार्य की प्रामाणिक रचनाएँ मानी जाती हैं—

(1) **आनन्द लहरी**—इसमें शिखरणी छन्द में 20 श्लोक हैं। यह भगवती देवी की अनुपम स्तुति है। इस स्तोत्र के सभी श्लोक बड़े ही सरस, चमत्कारपूर्ण, भावपूर्ण और हृदयस्पर्शी हैं। इसकी इतनी अधिक ख्याति

है कि इस पर विद्वानों ने 30 टीकाएँ लिखी हैं। एक टीका स्वयं आचार्यरचित मानी जाती है।

(2) **गोविन्दाष्टक**—इस पर आनन्दतीर्थ की व्याख्या मिलती है। वाणी-विलास की शंकर ग्रन्थावली में यह प्रकाशित है।

(3) **दक्षिणामूर्ति स्तोत्र**—इस स्तोत्र में दस शार्दूलविक्रीडित छन्द हैं। इसके ऊपर वेदान्त के आचार्यों ने कई टीकाएँ लिखी हैं। सुरेश्वराचार्य की 'मानसोल्लास' नामक टीका अधिक प्रसिद्ध है। इस स्तोत्र में वेदान्त और तन्त्र शास्त्र का अद्‌भुत सम्मिश्रण हैं। तन्त्र के अनेक पारिभाषिक शब्द भी इस स्तोत्र में पाये जाते हैं।

(4) **दशश्लोकी**—इसके कई अन्य नाम भी हैं—चिदानन्द दशश्लोकी, चिदानन स्तवराज, निर्वाण-दशक आदि। प्रत्येक श्लोक का अन्तिम चरण है, 'तदेकोऽवशिष्ट: शिव: केवलोऽहम्'। मधुसूदन सरस्वती ने 'सिद्धान्त बिन्दु' नाम से इन श्लोकों की पांडित्यपूर्ण व्याख्या की है।

(5) **चर्पट पंजरिका**—इसके अन्य नाम भी हैं—मोहमुद्गर, द्वादश मंजरी और द्वादश पंजरिका। इसके पद नितान्त सरस, सुबोध तथा गीतिमय हैं। प्रत्येक श्लोक का टेक पद है, 'भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढ़मते'।

(6) **द्वादशपंजरिका**—इसमें बारह पद हैं। प्रत्येक पद सुन्दर और श्लाघनीय है। प्रथम पद का आरम्भ 'मूढ जहीहि धनागमतृष्णां'।

(7) **षट्पदी**—इसका अन्य नाम 'विष्णु षट्पदी' है। इसकी लगभग छ: टीकाएँ उपलब्ध हैं। एक टीका स्वयं शंकराचार्य की है और दूसरी टीका रामानुजाचार्य के मतानुसार की गयी है। इस स्तोत्र का निम्नलिखित श्लोक बहुत प्रसिद्ध है—

सत्यपि भेदापगमे नाथ, तवहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंग: क्वचन् समुद्रो न तारंग:॥

(8) **हरिमीडे स्तोत्र**—इस स्तोत्र के ऊपर विद्यारण्य, स्वयंप्रकाश, आनन्दगिरि तथा आदि शंकराचार्य के द्वारा लिखित टीकाएँ उपलब्ध हैं। स्वयंप्रकाश की टीका मैसूर से प्रकाशित हुई है।

(9) **मनीषा पंचक**—पूरे स्तोत्र में 9 श्लोक हैं। किन्तु अन्तिम पाँच श्लोकों के अन्त में 'मनीषा' शब्द का प्रयोग होने के कारण, इस स्तोत्र का नाम 'मनीषा पंचक' पड़ गया। काशी में चाण्डालवेशधारी विश्वनाथ के पूछने पर आचार्य शंकर ने इन श्लोकों में आत्मस्वरूप का बहुत सुन्दर निरूपण किया है। इसकी टीका सदा-शिवेन्द्र ने की है। गोपालबाल यति रचित 'मधुमंजरी' नामक व्याख्या भी मिलती है।

(10) **सोपान पंचक**—इसका दूसरा नाम 'उपदेश पंचक' भी है। इन पाँच श्लोकों में वेदान्त के आचरण का विधिवत उपदेश प्राप्त होता है।

(11) **शिवभुजंगप्रयात स्तोत्र**—इसमें चौदह श्लोक हैं। माधवाचार्य ने अपने 'शंकर दिग्विजय' नामक ग्रन्थ में बतलाया है कि इसी स्तोत्र के द्वारा आचार्य शंकर ने अपनी माता के अन्तिम समय में भगवान् शंकर की स्तुति की थी, जिससे प्रसन्न होकर उन्होंने अपने दूतों को भेजा था—

महादेव देवेश देवादिदेव,
स्मरारे पुरारे यमारे हरेति।
ब्रुवाण: स्मरिष्यामि भक्त्या भवन्तं
ततो मे दयाशील देव प्रसीद॥

(ग) प्रकरण ग्रन्थ

आचार्य शंकर ने वेदान्त-सम्बन्धी अनेक छोटे-छोटे ग्रन्थों की रचना की है। इन ग्रन्थों में वेदान्त-तत्व

का संक्षिप्त निरूपण सुन्दर ढंग से किया गया है। वेदान्त-तत्व प्रतिपादक होने के कारण ये ग्रन्थ 'प्रकरण ग्रन्थ' कहे जाते हैं। इन ग्रन्थों में वेदान्त के साधनभूत विवेक, वैराग्य, त्याग, शम, दम, श्रद्धा, उपरति, तितिक्षा आदि का सुन्दर विवेचन किया गया है। साथ ही अद्वैत के मूल सिद्धान्तों की भी संक्षेप में स्पष्ट व्याख्या की गयी है। बात यह है कि आचार्य अद्वैत-विद्या का पावन सन्देश सर्वसाधारण तक पहुँचा देना चाहते थे और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने प्रकरण ग्रन्थों की रचना की। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने अपने भाष्य ग्रन्थों में अद्वैत सिद्धान्तों की विशद व्याख्या की। भाष्यों की भाषा अत्यन्त सुष्ठु और प्रांजल है, पर उनकी युक्तियाँ और तर्क बहुत गम्भीर और पांडित्यपूर्ण हैं। अतः सामान्य लोगों को उन्हें समझने में कठिनाई पड़ सकती है, इसीलिए अनेक छोटे-छोटे प्रकरण ग्रन्थों की रचना करके वेदान्तशास्त्र को सर्वसुलभ बनाने की उन्होंने चेष्टा की।

ऐसे प्रकरण ग्रन्थों की संख्या पर्याप्त है। इनमें से कुछ ग्रन्थों की शैली आचार्य के प्रामाणिक और निःसंदिग्ध ग्रन्थों की शैली से नितान्त भिन्न है। किसी-किसी ग्रन्थ में वेदान्त के सर्वमान्य सिद्धान्तों – आत्मा, अद्वैत, विवेक, वैराग्य, विषयनिन्दा—का विशद विवेचन है, परन्तु कतिपय ग्रन्थों में अद्वैत विरोधी सिद्धान्त भी उपलब्ध होते हैं, और किसी ग्रन्थ में व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियाँ भी मिलती हैं। अतः उन ग्रन्थों को आचार्य की कृति मानना, उनके साथ अन्याय करना होगा। इन ग्रन्थों के कर्त्तृत्व का निर्धारण करते समय आचार्य की लेखन-शैली, सिद्धान्त तथा पद-विन्यास आदि पर ध्यान देने की बड़ी आवश्यकता है।

आचार्य रचित प्रकरण-ग्रन्थों की संख्या लगभग 40 मानी जाती है। पर इनमें से अधिकांश संदिग्ध हैं। जो असंदिग्ध और प्रामाणिक कृतियाँ हैं, उनका संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है—

(1) **अपरोक्षानुभूति**—इसमें 144 श्लोक हैं। इसमें आत्मसाक्षात्कार के साधनों का उत्कृष्ट चित्रण किया गया है। साथ ही आत्मस्वरूप का हृदयग्राही वर्णन भी है। सुन्दर-सुन्दर दृष्टान्तों और युक्तियों के माध्यम से अद्वैत-सिद्धान्त का सम्यक् निरूपण किया गया है।

(2) **आत्मबोध**—इसमें 68 श्लोक हैं। नाना उदाहरण देकर आत्मा को शरीर, इन्द्रियादिकों, मन, बुद्धि आदि से पृथक् सिद्ध किया गया है। बोधेन्द्र ने इस ग्रन्थ के ऊपर 'भावप्रकाशिका' नामक टीका लिखी है। इस पर मधुसूदन सरस्वती की टीका का भी उल्लेख मिलता है। इसका तेरहवाँ श्लोक 'वेदान्त परिभाषा' से उद्धृत किया गया है।

(3) **उपदेश साहस्री**—इस ग्रन्थ का पूरा नाम है—'सकल वेदोपनिषत् सारोपदेश साहस्री'। इस नाम की दो पुस्तकें हैं—(1) गद्य प्रबन्ध, जिसमें गुरु-शिष्य के संवाद रूप में वेदान्त-सिद्धान्त का गद्य में वर्णन किया गया है। (2) पद्य प्रबन्ध—जिसमें वेदान्त के विविध विषयों पर 19 प्रकरण हैं। सुरेश्वराचार्य ने इसके अनेक श्लोकों को अपने नैष्कर्म्यसिद्धि में उद्धृत किया है। आनन्दतीर्थ तथा बोधनिधि की टीकाएँ भी इस ग्रन्थ पर उपलब्ध हैं।

(4) **पंचीकरण प्रकरण**—यह ग्रन्थ गद्य में लिखित है। सुरेश्वराचार्य ने इसके ऊपर वार्तिक भी लिखा है, जिस पर शिवराम तीर्थ का विवरण मिलता है। 'विवरण' पर 'आभरण' नामक एक और भी टीका मिलती है। गोपाल योगीन्द्र के शिष्य स्वयंप्रकाश और आनन्दगिरि ने भी इस पर पृथक्-पृथक् 'विवरण' नामक टीका लिखी है। इस पर कृष्णतीर्थ के किसी शिष्य ने 'तत्त्वचन्द्रिका' नामक व्याख्या लिखी है।

(5) **प्रबोध सुधाकर**—इसमें वेदान्त के तत्त्वों का अत्यन्त सुन्दर विवेचन है। इसमें 257 आर्या छन्द हैं, जिनमें सांसारिक विषयों की निन्दा और वैराग्य की प्रशंसा की गयी है। साथ ही ध्यान का मनोरम प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ की भाषा बहुत सुबोध तथा प्रांजल है। शैली भी आचार्य के ग्रन्थों की शैली के समान है।

(6) **लघुवाक्यवृत्ति**—इसमें 18 अनुष्टुप् छन्द हैं जिनमें जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया

गया है। इस पर अनेक टीकाएँ भी मिलती हैं। एक टीका तो स्वयं आचार्य ने ही की है और दूसरी टीका रामानन्द सरस्वती की है। विद्यारण्य स्वामी ने इस पर 'पुष्पांजलि' नामक टीका लिखी है।

(7) **वाक्यवृत्ति**—इसमें 53 श्लोक हैं। इसमें 'तत्त्वमसि' नाम के पदार्थ और वाक्यार्थ का विशद विवेचन है। 'तत्' और 'त्वं' पदों के अर्थ—वाक्यार्थ और लक्ष्यार्थ—का निरूपण भलीभाँति किया गया है। इसके ऊपर महायोगी माधवप्राज्ञ के शिष्य विश्वेश्वर पण्डित की 'प्रकाशिका' टीका है।

(8) **विवेक चूडामणि**—उस ग्रन्थ में 581 श्लोक हैं। यह वेदान्तशास्त्र का परम उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसमें गुरु-शिष्य के लक्षण, विवेक, वैराग्य, शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति, तितिक्षा, मुमुक्षुत्व, समाधि (सविकल्प समाधि, निर्विकल्प समाधि) जीवन्मुक्त के लक्षणों आदि का विशद और आकर्षक वर्णन किया गया है। आचार्य का यह ग्रन्थ संन्यासियों और गृहस्थो दोनों में खूब प्रचलित है। इसकी हिन्दी, बंगला और भारत की अन्य भाषाओं एवं अंग्रेजी में अनेक टीकाएँ मिलती हैं। यह व्यापक और प्रौढ़ ग्रन्थ हैं। गीता प्रेस, गोरखपुर की टीका से इस ग्रन्थ का प्रचार सर्वसाधारण में बहुत अधिक हो गया है।

(9) **शतश्लोकी**—इसमें सौ श्लोक हैं। इसमें वेदान्त-सिद्धान्त का विशद विवेचन किया गया है। विज्ञानात्मा, आनन्द कोश, जगन्मिथ्यात्व और कर्म-मीमांसा, इन चार प्रकरणों में यह ग्रन्थ विभाजित है। वेदान्त के समर्थन में उपनिषदों के प्रमाण बड़ी सुन्दरता से प्रस्तुत किये गये हैं आनन्दगिरि की टीका मैसूर से प्रकाशित ग्रन्थावली में प्रकाशित है। शंकराचार्य के नाम से इसकी एक टीका भी उपलब्ध है।

उपर्युक्त इन 9 रचनाओं के अतिरिक्त निम्नलिखित रचनाएँ भी शंकराचार्य कृत मानी जाती हैं—

अद्वैत पंचरत्न, अद्वैतानुभूति, अनात्मश्रीविगर्हण प्रकरण, उपदेशपंचक, एकश्लोकी, कौपीनपंचक, जीवन्मुक्तानन्दलहरी, तत्त्वबोध, तत्त्वोपदेश, धन्याष्टक, निर्गुण मानसपूजा, निर्वाणमंजरी, निर्वाणषटक् परापूजा, प्रश्नोत्तर रत्नमालिका, प्रौढानुभूति, ब्रह्मज्ञानावली माला, ब्रह्मानुचिन्तन, मणिरत्नमाला, मायापंचक, मुमुक्षुपंचक, योगतारावली, वाक्यसुधा, विज्ञाननौका, वैराग्यपंचक, सदाचारानुसन्धान, सर्ववेदान्त-सिद्धान्तसार-संग्रह, सर्वसिद्धान्तसार संग्रह, स्वात्मनिरूपण, स्वात्मप्रकाशिका।

उपर्युक्त 30 ग्रन्थों के विषय में सन्देहहीन निर्णय अभी तक नहीं हो पाया है। अतः ये आचार्य शंकर की संदिग्ध रचनाएँ हैं।

(घ) तन्त्र-ग्रन्थ

आचार्य शंकर ने दो तन्त्र ग्रन्थों की रचना भी की है।

(1) **सौन्दर्य लहरी**—कतिपय विद्वान् इसे आचार्य की रचना होने में शंका प्रकट करते हैं। परन्तु निश्चय ही यह आचार्य शंकर की निःसन्दिग्ध और उत्कृष्ट रचना है। काव्य की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त अभिराम और सरस है। पाण्डित्य की दृष्टि से भी यह उतना ही प्रौढ़ तथा रहस्यपूर्ण है।

संस्कृत के स्तोत्र-साहित्य में इसका शीर्षस्थ स्थान है। इस ग्रन्थ में तन्त्र के रहस्यमय सिद्धान्तों का विवेचन बड़ी कुशलता से किया गया है। इस महत्त्वपूर्ण कृति पर 35 विद्वानों ने टीकाएँ लिखी हैं, जिनमें लक्ष्मीधर, कैवल्याश्रम, भास्कर राय, कामेश्वर सूरि तथा अच्युतानन्द की व्याख्याएँ प्रमुख हैं। इस ग्रन्थ में सौ श्लोक शिखरिणी छन्द में हैं। इन श्लोकों में काव्य तथा तान्त्रिकता का अपूर्व सामंजस्य दिखलायी पड़ता है। प्रारम्भ के 41 श्लोकों में तान्त्रिक सिद्धान्त के रहस्य का सुन्दर विवेचन किया गया है। अन्तिम 59 श्लोकों में भगवती त्रिपुरी सुन्दरी के अंग-प्रत्यंग का अत्यन्त सरस तथा हृदयग्राही वर्णन है। षट् चक्रों में विराजमान भगवती की नाना मूर्तियों का वर्णन आचार्य ने बड़े पाण्डित्य से किया है। इस लहरी के पचहत्तरवें श्लोक में किसी द्रविड का उल्लेख है, जिसे भगवती ने अपने स्तन का दुग्धपान स्वयं कराया था और वह देवी की अहेतुकी कृपा

से कमनीय कवि बन गया। अधिकांश टीकाकारों के मतानुसार यह द्रविड शिशु तमिल प्रदेश के प्रसिद्ध शैव सन्त 'श्री ज्ञान सम्बन्ध' थे। तमिल प्रदेश के जिन चार शैव सन्तों ने शैवमत का विपुल प्रचार किया उनमें इनका स्थान महत्त्वपूर्ण है। 'ज्ञान सम्बन्ध' का समय विक्रम की छठी या सातवीं शताब्दी है। इस उल्लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है कि आचार्य शंकर का समय इसके पूर्व नहीं हो सकता।

(2) **प्रपंचसार**—यह तान्त्रिक परम्परा के अनुसार आदि शंकराचार्य की रचना मानी जाती है। पद्मपाद ने इसकी 'विवरण' नामक टीका भी लिखी है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह आचार्य शंकर की ही कृति है। अद्वैत वेदान्त के पण्डितों ने भी इसे आदि शंकराचार्य की ही कृति माना है। यह ग्रन्थ शंकर का मौलिक ग्रन्थ नहीं है। 'प्रपंचागम' नामक एक प्राचीन ग्रन्थ का सार इस ग्रन्थ में बड़ी कुशलता से रखा गया है। इसमें तन्त्र के सिद्धान्तों का विशद विवरण मिलता है। कहते हैं कि इसकी रचना कश्मीर में हुई थी। शंकर ने मंगलाचरण में देवी की प्रार्थना भी की है।

आद्य श्री शंकराचार्य का ब्रह्मनिरूपण

आचार्य महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्द गिरि

आस्तिक एवं नास्तिक सभी दर्शनों ने किसी-न-किसी रूप में ब्रह्म को स्वीकार किया है, क्योंकि ब्रह्म शब्द का अर्थ होता है बड़ा विश्व में जो सबसे बड़ा हो उसे ब्रह्म कहते हैं। ऐसा एक तत्त्व सबको स्वीकार करना पड़ता है उस तत्त्व को चाहे जो भी नाम दिया जाय पर है वह अवश्य। इस सर्वमान्य तत्त्व पर जब हम विचार करते हैं तो जगद्गुरु आद्य श्री शंकराचार्य द्वारा निरूपित तत्त्व में ही ब्रह्म शब्द का अर्थ पूर्णतया घटता है। जो एक देश में हो और दूसरे देश में न हो वह पदार्थ देश से परिच्छिन्न होने के कारण ब्रह्म नहीं कहा जा सकता। जो आज है और कल नहीं रहेगा वह पदार्थ काल से परिच्छिन्न होने के कारण अनित्य है। अतः वह भी ब्रह्म नहीं कहला सकता। वैसे ही जो पदार्थ वस्तु परिच्छेद वाला हो वह भी ब्रह्म नहीं हो सकता। इसके विपरीत देश-काल तथा वस्तु परिच्छेद से शून्य पदार्थ ही ब्रह्म कहला सकता है। श्रुति ने "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "विज्ञान-मानन्दं ब्रह्म" इन वाक्यों से ब्रह्म तत्त्व का बहुधा निरूपण किया है। जिसका विशद वर्णन श्री आचार्यशंकर के वाङ्मय में मिलता है।

ब्रह्म तत्त्व को बतलाने के लिए जीव और जगत् का निरूपण करना आवश्यक है। जीव और जगत् के निरूपण किये बिना ब्रह्म का निरूपण नहीं हो सकता। इसीलिए किसी ने जीव और जगत् को पारमार्थिक और किसी ने काल्पनिक रूप से स्वीकार किया है। जीव और जगत् पारमार्थिक मानने वालों ने यह तर्क दिया है कि किसी की अपेक्षा से कोई बड़ा होता है। जीव और जगत् की अपेक्षा से बड़ा होने के कारण ब्रह्म कहा जा सकता है। ब्रह्म से भिन्न वस्तु के अभाव में उसे ब्रह्म कहना सम्भव नहीं है। साथ ही जीव और जगत् ब्रह्म की महिमा को बतलाते हैं जैसे राज्य और प्रजा राजा की महिमा को बतलाते हैं। राज्य और प्रजा के बिना भला राजा का महत्त्व कैसे सिद्ध हो सकता है। अतः जीव एवं जगत् को पारमार्थिक मानना चाहिए इत्यादि। आचार्य शंकर का कहना है कि जहाँ उक्त तर्कों से ब्रह्म का महत्त्व सिद्ध होता है वहाँ साथ-साथ ही ब्रह्म का उपर्युक्त अर्थ तिरस्कृत हो जाता है। क्योंकि पारमार्थिक रूप से जीव और जगत् को स्वीकार करने पर वस्तुकृत परिच्छेद आ जाने से वह पदार्थ परिच्छिन्न हो जायेगा। अतः उसे ब्रह्म कहना उचित नहीं होगा। ऐसी स्थिति में नामरूपात्मक जगत् माया से ब्रह्म में रज्जुसर्प की भाँति कल्पित है अर्थात् जगत् आध्यासिक है और जीवभाव औपाधिक है। जो ब्रह्म तत्त्व का साक्षात्कार होते ही बाधित हो जाता है। अतएव ब्रह्मसूत्र भाष्य के उपोद्घात में आचार्य शंकर ने ब्रह्मनिरूपण से पूर्व "युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः" इत्यादि वाक्यों से अध्यास का ही निरूपण किया है क्योंकि अध्यासनिरूपण के बिना निर्गुण निर्विशेष अद्वयब्रह्म का निरूपण सम्भव नहीं है। इसीलिए तो कहा है अध्या-रोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपंचते" इत्यादि। आरोपस्थलों असत्ख्याति आत्मख्याति, अख्याति, अन्यथाख्याति तजा अनिर्वचनीयख्यातिवाद माने गये हैं। पहले के चार ख्यातियों का निराकरण कर अनिर्वचनीयख्याति को आचार्य शंकर ने स्वीकार किया है जिसे केवलाद्वैत सिद्धान्तों के समर्थक सभी आचार्यों ने माना है। इनका कहना

है कि जहाँ सीप में रजत भासता है वहाँ सीप को देखने के लिए मनोवृत्ति नेत्र के द्वारा सीप प्रदेश में गयी और सीप के सामान्य इदं अंश को ग्रहण भी किया। उसी समय रजताकार अनुभवजन्य संस्कार चाकचिक्यसादृश्य-संदर्शन के कारण जग जाता है। ऐसे उद्बुद्ध संस्कार सहकृत अविद्या तमोअंश से रजत रूप और सत्त्वांश रजतज्ञान रूप से परिणत हो जाती है। इस प्रकार "इदं रजतम्" इस भ्रमस्थल में शुक्ति या शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य अधिष्ठान है जिसका इदं सामान्य अंश भ्रमकाल में भी भासता है। रजत अविद्या का परिणाम और चैतन्य का विवर्त है। इदमंश सत्य है। उसके साथ कल्पित रजत और रजत का तादात्म्य भासता है। ठीक ऐसे ही अहंकर्त्ता भोक्ता सुखी दुःखी इत्यादि स्थलों में भी सर्वाधिष्ठान ब्रह्म-स्वरूप आत्मा अविद्या से जीवभाव और नामरूपात्मक जगत् भासता । इस जीवभाव एवं जगत् को उपनिषदों में शोक कहा गया है। जिसका सन्तरण "तरति-शोकमात्मवित्" "अशरीरं शरीरेष्वनवस्थितेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।" अर्थात् आत्मज्ञानी शोक को पारकर जाता है। निरन्तर परिवर्तनशील शरीरों में सदा एकरस शरीर सम्बन्ध से रहित महान आत्मा को अपरोक्ष अनुभव कर शोक नहीं करता है—इत्यादि श्रुतिवाक्यों द्वारा आत्मज्ञान से ही कहा है। यह सर्वथा सत्य है कि सत्यवस्तु की निवृति क्रिया से होती है। ज्ञान से नहीं। रज्जु के समीप छोटा भी सर्प केवल रज्जु के ज्ञान से नहीं मिट सकता, प्रत्युत क्रिया दण्डप्रहारादि से ही मिट सकता है। ऐसे ही चैतन्य आत्मा में कर्तृत्वादि संसार सत्य होता तो वह कभी भी आत्मज्ञान से नहीं मिट सकता है। उसके लिए तो क्रिया करनी पड़ेगी। पर श्रुति तो आत्मज्ञान से शोक की निवृति करती है। अतः अन्यथानुपपत्ति से शोक को कल्पित मानना पड़ेगा। यथा दिवाऽभुंजान व्यक्ति की पीनता की अन्यथा अनुपपत्ति से उसके रात्रि भोजन की कल्पना की जाती है। वैसे ही आत्मज्ञान द्वारा शोकसन्तरण कहनेवाली श्रुति की अन्यथा अनुपपत्ति से शोकपदोपलक्षित संसार को कल्पित मानना होगा। अतः संसार आध्यासिक हैयह आचार्य शंकर की निराधार केवल कल्पना है।—ऐसा कहना सर्वथा अनुचित होगा। प्रत्युत इस कल्पना का आधार श्रुति है जो ऊपर दिखलायी जा चुकी है, भगवद्गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है कि—

क्षत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परस्पम्"

इस त्रयोदश अध्याय में बतलाये गये ज्ञानसाधनों के अनुष्ठान से प्राप्त ज्ञानचक्षु से जो शरीर और आत्मा के भेद को, भूतप्रकृतिमोक्ष को जानते हैं वे मोक्ष को प्राप्त करते हैं। इसमें भी क्षेत्रक्षेत्रस के ज्ञान को मोक्ष का साधन कहा गया है। अतः विकास सहित क्षेत्र को क्षेत्रज्ञ आत्मा में कल्पित मानना पड़ेगा। तब ही ज्ञान द्वारा संसार से मुक्ति कथन सार्थक हो सकेगा। इन बातों का सुस्पष्ट निरूपण शंकराचार्य के वाङ्मय में मिलता है।

श्रुति, स्मृति तथा पुराणादि में सगुण-निर्गुण-सत्कार तथ्य निराकाररूप में ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। इन बातों को लेकर भी पक्ष प्रतिपक्ष खड़ा होता है। आचार्य शंकर ने निर्गुण निर्विशेष रूप को पारमार्थिक कहा है, अन्य सभी रूप सोपाधिक हैं, किन्तु उपासना के लिये उपादेय हैं, हेय नहीं हैं। जो व्यवहार काल में भी उन रूपों को हेय मानते हैं, वे श्रुति के तात्पर्य को नहीं समझते। वैसे ही परमार्थदशा में भी सविशेष ब्रह्म को मानने वाले भूल करते हैं सविशेषरूप ब्रह्म की उपासना के लिये अत्यन्त उपादेय है। इसीलिये तो आचार्य शंकर ने अपने स्तोत्रग्रन्थों में अनेकधा स्तुतियों से सविशेषब्रह्म के प्रति अत्यन्त श्रद्धा से अवनत हो आदर व्यक्त किया है। सोपाधिकरूप को व्यवहार काल में भी हेय या अनुपादेय तो आचार्य शंकर ने कहीं भी कहा ही नहीं है। आद्य शंकराचार्य के सिद्धान्त समझे बिना ही लोग आक्षेप करने लग जाते हैं। उनका आक्षेप सर्वथा अनुचित और अपराध माना जायगा। आचार्य शंकर ने यह भी कहा है "यावज्जीवं भयो वन्द्याः वेदान्तो गुरुरीश्वरः" वेदान्तशास्त्र, गुरू और ईश्वर जीवन पर्यन्त वन्दनीय हैं। फिर वे सविशेष ब्रह्म को हेय कैसे कहते हैं। ईश्वर के

अनुग्रह से जीव के हृदय में केवलाद्वैत की वासना जगती है, जिसे मुमुक्षा या ब्रह्म जिज्ञासा भी कहते हैं। ब्रह्म ज्ञान का साधन माना गया है। चार की कृपा से साधक ब्रह्मविचार करपाता है। ईश्वर की कृपा, गुरु की कृपा शास्त्र की कृपा तथा अपनी कृपा। ऐसी स्थिति में भला सविशेष ब्रह्म मोक्षसाधना में अनुपयोगी कैसे माना जायगा। हाँ वेदान्तशास्त्र का चरम तात्पर्य केवलाद्वैत निर्विशेष ब्रह्मप्रतिपादन में ही आचार्य शंकर ने माना है। कुछ विद्वानों का कहना है, कि ब्रह्म जिज्ञासा प्रतिपादन के बाद ब्रह्मसूत्र के द्वितीय "जन्माद्यस्य यत:" सूत्र से जिज्ञास्य ब्रह्म का लक्षण बतलाते समय सबिशेष ब्रह्म का ही लक्षण किया है और अन्त में "अनावृति: शब्दादनावृति: शब्दात्" इस सूत्र द्वारा सविशेष ब्रह्म को बतलाया है। अत: उपक्रम और उपसंहार की एक वाक्यता सगुण ब्रह्म में होने के कारण ब्रह्मसूत्रों का प्रतिपाद्यतत्व सविशेष ब्रह्म ही है निर्विशेष ब्रह्म नहीं। पर ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जगत् का अभिन्न निमित्त उपादान कारण ब्रह्म को श्रुति ने कहा है। जो ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। स्वरूप लक्षण "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि वाक्यों से बतलाया गया है। जिसके साक्षात्कार से जीव को मोक्ष मिलता है। सर्वकामत्वादि-दिव्यगुणों से युक्त होने के कारण सगुण और सत्वादिमायिक गुणों से रहित होने के कारण ब्रह्म को निर्गुण कहा गया है। ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि दिव्यगुण और अदिव्यमायिक सत्त्वादि गुणों के उक्त विभाजन में कोई विनिगमक नहीं है, अपितु उक्त द्विधा गुणों से युक्त होने के कारण सगुण और रहित होने के कारण उसे निर्गुण कहते हैं।

आचार्य शंकर के विचार से वेदान्त वाक्य दो प्रकार से ब्रह्म का निरूपण करता देखा जाता है। एक विधिमुख से और दूसरा निषेधमुख से। विधिमुख से प्रतिपादक श्रुति वाक्य को लक्षणावृत्ति का आश्रय करना पड़ता है। लक्षणा के बिना इन वाक्यों के द्वारा निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन सम्भव नहीं है। किन्तु "अस्थूलमनणु" इत्यादि निषेधश्रुति वाक्यों के द्वारा ब्रह्म में प्रतीत होने वाले सम्पूर्ण विशेषों का निषेध कर देने-पर सर्वाधिष्ठान ब्रह्म निर्विशेष रूप से अवस्थित रह जाता है। अत: निषेधश्रुति मुख्य मानी गयी है। उसकी अपेक्षा से लक्षणावृति का आश्रयण करने वाली विधिश्रुति को गौण माना है।

श्रुतिवाक्य द्वारा निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार असति प्रतिबन्धके अवश्य होता है और प्रतिबन्धक के रहने पर साक्षात्कार नहीं होता। भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान भेद से प्रतिबन्धक तीन माने गये हैं। जिनको यथोचित साधनों द्वारा निवृत करने पर तत्त्वमस्यादिश्रुतिवाक्य द्वारा निर्विशेष ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान आचार्य शंकर मानते हैं। केवलाद्वैत सिद्धान्त के कुछ प्रस्थानों ने श्रवणादिजन्य संस्कार से अन्त:करण द्वारा निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। जैसे गान्धर्वशास्त्र के अभ्यास से संस्कृतश्रोत्रद्वारा षड्जादिस्वरों का साक्षात्कार होता है, संस्कारशून्य श्रोत्र से उक्त साक्षात्कार नहीं होता। ठीक वैसे ही निर्विशेष ब्रह्म के साक्षात्कार तो मन से ही होगा। पर वह मन श्रवणादि के अभ्यास से उत्पन्न संस्कार से युक्त होगा जो अन्यथा नहीं। अतएव "दृश्यते त्वग्रया बुद्धयासूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभि:" यह श्रुति भी सार्थक हो जाती है। इस प्रकार वेदान्त के प्रस्थानों का अवान्तर भेद रहने पर भी सभी ने निर्विशेष ब्रह्म के अपरोक्षानुभूति से ही मोक्ष माना है। जो आचार्य शंकर के सिद्धान्त से समर्थित है। निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप श्रुतिसिद्ध होने के कारण शंकराचार्य की कल्पना नहीं कह सकते हैं। हाँ, इस श्रौतसिद्धान्त पर आयी हुई धूल को हटाकर आचार्य शंकर ने पुन: उसे विशुद्ध रूप में यथास्थान प्रतिष्ठापित किया है। इसीलिए शंकर सिद्धान्त इसे कह सकते हैं। इसमें कोई हानि नहीं है।

भगवत्पाद आचार्य शंकर ने श्रुतियों की तह में छिपे सम्पूर्ण विश्व को ब्रह्म रूप में देखा और सभी को ब्रह्मभाव का दर्शन कराया। इससे यह सिद्ध होता है कि जहाँ अन्यमतावलम्बियों ने साधकों को ब्रह्म का दास-अंश या दास्यकहकर घोर अनादर किया था। वहाँ आचार्य शंकर ने "सर्वं खल्विदं ब्रह्म इस श्रुति के आधार पर सबको ब्रह्म मानकर महान् आदर दिया है। केवलाद्वैत शंकर सिद्धान्तावलम्बियों के ऊन पर एक और आक्षेप लोग करते हैं कि ब्रह्मज्ञानी बड़े अभिमानी होते हैं। ऐसा कहकर वे अपनी बेसमझी का ही परिचय देते हैं।

क्योंकि ब्रह्मज्ञानी केवल अपने को ब्रह्म नहीं कहता। वह तो सम्पूर्ण विश्व को ब्रह्म मानता है और सभी को ऐसा ही उपदेश भी करता है। हाँ, जो अपने को ब्रह्म न मानकर दुःखी जीव मानता है। उसकी वेसमझी पर उसे तरस अवश्य आता है। अतः उस अज्ञानी की दीनता को मिटाने के लिये वह प्रयत्नशील रहता है। ब्रह्मज्ञानी जैसा परमोदार विश्व में कोई नहीं है। भला जो स्वयं दीन है वह दूसरों को कैसे सुखी बना सकता है। वह तो दीनता का ही उपदेश करेगा। ब्रह्मज्ञानी सच्चिदानन्दघन ब्रह्मस्वरूप है। वह सदा इसी भाव का सबको उपदेश कर सभी को इसी ब्रह्मभाव में प्रतिष्ठित करना चाहता है। जिसमें वह स्वयं सदा प्रतिष्ठित है। अतः ब्रह्मज्ञानी परमोदार है।

अपौरुषेय वेद में कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों ही साधन बतलाये गये हैं। निष्कामभाव से कर्म का अनुष्ठान करने पर अन्तः करण शुद्ध होता है और निष्काम भाव से उपासना के अनुष्ठान से चित्त की चञ्चलता मिटती है। तब शुद्ध एवं शान्त अन्तःकरण में विवेक, वैराग्य, शमादिषट्सम्पत्ति और मुमुक्षा उत्पन्न होती है। इन चार साधनों से युक्त साधक ही वेदान्त विचार का अधिकारी माना जाता है। "अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा" इस सूत्र पर भाष्यकार ने अथ शब्द का आनन्तर्य अर्थ किया है। अर्थात् साधन चतुष्टय के अनन्तर ही ब्रह्म का विचार सद्यः फल देता है। इसलिए वेदान्त विचारक में उक्त साधन चतुष्टय का होना अनिवार्य है। कर्म और उपासना क्रिया होने के कारण नित्यमोक्ष के अन्तरंग साधन नहीं हो सकते हैं। अतः ज्ञान ही मोक्ष का साक्षात साधन है। एतदर्थ वेदान्त का विचार मोक्षाभिलाषी को करना चाहिये। श्रुति में कहा है—परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। ब्रह्मजिज्ञासु कर्मोपासना से संचित सभी लोकों की परीक्षाकर उनसे विरत हो जावे, क्योंकि मुमुक्षु को नित्य शाश्वत लोक (फल) अभीष्ट है, जो कर्म से कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता है। अतः नित्य मोक्ष को पाने के लिये आत्मरूप से ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है। ऐसे ब्रह्मज्ञान के लिये समित्पाणि होकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सिद्ध गुरु सन्निकट में जावे। परमपवित्र ब्रह्मज्ञान की अनुपम महिमा बतलाने के बाद गीता में भगवान श्री कृष्ण ने भी ऐसा ही कहा है। यथा—

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दते॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ इत्यादि।

इसी शाश्वत श्रौतसिद्धान्त को जगद्गुरु आद्य श्री शंकराचार्य जी ने उजागर किया है, जिसे विश्व के सभी निष्पक्ष विद्वानों ने एक स्वर से स्वीकार किया एवं भूरिशः प्रशंसा की है। अतः कल्याण कामी मुमुक्षुओं को इसी श्रौत सिद्धान्त का अनुसरण कर आत्म कल्याण के लिए प्रयत्न करना चाहिए और जनकल्याणार्थ इसी सिद्धान्त का प्रचार-प्रसार भी करना चाहिए। इत्योंक्षम्।

कार्तिक पौर्णमासी
शंकराब्द 1201
वि० सं० 2045
दि० 23.11.88

भगवत्पादीयः
आ० म० मं० स्वामी विद्यानन्द गिरि
अध्यक्ष
जगद्गुरु आद्य श्री शंकराचार्य द्वादश शताब्दी
महासमिति, भारत

आचार्य शंकर का अद्वैत ब्रह्मवाद

डा० अभेदानन्द भट्टाचार्य, प्राचार्य, श्रीभगवानदास संस्कृत महाविद्यालय, हरिद्वार

अद्वैत वेदान्त का निर्गुण ब्रह्म—अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को निर्गुण निर्विशेष माना गया है। निर्गुण ब्रह्म का परिचय विशेष धर्मों और गुणों से नहीं दिया जा सकता। अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि जिसने ब्रह्म को गुणाश्रय के रूप में जाना है, उसने ब्रह्म को नहीं जाना है। केनोपनिषद् में कहा है कि अविज्ञातं विजानताम् 2/3 निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन अस्तिमुखेन करना सम्भव नहीं। श्रुति "नेह नानास्ति किंचन" इत्यादि वाक्यों द्वारा नेति-नेति करके ही निर्गुण ब्रह्म का उपदेश करती है। इसी नेति-नेति अर्थात् निषेध रीति से बृहदारण्यक श्रुति कहती है कि ब्रह्म अस्थूलमनणु अह्रस्वम् अदीर्घम् है।[1] ब्रह्म स्थूल भी नहीं, अणु नहीं, ह्रस्व नहीं, दीर्घ नहीं, इस प्रकार सभी धर्मों का ब्रह्म में निषेध मिलता है। आचार्य शंकर ने स्वयं बृहदारण्यक भाष्य में कहा है कि ब्रह्म में किसी प्रकार के भी विशेष धर्म नहीं हैं। नाम, रूप, धर्म, भेद, जाति, गुण आदि कुछ भी विशेष नहीं है। शंकराचार्य स्वयं इस बात को मानते हैं कि जाति, व्यक्ति, गुण आदि को लेकर के ही शब्द की प्रवृत्ति होती है। ब्रह्म में उक्त प्रकार के धर्म न होने के कारण उसका 'तत्' अथवा 'इदम्' करके निर्देश नहीं हो सकता। जैसे लोक में 'यह सींग वाली सफेद गौ जा रही है' इस प्रकार गौ के लिए विशेष धर्मों सहित निर्देश किया जाता है। ऐसा ब्रह्म के लिए सम्भव नहीं। ब्रह्म के लिए तो अध्यारोपित नाम, रूप, द्वारा ही कथन सम्भव है। इसलिए "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, विज्ञानघन एवं' आदि प्रकारों से ब्रह्म, आत्मा आदि शब्दों द्वारा अध्यारोप पूर्वक ही श्रुति कथन करती है। यदि ब्रह्म के स्वरूप मात्र का बोधन कोई करना चाहे उस स्थिति में ब्रह्म का निर्देश करना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है।[2] यह वैष्णव वेदान्तियों के समान आचार्य शंकर भी मानते हैं। निर्विशेष वस्तु का निर्देश नहीं हो सकता है, ऐसा वैष्णव वेदान्तियों का कथन है। यही बात आचार्य शंकर भी वस्तु स्वरूप ब्रह्म के लिए कहते हैं। ब्रह्म विषय और विषयी—दोनो से अपने स्वरूप में परे है। उपनिषदों में जो ब्रह्म का स्वरूप कथित हुआ है, वह भी अपने वाच्य अर्थ में निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं करता, क्योंकि लक्षण के लिए लक्ष्यभाव की आवश्यकता है। लक्ष्यभाव होना ही ब्रह्म का सधर्मक होना है। ये ही आक्षेप वैष्णव वेदान्तियों ने निर्गुण ब्रह्म के लक्षण के विषय में उत्थापित किये थे। उनके उक्त कथन से अद्वैत वेदान्तियों को किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है। निर्गुण ब्रह्म वस्तुतः लक्षण-प्रमाण का अविषय है, इसमें सन्देह नहीं। यहाँ तक जिस ब्रह्म को 'सत्यज्ञानम्' कहा जाता है, अर्थात् जो ब्रह्म सत् स्वरूप है, उस ब्रह्म के लिए सत् शब्द के भी प्रयोग का निषेध आचार्य शंकर करते हैं। ब्रह्म सदसद् आदि शब्दों का वाच्य नहीं है। शब्द अर्थ के प्रकाशक होते हैं। शब्द जाति क्रिया, गुण, सम्बन्ध द्वारा अर्थ का प्रकाशन करते हैं। ब्रह्म में

1. बृहदारण्यक भाष्य, 2/3/6
2. वही

जाति नहीं है, इसलिए वह सदसद् आदि शब्दवाच्य नहीं है, इसी प्रकार क्रिया एक है, अद्वैत है, अविषय है; इसलिए शब्द से उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः श्रुति कहती है कि 'यतोवाचोनिवर्तन्ते' वाणी भी वहाँ से लौट आती है।[1] इसलिए ब्रह्म परप्रतिषेधरूप है। अर्थात् ब्रह्मातिरिक्त अन्य का निषेधरूप है। इसलिए बृहदारण्यक में कहा है : "अथात् आदेशो नेति-नेतीति"।[2] केनोपनिषद् में कहा है "अन्यदेवतद्विदितादथो अविदितादधि"।[3]

उक्त प्रकार से विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि निर्गुण ब्रह्म प्रमाणगम्य है, उसमें यहाँ तक कि तद्रूपत्व धर्म का भी कथन सम्भव नहीं है, क्योंकि किसी प्रकार से ब्रह्म को ज्ञान का विषय बनाया नहीं जा सकता। इसीलिए माण्डूक्य उपनिषद् में ब्रम का कथन निषेध रूप से ही किया गया है। "नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं ना प्रज्ञम्" इत्यादि।[4] वैष्णव वेदान्तीगण निर्गुण ब्रह्म के विषय में जो आपत्ति उठाते हैं कि निर्गुण ब्रह्म जब ज्ञान का विषय नहीं बनता तो वह है ही नहीं; अद्वैत वेदान्ती वैष्णव वेदान्तियों की उक्त आपत्ति से सहमत नहीं है, क्योंकि ब्रह्म को निर्गुण कहकर ब्रह्म के विषय में किसी प्रकार के वास्तविक ज्ञान को न मानने का अर्थ यह नहीं है कि ब्रह्म का अस्तित्व नहीं है। अद्वैत वेदान्ती ब्रह्मबोध ज्ञानाधीन है, यह नहीं मानते। अर्थात् ब्रह्म हमारे ज्ञान का विषय नहीं बनता। जो लोग ब्रह्म को वस्तुतः ज्ञानगम्य मानते हैं, उनके अनुसार ब्रह्म की सत्ता निरपेक्ष सत्ता नहीं रह सकती। वह ज्ञानसापेक्ष सत्ता होगी। आचार्य शंकर इस दृष्टि से ब्रह्म को अधिक निरपेक्ष, अधिक पूर्ण देखना चाहते हैं जबकि कुछ वैष्णव दार्शनिक ब्रह्म को विषय सन्दर्भ में देखते हुए उसमें अधिक पूर्णता का दावा करते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि ब्रह्म वस्तुतः जब निर्गुण है निर्विशेष है तथा सर्व प्रमाणों से अगम्य है, तब उस ब्रह्म के विषय में जिज्ञासा कैसे सम्भव है? जिज्ञासा के बिना शास्त्रादि विचार निरर्थक हो जाते हैं। इस पर आचार्य शंकर कहते हैं कि अज्ञान निवृत्ति के लिए प्रपचरहित निर्विशेष ब्रह्म की व्याख्या अध्यारोप और अपवाद द्वारा की जाती है। मिथ्याभूत उपाधिकृत धर्मों की निर्विशेष ब्रह्म में कल्पना की जाती है[5] आचार्य मधुसूदन सरस्वती के निर्गुण ब्रह्म में वस्तुतः प्रमाणों का खण्डन किया है। फिर भी यदि विपक्षी निर्गुण ब्रह्म में प्रमाण न होने का आक्षेप करते हैं तो उनके लिए वे कहते हैं कि ब्रह्म की स्फूर्ति अर्थात् प्रकाश के लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ब्रह्म स्वयं प्रकाश है। स्वयं प्रकाश ब्रह्म के प्रकाश के लिए अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। अन्यों को प्रकाश के लिए ब्रह्म के प्रकाश की आवश्यकता है। इसलिए उपनिषद् में कहा है "तमेव भान्तंमनुभातिसर्वम्"।[6] यदि अज्ञान निवृत्ति के लिए ब्रह्म में प्रमाण पूछा जाय तो उसके लिए मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि उपनिषद् प्रमाण भी ब्रह्म के स्वरूप में प्रविष्ट नहीं हो सकता। इसीलिए निर्गुण ब्रह्म में उपनिषद् प्रमाण भी आरोपित लक्ष्य-लक्षण, प्रमाण प्रमेय भावों को ले करके ही प्रवृत्त होता है। उपनिषद् वाक्यों का लक्षणा से ब्रह्म में तात्पर्य निकालना होगा।[7] अन्यथा पदार्थ का बोध सम्भव नहीं, इसीलिए

1. गीता शांकर भाष्य, 13-12
2. बृहदारण्यक उपनिषद्, 2-3-6
3. केनोपनिषद्, 1-4
4. माण्डूक्य उपनिषद्, 7
5. तथाहि सम्प्रदायविदांवचनम् अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपच्यते इति। गीता शांकर भाष्य, 13-13
6. कठोपनिषद्, 2-5-15
7. स्फूर्त्यर्थं वा अज्ञाननिवृत्यर्थं वा प्रमाण प्रश्नः। आद्येस्वप्रकाशतयाप्रमाणवैयर्थ्यम्।···द्वितीये उपनिषद् एवं प्रमाणत्वात्। अद्वैतसिद्धि, पृ० 739

आचार्य पुष्पदन्त ने महिम्नः स्तोत्र में कहा है। 'अतद्व्यावृत्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि'[1] अर्थात् निषेध मुख से चकित भाव से श्रुति ब्रह्म का कथन करती है। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने पूर्व पक्ष की ओर से "ब्रह्म धर्मवत् पदार्थत्वात्" इस प्रकार ब्रह्म को सधर्मक सिद्ध करने के लिए अनुमान उपस्थित करके उसका खण्डन किया है और निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन किया है।[2]

हमने इतः पूर्व निवेदन किया था कि ब्रह्म के प्रतिपादन की दो पद्धतियाँ हैं : विषयीनिष्ठ और विषयनिष्ठ। विषयीनिष्ठ पद्धति आत्मकेन्द्रित होती है। विषयीनिष्ठ पद्धति के अनुसार हमने आत्मा की सिद्धिपूर्वक ब्रह्म की सिद्धि दिखलायी है। इस पद्धति में निषेधमुख से एवं विधिमुख से आत्मा का प्रतिपादन किया गया है। निषेध मुख से कहा जा चुका है कि शरीर आत्मा नहीं है, इन्द्रिय आत्मा नहीं है, प्राण आत्मा नहीं है, मन आत्मा नहीं है, विज्ञान आत्मा नहीं है, इन सबसे परे तुरीय आत्मा है। विज्ञान तक जो आत्मा होने का निषेध किया गया है, यही नेति-नेति अर्थात् निषेध पद्धति है, जिसमें दिखलाया जाता है "नेदं यदिदमुपासते" अर्थात् यह नहीं है, यह नहीं है। जिसे अज्ञानी जन आत्मा समझते हैं, वह वस्तुतः आत्मा का स्वरूप नहीं है। तब प्रश्न उठता है कि आत्मा क्या है ? आत्मा का स्वरूप क्या है ? इस पर विधिमुख से कहा जायेगा—आत्मा तुरीय है, वह ब्रह्म ही है। इस प्रकार विषयीनिष्ठ पद्धति में हमने देखा कि निषेध और विधि दोनों पद्धतियों से तुरीय चेतन को आत्मा कहा गया है जो कि अद्वैत ब्रह्म है।

अब विषयनिष्ठ पद्धति में भी दो पद्धतियों को हम अपना सकते हैं—विधि और निषेध मुख से हम "नेह नानास्ति" इस श्रुति वाक्य की संगति बैठाने के लिए जगत् की मिथ्यात्वसिद्धि पूर्वक ब्रह्म की सिद्धि करने का प्रयास करेंगे। निषेधात्मक पद्धति में जब ब्रह्म के विषय में हम सम्पूर्ण धर्मों का निषेध करते हैं, उसका अर्थ यह नहीं कि धर्मों का भी निषेध करते हैं और यह भी अर्थ नहीं कि धर्म ब्रह्म को छोड़कर अन्यत्र कहीं स्थित है। शंकर ब्रह्म के विषय में जब कहते हैं कि ब्रह्म न सत् है और न ही असत् है, उनका तात्पर्य है कि यह प्रयोग उन अर्थों के दृष्टिकोण से है जिस दृष्टिकोण से हम आनुभविक जगत् की भावात्मक तथा अभावात्मक वस्तुओं को जानते हैं। अधिक-से-अधिक ब्रह्म के विषय में हम यही कह सकते हैं कि अमुक वस्तु ब्रह्म नहीं है, किन्तु यह नहीं कह सकते कि ब्रह्म क्या है? यह स्थिरता, परिवर्तन, सम्पूर्ण-इकाई अथवा एक भाग, सापेक्ष और निरपेक्ष, सीमित और असीमित इत्यादि समस्त विरोधी भावों के ऊपर, आश्रित पदार्थों से अतीत ब्रह्म है। सीमित वस्तु सदा ही अपने से ऊपर की ओर बढ़ती है, किन्तु ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो कि अनन्त तक पहुँच सके। यदि ऐसा होता तो अनन्त अनन्त नहीं रह सकता।[3] जब ब्रह्म के विषय में निषेधात्मक कथन किये जाते हैं कि ब्रह्म न मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न लम्बा है, जिसे हमारी इन्द्रियाँ ग्रहण कर सकें, तो वह शून्य-सा लगता है, रिक्त-सा लगता है।[4] निर्गुण ब्रह्म स्थायी यथार्थ सत्ता है। हमारे मानवीय मस्तिष्क के लिए वह स्थायी यथार्थ सत्ता आदर्श के रूप में ही प्रकट होती है।[5]

ब्रह्म का स्वरूप लक्षण—"सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म" अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार यह ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। ब्रह्म के इस स्वरूप लक्षण को भी नेतिपरक ही समझना चाहिए। अस्तिपरकता में पूर्णतया अध्यस्त लक्षण ही मानना पड़ेगा। यद्यपि नास्ति मुखेन लक्षण भी अध्यस्त ही होता, फिर भी नेति-नेति करके ब्रह्म में वृत्ति व्याप्यता ही अपेक्षित है, फल-व्याप्यता नहीं। अतः निषेध मुख से लक्षणस्थ सत्य पद का अर्थ, असत्य की

1. शिवमहिम्नः स्तोत्रम्, श्लोक 2, द्वितीय पंक्ति।
2. अद्वैतसिद्धि, ब्रह्म निर्गुणत्वोपपत्ति प्रकरण, पृ० 717 से 721 तक
3. Indian Philosophy. Vol, Dr. Radhakrishnan. page 536
4. बृहदारण्यक उपनिषद्, 3-8-8
5. The System of Vedanta : Deussen, Page 103.

व्यावृत्ति, ज्ञान पद का अर्थ जड़ की व्यावृत्ति एवं अनन्तपद का अर्थ परिच्छिन्न की व्यावृत्ति होगा। अर्थात् ब्रह्म असत् नहीं, जड़ नहीं, परिच्छिन्न भी नहीं है। ब्रह्म उक्त प्रकार से असत्य, जड़ एवं परिच्छिन्न से जब भिन्न है, तो यह शंका हो सकती है क्या ब्रह्म में असत्यभेद, जड़भेद एवं परिच्छिन्नभेद रहते हैं? पूर्वोक्त तीनों भेद क्या ब्रह्म के धर्म नहीं हैं? अतएव ब्रह्म निर्विशेष न होकर सविशेष हो जाता है। इसके उत्तर में अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि असत्य की व्यावृत्ति, जड़ की व्यावृत्ति एवं परिच्छिन्न की व्यावृत्ति ब्रह्म से पृथक् नहीं है। व्यावृत्ति ब्रह्मस्वरूप है। "रजत नहीं है" यहाँ पर रजत अभाव जिस प्रकार शुक्ति रूप है, उसी प्रकार प्रकृत स्थल में भी व्यावृत्ति अर्थात् असत्य जड़ एवं परिच्छिन्न की व्यावृत्ति ब्रह्मस्वरूप है। तीनों पद शुद्ध ब्रह्म का बोध कराते हैं। व्यावृत्ति अभावरूप धर्म है, परन्तु अद्वैत मत में वह अधिकरण रूप है, अधिकरण ब्रह्म है। अतः ब्रह्म से वह अतिरिक्त नहीं है। मण्डन मिश्र आदि भावाद्वैतवादी अद्वैत वेदान्ती भावरूप ब्रह्म की एकता की सिद्धि करते हैं, भावरूप ब्रह्म के अतिरिक्त उसमें अभाव रूप धर्मों के होने पर भी उनके मत में अद्वैत की हानि नहीं होती।[1] जो भी हो मण्डन मिश्र के अनुसार अभाव रूप धर्मों को अतिरिक्त मानने पर भी अद्वैतवाद की हानि नहीं होती। अन्य अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार अभाव ब्रह्मरूप ही है, इसलिए भी कोई क्षति नहीं है। वस्तुतः अधिकांश अद्वैतवेदान्ती भावाद्वैतवाद को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार ब्रह्म में अथवा ब्रह्म के अतिरिक्त भाव-अभाव रूप किसी भी प्रकार के धर्म सम्भव नहीं हैं। एकमात्र सर्वग्राही एवं सर्वातीत ब्रह्म ही सत्य है। अगर कहीं असत्य भी है तो वह ब्रह्म ही है। ब्रह्म असत्य नहीं, अपितु असत्य जो कि असत्य के रूप में प्रतिभात होता है, उसमें भी अगर कोई सार है, तो वह भी ब्रह्म ही है।

उक्त स्वरूप लक्षण में तीनों ही पद ब्रह्मबोधक हैं, इसलिए कोई यह आक्षेप करे कि तीनों पदों की "घटः कलशः" के समान पर्यायार्थकता हो जायेगी। ऐसी आपत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि तीनों पदों की सार्थकता बतलायी जा चुकी है कि असत्य आदि भिन्न-भिन्न वस्तुओं की व्यावृत्ति करते हैं। अद्वैत वेदान्ती तीनों पदों का वाच्यार्थ ब्रह्म को नहीं मानते। वाच्यार्थ मानने पर ब्रह्म में निर्गुणत्व नहीं रह सकता, इसलिए यहाँ पर लक्षणा मानी गयी है। द्वैत वेदान्तियों का यह आक्षेप समीचीन नहीं है कि लक्षणा में ब्रह्म को लक्ष्य बनाने पर लक्ष्यता धर्म से ब्रह्म सधर्मक हो जायेगा। ब्रह्म में लक्ष्यत्व धर्म आदि आरोपित हैं, यह पहले ही कहा जा चुका है। यहाँ पर सत्यादि पदों के भिन्न अर्थ होते हुए भी वे एकार्थ बोधक हैं, अतः सामानाधिकरण्य होने में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है। जहाँ पर वाक्य के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न पद एक अर्थ के बोधक होते हैं वहीं सामानाधिकरण्य होता है। सत्यादि पदों द्वारा वाच्यार्थ में सत्यत्व विशिष्ट, ज्ञानत्व विशिष्ट एवं अनंतत्व विशिष्ट ब्रह्म—इस प्रकार अर्थ करने पर विशेषणों के भिन्न होने से विशेषण प्रयुक्त विशेष्य में भी भेद अवश्य होगा। वैसी स्थिति में निर्विशेष शुद्ध ब्रह्म का बोधक वे पद नहीं हो सकेंगे। इसलिए लक्षणा से अर्थ किया गया। ब्रह्म में वस्तुतः धर्म-धर्मि-भाव न होने पर भी कल्पित धर्म-धर्मि भाव का समर्थन पंचपादिका में आचार्य पद्मपाद ने किया है। आनन्द आदि गुण वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप हैं।[2] सत्य-ज्ञान-आनन्द आदि ब्रह्म से अभेद रूप हैं, इसका समर्थन आचार्य सर्वज्ञात्म मुनि ने अपने ग्रन्थ संक्षेपशारीरक में किया है। उनका कहना है कि सत्य में ज्ञान है, ज्ञान में सत्यता है। आनन्द में ज्ञान है, ज्ञान में आनन्द है। आनन्द में सत्यता भी है, सत्यता में आनन्द भी है। सत्य, ज्ञान एवं आनन्द में किसी प्रकार का भेद नहीं है। वे सब वस्तुतः अभिन्न हैं। सत्य यदि ज्ञान से भिन्न होता तो वह

---

1. द्विविधा धर्माः—भावरूपा अभावरूपाश्चेति। तत्र अभावरूपानाद्वैतं विघ्नन्ति।—ब्रह्मसिद्धि, मण्डनमिश्र, पृ० 4

2. आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वमिति सन्ति धर्माः।
अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात् पृथगिवावभासन्ते ॥ पंचपादिका, अध्यासनिरूपण, पृ० 23।

ज्ञान न होकर विषय या ज्ञेय होता। जो ज्ञेय है, वह सत्य न होकर मिथ्या होता, किन्तु सत्य कभी मिथ्या नहीं हो सकता। ज्ञान सत्य से भिन्न होता है, तो ज्ञान भी असत्य हो जायेगा और असत्य होने पर ज्ञान मिथ्या हो जायेगा, इसीलिए ज्ञान सत्य से अभिन्न है। इसी प्रकार आनन्द ज्ञान से भिन्न होता है तो वह भी ज्ञेय होगा और ज्ञेय होने से मिथ्या होगा।[1] अतः सत्यादि पद एकार्थक होकर ब्रह्म का बोधक हैं, साथ में इतर व्यावर्तक भी।

ब्रह्म सत्य अर्थात् सत् है—हमने पूर्व ही निवेदन किया है कि अद्वैत वेदान्त के अनुसार परमार्थतः ब्रह्म की सिद्धि अथवा असिद्धि नहीं की जा सकती, वैसा होने पर ब्रह्म में ज्ञान-विषयत्व आ जायेगा। फिर भी अज्ञान निवृत्ति के लिए नेति-नेति पद्धति से ब्रह्म का प्रतिपादन करना है। सत्यादि पदों द्वारा मिथ्यादि की निवृत्ति भी नेति-नेति पद्धति ही है। सत्यादि पदों का ब्रह्मबोधकत्व होना ही विधिपरक पद्धति है। यद्यपि विधिपरक (Positively) प्रतिपादन में कल्पित धर्म-धर्मि-भाव निर्विशेष ब्रह्म में स्वीकार करना पड़ता है, फिर भी इसमें अतिरिक्त—अर्थात् एवंभूत कल्पित विधिपरकत्व एवं निषेध परकत्व के अतिरिक्त ब्रह्म के प्रतिपादन में अन्य कोई विधि नहीं है।

ब्रह्म के स्वरूप लक्षण में सत्यादि पदों के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं और उन भिन्न-भिन्न अर्थों से अध्यारोपित समस्त प्रपंच का निषेध होता है—अर्थात् आरोपित प्रपंच की निवृत्ति होती है। उक्त स्वरूप लक्षण में ब्रह्म को सत्य अर्थात् सत् कहा गया है। सत् पद से असत् की निवृत्ति कही गयी है। असत् की निवृत्तिपूर्वक ब्रह्म को सत् स्वरूप बतलाया गया है। वह असत् अर्थात् अद्वैत वेदान्त में मिथ्या क्या है, विचारणीय है। क्योंकि आचार्य मधुसूदन ने उक्त नेति-नेति पद्धति का अनुसरण करते हुए अद्वैतसिद्धि में कहा है कि "अद्वेतसिद्धेर्द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वात् द्वैतमिथ्यात्वमेव प्रथममुपपादनीयम्"।[2] इसलिए अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि के लिए द्वैत प्रपंच मिथ्या है, यह विचारणीय है। जब द्वैत प्रपंच की मिथ्यात्वसिद्धि हो जायेगी, तब उसके निषेधपूर्वक ब्रह्म की सिद्धि होगी, क्योंकि सद्ब्रह्म स्वयं सिद्ध है। आचार्य शंकर ने सत्य मिथ्या का विश्लेषण करते हुए तैत्तिरीय भाष्य में कहा है कि "सत्य वह है जो जिस रूप में विद्यमान है, वह उस रूप से कभी व्यभिचरित न होता हो, जिसका व्यभिचार होता है, यह सत्य नहीं हो सकता, वह मिथ्या है।[3] अर्थात् जो त्रिकालाबाध्य है, वह सत् है। किसी काल में जिसका व्यभिचार होता है, वह असत्य है। सत्य सर्वदा कूटस्थनित्य होता है। अद्वैत वेदान्त में सत् में किसी भी प्रकार परिवर्तन नहीं माना गया है। इस परिभाषा के अनुसार सत्य का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। साथ में मिथ्या क्या है, यह भी स्पष्ट हो जाता है। आचार्य शंकर ने गीता भाष्य में पुनः कहा है कि "यद्विषयाबुद्धिर्नव्यभिचरति तत् सत्, यद्विषयाबुद्धिर्व्यभिचरित तदसत्।[4]—जो वस्तु अस्ति रूप है वह नास्ति रूप नहीं हो सकती। अस्ति और नास्ति को एकत्र मानने पर विरोधनियम का उल्लंघन हो जायेगा। इसीलिए अस्तिरूप सत् में कभी सत्व का व्यभिचार नहीं हो सकता।[5] जिसका व्यभिचार होता है, जो किसी काल, किसी देश और वस्तु विशेष में सीमित है, उसको अद्वैत वेदान्त सत् नहीं मानता। ब्रैडले के ही समान अद्वैत वेदान्त के अनुसार सत् में किसी प्रकार का विरोध नहीं रह सकता। जो विरोधों से पूर्ण है, वह सत् न होकर ब्रैडले के अनुसार आभास है।[6] परन्तु मिथ्या वस्तु किसी-न-किसी सत्य अधिष्ठान को आश्रय करके ही प्रतिभासित होती है, इसीलिए आचार्य

1. संक्षेप शारीरक, अध्यास 1, श्लोक 1888-189
2. अद्वैतसिद्धि, पृ० 8
3. तैत्तिरीय उपनिषद् भाष्य, 2-1
4. गीता शांकर भाष्य, 2-16
5. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः, गीता शांकर भाष्य, 2-16
6. Appear ance and Reality, Bradley, page 120

प्रकाशात्मयति ने मिथ्यात्व का लक्षण किया है—"प्रतिपन्न उपाधि में जो अभाव है, उस अभाव का प्रतियोगी होना ही मिथ्यात्व है।"[1] मिथ्या सदा सत्य प्रतिपन्न उपाधि में ही प्रतीति का विषय बनता है। जिस अधिष्ठान में जिसका अत्यन्त अभाव है, उस अत्यन्त अभाव की प्रतियोगी वस्तु मिथ्या है। आकाश आदि सम्पूर्ण प्रपंच का अधिष्ठान ब्रह्म है, परमार्थतः ब्रह्म में आकाश आदि प्रपंच का अत्यन्त अभाव है, इसीलिए वे मिथ्या हैं।

इस प्रकार अद्वैतवादी प्रपंच की मिथ्यात्वसिद्धि करके पश्चात् उसका निषेध अर्थात् अपवाद करते हैं। अध्यारोप में 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म" आदि श्रुति वाक्यों की संगति बैठ जाती है तथा अपवाद में 'नेह नानास्ति' आदि श्रुति वाक्यों की संगति भी। इसी को हमने इतःपूर्व विषयनिष्ठ, निषेध-पद्धति कहा है। जब सम्पूर्ण जगत् की शक्ति में रजत् के समान मिथ्यात्वसिद्धि हो जाती है और जब मिथ्या वस्तु की व्यावृति हो जाती हैं और व्यावृत्ति स्वयं ब्रह्म रूप होती है तथा व्यावर्त्य कुछ शेष नहीं रहता तब इस निषेध पद्धति से एकमात्र अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि हो जाती है।

इसके अतिरिक्त विधिमुखेन निर्विशेष ब्रह्म में आरोपित धर्मों को मानकर सत् का विवरण दिया जा सकता है। विश्व में सत् ब्रह्म को छोड़कर किसी भी वस्तु की स्थिति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि सत् अधिष्ठान के बिना मिथ्या वस्तु की प्रतीति सम्भव नहीं है। सभी वस्तुएँ सत् के साथ तादात्म्य रूप से ब्रह्म में अध्यस्त हैं। इसलिए 'घटोस्तिपटोस्ति' इत्यादि रूप में सर्वत्र सत् की प्रतीति होती है। ब्रह्म सत् है, इसकी सिद्धि नहीं करनी है, क्योंकि वही सत् हो सकता है, जिसका अनस्तित्व न हो। सत् का अभाव कभी नहीं होता और असत् का भाव भी नहीं। घट आदि पदार्थों में अस्ति रूप से अधिष्ठान सत्ता का अनुभव होता है। प्रत्येक वस्तु के साथ सत् जुड़ा हुआ है। सत् को निकाल देने पर वस्तु स्वरूप अनिर्वचनीय हो जाता है, जैसे अरस्तू के अनुसार रूप विहीन उपादान। घटादि में जो सत् की प्रतीति होती है वह घटादि भिन्न-भिन्न वस्तु रूप नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर "घटःसन्" एवं रूप से सर्वत्र सत् की अनुगत प्रतीति नहीं हो सकेगी। हम सर्वत्र अस्ति के रूप में एक सत् का अनुभव करते हैं। अतः घटादि को अस्तित्ववान् बताने के लिए उनमें एक सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक है। सत् को यदि वस्तु रूप माना जाये तो वह घट रूप होगा—अर्थात् घट कहना और सत् कहना एक ही बात होगी। इसी प्रकार सत् पट रूप होगा तो घट कहना और सत् कहना एक ही बात होगी। ऐसा मानने पर घट के लिए भी सत् शब्द का प्रयोग होगा और पट के लिए भी। ऐसी स्थिति में घट पट न कहकर सत्-सत् कहा जा सकता है। इसी प्रकार सत् और घट जब एक हैं तब 'सन् घटः' के स्थान पर 'सत्-सत्' या 'घट-घट' ऐसा भी प्रयोग होने लगेगा जोकि होता नहीं है। सत् और घट एक होते तो सत् के कभी उत्पत्ति-विनाश न होने के कारण घट के भी उत्पत्ति-विनाश नहीं होंगे और इस प्रकार असत्वापत्ति हो जायेगी। 'सत् घट' में विशेष्य-विशेषण भाव भी उपपन्न न होगा। अतः सत् घटादि भिन्न-भिन्न वस्तु रूप नहीं है।

सत् जाति रूप (सामान्य) धर्म भी नहीं, क्योंकि सत्ता जाति द्रव्य-गुण-कर्ममात्र वृत्ति है, सामान्यः विशेष, समावाय, अभाव आदि में सत्ता जाति नहीं है। किन्तु सत् सामान्यादि सभी पदार्थों में रहता है, अन्यथा उन पदार्थों का अनस्तित्व हो जायेगा। अभाव में भी सत् है। जैसे घट में पट का अभाव है, यहाँ पर 'है' पद द्वारा सत्ता का ही बोध होता है। ऐसी वस्तु नहीं है, जिसमें सत् नहीं हो, सत् के बिना वस्तु अवस्तु हो जायेगी। अवस्तु मिथ्या में जो मिथ्यात्व है उसमें भी 'है' का भाग सत् का ही है। सत् अपरिच्छिन्न होने के कारण सर्वत्र पहुँचा हुआ है, अतः सत् किसी का धर्म रूप नहीं है, अपितु धर्मिरूप है। घटादि में सत् नहीं है अपितु

1. पंचपादिका विवरण, 212

सत् में घटादि अध्यस्त है।[1] सत् के साथ तादात्म्यभावोपन्न हुए बिना घटादि की प्रतीति नहीं हो सकती। सत् का यद्यपि वस्तुतः अध्यास नहीं होता, फिर भी संसर्गाध्यास का आरोप उसमें किया जाता है। फिर भी सत् अपापविद्ध रह जाता है। इसलिए "ब्रह्मानन्द-सरस्वती के अनुसार सत् अध्यस्त वस्तुओं का हमें दो प्रकार से अनुभव होता है—"सन्तं घटं जानामि, घटं सन्तं जानामि"।[2]

"सत्सं ज्ञानं अनन्तम्" आदि स्वरूप लक्षण वाक्यों में सत् को न्याय एवं वैष्णव दार्शनिकगण ब्रह्म का गुण कहते हैं, किन्तु अद्वैतवादी सत् को ब्रह्मस्वरूप मानते हैं। इस अर्थ में सत् और ब्रह्म में किसी प्रकार का भेद सम्भव नहीं। पूर्णतया एकार्थक होने पर भी असद्व्यावर्तक होने के कारण वह सार्थक भी है। इसी अर्थ में सत्य-पद का ब्रह्म के साथ सामानाधिकरण्य भी होता है।

हमने ब्रह्म स्वरूप लक्षण के अन्तर्गत सत्-पद का विचार निषेध मुख से व्यावर्तक के अर्थ में और विधि-मुख से ब्रह्मपरकत्व के अर्थ में किया है। वहाँ हमने पहले बतलाया है कि ये दोनों विधि-निषेध पद्धतियाँ विषय-निष्ठ पद्धति के अन्तर्गत आती हैं। अब आगे हम ब्रह्म स्वरूप लक्षण के अन्तर्गत "ज्ञान" अर्थात् चित् पद के विषय में विधि-निषेध दोनों पद्धतियों के माध्यम से विचार प्रस्तुत करेंगे।

ब्रह्म ज्ञान अर्थात् चित् स्वरूप है—ब्रह्म के स्वरूप लक्षण के अन्तर्गत ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप कहा गया है। निषेध-मुख से विचार करने पर ज्ञान पद अज्ञान एवं अज्ञानोपादनक जड़ पदार्थों का व्यावर्तक है। ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है, इसका अर्थ है—ब्रह्म में अज्ञान या जड़त्वादि लेशमात्र भी नहीं है। ज्ञान सम्पूर्ण अज्ञान कार्यों की व्यावृत्ति करता है, साथ में ज्ञान पद का अर्थ ब्रह्म में एकीभूत होकर ब्रह्म को चित् स्वरूप बतलाना भी है। इस प्रकार यहाँ पर ज्ञान एवं ब्रह्म में पूर्वोक्त प्रकार से सामानाधिकरण्य होने में किसी प्रकार की असंगति नहीं है। ज्ञानपद का अभिधा अर्थ इतरव्यावर्तत्व है तथा लक्ष्यार्थ ब्रह्म स्वरूप है। ज्ञान ब्रह्म स्वरूप है, ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है। यहाँ पर ज्ञान पद से वृत्ति ज्ञान को नहीं लेना है। वृत्ति ज्ञान अद्वैत मत में अध्यस्त ज्ञान है, वह मिथ्या है, क्योंकि उसकी व्यावृत्ति हो जाती है। यहाँ पर ज्ञान पद से शुद्ध ज्ञान, शुद्ध चित् ब्रह्म को समझना है। ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, इसीलिए शास्त्र ब्रह्म को दृक्-रूप कहते हैं, ब्रह्म दृश्य नहीं है। दृश्य तो जड़ है। इसलिए आनन्द-बोध ने सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच को दृक्-अध्यस्त होने के कारण दृश्यत्व रूप हेतु द्वारा मिथ्या सिद्ध किया है।[3] इसी प्रकार जड़त्व को हेतु मानकर दृश्य प्रपंच की मिथ्यात्वसिद्धि अद्वैत वेदान्ती करते हैं। दृश्य प्रपंच को दृक् भिन्न एवं जड़त्व हेतु से मिथ्या सिद्ध करने के लिए, दृश्यत्व क्या है, इस पर अद्वैत वेदान्तियों ने पर्याप्त विचार किया है। विश्व प्रपंच दिक्स्वरूप नहीं है, यह तो सभी दार्शनिक मानते हैं, किन्तु प्रपंच मिथ्या है, यह बात वैष्णव दार्शनिकगण स्वीकार नहीं करते। दृश्यत्व के वृत्ति-व्याप्यत्व आदि अनेक अर्थ करके उसकी परि-भाषा प्रस्तुत की गयी है। इसी प्रकार जड़त्व का अर्थ अज्ञानत्व एवं अनात्मत्व के रूप में अद्वैत वेदान्ती करते हैं। ब्रह्म के स्वरूप लक्षण वाक्य में चित् पद द्वारा चित् अर्थात् दृश्य जड़ मात्र की व्यावृत्ति हो जाती है और व्यावृत्ति स्वयं निषेध रूप में अधिकरणस्वरूप है, अतः चित् पद व्यावर्तक होता हुआ भी तादात्म्यरूप से ब्रह्म-स्वरूप है।

अब विधिमुखेन (Positively) चित्स्वरूप का विवरण दिया जाता है। विधि, निषेध दोनों ही व्यवहार में हैं, इसीलिए विधिमुख से जो प्रतिपादन होता है उसका भी पर्यवसान निषेध में ही होता है। कोई भी पद्धति चाहे वह विधि या निषेध ही क्यों न हो, ब्रह्म को आत्मसात् करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि सत् को किसी

1. घटादयः स्वानुगत प्रतिभासेवस्तुनि कल्पिताः विभक्तत्वात्। अद्वैतसिद्धि, पृ० 316
2. लघुचन्द्रिका, पृ० 45
3. विवादपदं मिथ्या दृश्यत्वात्। न्याय दीपावलि, आनन्दबोध, पृ० 1

पद्धति में नहीं लाया जा सकता। पद्धति के अन्दर लाने पर वह समस्त विरोधों से मुक्त न रहकर विरोधयुक्त होगा, ऐसी स्थिति में शंकर, नागार्जुन,[1] ब्रेडले जैसे प्रत्ययवादीगण उसे सत् नहीं मान सकते, क्योंकि इन प्रत्ययवादी दार्शनिकों के अनुसार सत् समस्त विरोधों "से मुक्त निरपेक्ष सत् है। फिर भी विधिमुख से विवरण देते हुए अद्वैतवेदान्ती "चित्" को स्वयंप्रकाश मानते हैं।

चित् का स्वप्रकाशतत्व—चित् ब्रह्म है, ब्रह्म चित्स्वरूप है। चित् ज्ञानस्वरूप होने के कारण अज्ञेय है। ज्ञान का व्यवहार उसमें सम्भव नहीं है, इसीलिए वह स्वयं प्रकाश है। अन्य प्रमाणों द्वारा प्रकाश्य नहीं है। वह स्तःप्रमाण, स्वतःसिद्ध स्वयं ज्योति है। इस प्रकार चित् का स्वयं-प्रकशित्व रामानुज आदि वैष्णव-वेदान्तियों द्वारा स्वीकृत नहीं हुआ है। रामानुज ने श्री भाष्य में अद्वैत के स्वयं-प्रकाशत्व के लक्षण का जोरदार खण्डन किया है। इसी प्रकार निम्बाकाचार्यो ने भी अद्वैत के स्वयं-प्रकाशत्व के लक्षण का खण्डन किया है। निम्बार्क आचार्यगण ब्रह्म को स्वयं प्रकाश नहीं मानते। स्वयं प्रकाश मानने पर उनके अनुसार शास्त्रादि उपदेश—अर्थात् शास्त्रादि प्रमाण व्यर्थ हो जायेंगे। शास्त्रादि प्रमाणों से जब ब्रह्म परे होगा तो शास्त्रों के अनुसार उपासना भी व्यर्थ हो जायेगी।[2] इसीलिए ब्रह्म स्वयं-प्रकाश नहीं हो सकता।

अद्वैत वेदान्त के प्रकाण्ड पण्डित आचार्य चित्सुख ने अनुभूति के स्वयं-प्रकाशत्व की सिद्धि अपने ग्रन्थ तत्वप्रदीपिका में की है। उनके अनुसार अनुभूति के स्वप्रकाशत्व का लक्षण असम्भव नहीं है। स्वप्रकाशत्व का अर्थ है—"जो ज्ञेय न बनताहो साथ में अपरोक्ष व्यवहार विषय की उसमें योग्यता हो"।[3] इसी प्रकार उन्होंने अनुमान प्रमाण भी अनुभूति के स्वप्रकाशत्व में प्रस्तुत किया है:—अनुभूति, अनुभूति व्यवहार हेतु प्रकाशः अनुभूतित्वात्'''यथा घटः।[4] अर्थात् अनुभूति स्वव्यवहार हेतु प्रकाश है, क्योंकि वह अनुभूति है जो ऐसा नहीं है, वह अनुभूति भी नहीं है, जैसे घट। घट अनुभूति अर्थात् ज्ञान नहीं है, इसीलिए अपने प्रकाश का हेतु नहीं बनता। वह अपने आपको प्रकाशित नहीं कर सकता, उसको प्रकाशित करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। अर्थात् वह अन्य द्वारा प्रकाशित है। अन्य उसके लिए ज्ञान है। ज्ञान द्वारा ही वह प्रकाश्य है। ज्ञान न होगा तो उसका प्रकाश भी सम्भव है। अर्थात् वह ज्ञानाधीन है। इसीलिए वह जड़ भी है, किन्तु अनुभूति या ज्ञान अद्वैत वेदान्त के अनुसार अन्य द्वारा प्रकाश्य नहीं है, वह स्वप्रकाश है। आचार्य रामानुज आदि वैष्णव वेदान्ती एवं न्याय-दार्शनिक अनुभूति को स्वप्रकाश नहीं मानते। आचार्य रामानुज ने श्रीभाष्य में अनुभूति के स्वप्रकाशत्व को पूर्व-पक्ष के रूप में प्रस्तुत करके उसका खण्डन किया है। रामानुज के अनुसार ज्ञानोदय होने के पश्चात् ज्ञाता ज्ञेय विषय को जान लेता है। उसी समय विषय को जानने के साथ-साथ विषय के भासक ज्ञान भी उसके लिए प्रकाशित हो जाता है, इसलिए ज्ञान सब समय प्रकाशमय नहीं है। ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न है। ज्ञान किसी में प्रकाशित होता है तो दूसरे व्यक्ति में अप्रकाशित रहता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार अनुभूति के अनु-भाव्य हो जाने पर उसमें जड़त्व आ जाता है। रामानुज के अनुसार अनुभूति अनुभाव्य हो सकती है। अनुभाव्य होने पर वह अनुभूति नहीं रहेगी, ऐसी बात नहीं। इसी प्रकार वैष्णव वेदान्तीगण अनुभूति के नित्यत्व एवं एकत्व का भी खंडन करते हैं। रामानुज के अनुसार ज्ञानमात्र ही अनित्य एवं सविषयक है। प्रत्येक विषय का ज्ञान भी भिन्न-भिन्न है। घट-ज्ञान, पट-ज्ञान आदि भिन्न-भिन्न ज्ञानों का हम अनुभव करते हैं। रामानुज के अनुसार

1. तस्मान्नभावोनाभावो न लक्ष्यं नापिलक्षणं। इत्यादि नागार्जुन के विचार देखें—मध्यमकशास्त्र, पृ० 53
2. A History of Indian philosophy, page 407 Daiguyta.
3. अवेद्यत्वेसति अपरोक्ष व्यवहारविषयत्वं वा। तद्योग्यत्वं वा। वेदान्त प्रक्रिया प्रत्यभिज्ञा, पृ० 639: चित्सुखाचार्य प्रस्थान परीक्षा।
4. वही।

अनुभूति का अर्थ है—"जो वर्तमान दशा में अपनी सत्ता से अपने आश्रय में प्रकाशित होती हो, या जो प्रकाशित होने के लिए स्वयं माध्यम हो।" एवंभूत ज्ञान या अनुभूति स्वप्रकाश नहीं होती।[1] रामानुज आदि वैष्णव दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान आत्मा का गुण है। इसी प्रकार चित् ब्रह्म का गुण है, जबकि अद्वैत वेदान्त के अनुसार वास्तविक अर्थ में ज्ञान और चित् एक हैं और दोनों ही आत्मा या ब्रह्मस्वरूप हैं। ब्रह्म को निर्विशेष, निर्गुण सिद्ध करने के लिए ही अद्वैत वेदान्ती अनुभूति को स्वप्रकाश, एक और नित्य मानते हैं, क्योंकि अद्वैत वेदान्ती ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप कह चुके हैं, इसीलिए उनके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि ज्ञान को स्वप्रकाश, नित्य एवं एक सिद्ध करें। यह बात नहीं है कि अद्वैत वेदान्ती व्यवहार क्षेत्र में भिन्न-भिन्न ज्ञान स्वीकार नहीं करते। प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न ज्ञान है, ज्ञानों में तारतम्य भी है। ज्ञान नष्ट होता है, उत्पन्न होता है—ये बातें व्यवहार में हैं, पर एवं प्रकारक ज्ञान अध्यस्त ज्ञान है, अविद्या से जन्य ज्ञान है जिसे वृत्ति ज्ञान कहते हैं। ब्रह्मस्वरूप ज्ञान की दृष्टि से आध्यामिक होने के कारण वृत्ति ज्ञान मिथ्या-ज्ञान है। वास्तविक अर्थ में शुद्ध ज्ञान न होकर ज्ञेय ही है। अखण्डाकार बोध में इस वृत्तिज्ञान का भी बाध हो जाता है। जिस प्रकार अनुभूति के स्वप्रकाशत्व की सिद्धि अद्वैत वेदान्ती करते हैं, उसी प्रकार आत्मा के भी स्वप्रकाशत्व की सिद्धि करते हैं। अद्वैत वेदान्ती के अनुसार आत्मा अनुभूतिस्वरूप है। अनुभूति ब्रह्मस्वरूप है अथवा अनुभूति आत्मस्वरूप है, आत्मा ब्रह्मस्वरूप है। स्वयं प्रकाश,[2] अनुभूतिस्वरूप आत्मा एवं आत्मस्वरूप ब्रह्म एक ही है। "अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः" इति श्रुतेश्चात्मा स्वयं प्रकाश इत्यादि प्रमाणों से अनुभूतिस्वरूप आत्मा एवं आत्मस्वरूप ब्रह्म स्वयंप्रकाश सिद्ध होता है।

ब्रह्म के स्वरूप लक्षण में उक्त चित् अध्यस्त सम्पूर्ण दृश्य या ज्ञेय अर्थात् जड़ वस्तुओं का निषेध हो जाता है। इस प्रकार चित् पद व्यावर्तक होकर सार्थक हो जाता है और स्वयं चित् ब्रह्मस्वरूप होकर ब्रह्म का भी बोध कराता है। इस प्रकार से सामानाधिकरण्य की स्थापना हो जाती है।

ब्रह्म अनन्तस्वरूप—ब्रह्म के स्वरूप लक्षण में तीसरा पद अनन्त पद है। विधि मुख से अनन्त पद द्वारा लक्षणा से ब्रह्म का ही बोध होगा। निषेध मुख से यह पद सभी अन्तों का व्यावर्तक होता है। अन्त का अर्थ है परिच्छिन्न। तीन प्रकार के परिच्छिन्न हो सकते हैं—देशकृत, कालकृत एवं वस्तुकृत। अत्यन्त अभाव प्रतियोगित्व ही देशकृत परिच्छिन्नत्व है। जिसका कहीं-न-कहीं पर अभाव हो वह परिच्छिन्न है। संसार की सभी वस्तुएँ इस प्रकार के अभावों से ग्रसित हैं। यहाँ पर स्थित घट यहीं पर है, इसी देश में है। इस घट का अन्य देशों में अत्यन्त अभाव है, इसलिए घट अपने देश में ही सीमित है। इस प्रकार संसार की सम्पूर्ण वस्तुओं के विषय में समझना चाहिए। अभाव प्रतियोगित्व को कालकृत परिच्छिन्नत्व कहते हैं। प्रत्येक वस्तु किसी-न-किसी काल में अस्तित्ववान् है। अन्य काल में उसका अस्तित्व नहीं है। उत्पत्ति से पहले वस्तु नहीं होती, ध्वंस के पश्चात् भी वस्तु नहीं होती, मात्र वर्तमान काल में वस्तु होती है।[3] इसीलिए जागतिक वस्तुओं के प्रागभाव एवं ध्वंसाभाव हैं। प्रागभाव वस्तु की पूर्व सीमा है, ध्वंसाभाव वस्तु की पश्चात्भावी सीमा है। ये ही परिच्छिन्नताएँ हैं। अन्योन्याभाव प्रतियोगित्व को वस्तुकृत परिच्छिन्नत्व कहते हैं। प्रत्येक वस्तु स्व में स्थित है, अन्य में उसका अभाव है। घट-घट में ही है; पट में नहीं। कुर्सी का अस्तित्व कुर्सी में है, मेज में नहीं। दूसरे शब्दों में कुर्सी

1. अनुभूतित्वं नाम वर्तमान दशायां स्वसत्तयैव स्वाश्रयंप्रति प्रकाशमानत्वं स्वसत्तयैव स्वविषय साधनत्वं वा—
   श्रीभाष्य पृ० 84
2. वेदान्त प्रक्रिया प्रत्यभिज्ञा, 640, नीचे की टिप्पणी
3. अव्यक्तादीनिभूतानि व्यक्तमध्यानि भारत
   अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना 11 गीता 2-28

कुर्सी है, मेज मेज है, सब एक-दूसरे से भिन्न हैं। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु की अपनी सीमा है, वह अपने तक सीमित है। कोई भी वस्तु अपने अस्तित्व की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकती।[1] इसलिए वस्तुएँ सीमित हैं। पूर्वोक्त तीनों प्रकार की सीमाओं अर्थात् परिच्छिन्नताओं से संसार की सभी वस्तुएँ सीमित हैं। इसलिए अद्वैतसिद्धिकार ने परिच्छिन्नत्व को हेतु मान करके प्रपंच की मिथ्यात्वसिद्धि की है। आचार्य गौड़पाद ने माण्डूक्य कारिका में काल परिच्छिन्नता से युक्त वस्तुओं को वितथ अर्थात् मिथ्या कहा है।[2]

ब्रह्म में उक्त परिच्छिन्नताओं का अभाव है। ब्रह्म में देशकृत, कालकृत एवं वस्तु-कृत सीमाएँ नहीं हैं। इन अन्तों से वह अतिक्रान्त है। इसीलिए ब्रह्म को अनन्त कहा गया है। स्वरूप लक्षण के अनन्त पद द्वारा इस प्रकार परिच्छिन्न या सीमित वस्तुओं की व्यावृत्ति की गयी है। परिच्छिन्न वस्तुएँ मिथ्या हैं। मिथ्या वस्तुओं की व्यावृत्तिपूर्वक अनन्त पद ब्रह्म का बोधक होता है। इसीलिए अनन्त पद अपने अर्थ में सार्थक होता हुआ लक्षणा से ब्रह्म की ओर भी संकेत करता है। अतः ब्रह्म के साथ सामानाधिकरण्य में किसी प्रकार की असंगति नहीं है। इस प्रकार "सत्यं ज्ञानं अनन्तं" यह लक्षण इतर व्यावर्तक होता हुआ अर्थात् मिथ्या, जड़ एवं परिच्छिन्न की व्यावृत्ति करता हुआ ब्रह्म के स्वरूप का अवबोधक होता है।

अखण्डार्थ—ब्रह्म के स्वरूप बोधक उक्त प्रकार के लक्षण वाक्यों द्वारा जो ब्रह्म का बोध होता है, उस प्रक्रिया में ब्रह्म को बोध्य या अनुभाव्य न समझा जाय। वहाँ पर अखण्डाकार तद्रूप ही बोध होता है। बोध एवं बोध के विषय में कोई अन्तर नहीं होता। ज्ञान एवं ज्ञेय वहाँ पर एकीभूत हो जाते हैं। इसीलिए उक्त प्रकार ज्ञान को अद्वैत वेदान्ती अखण्डार्थबोध कहते हैं। अखण्डार्थबोध में वाक्य में स्थित पदों का परस्पर सम्बन्ध बोध नहीं होता। अपितु समष्ट रूप से वाक्य के रहस्य के रूप में यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है।[3] अन्य अर्थ में यह कहा जायेगा कि जो शब्द पर्यायार्थक नहीं हैं, उन शब्दों की समष्टि से सम्बन्ध ज्ञान के बिना ही सामग्रिक भाव से जो निर्विषयक ज्ञान का उदय होता है, वह अखण्डार्थ बोध है।[4] इस प्रकार अखण्डार्थ बोध ही तत्व अर्थात् ब्रह्म-साक्षात्कार है।

अद्वैत वेदान्तों में प्रतिपादित इस अखण्ड अर्थबोध के विरुद्ध निम्बार्क दार्शनिक माधव मुकुन्द ने अपने ग्रन्थ परपक्षगिरिवज्र में तीव्र विरोध प्रकट किया है। उनका कहना है कि अखण्डार्थबोध में कोई प्रमाण नहीं है। "सत्यं, ज्ञानं, अनन्तं ब्रह्म" आदि ब्रह्मस्वरूपलक्षण वाक्यों में निम्बार्क दार्शनिकों के अनुसार प्रत्येक पद विशिष्ट का बोधक है न कि निर्विशेष वस्तु का। अद्वैतवादियों की ओर से सत्यादि वाक्यों को अखण्डार्थनिष्ठ सिद्ध करने के लिए माधव मुकुन्द ने अनुमान प्रस्तुत किया है एवं उसका युक्ति एवं तर्कों सहित प्रत्याख्यान किया है। अनुमान इस प्रकार है—"सत्यादि वाक्यं अखण्डार्थनिष्ठं, प्रकृष्ट प्रकाशश्चन्द्र, इतिवाक्यवत्"[5] प्रकृष्ट प्रकाशचन्द्र यह वाक्य क्या चन्द्रस्वरूप मात्र का बोधक है, इसी प्रकार सत्यादि वाक्य भी ब्रह्मस्वरूप मात्र का बोधक है। इस अनुमान के खण्डन में आचार्य माधवमुकुन्द ने अनुमान के दृष्टान्त को "असद्दृष्टानत" सिद्ध किया है। अखण्डार्थ बोधक अनुमान के लिए "प्रकृष्ट प्रकाशचन्द्र" वाक्य दृष्टान्त नहीं हो सकता, क्योंकि दृष्टान्त

1. अद्वैत सिद्धि, पृ० 315
2. आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत् तथा।
   वितथैः सदृशाः सन्तो वितथा इव लक्षिताः॥—माण्डूक्य कारिका 2-6
3. चित्सुखी, पृ० 109
4. अपर्यायशब्दानामसंसर्गगोचर प्रमिति जनकत्वं वा तेषामेकप्रातिपदिकार्थमात्र-पर्यवसायित्वं वा अखण्डार्थत्वम् 1 अद्वैतसिद्धि, पृ० 663
5. परपक्षगिरिवज्र, पृ० 548-549

वाक्य सखण्डार्थ बोधक है। उक्त वाक्य से "प्रकर्ष का आश्रय प्रकाश-विशिष्ट चन्द्र"[1] इस प्रकार का बोध होता है, इसीलिए यह अखण्डार्थ बोधक वाक्य नहीं है। अखण्ड वस्तु प्रमाण सिद्ध नहीं है। निम्बार्क मत में सभी ज्ञान सविकल्पक होते हैं। निर्विशेष अखण्ड वस्तु अप्रसिद्ध हैं, इसीलिए उक्त अनुमान में साध्य-अप्रसिद्ध दोष भी हैं। आचार्य माधवमुकुन्द ने अखण्डार्थ के विरुद्ध अनुमान प्रस्तुत किया है। "वेदान्तजन्या प्रमासप्रकारिका, विचार जन्य-ज्ञानत्वात् संशयादिनिवर्तकत्वात् च, कर्मकाण्डजन्य ज्ञानवत्। वेदान्त जन्या प्रमा ब्रह्मप्रकारविषया, ब्रह्म-धर्मिकसंशयादि विरोधित्वात् ब्रह्मविचार-जन्य-ज्ञानत्वाद् वा, कर्मकाण्ड विचार-जन्य-ज्ञानवत्"।[2] अर्थात् सत्य, ज्ञानं इत्यादि वाक्य-जन्य-प्रमाज्ञान सप्रकारक हैं, क्योंकि वह प्रमाज्ञानजन्य ज्ञान है। विचारजन्य ज्ञान मात्र ही सप्रकार होता है—जैसे वेद के कर्मकाण्डीय वाक्य विचारजन्य ज्ञान सप्रकारक हुआ करता है उसी प्रकार ब्रह्म प्रतिपादक वेदान्त-वाक्य-जन्य प्रमा ब्रह्मनिष्ठ धर्म विषयक है, क्योंकि वह प्रमा ब्रह्मविषयक संशय एवं भ्रम-विरोधी है, जो प्रमाज्ञान जिस धर्मिविषयक संशयादि का विरोधी होता है वह प्रमाज्ञान धर्मिगत प्रकार विषयक होता है, इसलिए वेदान्त वाक्य सप्रकारक होने से अखण्डार्थ नहीं हो सकता।

उक्त प्रकार से आचार्य माधवमुकुन्द ने परपक्ष गिरिवज्र में अद्वैत वेदान्त अभिप्रेत अखण्डार्थ का प्रत्याख्यान किया है। माधवमुकुन्द के अतिरिक्त अन्य वैष्णव दार्शनिक भी अखण्डार्थ का विरोध करते हैं। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि में पूर्व पक्ष के रूप में अखण्डार्थ के खण्डन में प्रयुक्त प्रमुख युक्तियों को प्रस्तुत किया है।[4] अद्वैत वेदान्त के अन्य आचार्यों ने भी अखण्डार्थ के लक्षण दिये हैं। आचार्य पद्मपाद के अनुसार "संसर्ग अगोचर अपर्याय शब्दों का जो कि परस्पर आकांक्षा नहीं रखते, अव्यतिरिक्त एक प्रातिपदिकार्थ मात्र अन्वय ही अखण्डार्थता है।"[5] कल्पतरुकार के अनुसार "अविशिष्ट अप्रयाय अनेक शब्द प्रकाशितं एकं वेदान्तनिष्णाता अखण्डं प्रतिपेदिरे" अखण्डार्थ है। कल्पतरुकार ने अखण्डार्थ प्रतिपादन में अनुमान भी प्रस्तुत किया है। "सत्यादि वाक्य विशिष्टार्थपरक नहीं हैं, क्योंकि वह क्षण वाक्य है। प्रकृष्ट प्रकाशादि वाक्य के समान।"[6] इस प्रकार उन्होंने अखडार्थ का प्रतिपादन किया है। वाचस्पति मिश्र ने ब्रह्म साक्षात्कार को मानते हुए भी ब्रह्म को सर्वोपाधिरहित स्वयं ज्योति कहा है। ब्रह्म स्वयं ज्योति, स्वयं प्रकाश है, उसमें किसी भी प्रकार के विशेष धर्म नहीं हैं। विशेष धर्म मानने पर भी वे काल्पनिक हैं, अतः ब्रह्म में एवं वेदान्त वाक्यों में अखण्डार्थता बनी रहती है।[7] आचार्य ब्रह्मानन्द सरस्वती ने अखण्डार्थ के समर्थन में जोरदार युक्तियों का अवतरण किया है।[8] उनका कहना है कि सत्यादि पदों द्वारा प्रवृत्ति-भेद स्वीकार करते हुए लक्षण से उनको शुद्ध ब्रह्मपरक मानने पर अखण्डार्थता में किसी प्रकार असंगति नहीं है। यद्यपि विशुद्ध ब्रह्म के साथ किसी प्रकार सम्बन्ध नहीं हो सकता फिर भी काल्पनिक सम्बन्ध को मानकर लक्षणा हो सकती है। भ्रमकाल में प्रतीत रजत का सम्बन्ध शुक्ति के साथ काल्पनिक ही होता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार सम्पूर्ण कल्पनाओं का आस्पद शुद्ध

1. परपक्षगिरिवज्र, पृ० 550
2. वही, पृ० 556-557
3. अद्वैतसिद्धि, पृ० 662, 663, 664
4. अद्वैतसिद्धि, पृ० 663 में उद्धृत
5. वही, पृ० 674
6. सत्यादि वाक्यं विशिष्टार्थपरत्वरहितं, लक्षणवाक्यत्वात् प्रकृष्ठप्रकाशादिवाक्यवत्। वेदान्त कल्पतरु, पृ० 95
7. भामती, पृ० 57 कल्पतरु परिमल भी
8. लघुचन्द्रिका, पृ० 665-674

ब्रह्म ही हो सकता है। क्योंकि ब्रह्म सबका अधिष्ठान है।

वस्तुतः ब्रह्मलक्षण वाक्यों द्वारा निषेधात्मक दृष्टि से ब्रह्मेतर की व्यावृत्ति ही प्रधान लक्ष्य है। अतः एक अद्वितीय ब्रह्म के अतिरिक्त अध्यारोपित प्रपंच की सत्ता नहीं है। जो कुछ भी है एक ब्रह्म ही है। सत्यादि पदों द्वारा अखण्डार्थ में एक ब्रह्म के प्रतिपादन करने में तात्पर्य इतना ही है कि उन पदों द्वारा अभिप्रेत अर्थ ब्रह्म को कहीं स्पर्श न कर जाय। ब्रह्म में गुणतः भी द्वितीय भाव की शंका हमें न हो, तदर्थ अखण्डार्थ की स्वीकृति है। इसीलिए तात्पर्यतः वेदान्त वाक्य ब्रह्म का बोधन कराते हैं। ब्रह्म बोधक जितने प्रमाण एवं वाक्य हैं वे सब ज्ञातृनिष्ठ अज्ञान आवरण की निवृत्तिमात्र के लिए हैं। ब्रह्म तो स्वयं प्रकाश है, उसके प्रकाश के लिए किसी की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अद्वैत वेदान्ती ब्रह्म में वास्तविक अर्थ में वृत्तिविषयता भी नहीं मानते, जो भी वृत्त का विषय होगा, वह मिथ्या होगा। वेदान्त वाक्यों की अखण्डार्थता का प्रतिपादन इसलिए किया जाता है कि निषेधात्मक दृष्टि से ब्रह्म में धर्मों का निषेध करने पर भी कथन तो ब्रह्म का ही होता है। इसीलिए पारमार्थिक दृष्टि से देखने पर विधि-निषेध आदि किसी भी प्रकार से ब्रह्म को कथन का विषय नहीं बना सकते। फिर भी व्यवहारार्थ प्रतिपादन तो करना ही पड़ता है। इसीलिए कल्पतरुकार के अनुसार जब ब्रह्म का साक्षात्कार होता है तो ब्रह्म की साक्षात्कारात्मक वृत्त की निवृत्ति के लिए भी एक ज्ञान की आवश्यकता होती है। उसके लिए फिर एक ज्ञान की आवश्यकता होती है। इसीलिए अनवस्था भय से साक्षात्कारवृत्ति साक्षात्कार अनन्तर स्वयं ही शान्त हो जाती है, माना जाता है।[1] जैसे ईंधन को जलाने के पश्चात् अग्नि स्वयं ही शान्त हो जाती है, उसी प्रकार साक्षात्कार वृत्ति भी अन्त में शान्त हो जाती है। वस्तुतः अद्वैत मतानुसार अखण्डणार्थ में ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञातृ, प्रतिपादक, प्रतिपाद्य, विशेषण-विशेष्य, लक्षण-लक्ष्य आदि भाव नहीं रह जाते। एक निर्विशेष ब्रह्म में सबका पर्यवसान हो जाता है। इसीलिए अद्वैत वेदान्ती ब्रह्म में स्वगतः—स्वजातीय-विजातीय भेद नहीं मानते। ब्रह्म इन भेदों से रहित एकमेवा द्वितीय है। जैसे एक वृक्ष को उदाहरणार्थ लिया जाये तो वृक्ष के पत्र-पुष्प आदि भेद को स्वगत भेद समझना चाहिए, क्योंकि यह वृक्षों के अंगों का भेद है वस्तुतः वृक्ष एक है, फिर भी उसके अंग नाना हैं। वृक्ष का अन्य वृक्षों से भेद स्वजातीय भेद है अर्थात् आम के वृक्ष से इमली के वृक्ष का भेद स्वजातीय भेद है, क्योंकि वृक्ष होने के कारण दोनों सजातीय हैं। शिलादि से वृक्ष का भेद विजातीय भेद है, क्योंकि शिलादि भिन्न-जातीय पदार्थ हैं।[2] ब्रह्म में अद्वैत वेदान्त के अनुसार उक्त तीनों भेद नहीं हैं। जबकि वैष्णव दार्शनिकगण ब्रह्म में स्वगत भेद स्वीकार करते हैं। अद्वैत वेदान्ती ब्रह्म में स्वगत भेद भी नहीं मानते। अर्थात् गुणगत भेद भी ब्रह्म में नहीं है।[3]

"सत्यं ज्ञानं, अनन्तं, ब्रह्म" आदि वाक्यों को ब्रह्म का स्वरूपलक्षण कहा गया है। क्या वस्तुतः ब्रह्म का स्वरूप लक्षण सम्भव है? स्वरूप मात्र बोधक को स्वरूप लक्षण कहते हैं, जो कि यावत्द्रव्यभावी होता है। द्रव्य और द्रव्य के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। क्या उस स्वरूप को उस वस्तु को, उस वस्तु का लक्षण बनाया जा सकता है? स्वरूप लक्षण में उक्त सत्यादि को स्वरूपमात्र मानने पर वे लक्षण नहीं हो सकते, क्योंकि लक्ष्य-लक्षण-भाव स्वरूप में नहीं होता। अतः औपचारिक लक्ष्य-लक्षण मानना पड़ेगा। औपचारिक लक्ष्य-लक्षण-भाव

1. निरुपाधिब्रह्मेति विषयीकुर्वाणवृत्तिः स्वस्वेतरोपाधिनिवृत्तिहेतुरुदयते, स्वस्य अप्युपाधित्वा विशेषात्।
   वेदान्त कल्पतरु, पृ० 57
2. वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्र पुष्प फलादिभिः।
   वृक्षान्तरात् सजातीयो विजातीयः शिलादित-॥
   पंचदशी, पृ० 49 विद्यारण्य, वाराणसी।
3. शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्त में मिथ्यात्व निरूपण, पृ० 126 डा० अभेदानन्द।

स्वरूप में यावत् द्रव्यभावी नहीं हो सकता। इसीलिए प्रस्तावित स्वरूप लक्षण में सत्यादियों को ब्रह्म में आरोपित माना होगा। आरोपित मानकर ही लक्षण के लिए उनका प्रयोग सम्भव है। जब तक आरोपित मानकर के लक्ष्य से लक्षण को पृथक् नहीं करेंगे तब तक लक्षण का प्रयोग सम्भव नहीं है। पृथक् मानने का अर्थ सत्यादि आरोपित धर्म हुए, आरोपित धर्म ब्रह्मस्वरूप में यावत् द्रव्यभावी नहीं होते, इसीलिए सत्यादि को अयावत् द्रव्यभावी मानना होगा। इस प्रकार सत्यादि लक्ष्यैक देश में रहने के कारण ब्रह्म का स्वरूप लक्षण न हो करके तटस्थ लक्षण हो जाते हैं। लक्ष्यैक देश में होने के कारण वाद में आरोपित सत्यादि धर्मों का बाध भी हो जाता है। उपर्युक्त अर्थ में ब्रह्म का मात्र तटस्थ लक्षण ही बन सकता है, स्वरूप लक्षण नहीं। तात्पर्य इतना ही है कि स्वरूप मात्र लक्षण नहीं बन सकता, स्वरूप से हट करके आरोपित धर्म मानने पर वह तटस्थ लक्षण हो जाता है।

ब्रह्म का तटस्थ लक्षण—अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को जगत्-जन्मादि का कारण मानकर तटस्थ लक्षण द्वारा उसका प्रतिपादन किया जाता है। लक्षण की परिभाषा आचार्य धर्मराजाध्वरीन्द्र ने वेदान्त परिभाषा में दी है। जो सम्पूर्ण लक्ष्य में स्थित न होता हुआ भी व्यावर्तक होता है, अर्थात् लक्ष्य के एक देश में होता है, साथ में इतर व्यावर्तक भी होता है, वही तटस्थ लक्षण है।[1]—जैसे गन्धत्व पृथ्वी का लक्षण है। महाप्रलय में परमाणुओं में तथा उत्पत्तिकाल में घटादि में गन्ध नहीं रहती, फिर भी गन्धवत्व को नैयायिक पृथिवी का लक्षण मानते हैं।[2] बादरायण ने "जन्माद्यस्ययत" (ब्र० सू० 1-1-2) सूत्र द्वारा ब्रह्म का तटस्थ लक्षण प्रस्तुत किया है। भाष्यकारों के अनुसार "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि वेदान्त वाक्यों का अनुसरण करते हुए सूत्रकार ने उक्त लक्षण ब्रह्म का प्रस्तुत किया है। ब्रह्म में जगत् जन्मादिकारणत्व यावत्द्रव्यभावी नहीं है। लक्ष्यैक देश में कहीं पर आरोपितरूप से जगत्कारणत्व है। इसलिए तटस्थतया ब्रह्म का प्रतिपादन अधिक संगत है। तटस्थ लक्षण में जिन धर्मों को मानकर तटस्थ लक्षण का विधान किया जाता है, उन धर्मों की स्थिति वस्तु में कदाचित् एवं कथंचित होती है। जैसे देवदत्त के गृह को खोजता हुआ कोई व्यक्ति आता है एवं पूछे जाने पर कोई देदत्त को बतलाता है कि वह देवदत्त का घर है जिसके सामने गौ खड़ी है। देवदत्त के गृह के लिए गौ की पहचान अनिवार्य नहीं है, गौ गृह के सामने सदा सर्वदा रहेगी, यह बात निश्चित नहीं है। फिर भी वह व्यक्ति देवदत्त के घर को जान जाता है अर्थात् गौ की पहिचान से वह देवदत्त के घर को पहचान लेता है। इस प्रकार गौ के साथ देवदत्त के गृह का अनिवार्य संसर्ग न होते हुए भी गौ उस मोहल्ले के इतर गृहों का व्यावर्तक होती है। साथ में गौ देवदत्त के गृह का ही बोधक होती है। इसे तटस्थ लक्षण समझना चाहिए। विद्यारण्यमुनि ने अपने ग्रन्थ विवरणप्रमेयसंग्रह में ब्रह्म के लक्षण के विषय में पूर्वपक्षियों के द्वारा उत्थापित आक्षेपों का प्रत्याख्यान करते हुए कहा है कि जन्मादि को मानकर ब्रह्म का तटस्थ लक्षण सम्भव है, "काकाधिकरणत्ववदुपपत्तेः"[3] अर्थात् काक आदि को चिह्न मानकर जिस प्रकार गृह का पहिचान हो जाता है, उसी प्रकार जन्मादि को मानकर ब्रह्म का लक्षण हो जायेगा। काक अधिकरणत्व लक्षण में काक अधिकरणत्व गृह के अन्तर्भूत नहीं होता, क्योंकि गृह के अन्तर्भूत मान लेने पर काक के उड़ जाने से गृह का एक भाग नष्ट हुआ है, ऐसी बुद्धि हो जायेगी, इसलिए

---

1. वेदान्त परिभाषा, पृ० 159
2. न्याय के अनुसार, "उत्पन्नं द्रव्यं क्षणं निर्गुणं निष्क्रियं च तिष्ठति" इसी कारण उत्पत्ति क्षण के घट में गन्धत्व पृथ्वी का लक्षण घटित नहीं होता, फिर भी जाति घटित लक्षण मानकर गन्धत्व को पृथ्वी का लक्षण माना जाता है
3. काकाधिकरणत्वं हि न'''अतो गृहस्याधिकरणत्वं नामौपाधिको धर्म—इत्यादि, वही पंचपादिका विवरण, पृ० 625, मद्रास

काक अधिकरणत्व गृह के लिए औपाधिक मात्र है।[1] लक्ष्य का अंग नहीं है। केवल लक्षण के ही अन्तर्गत है। काक मात्र उपलक्षण होकर के ही गृह का लक्षण होता है। इसी प्रकार जन्मादि ब्रह्म के उपलक्षण हैं और जन्मादि धर्म ब्रह्म के औपाधिक धर्म हैं। वे धर्म लक्षण के अन्तर्गत हैं, लेकिन लक्ष्य के अन्तर्गत जन्मादि धर्मों से ब्रह्म का संसर्ग नहीं है, इसलिए ब्रह्म में जन्मादिकारणत्व का अन्तर्भाव नहीं होता। साथ में जगत् प्रपंच की कारणता ब्रह्म की है, सिद्ध होता है। आचार्ज अप्पय दीक्षित ने "कल्पतरु परिमल" में तटस्थ का लक्षण करते हुए कहा है कि लक्षण को सकल इतर का व्यावर्तक होना चाहिए, साथ में लक्ष्य-बोधन में समर्थ भी होना चाहिए। जगत् जन्मादि कारणत्व जो ब्रह्म का लक्षण है वह "शाखाग्रे चन्द्र" के समान तटस्थ लक्षण है। "शाखाग्रे चन्द्रः" वाक्य चन्द्र को अन्य तारों से व्यावृत्त करता है। इसमें इतर व्यावर्तकत्व है। साथ में चन्द्र का बोध भी हो जाता है। इसीलिए इसे तटस्थ लक्षण का उदाहरण समझना चाहिए। तटस्थ लक्षण के अन्तर्गत समस्त अध्यारोपित कारणता "जगत्कर्तृत्व" जीवेश्वर विभागादि आते हैं। ये सब जितने भी विभाजन हैं ब्रह्म में तटस्थतया ही हैं।

ब्रह्म की जगत्कारणता—अद्वैत आचार्यों ने ब्रह्म को जगत्कारण कहा है। ब्रह्म में जगत्कारणता तटस्थतया ही क्यों न हो, पर ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई जगत्कारण नहीं है। यही अद्वैताचार्यों का मत है। ब्रह्म में आरोपित जगत् पंच का निषेध है। यदि आरोपित जगत् प्रपंच किसी अर्थ में है तो ब्रह्म में ही स्थित है। यही अद्वैत सिद्धान्त है। अतः यह प्रश्न उठता है कि अद्वैत वेदान्ती ब्रह्म को किस रूप में जगत्कारण मानते हैं मुख्यतः घटोत्पत्ति के लिए उपादान एवं निमित्त दोनों की आवश्यकता होती है। मिट्टी घट का उपादान है, कुम्हार निमित्त कारण है। जगत् प्रपंच कार्य के लिए ब्रह्म उपादान कारण है या निमित्त कारण अथवा दोनों हैं? दोनों कारणों में से एक कारण मानने पर ब्रह्म की व्यापकता नष्ट हो जायेगी और ब्रह्म को दोनों कारण मानने के लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस प्रकार पूर्वपक्षी आक्षेप उठाते हैं।[2] इसके उत्तर में विद्यारण्य मुनि ने कहा है कि ब्रह्म उपादान एवं निमित्त दोनों ही कारण हैं। सूत्र में 'यतः' शब्द से यही अभिप्रेत है।[3] ब्रह्म निमित्त कारण है। इसके लिए "यातोवा" आदि श्रुति प्रमाण हैं ही। ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है उसमें 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् इदं सर्वं यद यमात्मा,[4] आत्मैवेदं सर्वम्"[5] इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं, क्योंकि अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म अतिरिक्त वस्तु स्वीकृत नहीं है, इसीलिए अन्तिम कारणता ब्रह्म में ही जाती है। सर्वज्ञात्म मुनि के अनुसार एकमात्र परब्रह्म ही जगत्-योनि है। उनके अनुसार शुद्ध ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है। चूंकि कूटस्थ ब्रह्म स्वरूपतः जगत् का कारण नहीं बन सकता, इसलिए माया को अद्वैत वेदान्तियों ने द्वारकारण माना है। माया के बिना ब्रह्म में जीव-जगत् का विवर्तन सम्भव नहीं है। अप्पय दीक्षित ने संक्षेप शारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि के मत को उद्धृत करते हुए सिद्धान्तलेश संग्रह में कहा है "केचित् आहुः शुद्धमेवोपादानम्"।[6] विवरणकार के अनुसार शुद्ध ब्रह्म जगत् का उपादान नहीं हो सकता अर्थात् परिणामी उपादान कारण ब्रह्म नहीं बन सकता। ब्रह्म को विवर्तकारण अर्थात् विवर्त कार्य का अधिष्ठान कहा जा सकता है। परिणाम को दृष्टि में

1. सकलेतरव्यावृत्य लक्ष्य-बोधन समर्थं इह लक्षणं—शाखाग्रेचन्द्रः इतिवत् तटस्थ-लक्षणम्। कल्पतरु परिमल, पृ० 84 निर्णय सागर, 1938
2. ब्रह्मण्यंगीक्रियमाणं कारणत्वं कीदृशम्? किं निमित्तत्वमेव? उतोपादानत्वमेव, अथोभयम्? न तावत प्रथमद्वितीयौ···प्रमाणाभावात् विवरणप्रमेयसंग्रह, पृ० 647
3. सूत्रगतया "यतः" इतिपचम्या द्विविध कारणत्वस्य विवक्षितत्वात्। विवरणप्रमेय संग्रह, पृ० 648
4. छान्दोग्य 6-8-7
5. बृहदारण्यक उपनिषद्, 2-4-6
6. छान्दोग्य, 7-2-12

रखते हुए माया को ही कारण कहना होगा। अप्पय दीक्षित ने विवरणकारण के मत को प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि "सर्वज्ञत्वादि विशिष्टं माया शबलमीश्वर रूपमेव उपादानम्"।[1] अर्थात् सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट माया रूप उपाधि से विशिष्ट ब्रह्म ही जगत् का उपादान है। परन्तु परिणामी उपादान के लिए माया को ही ब्रह्माश्रित रूप से कारण मानना होगा, क्योंकि जगत् परिणाम का आरोप ब्रह्म में सीधा नहीं माना जा सकता। अथवा संक्षेप शारीरककार के समान बीच में माया को माध्यम रखना होगा। इसीलिए वाचस्पति मिश्र ने माया को सहकारी कारण कहा है। ब्रह्मसूत्रभाष्यभामती के मंगल श्लोक में वाचस्पति मिश्र ने कहा है—"अनिर्वाच्याविद्याद्वितयसचिवस्यप्रभवतो विवर्तायस्यैतेवियदनिल तेजो बवनयः।"[2] आचार्य शंकर केअनुसार माया शक्तिमान ब्रह्म जगत् का कारण है। माया जगत् का उपादान है। उस उपादान का आश्रय ब्रह्म है, इसीलिए कारण है। सुरेश्वर आचार्य ने आचार्य शंकर का अनुसरण करते हुए बृहदारण्यक भाष्यवार्तिक में अज्ञान को उपादान कारण तथा उस अज्ञान को आश्रित करके ब्रह्म को जगत् कारण कहा है।[3] माया का स्वरूप अनिर्वचनीय है। इसीलिए शुद्ध ब्रह्म में आश्रित होने पर भी वह शुद्ध ब्रह्म को स्पर्श नहीं करती। इस प्रकार से ब्रह्म को ही निमित्त एवं उपादान दोनों ही कहा जा सकता है।[4] जिन आचार्यों ने शुद्ध ब्रह्म को उपादान नहीं माना, उनका तात्पर्य इतने से ही है कि अधिष्ठानता शुद्ध ब्रह्म की होने पर भी वह उपादानत्व कुक्षि में प्रवेश नहीं करता। वह अस्पष्ट ही रहता है।[5] इसी दृष्टि से शुद्ध ब्रह्म की निमित्त एवं उपादान कारणता का भी निषेध किया जा सकता है, साथ में माया को माध्यम बनाकर दोनों कारणताओं का आरोप उसमें किया भी जा सकता है। इसीलिए पदार्थतत्वनिर्णयकार ने ब्रह्म और माया दोनों को ही जगत् उपादान कहा है।[6] ब्रह्म को शुद्ध बतलाने के लिए सिद्धान्तमुक्तावलीकार प्रकाशनन्द सरस्वती ने माया शक्ति को ही उपादान कारण कहा है, ब्रह्म को नहीं।[7]

इस प्रकार ब्रह्म की कारणता के विषय में मतभेद सा दीखता है, परन्तु बात एक ही है, अद्वैत वेदान्त के सामने एक ही समस्या है—ब्रह्म को कार्य कारण भाव से परे रखकर किसी द्वितीय की स्वीकृति के बिना आरोपित प्रपंच की व्याख्या प्रस्तुत करना। इसी समस्या के समाधान में भिन्न-भिन्न युक्तियों से अद्वैताचार्यों ने कारणता की व्याख्या की है। माया के माध्यम से कारणता कहने का अर्थ है ब्रह्म को निर्विशेष सिद्ध करना। साथ में माया का भी वास्तविक अर्थ में निषेध करना है।

परिणाम और विवर्तवाद – ब्रह्म की कारणता के प्रसंग में यह भी बात समझ लेनी चाहिए कि अद्वैतवादी जगत्-प्रपंच को ब्रह्म का विवर्त मानते हैं, साथ में माया का परिणाम मानते हैं। धर्मराजाध्वरीन्द्र ने "उपादान समसत्ताक कार्यापत्ति" को विवर्त कहा है।[8] अप्पय दीक्षित ने उपादान कारण का समानधर्मि अन्यथा-

1. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० 62
2. वही, पृ० 63
3. भामती, मंगल श्लोक, पृ० 1
4. बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक, 1-4-371
5. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य सूत्र, 1-4-23
6. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० 74
7. सिद्धान्तमुक्तावली कृतस्तु-मायाशक्तिरेवोपादानं न ब्रह्म "तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमबाह्यम्" "नतस्यकार्यं कारणं च विद्यते" इत्यादि श्रुतेः। सिद्धान्त लेशसंग्रह, पृ० 80
8. वेदान्त परिभाषा, पृ० 58, पंचपादिका विवरण में भी—सतत्वतो अन्यथाभावः परिणामः कहा है। पृ० 635 मद्रास

भाव को परिणाम उससे विलक्षण अन्यथा भाव को विवर्त कहा है।[1] सीधे अर्थ में विलक्षण भाव को विवर्त कहा जा सकता है। कारण गुणों को लेते हुए परिवर्तन को परिणाम कहा जा सकता है। रज्जु-सर्प भ्रमस्थल में सर्प रज्जुगत अज्ञान का परिणाम है तथा रज्जू का विवर्त है। दूध जिस प्रकार दधि में परिणित हो जाता है, उसे परिणाम कहते हैं। परन्तु विभ्रम स्थल की वस्तु को विवर्त ही कहा जायेगा।

पूर्वोक्त अर्थों में सम्पूर्ण कार्य जगत् ब्रह्म का विवर्त है, क्योंकि ब्रह्म ही कार्य जगत् का अधिष्ठान है। ब्रह्म कारण के अतिरिक्त कार्य जगत् का अस्तित्व नहीं है।[2] इसी प्रकार रत्नप्रभाकर तथा न्यायनिर्णयकार ने भी अपनी टीकाओं में कार्य जगत् को कारण-अनन्य कहा है।[3] माया की दृष्टि से जगत् परिणाम है, इसलिए अद्वैत वेदान्त में इस प्रकार परिणाम एवं विवर्त दोनों वाद स्वीकृत हुए। माया की दृष्टि से परिणामवाद स्वीकृत हुआ तथा ब्रह्म की दृष्टि से विवर्तवाद। वैष्णव दार्शनिकगण ब्रह्मपरिणामवाद स्वीकार करते हैं तथा सांख्य दर्शन प्रकृति परिणामवाद को स्वीकार करता है। इन दृष्टिकोणों का खण्डन अद्वैताचार्यगण ब्रह्मसूत्र-भाष्य-टीकाओं में करते हैं, क्योंकि उनको ब्रह्म परिणामवाद स्वीकार नहीं है। इसी प्रकार न्याय दर्शन का मात्र निमित्त-कारणवाद भी अद्वैत वेदान्त को स्वीकार नहीं। न्याय दार्शनिक परमाणुओं को उपादान तथा ईश्वर को निमित्त कारण मानते हैं। इस प्रकार के द्वैतवाद के अद्वैत वेदान्ती घोर विरोधी हैं।

ब्रह्म का ईश्वरभाव: अद्वैत वेदान्त में जब माया को उपादान कह दिया जाता है, तब ईश्वर को निमित्त कारण कह दिया जाता है। वस्तुतः ब्रह्म का ईश्वर भाव भी मिथ्या ही है। "मायिनं तु महेश्वरम्" इस उक्ति के अनुसार ईश्वर की उपाधि माया है। विशुद्ध चेतन मायोपधिः से उपहित होकर ईश्वर कहलाता है।[4] माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य ही ईश्वर है। ईश्वर माया को अपने वश में करके स्थित होता है, इसलिए वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान है। अप्पय दीक्षित ने सिद्धांत-लेश-संग्रह में प्रकटार्थ विवरण के मतानुसार माया में चित् प्रतिबिम्बित को ही ईश्वर कहा है।[5] संक्षेपशारीरक कार के मत को उद्धृत करते हुए वे कहते हैं कि "कार्योपाधिरयं जीवः, कारणोपाधिः ईश्वरः"[6] वस्तुतः विशुद्ध चेतन महाकाश के समान एक है। घटादि से जिस प्रकार महाकाश सीमित हुआ सा लगता है, उसी प्रकार अविद्यादि उपाधि से विशुद्ध चेतन भी सीमित हुआ-सा लगता है। यह ईश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् और जगत् का निमित्त कारण है। यही ईश्वर भक्तों द्वारा उपास्य भी है।[7] इसी ईश्वर के विषय में गीता में कहा गया है "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेर्जुनतिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारुढ़ानि मायया।"[8] यही ईश्वर सम्पूर्ण जगत् का शासक है। परन्तु अद्वैत वेदान्त का ईश्वर न्याय का ईश्वर नहीं है, न्याय दर्शन का ईश्वर निमित्त कारण मात्र है। उपादान कारण अन्तिम रूप से परमाणु हैं। अद्वैत वेदान्त में व्यावहारिक रूप से स्वीकृत उपादान कारण माया तथा निमित्त कारण ईश्वर—दोनों ही अन्तिम सत्य नहीं हैं। ईश्वर का ईश्वरत्व मिथ्या है, किन्तु विशुद्ध चैतन्य के रूप में ईश्वर परम सत्य है। माया उपाधि को हटा देने

1. कारणसलक्षणो अन्यथाभावः परिणामः तद्विलक्षणो विवर्त इति वा, कारण भिन्न कार्य परिणामः तदेभेदं विनैव तदव्यतिरेकेन दुर्वचं कार्य विवर्तः। सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० 58-60
2. तथा च सर्वविकारजातं तस्मादवस्तु सत्। शांकर भाष्य, भामती तथा कल्पतरुपरिमल भी, पृ० 455
3. रत्नप्रभा-न्याय-निर्णय, सूत्र, 2-1-13, पृ० 372-374
4. मायोपाधेरद्वयस्येश्वरत्वम्। संक्षेप शारीरक, 3-148
5. सिद्धान्त लेश संग्रह, पृ० 82
6. वही, पृ० 85
7. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, पृ० 82
8. गीता, 18-61

पर चेतनांश में ईश्वर शुद्ध चित् ही तो रह जाता है। इसलिए शुद्ध चित् की दृष्टि से ईश्वर परम् सत् है और माया की दृष्टि से वह प्रतीयमान सत् है। ईश्वर सर्वज्ञ इसलिए है क्योंकि वह माया का वशीभूत नहीं है। जीव अविद्या का वशीभूत होता है, इसलिए अल्पज्ञत्व आदि से विशिष्ट होता है। ईश्वर माया को शक्ति के रूप में उपयोग में लाता है। जिस प्रकार घटाकाश अपने आप में शुद्ध रहता है, उसी प्रकार मायोपहित चेतन भी अपने आप में शुद्ध रहता है। ईश्वर भोक्ता नहीं, द्रष्टा है "द्वासुपूर्णा" इत्यादि श्रुति द्वारा ईश्वर का दृष्टृत्व सिद्ध है। चेतन का ईश्वरभावत्व अर्थात् शुद्ध ब्रह्म का ईश्वरभावत्व, उसका तटस्थ लक्षण भी है, क्योंकि यावत् ब्रह्म में ईश्वरत्व की कल्पना नहीं की जाती। न्याय-दार्शनिक ईश्वरसिद्धि में अनुमान प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। ईश्वर सिद्धि में अकेले अनुमान प्रमाण पर्याप्त नहीं है। आचार्य शंकर ईश्वर की सत्ता के विषय में प्रस्तुत किये जाने वाले सभी प्रमाणों पर विचार करते हुए उनकी निष्फलता को दर्शाते हैं।[1] वैष्णव दार्शनिकगण ब्रह्म के जिस सगुण रूप को स्वीकार करते हैं, वह ईश्वर के रूप में अद्वैत वेदान्त में भी स्वीकृत हैं। इसीलिए इस दृष्टि से सगुण ब्रह्मवादियों के साथ अद्वैत वेदान्त का कोई विरोध नहीं है, किन्तु ब्रह्म के निर्विशेष रूप के विषय में वैष्णव वेदान्त आपत्ति उठाते हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार भी ईश्वर जीवकर्मसापेक्ष होकर ही सृष्टि का निर्माण करता है। ऐसा न करने पर ईश्वर के ऊपर वैषम्य और कठोरता का दोष दिया जा सकता है।[2] इसलिए जगत् की विषमता के लिए प्राणी स्वयं अपने कर्मों के कारण उत्तरदायी हैं, न कि ईश्वर। गीता में कहा है कि ईश्वर न किसी से पाप लेता है और न किसी से पुण्य लेता है। अज्ञान के कारण जीव का ज्ञान ढका हुआ रहता है तथा कर्म के रहस्य को नहीं समझता।[3] वैष्णव दार्शनिकगण जिस प्रकार ईश्वर की भक्तवत्सल तथा भक्त द्वारा उपास्य मानते हैं, उसी प्रकार अद्वैत वेदान्ती भी ईश्वर को भक्तवत्सल मानते हैं।

साक्षीस्वरूपविवेचन—सभी शरीरों में जीव से भिन्न रूप में उदासीन साक्षी चैतन्य होता है। जीव अन्तःकरण विशिष्ट होता है। अज्ञान से विशिष्ट होने के कारण वह प्रकाशक नहीं हो पाता। इसीलिए सूक्ष्म एवं स्थूल देहद्वयों का अधिष्ठानभूत कूटस्थ चैतन्य के रूप में साक्षी चेतन माना गया है। साक्षी अर्थ द्रष्टा मात्र है। "साक्षात् द्रष्टरि संज्ञायाम्" इस परिभाषा के अनुसार जो द्रष्टा होता हुआ भी उदासीन होता है, वह साक्षी है। लोक में भी उदासीन द्रष्टा को साक्षी कहते हैं।[4] यह कूटस्थ चैतन्य साक्षी जीव कोटि में भी नहीं है और न ईश्वर कोटि में है। यह उदासीन एवं प्रकाशक है। विशुद्ध चैतन्य ही जीव के साथ अभिन्न रूप से दोनों शरीरों का अधिष्ठान बनकर साक्षी कहलाता है। जीव भोक्ता होता है, इसीलिए विकारों से सुखी-दुखी होता है। किन्तु साक्षी भोक्ता नहीं होता द्रष्टामात्र होता है। यद्यपि जीव और साक्षी का भेद ज्ञात नहीं रहता, फिर भी साक्षी बिम्ब रूप है, जीव प्रतिबिम्ब रूप। अध्यास के कारण दोनों एक से लगते हैं। रंगमंच का प्रदीप जिस प्रकार सभी को प्रकाशित करता है, पर किसी भी अभिनेता के अभिनय से प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार साक्षी सब कुछ देखता हुआ भी जीवगत सुख-दुःखों से प्रभावित नहीं होता।[5] यह स्वयं ज्योति स्वयंप्रकाश है। सुषुप्तिकाल में भी साक्षी जाग्रत रहता है। इसी कारण जाग्रत काल में सुषुप्ति का भी स्मरण हो आता है—कि "मैं कुछ नहीं जानता था"। आचार्य चित्सुख के अनुसार जीवत्व, ईश्वरत्व आदि धर्मों से रहित उन-उन जीवों से तादात्म्य होकर प्रत्येक शरीर में भेद को प्राप्त होकर शुद्ध चेतना ही साक्षी रूप में प्रतीत होता है। वह ईश्वर

1. Indian Philosophy Vol II, page 542 Dr. Radhakrishnan
2. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, 2-1-34
3. गीता, 5-15
4. सिद्धान्तलेश संग्रह, पृ० 180
5. पंचदशी, नाटक दीप प्रकरण, 10-11

कोटि में इसीलिए नहीं आता, क्योंकि ईश्वर जगत् की सृष्टि करता है। इसीलिए वह उदासीन नहीं होता।[1] कौमुदीकार एवं तत्वशुद्धकार ने भी उदासीनस्वरूप साक्षी को माना है।[2] वस्तुत: अद्वैत वेदान्ती अनावृत साक्षी को जीव के द्रष्टा के रूप में मानते हैं। जीव अविद्या से ग्रसित होने के कारण स्थूल-सूक्ष्म शरीरों का द्रष्टा नहीं हो पाता। साक्षी के रूप में विशुद्ध चेतन ही जीव के साथ अभिन्न रूप से दोनों शरीरों का प्रकाशक होता है। यह जीव और शुद्ध चैतन्य में मध्यस्थता करता है। प्रत्येक शरीर में साक्षी एक होता हुआ भी भिन्न-भिन्न सा लगता है।

वस्तुत: ब्रह्म एक ही है। वह विशुद्ध एवं निर्विशेष है। इसी कारण मुमुक्षु के लिए जगत् की व्याख्या प्रस्तुत करने हेतु उसे ब्रह्म, ईश्वर, साक्षी, जीव आदि नाना रूपों में बतलाया जाता है। इन सभी रूपों में अविद्यांश मिथ्या है तथा चेतनांश शुद्ध ब्रह्म है। वस्तुत: ब्रह्म में अंश नहीं होता, फिर भी समझने के लिए तथा समझाने के लिए ऐसी भाषा का प्रयोग किए बिना उपाय नहीं है। पंचदशी में विद्यारण्यमुनि ने नित्य शुद्ध चैतन्य को अविद्या उपाधि भेद ब्रह्म चैतन्य, कूटस्थ चैतन्य, ईश्वर चैतन्य एवं जीव चैतन्य-चतुर्विध रूप से वर्णित किया है।[3] संक्षेप शारीरककार के अनुसार जीव, ईश्वर और ब्रह्म ये तीन विभाजन शुद्ध चेतन के हैं। विद्यारण्य मुनि कूटस्थ साक्षी चेतन को छोड़कर चार रूपों में चैतन्य का विश्लेषण करते हैं। एक ही महाकाश जिस प्रकार उपाधि भेद से घट के अन्दर सकेमित होकर घटाकाश, घट मध्य में स्थिति जल में प्रतिबिम्बित होकर जलाकाश, आकाश में मेघों में प्रतिबिम्बत होकर मेघाकाश एवं अनन्त, अपरिच्छिन नीलाकाश महाकाश के रूप में दिखाई देता है, उसी प्रकार स्थूल-सूक्ष्म दोनों देहों का अधिष्ठान कूटस्थ चैतन्य साक्षी है। अपरिछिन्न चैतन्य ब्रह्म है। अन्त:करण में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है तथा ब्रह्माश्रित अनादि माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर है। अज्ञान के कारण साक्षी चैतन्य की दृष्टि से ओझल रहता है सदानन्द ने वेदान्त सार में शुद्ध चैतन्य के चार विभाग करके बतलाया है कि जो अनुपहित चैतन्य है, वह तुरीय चैतन्य है। उसी को शिव, अव्दैतं चतुर्थम कहा है। विशुद्ध सत्व प्रधान माया को उपहित करके ईश्वर होता है जो कि सर्वज्ञ है।[4] सूक्ष्म-शरीर का आधारभूत समष्टि अज्ञान में उपहित चैतन्य सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ है तथा जाग्रत् अभिमानी चैतन्य वैश्वानर या विराट् है।[5] इस प्रकार चार विभाजन होने पर भी चारों में एक ही शुद्ध चेतन्य की अनुवृत्ति है, इसीलिए वही अविद्या के माध्यम से एकमात्र अधिष्ठान है। वस्तुत: अध्यारोप की व्याख्या करने के लिए शुद्ध ब्रह्म में किसी प्रकार प्रभाव नहीं पड़ता, वह तो अस्पृष्ट रहता है, क्योंकि आत्म-अनात्मा आदि भाव, ग्रह्य-ग्राहक आदि भाव भी आत्मा में कल्पित हैं। आत्मा इनसे विवर्जित है। परमार्थत: आत्मा का न निरोध है न उत्पत्ति है नहीं जीवभाव है, वह तो एक शाश्वतरूप है।[6]

अद्वैत वेदान्त के अनुसार निर्गुण ब्रह्मवाद में संपूर्ण विरोधों का अवसान हो जाता है। निर्गुण ब्रह्म सत्यस्य सत्यम् है। सत्य का रूपान्तर नहीं होता। अद्वैत के अनुसार जिसका रूपान्तर होता है वह सत्य

1. सिद्धान्तलेश संग्रह, पृ० 184
2. वही, पृ० 184 एवं 186
3. पंचदशी, 6-18
4. वेदान्तसार, पृ० 23
5. वही, पृ० 16
6. न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षर्न वैमुक्त इत्येषा परमार्थता। माण्डूक्य कारिका, 2-32

नहीं है, वह मिथ्या है। आत्मा या ब्रह्म के विषय में नाना मतों को देखते हुए ऐसा लगता है कि वास्तविक बात कुछ और ही है। उपनिषदों में अन्न को ब्रह्म कहा गया है। कहीं पर प्राण को, मन को, विज्ञान को भी आत्मा कहा गया है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार क्रमशः निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन करने के लिये अन्न आदि को भी आत्मा या ब्रह्म कहा गया है। तात्पर्य निर्णय करने पर समस्त वेदान्त वाक्यों का निर्गुण ब्रह्म में ही अवसान है सत् एक है, उसको विद्वान नाना रूपों में कहते हैं, कथनमात्र हैं। कहा भी है– 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः" ऋग्वेद 1-164/46।

आचार्य शंकर की निजी तन्त्र सम्मत रचनाओं पर तान्त्रिक दृष्टि

पदम भूषण आचार्य पण्डित बलदेव उपाध्याय

शंकराचार्य पादानां तन्त्रशास्त्रीय चिन्तमम् ।
स्वीय ग्रन्थेषु निर्दिष्टं स्पष्टमम विचार्यते ।

परिव्राजकाचार्य आचार्य शंकर अद्वैत वेदान्त के जितने महान सूक्ष्म विवेचक तथा महनीयअलोचक शिरोमणि थे, तन्त्रशास्त्र के भी वे उतने ही मर्मज्ञ आचार्य, अन्तरालोडननिष्णात विद्वान तथा तान्त्रिक विज्ञान वेत्ता थे। अद्वैत वेदान्त के इतिहास में उनके ग्रन्थ नितान्त प्रामाणिक एवं प्रख्यात हैं। शाक्त तन्त्र के अन्तर्गत त्रिपुरा सम्प्रदाय में भी उनकी रचनायें गम्भीर तथा विश्रुत हैं। आगम को निगम से एकान्तत: भिन्न मानने वाले आलोचकों की कमी नहीं है, परन्तु यथार्थत: दोनों का मन्जुल सामरस्य ही निगमागममूलक भारतीय संस्कृति का मूलधार है। मूलत: अन्वेषण करने पर वैदिक संहिताओं के मन्त्रों के तान्त्रिक तथ्यों की उपलब्धि आश्चर्यप्रसू नहीं है। कतिपय तथ्यों का ही यहाँ संकेत किया जा रहा है जिससे शाक्त तन्त्र की वैदिक परम्परा की एक दिव्य झाँकी हमारे नेत्रों के सम्मुख उपस्थित हो जाती है।

श्री विद्या का वैदिक स्रोत—श्री विद्या का मूलतन्त्र संकेत ऋग्वेद के इस मन्त्र में सद्य: उपलब्ध होता है—

चत्वारि ईं बिभ्रति क्षेमयन्तो दश गर्भं चरसे धापयते ।
त्रिधातव: परमा अस्य गावो दिवश्चरन्ति परियन्तो अन्तान् । —ऋग्वेद 5/47/4

सायणाचार्य ने इस ऋचाका आधिदैविक अर्थ सूर्यपरक किया है, परन्तु इसके दोनों आदिम पद मूल विद्या की ओर यहाँ स्पष्ट रूप से संकेत करते हैं सौन्दर्यलहरी के टीकाकार लक्ष्मीधर का यह कथन इसका पक्का प्रमाण है। षोडशकलात्मकस्य श्री बीजस्य गुरुसम्प्रदायवशाद् विज्ञेयस्य स्थित त्वात् चतुर्णामीकारणं सिद्धे: मूलविद्याया: वेदस्थितत्वं सिद्धम् (सौन्दर्य लहरी के पञ्चम श्लोक की व्याख्या)

तैत्तिरीय संहिता; ब्राह्मण एवं आरण्यक में इस तथ्य के पोषक प्रमाणों का नितरां बाहुल्य है। तैत्तिरीय आरण्यक (1 प्रश्न 1-29) में उपलब्ध अरुणोपनिषद् अरुणानाम्नी भगवती के कार्यकलाप एवं माहात्म्यक का स्पष्टत: वर्णन करता है। इस अरुणोपनिषद् के द्रष्टा ऋषिका नाम 'अरुणकेतु' है। अरुण भगवती का वर्णन शंकराचार्य ने सौन्दर्यलहरी में इस रमणीय पद्य के द्वारा किया है —

अराला केशेषु प्रकृति सरला मन्द हसिते
शिरीषाभा चित्ते दृष्टदुपल शोभा कुचतटे ।
भृशं तन्वीमध्ये पृथुरुर सिजा रोह विषये
जगत् त्रातुं शम्भो र्जयति करुणा काचिदरुणा ।93।

दोनों वर्णनों के तारतम्यपरीक्षण से दोनों की समस्था में कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता।[1]

भगवती के चरणयुगल के अन्तराल से प्रवाहित होने वाले सुधाधारा (सौ० ल० पद्य 10) के लिए तैत्तिरीय ब्राह्मण (3।12।3) का यह मन्त्र देखिये—

लोकस्य द्वार मर्चियत् पवित्रं ज्योतिष्मत् भ्राजमानं महस्वत्।
अमृतस्य धारा बहुधा दोहमानं चरणं नो लोके सुधितान् दधातु ।।

दर्शआद्य पूर्णिमान्ता तिथियों के लिए देखिये तैत्तिरीय शाखा का काठक ब्राह्मण का 'इयं वाव सुरधा' अनुवाक तथा 'संज्ञानं विज्ञानं मन्त्र (तैत्तीरीय ब्राह्मण 3।10।1) इस प्रकार के वैदिक स्रोतों का अन्वेषण लक्ष्मीधर की व्याख्या के अन्वेषण से किया जा सकता है यहाँ केवल सूचना दी गयी है।

वैदिक युग के अनन्तर यह धारा आगे बढ़ती गई। इस युग में शुभागमन पञ्चक नामक ऋषि प्रणीत पाँच ग्रन्थों की उपलब्धि होती है। वशिष्ठ संहिता, सनक संहिता, शुक संहिता, सनन्दन संहिता एवं सनत्कुमार संहिता-ये पाँचों संहिताओं शुभागमन पंचक के नाम से प्रसिद्ध है। इन ग्रन्थों के प्रमाण तन्त्र ग्रन्थों में बहुलता से उपलब्ध होते हैं। सौन्दर्यलहरी की पूर्वोक्त व्याख्या में इनके उद्धरण मिलते हैं जिससे 16 शती के पूर्व इन ग्रन्थों की सत्ता अनुमानतः सिद्ध होती है।

दूसरे अनन्तर शंकराचार्य के गुरु गोविन्दाचार्य के गुरु आचार्य गौडपाद की रचना श्री विद्या के विकास के निमित्त उपलब्ध होती हैं। इनकी दो तान्त्रिक रचनायें प्रकाशित हैं जिनमें एक है श्री विद्यारत्न सूत्र[2] जो सूत्रात्मक है। इसके टीकाकार श्री शंकरारण्य हैं और दूसरा है सुभगोदय स्तुति। यह स्तुति दो प्रकार की है। श्लोकों की संख्या 52 है। एक तो है लम्बे छन्दों में और दूसरा है केवल अनुष्टुपम् छन्द में। प्रथम प्रकार के छन्द का नमूना देखिये।

भवानित्वां वन्दे भवमहिषि सच्चत्सुख वपुः
पराकरां देवी ममृतलहरी मैन्दव कलाम्।
महाकालातीतां कलितसरणी कल्पित हनुं
सुधासिन्धोरन्तर्वसतिमकिशं वासकमयीम् ।।[3]

अनुष्टुप छंदों वाले ग्रन्थ का निर्देश लक्ष्मीधर ने अपनी पूर्वोक्त व्याख्या में किया है जिस पर शंकराचार्य की तथा लक्ष्मीधर की भी व्याख्यायें थीं। सौभाग्यभास्कर से पता चलता है कि लल्ल की भी इस पर टीका थी। वारुनासुभगोदयं नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख मिलता है—

तदुक्तं वारूनासुभगोदये

दर्शाद्याः पूर्णिमान्ताद्याः कलाः पञ्चदशैवतु।
सोऽशीतु कला ज्ञेया सच्चिदानन्दरुपिणी ।।[4]

1. श्रुति वाक्य तथा उनके अर्थ के लिए द्रष्टव्य सौन्दर्यलहरी की लक्ष्मीधर व्याख्या, पृ० 35-43। अरुणाख्या भगवती के विषय में वामकेश्वरतन्त्र का वचन देखिए (वही, पृष्ठ 53)
2. सरस्वती भवन संस्कृत ग्रन्थमाला (वाराणसी) में प्रकाशित
3. दृष्टव्य डा० शिवशंकर अवस्थी : मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य, पृ० 241-249 (प्र० चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1966 ई०)
4. वही, पृ० 249

आचार्य शंकर की तान्त्रिक रचनायें

गौडपादाचार्य की इन रचनाओं का प्रभाव आचार्य शंकर के ऊपर पर्यायरूपेण लक्षित होता है। एक तथ्य ध्यातव्य है कि जिस प्रकार गौडपाद के ग्रन्थ में अद्वैत वेदान्त के साथ त्रिपुरातन्त्र का मंजुल सामरस्य है, उसी प्रकार शंकराचार्य ने अद्वैत ग्रन्थों की रचना साथ ही साथ श्री विद्या विषयक ग्रन्थों का भी निर्माण किया। आचार्य के दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—(1) प्रपंच सार तथा (2) सौन्दर्यलहरी। इनके अतिरिक्त शंकराचार्य के स्त्रोतों में, विशेषतः दैवीविषयक स्तोत्रों में शाक्त् तन्त्र की स्पष्टतः झलक दृष्टिगोचर होती है। ऐसे स्त्रोतों में दक्षिणामूर्ति स्त्रोत तथा मीनाक्षी स्तोत्र उल्लेखनीय हैं। ललितात्रिशतीभास्यतो प्रंखानुप्रंख श्री पुरासम्प्रदाय के सिद्धान्तों से मण्डित एवं अभ्यर्हित है।[1] प्रपंचसार के ऊपर आचार्य के साक्षात् शिष्य पद्म पादाचार्य की 'विवरण' नाम्नीटीका की सत्ता इसे शंकराचार्य की प्रामाणिक रचना सिद्ध करने में सर्वथा समर्थ है। 33 पटलों में विभक्त इस तन्त्र ग्रन्थ में अढ़ाई हजार से ऊपर श्लोक हैं जो मुख्यतया अनुष्टुप् ही हैं। कहीं कहीं बड़े छन्द भी हैं, परन्तु उनकी संख्या न्यून है। इसके आरम्भ के एकादश पटलों में तन्त्रशास्त्र के प्रसिद्ध तथ्यों का विवरण है तथा अन्य पटलों में नानामन्त्रों देवतारूप, जय, फल तथा अनुष्ठानविधि का व्यवस्थित वर्णन मिलता है। सूतसंहिता और पराशर संहिता की टीका में माधवाचार्य ने प्रपंचसार को शंकराचार्यकृत माना है। शारदा तिलक की टीका में राघवभट्ट भी यही कहते हैं सम्मोहन तन्त्र में शंकर और उनके चार शिष्यों का वर्णन है। सौन्दर्यलहरी के शंकराचार्य की रचना होने में प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं। आचार्य ने गौडपाद के सुभगोदय के अनुकरण में इस लहरी का निर्माण किया था। इस ग्रन्थ के ऊपर तीस के आस पास टीकायें है। सर्वप्राचीन आचार्य के पट्टशिष्य सुरेश्वराचार्य की टीका है। शृंगेरी मठ में इस टीका की अति प्राचीन प्रति आज भी उपलब्ध है। अवान्तर टीकाओं में लक्ष्मीधर की व्याख्या बड़ी ही प्राञ्जल, रहस्य प्रकाशित तथा प्रामाणित है। ये उत्कल के मध्ययुगीन विशाल शासक राजा प्रताप रूद्रदेव के आश्रित थे। जो आन्ध्र के विद्याप्रेमी भूपाल राजा कृष्णदेव के समकालीन तथा जामाता भी थे (समय 16 शती) सौन्दर्यलहरी के आरम्भ के 41 पद्य भी विद्या के गम्भीर रहस्यों के प्रतिपादक हैं तथा अन्तिम 59 पद्य भगवती ललिता के ललित विग्रह का साहित्यिक वर्णन परक है। इन दोनों ग्रन्थों के स्वरूप में भिन्नता नितान्त स्पष्ट है। प्रपञ्च सार एक समग्र तन्त्र ग्रन्थ है जिसमें तन्त्रोक्त नाना देवियों की उपासना का पूर्ण विधान दिया गया है। साथ में तन्त्र के सामान्य तथ्यों का विवरण भी उसकी पूर्णता के लिए दिया गया है। सौन्दर्यलहरी-केवल श्री विद्या का प्रतिपादक होने से त्रिपुरा सम्प्रदाय के तन्त्र सम्मत तथ्यों का ही विशिष्ट विवरण प्रस्तुत करती है। यह स्तोत्र-मात्र है, परन्तु प्रपञ्चसार का क्षेत्र विस्तृत है। ग्रन्थ के आरम्भ में शारदा की प्रार्थना है।

अकचटतपयाद्यैः सप्तभिर्वर्णवर्गैः
विरचित मुख बाहापादक मध्याख्याहृत्का।
सकल जगदीशा शाश्वता विश्वयोनि-
विर्तरतु परिशुद्धि चेतसः शारदावः॥

उपान्त्य पद्य में यह तभी अपने वर्णनीय विषयों का भी संक्षिप्त संकेत एक ही पद्य में इस प्रकार करता है—

इत्थं मूल प्रकृत्यक्षरविकृति-लिपव्रात जातग्रहर्क्ष-
क्षेत्राद्याबद्धभूतेन्द्रियगुण-रविचन्द्राग्नि संप्रोतरूपेः।

1. इन्हीं तथ्य ग्रन्थों के ऊपर शंकराचार्य की तान्त्रिक दृष्टि का विवेचना प्रस्तुत किया जा रहा है।

मन्त्रोस्त द्वतामिर्मुनिभिरचि जपध्यान होमाद्यैनाभि-

तन्त्रेऽस्मिन यन्त्रमेदैरपि कमलज हे दर्शितस्त्रोऽयं प्रप्रंच:

प्रपंचसार, 33/62

सौन्दर्यलहरी सिद्ध ग्रन्थ है। इसके प्रत्येक श्लोक मन्त्ररूप हैं। इसीलिए अभीष्टसिद्धि के लिए विशिष्ट यन्त्रों के साथ इन श्लोकों के जपने की विधि परम्परा निर्धारित की है। मैसूर संस्कृतसीरीज में लक्ष्मीधर व्याख्या के साथ प्रकाशित इस ग्रन्थ में ये यंत्र भी विधिविधान के साथ दिये गये हैं। प्रपंचसार (मूल) का प्रकाशन श्री रंगम् से शंकराचार्य ग्रन्थावली के अन्तर्गत किया गया है दो 19 तथा 20 वे भागों में।

शक्ति की महिमा

आचार्य शंकर की मान्यता है कि शक्ति से संयुक्त होने पर ही शिव विश्व की रचना तथा संरक्षण कार्य में समर्थ होते हैं। यदि शक्ति के संयोग का अभाव हो, तो वे स्पन्दन करने में भी समर्थ नहीं है—वे हिलडुल भी नहीं सकते। शक्ति का तान्त्रिक बीज 'इकार' है। शिव से यदि इकारको निकाल दिया जाय, तो शिव शव बन जाता है, एकदम निर्जीव प्राणी जो अपने अंग भी हिलाडुला नहीं सकता, अन्य धर्मों की तो कथा ही नहीं। सौन्दर्यलहरी का आदि पद्य ही इस तथ्य की अभिव्यक्ति करता है—

शिव: शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्त: प्रभवितुं

न वेदेतं देवो न खलु कुशल: स्पन्दितु मपि।

तन्त्रशास्त्र की सर्वमान्य कल्पना है जो तन्त्र ग्रन्थों में बहुश: अभिव्यक्त है। गौडपादाचार्य ने अपनी 'सुभगोदयस्तुति' में इसे इस पद्य के द्वारा प्रकट किया है—

परोऽपि शक्तिरहित: शक्त: कर्तूं न किंचन

शक्त् स्यात् परमेशानि शक्त्या युक्तो भवेद यदि॥

(लक्ष्मीधर व्याख्या में उद्धृत् प्र० 29)

यह शक्ति शिव के साथ सहस्रार पद्म में निवास करती हैं। मूलाधार में भी दोनों का नृत्य होता है जिससे जगत् की सृष्टि होती है। शंकर ने षड्चक्रों के रूप तथ भेदन प्रकार काभी विशाद वर्णन किया है तथा श्री चक्र के स्वरूप का भी श्लोक 11)। शक्तिवाद का यह सिद्धान्त आचार्य द्वारा उनके अन्य ग्रन्थों में भी वर्णित है ब्रह्मरूप के भाष्य में आचार्य का कथन है—

न हि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिध्यति। शक्ति रहितस्य तस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। (दृष्टव्य 1।4। 3 का भाष्य)

ब्रह्म की विविधरूपिणी शक्ति के कारण ही सृष्टि में विभिन्नता दीखती है, एकस्यापि ब्रह्मणो विचित्र शक्तियोगात् क्षीरादिवत् विचित्र परिणाम उपपद्यते (ब्रह्म सूत्र भाष्य 2/2/24)

शाक्तिमतानुसार शिव ही अपनी शक्ति के द्वारा विश्वरूप हो जाते हैं। दुसरे शब्द में में शिव अपनी अपरिच्छिन्न सत्ता को त्याग कर परिच्छिन्न जीव बन जाते हैं और इस प्रकार संसार के सुख दु:खों का उपयोग करते हैं वस्तुत: शिव को जीव रूप में भोग के लिए जिन उपकरणों की आवश्यता होती है-शरीर इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा अहंकार की इन रूपों के भगवती स्वयं शक्ति ही प्रकट हो जाती हैं। शंकर इसका विवेचन इस पद्य में करते हैं—

मन स्त्वं व्योम त्वं मरुदसि मरुत्सारथि रसि

त्वमाप: त्वं भूमि स्त्वयि परिणतायाँ न हि परम्।

त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्वप्रसा
चिदानन्दनाकारं शिवयुवति भावने विश्र से ॥

(सौन्दर्य लहरी-35)

तथ्य तो यह है कि आचार्य शंकर की दृष्टि में विश्व का कारणभूत 'ब्रह्म' निहसंदेह शक्ति से अभिन्त है और शक्ति भी कारणभूत ब्रह्म से भिन्न नहीं है, क्योंकि अन्ततोगत्वा कारण शक्ति तथा कार्य एक ही है। शंकर का कथन है- कारणभूता शक्तिः शत्केश्च आत्मभूतं कार्यम् श्वेताश्वनर उपनिषद् ईश्वर का कोई लिंग जाति (या जाति) नहीं बतलाती। नैव स्त्रीन प्रभानेषः (5/10) किन्तु फिर भी वह पुरुष भी हो सकता है, स्त्री भी हो सकता है, कुमार तथा कुमारी भी—

त्वं स्त्री त्वं प्रमोनसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ॥

(श्वेता 4।3)

इसी विचारधारा को शंकराचार्य ने अपने ललितात्रिशतीभाष्य में भी विशद रीति से प्रतिपादित किया है—

चकारः निर्गुणब्रह्मणो ऽपि सगुण ब्रह्म विशेषण सद्भाव समुच्चय परः सर्वत्रापि द्रष्टव्यः। 'सच्चिन्मयः शिवः साक्षात् तस्यानन्दमयी शिवा' इति वचनेन 'स्त्रीरूपाचिन्तयेद् देवी पुरषामथवेश्वरीम्'। अतएव 'सेयं देवतेक्षत (छान्दोग्य 6।3।2) इत्यादो, त्वं वा स्त्री त्वं प्रकार इति श्वेत० (4।3) उपाधिकृत नानारूप सम्भवोक्तेश्च। अतएव 'सेयं देवता ऐक्षत' इत्यादौ 'तत् सत्यं स आत्मा इत्यन्ते च श्रुतौ स्त्रीलिगंन्ति देवतादि पादानां, तत् सत्यमिति नपुंसकान्तस्य, 'स आत्मा' इति पुल्लिगात्म शब्दस्य एकार्थ त्वम्। अविवक्षितोपाधिसत्वया तत्त्वं परलक्ष्यार्थस्य एकत्वात्। तस्मात् तत्त्वं लक्ष्यार्थं सर्वेऽपि गुणा वर्णयितुं सम्भवन्तीति अस्यं त्रिशत्यां हयग्रीवेण बहवः चकारः उपात्ताः।

शंकराचार्य के उद्धरण से स्पष्ट है कि वे परब्रह्म को द्वैवता शब्द द्वारा स्त्रीलिंग, 'तत् सत्यं के द्वार नपुंसक तथा सं आत्मा के द्वारा पुलिंग मानने की शास्त्रीय मान्यता से पूर्ण परिचित थे और इसलिए उनकी दृष्टि में परब्रह्म को शक्ति शास्त्र के द्वारा तन्त्रों में अभिव्यक्त किया जाना कथमपिअनुचित नहीं है। वे सौन्दर्यलहरी (पद्य 99) में कहते है आगमवेत्ता परम्पराओं ब्रह्मा की पत्नी, हरि की माया तथा हर की सहचरी भले ही मानें, परन्तु तुम्हारी तुरीया रुप इन सबसे विलक्षण है। तुम परब्रह्म की महिषी हो तथा शुद्ध विद्या के अन्तर्गत तुम महामाया हो। परब्रह्म तथा महामाया का एक ही है।

'समया' का अर्थ

आचार्य पराशक्ति के लिए 'समया' शब्द का तथा परमशिव के लिए 'समय' अभिधान का प्रयोग करते हैं। सौन्दर्य लहरी के 39वें पद्य में उनका कथन ध्यान देने योग्य है।

तवाधारे मूले सह समयया लास्यपरया
नवात्मानं मन्ये नवरसं महाताण्डव नटम्
उभाभ्यामेताभ्याम् उदयविधिमुद्दिश्य दयया
सनाथाभ्यां जहो जनक-जननी मज्जगदिदम् ॥

मूलाधारक समया अपना कमनीय लास्य दिखलाती है, तो भगवान् शंकर नवरसों से सम्पन्न महाताण्डव नृत्य का प्रदर्शन करते हैं। इस नृत्य से सृष्टि होती है जिससे माता-पिता वाले जगत् का सद्यः सर्जन होता है। इस श्लोकार्थ को ध्यान रखने पर 'समया' नाम की व्युत्पत्ति सद्यः स्फुरित होती है। यह 'समय' शब्द कालवाचक नहीं है, प्रत्युत अपनी व्युत्पत्ति से साम्य को धारण कर्त्री का अर्थ विद्योतित करता है। शम्भुना साम्यं यातीति

समया। शिव के साथ शक्ति का साम्य होता है और शक्ति के साथ शिव का साम्य होता है। फलतः दोनों का समसाम्य है। यह साम्य पंचविध है—(1) **अधिष्ठान साम्य** (एक ही आधार में साम्य, दोनों में मूल आधार में स्थिति होने से यह साम्य विद्यमान है); (2) **अनुष्ठान साम्य** (उत्पादन कार्य में दोनों के संलग्न होने से यह साम्य है); (3) **अवस्थान साम्य** (दोनों की स्थिति एक प्रकार है, क्योंकि एक ही नृत्य कार्य दोनों द्वारा सम्पन्न होता है); (4) **रूपसाम्य** (दोनों जपाकुसुम के समान अरुण वर्ण है। तथा में वर्णित है—

जपा कुसुम संकाशौ मदघूर्णितलोचनौ।
जगतः पितरौ बन्दे भैरवी भैरवात्मकौ॥

(7) **नाम साम्य** (नाम की समता है—एक का नाम है 'समय', तो दूसरे का नाम है 'समया'।)

इस पंचविध साम्य की स्थिति शिव शक्ति में निरन्तर विद्यमान है। सोलह आना रूप में दोनों आठ-आठ आना हैं, न कोई इससे अधिक है और न कम है। इसीलिए वे समय और समया संज्ञाओं से अभिहित किये जाते हैं।

समयाचार

शाक्ततंत्रों में दो प्रकार का आचार होता है। एक का नाम है समयाचार, तो दूसरे का कुलाचार। प्रथम उपासक 'समयी' कहलाते हैं तो दूसरे कौल। दोनों के आचारों में अन्तर है। कौलों की पूजा बहिर्पूजा होती है, तो समयामार्गियों का अन्तर पूजा। समयमार्गियों की सट् चक्र की पूजा नियता नहीं है, वे सहस्रकमल में ही पूजा करते हैं। सहस्रकमल पूजा एक बहुत ही रहस्यमयी पूजा है। (द्रष्टव्य सौन्दर्य लहरी का 119 पृ० पर लक्ष्मीधर की व्याख्या)। लक्ष्मीधर का कथन है कि हृदयकमल में भगवती की आराधना से समस्त ऐहिक फूलों की प्राप्ति होती है। होम, तर्पण आदि समस्त पूजा हृदयकमल में ही करनी चाहिए। फलतः समयमार्ग में आन्तर पूजा से ही ऐहिक (लौकिक) एवं आमुत्मिक (पारलौकिक) फलों की प्राप्ति होती है। अतः वह सर्वदा अनुष्ठेय है। कौल मत में बाह्य पूजा का विधान है जिसमें षोडशोपचार के द्वारा बाहर विशेष रूप से पूजा सम्पन्न की जाती है, परन्तु समयीमत में बाह्य पूजा का सर्वथा अभाव होता है। कौलमत 64 तथ्यों के द्वारा प्रतिपादित है और लक्ष्मीधर की सम्मति में अवैदिक है जिसमें शुद्रा का भी अधिकार है। (द्रष्टव्य सौन्दर्य लहरी का चतुःषष्टया श्लोक)।

त्रिपुरा

शंकराचार्य के द्वारा आराध्य भगवती का नाम 'त्रिपुरा' भी है जो ललिता, त्रिपुर सुन्दरी, षोडशी नामों से भी प्रख्यात हैं। दशमहाविद्याओं में प्रथम तीन का अतिशय महत्त्व है और वे हैं—काली, तारा तथा षोडशी। 'त्रिपुरा' नाम की तन्त्र ग्रन्थों में अनेक तात्पर्य बतलाये गये हैं। कामराज विद्या की अधिष्ठात्री 'श्रीविद्या' का ही नामान्तर 'त्रिपुरा' है त्रिपुरा का अर्थ है—(1) त्रि (तीन मूर्तियों में) पुरा (पुरातन) अर्थात् गुणमयातीता त्रिगुणनियन्त्री शक्ति। त्रिपुरार्णव में इस शब्द की निरुक्ति है—मत, बुद्धि तथा चित्त रूपी तीन पुरों में निवास करने वाली शक्ति। त्रिमूर्ति (—ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश) की जननी होने से, त्रयीमयी (वेदत्रयी) होने से, महाप्रलय में त्रिलोकों को अपने में लीन करने से जगदम्बा त्रिपुरा नाम से पुकारी जाती हैं। वामकेश्वर तन्त्र में त्रिपुरा का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है—ब्रह्मा, विष्णु तथा ईशरूपिणी श्रीविद्या के ही ज्ञान शक्ति, क्रिया शक्ति तथा इच्छा शक्ति—ये तीन स्वरूप हैं। इच्छा शक्ति उसका शिरोभाग है, ज्ञान शक्ति मध्य भाग है और क्रिया शक्ति अधो भाग है। इस प्रकार उसका शक्तिमयात्मक रूप होने से ही वह जगदम्बा 'त्रिपुरा' कही जाती हैं। त्रिपुराम्बा आत्मशक्ति हैं। श्रीविद्या ही चिच्छक्ति है। यथार्थ रूप से वेद तथा तन्त्र श्रीविद्या के वास्तव स्वरूप

का वर्णन नहीं कर सकते। यही आत्मशक्ति रूपिणी श्रीविद्या जब लीला से शरीर धारण करती है, तब वेद शास्त्र उसका निरूपण करने लगते हैं। अखिल प्रमाणों की प्रमात्री वही शक्ति 'चिच्छक्ति' नाम से व्यवहृत की जाती है।

'त्रिपुरा' नामकरण के लिए ऊपर जो कारण बतलाये गये हैं, उन सबका एकत्र वर्णन शंकराचार्य के 'प्रपंचसार' के अष्टम पटल के द्वितीय पद्य में किया गया है—

त्रिमूर्तिसर्गाच्च पुराभवत्वात् त्रयीमय त्वाच्च पुरैव देव्याः।
लये त्रिलोक्या अपि पूरणत्वात् प्रायोऽम्बिकाया स्त्रिपुरेति नाम॥

एक स्तुतिमय पद्य में भी इस तत्त्व को दुहराया गया है—

त्रिमुखि त्रयीस्वरूपं त्रिपुरे त्रिदशाभिवन्दितांङ्घ्रियुगे
त्रीक्षण विलसित वक्त्रे त्रिमूर्तिमूलात्मिके प्रसीद मम
—प्रपंच सार 8/73

त्रिपुर सुन्दरी विद्या (अथवा पंचदशाक्षरी विद्या)

त्रिपुर सुन्दरी की इस पंचदशाक्षरी विद्या का उद्धार शंकराचार्य ने सौन्दर्य सुन्दरी के 32वें पद्य के द्वारा किया है—

शिवः शक्तिः कामः क्षितिरथ रविः शीतकिरणः
स्मरो हंसः शक्रस्तदनु च परामार हरयः।
अमी हृल्लेखाभिस्त्रिसृभिरवसानेषु घटिताः
भजन्ते वर्णास्ते तव जननि नामावयवताम्॥

यह विद्या अत्यन्त रहस्यमयी मानी जाती है। सोम, सूर्य, अनिलात्मक त्रिखण्ड यह मातृकामना कहा जाता है। ये खण्ड अक्षर रूपों में इस प्रकार हैं—

प्रथम **खण्ड**—क, ए, ई, ल, ह्रीं
द्वितीय खण्ड—ह, स, क, ह, ल, ह्रीं
तृतीय **खण्ड**—स, क, ल, ह्रीं
चौथा **खण्ड**—श्रीं

इस श्लोक की व्याख्या में लक्ष्मीधर का कथन है कि प्रथम वर्णचतुष्टय आग्नेय खण्ड है, द्वितीय वर्णपंचक सौर खण्ड है। दोनों खण्डों के बीच में रुद्र ग्रन्थ स्थानीय हृल्लेखा बीज है। तृतीय खण्ड का निरूपण वर्णत्रयी द्वारा किया गया है यह सौम्य खण्ड है। सौर तथा सौम्य खण्डों की बीच में विष्णु ग्रन्थि स्थानीय भुवनेश्वर बीज स्थापित है। चौथा एकाक्षर चन्द्रकला खण्ड है। सौम्य खण्ड तथा चन्द्रकला खण्ड के मध्य में ब्रह्मग्रन्थि स्थानीय हृल्लेखा बीज है। श्रीं—यह षोडशी कला है। इसी बीज को श्रीविद्या कहते हैं। लक्ष्मीधर इसे गुरुपदेशादवगन्तव्यं कहा है। आद्य तीनों खण्ड ज्ञान, इच्छा और क्रिया, जागृत, स्वप्न, सुषुक्ति; विश्व, तैजस, प्राज्ञ; तम, रज और सत्त्व हैं। इन त्रिखण्डों में भी त्रिमात्र समझनी चाहिए। यह अवरोह क्रम से जानना चाहिए। (द्रष्टव्य सौन्दर्यलहरी व्याख्या पृ० 81-82)।

"त्रिपुर सुन्दरी महिम्नास्तव"—नाम से क्रोधभट्टारक देशिकेन्द्र दुर्वासा के द्वारा विरचित तान्त्रिक प्रमेय बहुला स्तुति तन्त्रशास्त्रमे बहुत प्रसिद्ध है। यही त्रिपुरामहिम्नस्तव तथा शक्ति महिम्नास्तव नाम से भी विख्यात है। श्रीविद्या के प्रवर्तक द्वादशशिष्यों में दुर्वासा अन्यतम हैं। इन शिष्यों के नाम इस प्रकार हैं—

मनुश्चन्द्रः कुबेरश्च लोपामुद्रा च मन्मथः।
अगस्ति रग्निः सूर्यश्च इन्द्रः स्कन्दः शिवस्तथा।
क्रोधभट्टारको देव्या द्वादशामी उपासकाः ॥

इनमें प्रत्येक का पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय था। इनके चतुर्थ (लोपामुद्रा) एवं पंचक (मन्मथ—कामदेव) के ही दो सम्प्रदाय इस समय प्रचलित हैं। कामराजविद्या ककारादि पंचदशवर्णात्मक है। इसे ही **कादि विद्या** कहते हैं। इसका स्वरूप ऊपर दिखलाया गया है। लोपामुद्र ही **हादि विद्या** है। यह भी पंचदशवर्णात्मिका है। काकेश्वरांकित कामेश्वरी की पूजा को कादि, हादि दोनों विद्याओं से युक्त नाम कथा की योजना सत् सम्प्रदायों में प्रचलित है। अन्य दस विद्याएँ केवल आम्नाय पाठक ही उल्लिखित है। प्रचलित उपासना में इनका उपयोग नहीं है।

कामदेव के त्रिपुरा के प्रभावशाली शिष्य होने का उल्लेख शंकराचार्य ने सौन्दर्यलहरी में दो सार (श्लोक 1 तथा 5) दिया है। कामदेव अनंग है—अंगों से विरतित है। अतः बाण मारने में नितान्त दुर्बल है। मानवों तथा देवों से युद्ध में उसके साधनयी कृपामयी नितान्त शक्तिहीन हैं, परन्तु भगवती को नयन कोणों की केवल एक झलक पाकर वह महामुनियों को भी—समस्त जगत को अपने वश में लाने में सद्यः समर्थ होता है—

धनुः पौष्पं, मौर्वी मधुकरमयी, पंच विशिखाः
वसन्तः सामन्तो, मलयमरुदामोधक रथः।
तथाप्येकः सर्वं हिमगिरिसुते ! कामपि कृपाम्
अपांङ्त्ते लब्ध्वा जगदिदमनङ्त्ते विजयते ॥
(सौन्दर्य लहरी, पद्य 5)

फलतः कामदेव त्रिपुर सुन्दरी का बड़ा ही भक्त तथा समर्थ उपासक है। इसलिए उसका तन्त्र सम्प्रदाय आदर की दृष्टि से देखा जाता है। लक्ष्मीधर ने इसीलिए कहा है—मन्मथस्य अनङ्गविद्यायां मन्मथप्रस्तारस्य ऋषित्वात् तदायत्त मति प्रागल्भ्यम् 'धनुःपौष्पमिति।

देशिकेन्द्र **दुर्वासा** की रचना चातुरी उनके दोनों स्रोतों में नितान्त आकर्षक तथा मोहक है। ये दोनों स्रोत—शक्ति महिम्नस्तव[1] (58 पद्य) एवं (13 प्रकरणों में विभक्त 141 पद्य)

परशिवेमहिम्नस्तव—उनके तान्त्रिक रहस्योद्घाटन नैपुण्य के सद्यः उद्घाटक तथा प्रकाशक हैं। दोनों में एक-एक पद्य यहाँ इस नैपुण्य के समर्थन में उद्धृत किये जाते हैं—

त्रिपुरा स्तुतिः

श्रीमात स्त्रिपुरे परात्परतरे देवि त्रिलोकी महा—
सौन्दयार्णव—मन्मथोद्भव सुधा—प्राचुर्यवर्णोज्ज्वलम्
उद्यद्भानु सहस्र—नूतन जपा—पुष्पप्रभं ते वपुः
स्वान्ते मे स्फुरतु त्रिलोकनिलयं ज्योतिर्मयं वाङ्मयम् ॥
—आदिम पद्य

1. द्रष्टव्य डा० शिवशंकर अवस्थी: मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य पृष्ठ 211-240। चौखम्भा प्रकाशन, काशी, सन् 1966।

परशिव स्तुतिः

शब्दार्थाधारभूतं त्रिभुवनं जनकं सर्वतो दिक्सतत्त्वं
त्रैलोक्यस्थापि लिंगत्रयविदितपदं सर्वतत्त्वैकवेद्यम् ।
सर्वानिर्वाच्य सत्तागत—परविभव ज्योतिरुज्जृम्भमाणं
व्यक्तीकृत्यात्मर्ग्योः प्रकटयसि परं तत्त्वमात्मीयमग्रे ॥
दशम प्रकरण—15 पद्य ।

दुर्वासा का प्रथम स्त्रोत तो प्रसिद्ध है, परन्तु शिवपरक स्त्रोत उतना प्रसिद्ध नहीं है । इसका नाम परशम्भुमहिम्नस्तव है । इसके 13 प्रकरण है जिसके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—उपोद्घात प्रकरण (पद्य 18), पराशक्तिस्कन्धरश्मि (पद्य 7), इच्छा शक्ति स्कन्ध रश्मि (प० 8), ज्ञानशक्ति स्कन्धरश्मि (प० 6), क्रियाशक्ति स्कन्ध रश्मि (प० 12), कुण्डलिनी शक्तिस्कन्ध रश्मि (6), मातृका शक्तिस्कन्धरश्मि (10), षडन्वय रश्मिविवेक स्कन्ध (5), पावकध्यानयोग (11), महाविभूति (17), अन्तर्यागोपचार परामर्श (8), विशेषोपचार परामर्श शान्ति प्रकरण (12) उपसंहार (21) । इन 13 प्रकरणों के श्लोकों की सम्मिलित संख्या 141 हैं । प्रकरणों के उपरिनिर्दिष्ट नामों से वर्ण्य विषयों का किञ्चित् परिचय मिल जाता है । अन्त में दुर्वासा ज्ञानोम तथा स्तुति इस प्रकार है—

श्री क्रोधभट्टारक दिव्यनाम्ना दुर्वाससा सूक्त महामहिम्नः
स्तोत्रं पठेद्यो भुवनाधिपत्यं नित्यं गुरुत्वं शिवतामुपैति / 16
सदसदनुग्रह विग्रह गृहीत मुनिविग्रहो भगवान
सर्वासामुपनिषदां दुर्वासा जयति देशिकः प्रथमः ॥ 18

दुर्वासा की हादिविद्या त्रयोदशाक्षरी बतलाई जाती है । इनका सम्प्रदाय सर्वांशतः लुप्तप्राय है, परन्तु लोपमुद्रा सम्प्रदाय की दशा इससे भिन्न है । यह कियदंश में आज भी प्रचलित है । लोपामुद्रा भी हादिविद्या है, परन्तु वह पञ्चदशाक्षरी 15 वर्णों की बतलाई जाती है । त्रिपुरोपनिषद्, भावनोपनिषद निश्चयेन कादिविद्या के ही ग्रन्थ हैं सम्भवतः कौलोपनिषद भी इसी विद्या से सम्बद्ध है । त्रिपुरोपनिषद्के टीकाकार भास्करराय के उपोद्घात पद्य के अनुसार यह ग्रन्थ शाङ्खायन आरण्यक के अन्तर्गत है । हादिविद्या का प्रतिपादन त्रिपुरतापिनी न उपनिषद् में है ।

लोपामुद्रा का समुदाय हादिविद्या का उपासक है । लोपामुद्रा राजकन्या थीं । इनके पिता महाराजा थे और त्रिपुर सुन्दरी के बड़े भक्त थे । लोपामुद्रा ने बालकपन में इनकी बड़ी सेवा की और प्रसन्न पिता के प्रसाद से ये भगवती की कृपापात्र बन गयीं । इनका विवाह ऋषि अगस्त्य से हुआ था । वे वैदिक ऋषि थे, परन्तु वे पहले तान्त्रिक नहीं थे । इसलिए भगवती के ध्यान में पदार्पण करने का भी उन्हें अधिकार प्राप्त नहीं हुआ था । परन्तु उन्होंने अपनी पत्नी से दीक्षा ली । तब भगवती की उपासना के अधिकारी बने उनका भी सम्प्रदाय है जो उपलब्ध नहीं होता ।

दश महाविद्याओं के नाम ये हैं—(1) काली, (2) तारा, (3) षोडशी(···श्री विद्या) (4) भुवनेश्वरी (5) भैरवी, (6) छिन्न मस्ता, (7) धूमावती, (8) बगला, (9) मातंगी तथा (10) कमली । इनके षोडशी का माहात्म्य सर्वाधिक है । श्रीविद्या तान्त्रिक दृष्टि से अभ्यर्हित हैं तथा वैदिक दृष्टि से भी वह माननीयतम है । श्रीविद्या शक्तिचक्र की सामग्री तथा ब्रह्मविद्या स्वरूप आत्मशक्ति है । यह उक्ति इनके भक्तों के लिए नितान्त विश्रुत है—

यत्रास्ति भोगो न च तत्रमोक्षो
यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः ।

श्री सुन्दरी सेवनतत्पराणां
भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव ॥

गुरुतत्व

गुरु की महिमा अवर्णनीय है। शास्त्र की दृष्टि में गुरु मानव रूप में ही देवाधिदेव का ही साक्षात् रूप प्रस्तुत करता है। गुरु केवल ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश्वर रूप में न होकर साक्षात् परब्रह्म ही होता है। अध्यात्मजगत् में भी गुरु को ज्ञानशक्ति से सम्पन्न होने की नितान्त आवश्यकता होती है। वह परोक्षज्ञान एवं अपरोक्ष ज्ञान उभयविध ज्ञान की सम्पदा से सुशोभित रहता है। परन्तु इतने ही वह व्यक्ति गुरु की महनीय पदवी प्राप्त नहीं कर सकता। उसमें ज्ञान शक्ति के साथ ही साथ इच्छाशक्ति एवं क्रिया-शक्ति का संयोग भी चाहिए। दूसरों के दुःख दूर करने की जो इच्छा है, उसे ही कृपा या 'करुणा' कहते हैं। ज्ञानी होकर भी जो व्यक्ति कृपा से विरहित होता है, वह कथमपि गुरु का अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता। 'करुणा' ही एक मात्र प्रवर्तिका होती है, परन्तु इच्छाहीन में करुणा कहाँ? ज्ञानी में केवल इच्छा से कार्य नहीं होता, यदि उसमें इस इच्छा को सफल बनाने में सामर्थ्य नहीं रहती। 'करुणा' के उदय होने पर ही बोधिसत्त्व 'बुद्ध' रूप प्राप्तकर जगत् के कल्याण में तत्पर होता है। शंकराचार्य की तान्त्रिक दृष्टि में यह गुरु 'दक्षिणामूर्ति' के नाम से व्यवहृत होता है। आचार्य का 'दक्षिणामूर्ति स्त्रोत' और सुरेश्वराचार्यकृत उस पर वार्तिक देखकर शंकराचार्य को त्रिपुरा सम्प्रदाय का आचार्य होने में कथमपि सन्देह नहीं किया जा सकता। 'दक्षिणामूर्ति' त्रिपुरा सम्प्रदाय का शब्द है। 'दक्षिणामूर्ति-संहिता' दक्षिणामूर्ति-उपनिषद् प्रभृति उस सम्प्रदाय के प्रतिपादन प्रख्यात ग्रन्थ हैं। सुतरां गुरुतत्त्व किंवा स्वात्मदेवता का दक्षिणामूर्ति के रूप में वर्णन करने से शंकर का आगमानुराग प्रमाणित होता है। स्त्रोत के प्रथम पद्य में ही आचार्य ने अपने तान्त्रिक ज्ञान की एक दिव्य झाँकी प्रस्तुत की है—

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं
पश्यन्नात्मनि मायया सहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया।
यः साक्षात् कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवद्वयं
तस्मै श्री गुरुमूर्तये नम इदं श्री दक्षिणामूर्तये ॥

श्लोक का आशय है कि ज्ञानी की दृष्टि में विश्व स्वात्मगत तथा दर्पण में प्रतिबिम्बित नगर के समान है। अर्थात् वस्तुतः यह विश्व अपने अन्तर्गत है, परन्तु माया से बहिर्वत् प्रतीत होता है। प्रबोध काल में निद्रा के तिरोहित होने पर माया के नष्ट होने पर वह पुनः अपने अद्वय आत्मस्वरूप में ही साक्षात् कृत होता है। यहां विश्व स्वीकृत होता है, परन्तु वह चिन्मय है, अपने स्वातन्त्र्यके विलास एवं आत्मभित्ति स्थित चित्ररूप में अंगीकृत है।

'दक्षिणामूर्ति' नाम का आदिपद 'दक्षिणा' बुद्धि का वाचक दक्षिणामूर्ति उपनिषद् में बतलाया गया है (उपनिषद् का 19 पद्य):—

शेमुषी दक्षिणा प्रोक्ता सा यस्याभीक्षणं मुखम्
दक्षिणाभिमुखः प्रोक्तः शिवोऽसौ ब्रह्मवादिभिः ॥

बुद्धि को दक्षिणा कहते हैं। यह बुद्धि जिसके साक्षात्कार में प्रमुख साधन हो, उस शिव को ब्रह्मवादीगण 'दक्षिणाभिमुख' अथवा दक्षिणामूर्ति नाम से पुकारते हैं।

दक्षिणामूर्ति के चार प्रकार होते हैं—(1) वीणाधरमूर्ति (चारभुजा वाली यह मूर्ति खड़ी रहती है तथा भक्तों को वीणावादन की शिक्षा देती है), (2) योगमूर्ति (ध्यानस्थमुद्रा में बैठी रहती है तथा भक्तों को अपने दर्शन से योग की शिक्षा देती है) (3) ज्ञानमूर्ति (ज्ञान की शिक्षा देने वाली); (4) व्याख्यानमूर्ति (इतरशास्त्रों के

उपदेश के निमित्त धारण की जाती है)। अन्तिम दोनों मूर्तियाँ वीरासन धारण कर ज्ञान तथा व्याख्यान की मुद्राएँ प्रदर्शित करती हुईं उपदेश देती हैं।

इन मूर्तियों की उपलब्धि दक्षिण भारत में विशेषरूप से होती है। पुरी में जगन्नाथजी के मन्दिर में वीणाधर मूर्ति प्राप्त होती है, और विष्णु कांची में योग दक्षिणामूर्ति। योगपट्ट धारण करनेवाली इस मूर्ति के चारों ओर अनेक ऋषि लोग योग की शिक्षा ग्रहण करते दिखाये गये हैं। 'दक्षिणामूर्ति उपनिषद्' (108 उपनिषदों में 51 संख्या वाला) शिवतत्त्व के उपदेष्टा गुरु के अद्वैत सिद्धान्तों का वर्णन करता है। इस देवमूर्ति की आराधना के लिए अनेक मन्त्र दिये गये हैं जिनमें "ओम् ब्रं नमः दक्षिणामूर्तये ज्ञानं देहि स्वाहा" यह अष्टादशाक्षर मन्त्र सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है। काञ्ची में विराजमान उपरिनिर्दिष्ट दक्षिणामूर्ति का निर्माण उक्त उपनिषद् के इस अष्टम पद्य के आधार पर किया गया प्रतीत होता है :—

> भस्मन्यापाण्डुराङ्गः शशिशकलधरो ज्ञानमुद्राक्षमाला—
> वीणापुस्तैर्विराजत्—कर कमलधरो योगपट्टाभिरामः।
> व्याख्यापीठे निषण्णो मुनिवरनिकरैः सेव्यमानः प्रसन्नः
> सव्यालः कृत्तिवासाः सततं भवतुनो दक्षिणामूर्तिरीशः॥

दक्षिणामूर्ति शंकर का व्याख्यान शब्दों के माध्यम से नहीं होता, प्रत्युत यह मौन व्याख्यान है। व्यासपीठ पर विराजमान गुरु को शब्दों के माध्यम से उपदेश देने की आवश्यकता नहीं होती, प्रत्युत उनके दर्शनमात्र से ही शिष्यों के हृदयस्थ सन्देह छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। अद्वैत तत्त्व की शिक्षा देने वाले सच्चे गुरु के विषय में यह प्राचीन सूक्ति अक्षरशः सत्य है—

> गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तुच्छिन्न संशयाः।

शंकराचार्य ने अद्वैत की शिक्षा के लिए इसी आदर्श का संकेत आपके शारीरकभाष्य में किया है। आचार्य बतलाते हैं कि किसी प्राचीनकाल में बाध्वऋषि ब्रह्मोपदेश के लिए गुरु के पास गये। गुरु पूर्णतः मौन धारण किये रहे—एक शब्द भी नहीं बोले। बाध्व ने तीन बार प्रश्न किया और तीनों बार एक ही अशब्द उत्तर था—सम्पूर्ण मौनावलम्बन। पुनः पूछे जाने पर गुरु ने अपना मौन तोड़ा और कहा कि मैं व्यवहारतः आपके प्रश्न का उत्तर दे रहा हूँ, परन्तु आप समझते ही नहीं। उपशान्तोऽयमात्मा आत्मा शान्त स्वरूप है। यह तथ्य मैं अपने मौनाचरण से बतला रहा हूँ ब्रह्म के उपदेश के लिए शब्दों का माध्यम अकिञ्चित्कर है। ठीक ही है—

> यन्मौन्याख्यया मौनि पटलक्षणमात्रतः।
> महामौनपदं याति सहि मे परमा गतिः॥

मधुरेण समापयेत्

आचार्य शंकर की यह लोकातीत प्रतिमासम्पन्न सौन्दर्यलहरी आध्यात्मिक तान्त्रिक तथ्यों तथा साहित्यिक मनोरम कल्पनाओं का इतना मंजुल सामरस्य प्रस्तुत करती है कि दर्शन तथा साहित्य उभय का रसिक पाठक आनन्द से विभोर हो जाता है। साहित्यलहरी अपने एक पद्य में भगवती के स्तन्यपान कराने पर जो द्रविडशिशु (कवीनां प्रौढानामजनि कमनीयःकवयिता) प्रौढ कवियों में कमनीय कवयिता बन जाता है, वह आचार्य शंकर से अभिन्न ही है। आचार्य शंकर की चमत्कारी प्रतिभा की प्रभा प्रति श्लोक में दिखती है। एक दो द्रष्टान्त का आस्वाद कीजिये। भगवती ललिताम्बा की माँग (सीमन्त) लाल लाल सिन्दूर से भरी हुई है। माँग उनके मुख की सुन्दरता के प्रवाह का मार्ग प्रतीत होती है। काले-काले केशकलाप के द्वारा वेष्टित यह सिन्दूर प्रवाह प्रतीत

होता है, प्रातःकालीन सूर्यकिरणों का पुंज है जिसे काले केश रूपी अन्धकार शत्रुओं ने कारागार में बन्द कर रखा है :—

तनोतु क्षेमं नस्तव वदन सौन्दर्यलहरी—
परीवाहस्रोतः सरणिरिव सीमन्त सरणिः।
वहन्ती सिन्दूरं प्रबलकवरीभारतिमिर—
द्विषां वृन्दैर्वन्दीकृतमिव नवीनार्ककिरणम् ॥ 44 ॥

त्रिपुर सुन्दरी की दृष्टि के पात से भक्त एक विचित्र पुण्य संगम में स्नान कर पवित्र हो कर अपने को कृतार्थ करता है। पराम्बा के नेत्र की ललिमा सोननद है, श्वेत रंग गंगा है तथा श्यामरुचि यमुना है। वह पवित्र संगम के द्वारा समस्त भक्तों को पवित्र करती हैं—

पवित्रीकर्तुं नः पशुपति पति पराधीनहृदये
दयामित्रैर्नेत्रैररुणा-धवल-श्याम-रुचिभिः।
नदः शोणो गङ्गा तपनतनयेति ध्रुवममुं
त्रयाणांतीर्थानांमुपनयसि सम्भेदमनघम् ॥

अन्त में **मीनाक्षी** से यह सुभग प्रार्थना है—

शब्द ब्रह्ममयी चराचरमयी ज्योतिर्मयी वाङ्मयी
नित्यानन्दमयी निरञ्जनमयी तत्त्वंमयी चिन्मयी।
तत्त्वातीतमयी परात्परमयी मायामयी श्रीमयी—
सर्वैश्वर्यमयी सदाशिवमयी मां पाहि मीनाम्बिके ॥

तथास्तु।

ब्रह्मसूत्रका शांकर भाष्य और उसका वर्चस्व

अभिनवभरत आचार्य पण्डित सीताराम जी चतुर्वेदी

महर्षि पराशरके सुविख्यात सुपुत्र महर्षिकृष्ण द्वैपायनव्यासके विषय में महाभारतके स्वर्गारोहणपर्व (5/31-33) में कहा गया है कि वे सर्वज्ञ, सत्यवादी, सांख्य, योग तथा धर्मशास्त्रके ज्ञाता और दिव्यदृष्टि सम्पन्न थे। अपनी असामान्यप्रतिभा, क्रान्तिदर्शी दृष्टि, वैराग्यपूर्ण जीवन और अगाध विद्वताके कारण वे भारतके ही नहीं संसारके अद्वितीय महापुरुष थे। इसीलिए पौराणिक-साहित्यमें उन्हें केवल ऋषि या महर्षि ही नहीं, साक्षात् देवता बताया गया है। वायु, कूर्म और गरुड़पुराणोंमें इन्हें विष्णुका अवतार, कूर्म पुराणोंमें शिवका अवतार, वायु और ब्रह्माण्डपुराणमें ब्रह्माका अवतार और लिंगपुराणमें इन्हें ब्रह्माके पुत्र का अवतार बताया गया है। व्यासजी केवल महाभारतके ही प्रणेता नहीं थे, उन्होंने देश, काल और परिस्थितिके अनुसार वैदिक सनातनधर्मके समस्त धर्म-तत्वोंको नवीन शैलीमें प्रतिपादित किया था। इसीलिये महाभारतमें युधिष्ठिर ने उन्हें भगवान् कहकर स्मरण किया है—

भगवानेव नो मान्यो भगवानेव नो गुरुः।
भगवानस्य राज्यस्य कुलस्य च परायणम्॥

—महाभारत आश्रमवासिक पर्व

भगवान्का लक्षण बताते हुए कहा गया है—

उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव भूतानामगतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥

[जो संसारके उत्पन्न होने, प्रलय होने, जीवों की अच्छी और बुरी गति तथा विद्या और अविद्याको जानता हो उसे ही भगवान् कहा जाता है।] ये सब लक्षण व्यासजीमें पूर्णतः विद्यमान थे।

सामविधान ब्राह्मणमें इन पाराशर्य व्यासको विष्वक्सेन नामके आचार्यका शिष्य बताया गया है। तैत्तिरीय अरण्यकमें भी महाभारतके रचयिताके रूपमें व्यासका उल्लेख प्राप्त होता है। महाभारत और पुराणोंमें इन्हें महर्षि पराशर और सत्यवती (काली) का पुत्र बताया गया है। इनका जन्म यमुनाके द्वीपमें वैशाखकी पूर्णिमा को हुआ था इसलिये ये द्वैपायन कहलाते थे (महाभारत आदिपर्व (54/2)। कुछ ग्रन्थोंमें इनकी माताका नाम 'काली' होने के कारण इन्हें कृष्ण बताया गया है; किन्तु भागवतमें काले या साँवले रंग का होनेके कारण ही इनका कृष्ण नाम निर्दिष्ट हुआ है। जन्म लेते ही ये तप करने बदरिकाश्रम चले गये इसलिये इन्हें बादरायण करते हैं।

इन्होंने सारे वेदोंको फिरसे क्रमबद्ध किया था इसलिए इनका नाम व्यास पड़ गया—

विव्यास वेदान् यस्मात्स तस्माद् व्यास इति स्मृतः।

(महाभारत आदिपर्व 57/73)

वायुपुराणमें इन्हें पुराण-प्रवक्ता कहा गया है क्योंकि इन्होंने अट्ठारहों पुराणोंकी रचना भी की थी। इन्होंने अत्यन्त कठोर और अप्रतिम तपस्या करके अगणित सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थीं। इन सिद्धियोंके कारण ही वे भूत, वर्तमान और भविष्यकालोंसे कही गई कोई भी बात जान लेते थे और कहींपर होनेवाली किसी भी कालकी कोई भी घटना प्रत्यक्ष देख ले सकते थे (महाभारत आश्रमवासिक पर्व 37/16)

इसी पर्व में उन्होंने स्वयं अपनी तपस्या के प्रभावके विषयमें कहा है—

पश्यन्तु तपसो वीर्यमद्य मे चिरसंभृतम्।
तदुच्यतां महाबाहो कं कामं प्रदिशमि ते॥
प्रवणोऽस्मि वरं दातुं पश्य मे तपसो बलम्।

—महाभारत आश्रमवासिक पर्व (36।20-21)

[मैंने जो बहुत दिनों तक तप करके शक्ति पाई है उसे देख लो। बताओ, मैं तुम्हारी कौनसी इच्छा पूरी करूँ? मेरे तपका यह बल देख लो कि मैं तुम्हें कोई भी वर देनेमें समर्थ हूँ।]

ये कितने वर्षों तक विद्यमान रहे यह इसी बातसे स्पष्ट हैं कि शान्तनु, विचित्रवीर्य, धृतराष्ट्र अभिमन्यु, परीक्षित, जनमेजय और शतानीक इन आठ पीढ़ियोंके राजाओंके साथ व्यासके संपर्कका इतिहास प्राप्त होता है। इतना ही नहीं, कुछ ग्रन्थोंमें इन्हें चिरंजीवी भी बताया गया है—

अश्वत्थामा बलिव्यासो हनूमांश्च विभीषणः।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः।
मार्कण्डेयाष्टमो।

[अश्वत्थामा, बलि, हनुमान, विभीषण, कृपाचार्य, परशुराम और मार्कण्डेय ये आठ चिरजीवी हैं।]

हिमालयपर्वतमें बदरिकाश्रमके पास अलकनन्दी-सरस्वती नदियोंके संगमपर शम्याप्रास तीर्थके पास इनका आश्रम था जहाँ इन्होंने तपस्या भी की थी और सुमन्तु, वैशम्पायन, जैमिनि और पैल आदि आचार्योंको वेदोंकी शिक्षा भी दी थी। इसी आश्रममें रहकर उन्होंने वेदके प्रसार-प्रचारके नियम भी निर्धारित किये थे। (महाभारत शान्तिपर्व ३१४)

वेदके विस्तार तथा महाभारत और पुराणोंकी रचनाके अतिरिक्त इनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र है। जैमिनि सूत्रमें बदरके पुत्र बादरायणको ही ब्रह्मसूत्रकी रचनाका श्रेय दिया गया है और उन्हें कृष्णद्वैपायनसे भिन्न माना गया है; किन्तु भागवत, (3/5/19) में कृष्णद्वैपायन और बादरायणव्याण एक ही व्यक्ति माने गए हैं। नैष्कर्म्य सिद्धि ग्रन्थ (1/90) में यह स्पष्ट निर्देश किया गया है कि ब्रह्मसूत्रकी मूल रचना तो जैमिनिने की; किन्तु उसका संस्कार और परिष्कार बादरायणने किया द्रमिडाचार्यने अपने श्रीभाष्य श्रौतप्रकाशिका नामक ग्रन्थमें पहले जैमिनिको प्रणाम किया है फिर बादरायणको। सामविधान ब्राह्मणमें जो आचार्योंकी तालिका प्राप्त है उसमें बादरायण और कृष्णद्वैपायन दो स्वतंत्र भिन्न व्यक्ति माने गए हैं और इन दोनोंमें चार पीढ़ियोंका अन्तर भी बताया गया है। आपस्तम्ब श्रौत सूत्रके अनुसार (24।8-10) बादरायण तो आंगिरस कुलके थे और पाराशर्य व्यास वशिष्ठ कुलके थे। संपूर्ण विश्व-साहित्यमें ऐसा अप्रतिम मेधावी ग्रन्थकर्त्ता दूसरा कोई हुआ नहीं जिसने जिसने इतने बड़े-बड़े ग्रन्थोंका अत्यन्त प्रामाणिकताके साथ अकेले प्रणयन कर डाला हो। केवल महाभारतके सम्बन्धमें उन्होंने स्वयं कहा है—

धर्मे अर्थे च कामे च मोक्षे च पुरुषर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्र चित्॥

(धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके सम्बन्धमें जो कुछ है सब महाभारतमें कह दिया गया है और जो इसमें नहीं है वह कहीं नहीं है।) इससे बढ़कर अत्यन्त व्यापक और गहन पाण्डित्य का दूसरा क्या प्रमाण हो

सकता है ?

बादरायणव्यास ने जिस ब्रह्मसूत्रकी रचना की उसे उत्तर मीमांसा, बादरायणसूत्र, ब्रह्ममीमांसा, वेदान्तसूत्र, व्याससूत्र और शारीरकसूत्र भी कहते इस ग्रन्थमें बृहदारण्यक, छान्दोग्य, कौषीतकि, ऐतरेय, मुण्डक, प्रश्न, श्वेताश्वतर, जाबाल और अप्राप्य आथर्वणिक आदि उपनिषदोंके वाक्योंपर विस्तारसे विचार किया गया है। इस सूत्रग्रन्थमें निम्नांकित आचार्योंका नामोल्लेख करते हुए उनके मत भी दे दिए गए हैं—आत्रेय, आश्मरथ्य, औडुलेमि, काशकृत्स्न, कार्ष्णाजिनि, जैमिनि और बादरि। इनमेंसे चार सूत्रोंमें बादरिका, तीन सूत्रोंमें औडुलोमिका, दो सूत्रोंमें आश्मरथ्यका और शेष आचार्योंका एक-एक सूत्रमें निर्देश किया गया है। स्वयं बादारायणने अपने मत आठ सूत्रोंमें दिए हैं। इससे भी यह सिद्ध होता है कि दर्शनसंबंधी कोई ऐसा दार्शनिक मत, संप्रदाय या ग्रन्थ नहीं बचा था था जो उनकी दृष्टि से छूट गया हो।

इन सूत्रों का मुख्य उद्देश्य यही है कि उपनिषदों में जो तत्त्वज्ञान भरा हुआ है उसे समन्वित रूपमें प्रस्तुत कर दिया जाए। इतना ही नहीं; महाभारत, मनुस्मृति तथा श्रीमद्भगवद्गीतामें भी जो तत्त्वज्ञान भरा हुआ है उसे दृष्टिमें रखकर भी कुछ सूत्रोंकी रचना की गई है। ब्रह्मसूत्रके कुछ सूत्र तो ऐसे दुरूह हैं कि भाष्यग्रन्थोंकी सहायता के बिना उनका अर्थ निकाल पाना बहुत कठिन है; यहां तक कि कुछ सूत्र तो ऐसे हैं जिनके स्वयं शंकराचार्यजीने दो-दो अर्थ बताये हैं (1।1।12-19, 31, 3।27, 4।3, 2।2।39-40) कुछ सूत्र ऐसे भी हैं जो शांकरभाष्यमें छोड़ दिए गए हैं; किन्तु इस विषयमें रामानुजाचार्यजी सावधान रहे हैं। अपने श्रीभाष्यमें उन्होंने एक भी सूत्र बिना भाष्य किए नहीं छोड़ा। ब्रह्मसूत्रकी रचना इस शैलीसे की गई है कि पहले पूर्वपक्ष स्थापित करके उसके पश्चात् सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है; किन्तु कभी-कभी प्रतिलोमपद्धतिका भी आश्रय लेकर, पहले सिद्धान्त देकर, पीछे पूर्व पक्ष दिया गया है (4।3।7-11)।

इस ब्रह्मसूत्रमें केवल चार अध्याय, सोलह पाद, एकसौ बानवे अधिकरण और पांचसौ पचपन सूत्र हैं। इन सूत्रोंमें अत्यन्त संक्षिप्त रूपसे परब्रह्मका स्वरूप उसे प्राप्त करनेके साधन और उसे प्राप्त करनेके पश्चात् उसका क्या फल मिलता है, सबका विवेचन किया गया है। सूत्ररूपमें यह सब विवेचन करनेके कारण ही इसका नाम ब्रह्मसूत्र पड़ा है। सूत्रकी परिभाषा यह दी गई है—

स्वल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्य च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

[जहाँ थोड़े अक्षरोंमें निश्चित सारपूर्ण बात निर्दोष तथा निर्बोध ढंगसे बता दी गई हो उसे सूत्र कहा जाता है।] यह लक्षण पूर्णरूपसे इसपर घटता भी है। इसे वेदान्तदर्शन इसलिए कहते हैं कि वेदका सर्वोच्च अन्तिम ज्ञातव्य ज्ञान इसमें सन्निहित है। स्वयं शंकराचार्यजी ने कहा भी है कि जैसे—"डोरे में फूल गूंथकर सुहावनी शोभनीय) माला बना ली जाती है वैसे ही वेदान्तके वाक्यरूपी फूलोंको इन सूत्ररूपी डोरेमें गूंथकर यह ब्र ह्मसूत्र रूपी माला बना ली गई है—

वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनत्वाद् ब्रह्मसूत्राणाम्।

महर्षि जैमिनिने अपने पूर्व मीमांसामें वेदकी कर्मकाण्डपद्धतिका प्रतिपादन किया है। बादरायणव्यासने वेदके उत्तरभागमें जिस ज्ञानकाण्डका प्रतिपादन किया है उसे ही ब्रह्मसूत्रमें ग्रंथित किया गया है इसीलिए उसे उत्तरमीमांसा कहते हैं। मीमांसा का अर्थ है ऐसे सिद्धान्त या विचार जिनका सब आदर करते हों।

कठोपनिषद्में नचिकेताके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए यमने उसे पहले कर्मकाण्डका पाठ सिखाया जिससे स्वर्ग प्राप्त होता है; किन्तु नचिकेताको उससे तृप्ति नहीं हुई। तब यमने उसे ज्ञानकुण्ड या ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया जो कर्मकाण्डविद्या की उत्तर विद्या है। पूर्वमीमांसामें कर्मकाण्डका विवेचन हुआ है और ब्रह्मसूत्रमें ब्रह्मविद्या का, इसीलिये उसे उत्तर मीमांसा कहते हैं।

ब्रह्मसूत्रके पहले समन्वयाध्यायमें बताया गया है कि वेदान्त-सम्बन्धी सब वाक्योंमें अद्वितीय ब्रह्मका ही प्रतिपादन किया गया है। इस अध्यायके प्रथमपादमें उन श्रुतियोंका उल्लेख किया गया है जिनमें ब्रह्मके सम्बन्धमें स्पष्ट विवरण प्राप्त होता है। दूसरे पादमें उपास्य ब्रह्मका निरूपण किया गया है। तृतीय पादमें उस ब्रह्मपर विचार किया गया है जो ज्ञेय है अर्थात् जिसे जानना चाहिए। चतुर्थपाद में अजा, अव्यक्त आदि जितने सन्देहास्पद पारिभाषिक शब्द हैं उनके अर्थकी मीमांसा की गई है। अविरोधाध्याय नामक दूसरे अध्यायमें सभी प्रकारके विरोधाभासोंका समाधान कर दिया गया है। इसके प्रथमपादमें स्मृति और तर्क आदिके आश्रयसे सब विरोधों का परिहार करके अपने सिद्धान्तकी स्थापना की गई है। द्वितीयपादमें अन्य सभी विरोधी मतोंमें दोष निकालकर उनका खण्डन किया गया है। तृतीय पादमें यह समझाया गया है कि जितने भी आकाश आदि तत्व हैं वे सब ब्रह्मसे उत्पन्न हुए हैं। साथ ही जीवके सम्बन्धमें जहां श्रुतियोंका विरोध मिलता है उन सबका भी समाधान कर दिया गया है। चतुर्थपादमें इन्द्रिय आदि से संबद्ध जो विरोधी वचन श्रुतियों में मिलते हैं उनका समाधान कर दिया गया है, इसीलिए इस अध्यायमें सब दर्शनों का खण्डन करके अनेक युक्तियां और प्रमाण देकर यह सिद्ध कर दिया गया है कि वेदान्त ही एक मात्र निश्चित, स्पष्ट और सत्य सिद्धान्त है। तृतीय अध्यायमें 'तत्' और 'त्वम्' पदोंके अर्थपर विचार करके जीव और ब्रह्मके स्वरूपका स्पष्ट विवेचन करते हुए यज्ञ, तप, कूम, दम, निदिध्यासन आदि ब्रह्म-साक्षात्कार के बाहरी अंगोंका विवेचन करके अन्तरंग शास्त्रोंका विवेचन किया गया है। साथ ही ब्रह्मविद्या और मनको स्थिर करनेवाले अन्य सभी उपासनाके उपायोंपर भी विचार किया गया है। ब्रह्मसूत्रका चतुर्थ अध्याय विशेष महत्वपूर्ण है। इस अध्यायको फलाध्याय कहा गया है। इसमें बताया गया है कि जीवन्मुक्ति क्या है? विदेह मुक्ति क्या हैं? जीव कैसे शरीर छोड़ता है? पितृयान, देवयान क्या हैं? तथा सगुण और निर्गुण ब्रह्म की उपासनाके क्या फल होते हैं? शंकराचार्यजीने इन सूत्रोंके गम्भीर अर्थ समझाने के लिए तीन संगतियां दिखलाई हैं—

शास्त्र-संगति, अध्याय-संगति और पाद-संगति।

ब्रह्मसूत्रके प्रत्येक अधिकरणके पांच-पांच अंग हैं—

विषय, संशय, संगति, पूर्वपक्ष और सिद्धान्त।

ब्रह्मसूत्रकी रचनाके बहुत पहलेसे भी ब्रह्म और जीव के सम्बन्धमें अर्थात् वेदान्तके सिद्धान्तपर विचार होता चला आ रहा था जिसका उल्लेख व्यासके सूत्रोंमें स्थान-स्थान पर प्राप्त होता है। ब्रह्मसूत्र (3।4।44) में आचार्य आत्रेयका नाम आता है। इसी ब्रह्मसूत्र (1।2।19) और (1।4।20) में आश्मरथ्यके मतका उल्लेख है जो यह मानते हैं कि जीवात्मा और परमात्मामें भेद भी है और अभेद भी। आचार्य औडुलोमि ने जीवात्मा और परमात्मामें सांसारिक अवस्थामें तो जीव और ब्रह्मका भेद माना है और मोक्षा-वस्थामें अभेद। इनका उल्लेख ब्रह्मसूत्र (1।4।2, 3।4।45 और 4।4।6) में तीन स्थानोंपर प्राप्त होता है। इसी प्रकार आचार्य कार्ष्णाजिनि का उल्लेख एकबार (3।1।9) में प्राप्त होता है। आचार्य काशकृत्स्न का उल्लेख भी ब्रह्मसूत्र (1।4।22) में प्राप्त होता है जो मानते हैं कि परमात्मा ही इस संसारमें जीवरूप होकर आता है वह परमात्माका विकार नहीं हैं। शंकराचार्यजीका मत है कि काशकृत्स्नने श्रुतिके अनुकूल ही जीव और ब्रह्मका अभेद संबंध बताया है, इसलिए वही मत मान्य है। इनके अतिरिक्त बादरायण व्यासके शिष्य और मीमांसा दर्शनके रचयिता जैमिनि तथा बादरिपराशर का नाम भी ब्रह्मसूत्रमें पाया जाता है।

सभी सम्प्रदायोंके आचार्यों ने अपने-अपने मतकी पुष्टिके अनुकूल अर्थ निकालते हुए ब्रह्मसूत्रपर भाष्य लिखे हैं जिनमें निम्नांकित भाष्यकार प्रसिद्ध हैं—

1. शंकराचार्यका केवलाद्वैतवादी शारीरक भाष्य, 2. भास्करका भेदाभेदवादी भास्करभाष्य, 3. रामानुजका विशिष्टाद्वैतवादी श्रीभाष्य, 4. मध्वाचार्यका द्वैतवादी पूर्णप्रज्ञभाषभाष्य, 5. निम्बार्काचार्यका द्वैताद्वैतवादी वेदान्त-परिजातभाष्य, 6. श्रीकण्ठका शैवविशिष्टताद्वैतवादी शैवभाष्य, 8. श्रीपतिका वीर शैव-विशिष्टताद्वैतवादी श्रीकरभाष्य, 8. वल्लभाचार्यका शुद्धाद्वैतवादी अणुभाष्य, 9. विज्ञानभिक्षुका अविभागाद्वैतवादी विज्ञानामृतभाष्य और 10. बलदेवका अचिन्त्यभेदाभेदवादी गोविन्द भाष्य । इन सभी आचार्यों ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखते समय उन सूत्रोंका अर्थ अपने मतकी दृष्टिसे ही निकालनेका प्रयत्न किया । ऐसी अवस्था में स्वभावतः कभी-कभी अर्थकी तोड़-मरोड़ हो ही जाती है और जिज्ञासुको यह भ्रान्ति बनी रहती है कि इनमेंसे कौनसा अर्थ ठीक माना जाय । सभी आचार्य वेदान्त विषयके धुरन्धर पण्डित और अपने सम्प्रदायके प्रवर्तक थे इसलिए किसे ठीक और बड़ा समझा जाय और किसे छोटा—

को बड़ छोट कहत अपराधू ।

ब्रह्मसूत्रपर इतने भाष्य होनेपर भी शंकराचार्यजीका शारीरक-भाष्य वेदान्तके अध्येताओं और वेदान्तियों में सर्वाधिक मान्य हैं । उसका कारण जाननेके लिए उनके जीवनका थोड़ा सा परिचय प्राप्त कर लेना नितान्त आवश्यक है ।

केरल राज्यके कालटि (कालड़ि) ग्राम में शिवगुरुनामक ब्राह्मण और पत्नी अर्यम्बासे भगवान् शंकर की आराधनाके फलस्वरूप शंकराचार्यका जन्म हुआ । शिशु अवस्थासे ही ये इतने प्रतिभाशाली थे कि एक वर्षकी अवस्थामें ही उन्होंने मातृभाषा सीख ली, दो वर्षकी अवस्थामें अपनी माताकी सिखाई हुई सारी पौराणिक कथाएं जान लीं, तीसरे वर्ष दुर्भाग्यवश उनके पिताका स्वर्गवास हो गया, चौथे वर्ष में उपनयन संस्कार हो जानेपर ये अपने गुरु श्रीगोविन्दपादके पास चले गए और छठे वर्षमें ही प्रकाण्ड पण्डित हो गये । एक दिन गुरुके यहां रहते हुए ये भिक्षाटन करते हुए एक दरिद्र ब्राह्मणके द्वारपर जा पहुंचे जहां गृहस्वामिनी निर्धन ब्राह्मणीने और कुछ न पाकर एक आंवला इनके हाथपर ला धरा । उसकी दरिद्रता देखकर शंकराचार्यजी ने वहीं लक्ष्मीकी ऐसी स्तुति की कि देखते ही देखते उस ब्राह्मण का घर सर्वधन संपन्न प्रासाद बन गया । इस घटनासे शंकराचार्यकी प्रसिद्धि इतनी बढ़ गई कि उनके आशीर्वादसे वहाँके अपुत्रक राजाके भी पुत्र हो गया ।

आठ वर्ष की अवस्थामें जब उन्होंने अपनी मातासे संन्यास ग्रहण करनेकी आज्ञा मांगी और उन्होंने नहीं दी तब एक दिन नदी पार करते समय गले भर जलमें पहुंचकर उन्होंने अपनी माताको पुकारकर कहा—यदि मुझे संन्यास लेनेकी आज्ञा न दोगी तो मैं डूब जाऊंगा । डूब जानेके भयसे उनकी माताने संन्यास लेनेकी आज्ञा दे दी । कुछ लेखकोंके अनुसार—एक मगरने जलमें उनका पैर पकड़ लिया तब उन्होंने चिल्लाकर कहा कि संन्यास लेनेकी आज्ञा दे दोगी तभी यह मगर मेरा पैर छोड़ेगा अन्यथा नहीं । किन्तु मगर जब पकड़ लेता है तब पुकारने का अवसर ही कहां मिलता है । पांचकी पकड़ बड़ी पक्की मानी गई है जो एक बार पकड़कर छोड़ते नहीं ऊंट, घोड़ा, कछुआ, मगर और स्त्रीका हठ । इसलिए मगरवाली कथा अधिक विश्वसनीय नहीं प्रतीत होती ।

मातासे संन्यास लेनेकी आज्ञा पाकर वे पहले गोविन्दपाद स्वामीके शिष्य हुए फिर वहां ब्रह्मविद्या प्राप्त करके काशी चले गए जहां उन्होंने चोल देशवासी सनन्दन पद्मपादको अपना शिष्य बनाया । काशी की एक घटना है कि एक दिन जब शंकराचार्यजी मणिकर्णिका घाटपर निदिध्यासन कर रहे थे तभी एक वृद्ध ब्राह्मणने उन्हें आ छेड़ा कि सुना है तुमने ब्रह्मसूत्रपर व्याख्या लिखी है । शंकराचार्यजीने उनसे कहा—'यदि आप उस भाष्यका कोई अंश न समझ पाए हों तो मैं समझा दूं ।' जब उस ब्राह्मणने एक सूत्र पढ़ा और शंकराचार्यजीने उसका अर्थ बताया तब उस वृद्ध ब्राह्मणने उसका दूसरा नया ही अर्थ निकाल सुनाया ।

इस पर शंकराचार्यजी झल्ला उठे और शास्त्रार्थ करनेके लिये उन्होंने अपने शिष्य पद्मपादसे कहा कि इस वृद्ध ब्राह्मणको यहांसे हटा दो। इसपर पद्मपादने शंकराचार्यजीको प्रणाम करते हुए कहा—

शंकरः शंकरः साक्षाद् व्यासो नारायणः स्वयम्।
तयोर्विवादे संप्राप्ते न जाने किं करोम्यहम्॥

[आप (शकराचार्यजी) तो साक्षात् शंकर हैं और वे व्यासजी नारायण ठहरे। फिर भला इन दोनों के झगड़े में मैं दाल-भातमें मूसरचन्द क्यों बनूं ?]

शंकराचार्यजी समझ गए कि ये तो साक्षात् व्यासदेव। तभी व्यासजीने आशीर्वाद दिया कि तुम्हारी सोलह वर्षकी आयु और बढ़ जायगी। तुम जाकर अद्वैतवाद का प्रचार करो। तदनुसार शंकराचार्य जीने इस उपनिषद्, गीता और वेदान्त-सूत्रोंका भाष्य किया और नृसिंहतापनीकी व्याख्या करके अनेक ग्रन्थों की रचना की। यह करके वे दिग्विजयके लिए निकल पड़े और अनेक संप्रदायों के आचार्योंको परास्त करके बदरिकाआश्रममें उन्होंने एक मठ स्थापित किया जो ज्योतिर्मठके नामसे विख्यात है। फिर उस समयके प्रसिद्ध दिग्गज पण्डित मंडनमिश्रको शास्त्रार्थमें हटाकर और उन्हें अपना शिष्य बनाकर उन्होंने बौद्ध धर्मके सब पंडितोंको परास्त करके लुप्त वैदिक धर्मको पुनरुज्जीवित किया।

जब शंकराचार्यजीने संन्यास लिया था तभी अपनी माताजीको वचन दिया था कि अन्त समयमें मैं तुम्हारे पास पहुंच जाऊंगा। संयोग से एक दिन इन्हें ऐसा भास हुआ कि माता जानेवाली है। ये तत्काल अपनी माताके पास पहुंच गए और उन्होंने उनका अन्तिम संस्कार किया। थोड़े दिनों पश्चात् काञ्चीके बौद्ध राजा हिमशीतलके यहां इन्होंने बौद्ध पंडितोंको हटाकर राजाको अपने भक्तमें दीक्षित कर लिया। इसी प्रकार जब कामरूप (असम) में वहांके प्रसिद्ध पंडित अभिनवगुप्तको उन्होंने शास्त्रार्थमें परास्त किया तब उसने इन्हें मार डालने का अभिचार प्रारम्भ कर दिया, थोड़े ही दिनों पश्चात् शंकराचार्यजीको भयंकर भगन्दर रोग हो गया। कहा जाता है कि अभिनवगुप्तने ही अपनी पराजय की प्रतिहिंसा चरितार्थ करनेके लिए ऐसा अविचार किया कि उन्हें रोग हो गया। उस समय इनके प्रधान शिष्यने उपचार करके उनका रोग दूर किया। इसके पश्चात् शंकराचार्यजी जब कश्मीर जा रहे थे तब गौडपादस्वामीने उन्हें अपना माण्डूक्योपनिषद्का वार्तिक पद सुनाया। उस पर शंकराचार्यजीने अपना भाष्य उन्हें दे दिया जिसे पढ़कर गौडपादाचार्य बहुत प्रसन्न हुए। अन्त में केवल बत्तीस वर्षकी अल्पायुमें ही हिमालयपर केदारनाथमें ही उन्होंने अपना शरीर छोड़ दिया।

शंकराचार्यजीने ब्रह्मसूत्रपर जो भाष्य किया है उसे शारीरक भाष्य कहते हैं अर्थात् इस जड़ शरीरमें अत्यन्त प्रकाशमान रूपसे विशुद्ध द्रष्टा बनकर जो महान् चैतन्यस्वरूप विभु परमात्मा है उसका अत्यन्त स्पष्ट रूपसे विवेचन करते वाला यह भाष्य है। इसलिए यह शारीरिक भाष्य कहलता है। भामती के रचयिता वाचस्पति मिश्रने उनके शारीरक भाष्यकी प्रशंसा करते हुए लिखा है कि यह भाष्य बहुत ही सरल और स्पष्ट है, साथ ही इतना गम्भीर भी है कि उसे बहुत ध्यानसे पढ़कर ही समझा जा सकता है।

वेदान्तके विद्वान् लोग विशेषतः केवलाद्वैतवादी लोग शांकर भाष्यके दो प्रस्थान मानते हैं—एक विवरण प्रस्थान और दूसरा भामती—प्रस्थान। सबसे पहले शंकराचार्यजीके प्रधान शिष्य पद्मपादाचार्यने शांकरभाष्य पर पञ्चपादिका नामकी व्याख्यात्मक टीका की थी जिसमें उन्होंने समन्वयाध्यायके चार पाद और अविरोधाध्यायके प्रथमपादकी ही व्याख्या की है; किन्तु दुर्भाग्यवश केवल प्रथम चार सूत्रोंपर ही उसकी वह व्याख्यात्मक टीका मिलती है, शेष सूत्र कालशेष हो गए हैं। विवरणाचार्य प्रकाशात्म श्रीचरणस्वामीने इन चार सूत्रोंकी ही पञ्चपादिका व्याख्या पर अपना अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण विवरणग्रन्थ लिखा है। इसीको आधार मानकर श्रीविद्यारण्यस्वामीने "विवरण प्रमेय संग्रह" नामका ग्रन्थ लिखा है। यही विवरण

प्रस्थान है।

भामती प्रस्थानके प्रणेता वाचस्पति मिश्र अद्वैतसिद्धान्तके मूर्धन्य विद्वान माने जाते हैं। सभी वेदान्ती विद्वान् एक स्वरसे मानते हैं कि आचार्य शंकरके सिद्धान्तों को समझने के लिए भामती टीकाका अध्ययन अनिवार्य है। वाचस्पतिमिश्रकी यह विशेषता रही कि इन्होंने केवल शांकरभाष्यपर ही नहीं अपितु सुरेश्वराचार्य के 'ब्रह्मसिद्धि' ग्रन्थपर भी ब्रह्मतत्त्व नामक समीक्षात्मक रचना की ईश्वरकृष्णकी सांख्यकारिकापर तत्त्व कौमुदी लिखी, पातञ्जल योगदर्शन पर तत्त्व वैशारदीका प्रणयन किया, न्यायदर्शनपर वार्तिक—तात्पर्य टीका लिखी, पूर्व मीमांसा दर्शनपर न्यायसूची निबन्ध लिखा, कुमारिलभट्टके सिद्धान्तपर तत्त्व बिन्दुकी रचनाकी और पूर्वमीमांसाके धुरन्धर पंडित मंडनमिश्रके विधि—विवेकपर न्याय कणिका नामकी टीका लिखी। इन सभी पाँचों दर्शनों की टीकाओंमें उन्होंने उन दर्शनोंके सिद्धान्तों का अत्यन्त निष्पक्ष होकर निरूपण, विवेचन और समर्थन किया है; किन्तु उनका अपना निश्चित प्रौढ़ मत अद्वैत सिद्धान्त ही था और इसलिए उनकी भामती टीका अद्वैतवादके सम्बन्ध में सर्वाधिक प्रामाणिक मानी जाती हैं। इनके अतिरिक्त अमलानन्दस्वामी, अप्पय्यदीक्षित, अद्वैतानन्द बोधेन्द्र स्वामी सर्वज्ञातमुनि, भारतीतीर्थ, आनन्दगिरिस्वामी, स्वामीगोविन्दानन्द आदि अनेक आचार्योंने शांकर भाष्यपर अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ लिखी हैं। इन सब टीकाओंमें स्वामी गोविन्दानन्दजीने शारीरक भाष्यपर जो रत्नप्रभा नामकी टीका लिखी है उसमें उन्होंने एक-एक पदको ऐसी सरल भाषामें समझाया है कि सामान्य जिज्ञासु भी ब्रह्मसूत्रको समझ सकता है। उन्होंने स्वयं कहा भी है कि जो लोग भामती और कल्पतरु जैसी बहुत जटिल और दुरूह टीकाएँ नहीं समझ पा सकते उन्हीं के लिए यह टीका की गई है। इसके अतिरिक्त शांकर भाष्यपर रघुनाथसूरिने शंकर पाद भूषण नामके ग्रन्थमें समस्त विरोधियों के तर्कों का युक्ति-युक्त उत्तर दिया है। स्वामीशंकरानन्द, सदाशिवेन्द्र सरस्वती, स्वामीब्रह्मानन्द, तथा अनेक अन्य विद्वानोंने ब्रह्मसूत्रपर जो अनेक ग्रन्थ लिखे हैं वे ब्रह्मसूत्रको समझनेमें अवश्य सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

ब्रह्मसूत्रमें शंकराचार्यजीके सिद्धान्त—

शंकराचार्यजीके अद्वैतवादी सिद्धान्तके संबंधमें एक उक्ति प्रसिद्ध है—

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव ना परः॥

[आधे श्लोकमें ही मैं वह बताये डालता हूँ जो करोड़ों ग्रन्थोंमें कहा गया है कि यदि कोई सत्य है, सदासे है और सदा रहनेवाला है तो वह ब्रह्म है। संसार झूठा है और जीव भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है, वह भी ब्रह्म ही है।]

ऊपरके श्लोकमें ब्रह्मको सत्य और संसार को मिथ्या या झूठ बताया गया है। अतः यह जान लेना नितांत आवश्यक है किसत्य क्या होता है और मिथ्या क्या है। चतुःश्लोकी भागवत में कहा गया है कि जो भूत, वर्तमान और भविष्य तीनोंकालोंमें ज्योंका-त्यों रहता हो और जो सबमें समाया हुआ हो, सर्वत्र हो, वही सत्य है। वह सत्य ऐसा व्यापक है कि कोई उसे सृष्टिसे अलग नहीं कर सकता अर्थात् उसका सारी सृष्टिके साथ अभेद संबंध है। मिथ्या या झूठ वह है जो कभी तो रहता हो, कभी न रहता हो, मिट जाता हो; जैसे—संसारकी सब वस्तुएँ, सब पदार्थ और सब जीव जो कल थे, आज हैं पर कल नहीं रहेंगे। अथवा कल नहीं थे, आज दिखाई दे रहे पर यह निश्चय है कि वे कल नहीं रहेंगे। इस प्रकारके जितने भी पदार्थ या जीव हैं, वे नश्वर हैं, इसलिए मिथ्या हैं। क्योंकि जैसे वे कल नहीं थे वैसे ही कल नहीं रहेंगे इसलिए यही समझना चाहिए कि ये नहीं के बराबर हैं क्योंकि जिसे रहना ही नहीं है उसका होना न होना बराबर है। इसलिए वेदान्त में डंकेकी चोट कह दिया गया है

कि ब्रह्म इसीलिए सत्य है. कि वह पहले भी सदासे था, अब भी है और आगे भी सदा रहेगा। संसारको इसलिए मिथ्या या झूठ बताया गया है कि पहले यह नहीं था और इसमें जो कुछ है सब नाशवान है, सदा नहीं रह पावेगा इसलिए अब बीचमें दिखाई देते रहनेपर भी उसका होना न होना बराबर है इसलिए वह मिथ्या ही है। यह मिथ्या इसलिए भी है कि वह न तो सत् है और न असत् है। सत् इसलिए नहीं है कि जब ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है तब वह कहीं नहीं दिखाई देता और यों देखनेमें संसार दिखाई भी देता है इसलिए सत् सा लगता है पर वह सदा रहनेवाला नहीं है इसलिए वह सत् और असत्से विलक्षण सदसद् विलक्षण है।

स्वयं शंकराचार्यजीने कहा है कि यह संसार स्वप्नके समान है। इसमें राग और द्वेष आदि न जाने कितने दोष भरे पड़े हैं। जैसे सोते समय ही स्वप्न दिखाई देता है, जागने पर स्वप्न टूट जाता है वैसे ही जब तक मनुष्यके मनमें अज्ञान भरा रहता है तभी तक उसे संसार सत्य प्रतीत होता है; किन्तु जहां उसे ज्ञान हुआ कि भ्रम मिटा और वह संसार को मिथ्या समझने लगता है।

शंकराचार्यजीका यह भी सिद्धान्त है कि यह जीवात्मा न तो देह है, न जड़ है। यह तो चेतन है। यह देखनेकी वस्तु अर्थात् दृश्य नहीं वरन् द्रष्टा है। यह परिच्छिन्न (टुकड़ोंमें विभक्त या परिमित) नहीं है। यह तो अपरिच्छिन्न या विभु (सर्व शक्तिमान्, सर्वप्रमुख सर्वसमर्थ और पूर्ण) है। उसके समान न कोई है न कोई हो सकता है, इसलिए यह भी ब्रह्मके ही समान भूत, वर्तमान, भविष्य तीनोंकालों में सत्तावान्, स्वयंप्रकाश तथा चिन्तमय अर्थात् ज्ञानमय है। सत्, चित् और आनन्दस्वरूप होनेके कारण इस जीवात्माको भी ब्रह्म ही मानना चाहिए। शंकराचार्यजीने वेदान्तका यही सर्वप्रमुख सिद्धान्त माना है। शंकराचार्यजीने अपने सिद्धान्त निरूपणमें अनेक तर्कों और प्रमाणोंसे यह सिद्ध कर दिया है कि द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद और अभिनव अद्वैतवाद सिद्धान्त वास्तवमें भ्रामक हैं क्योंकि ब्रह्म और जीवको किसी भी प्रकार अलग नहीं माना जा सकता। यही शंकराचार्यजीका प्रमुख सिद्धान्त है।

बहुतसे लोगोंने शंकराचार्यजीके मायावादको लक्ष्य करके उन्हें मायावादी और प्रच्छन्न बौद्ध कहा है; किन्तु शंकराचार्यजीके अनुसार तो माया भी मिथ्या है। जब माया को मिथ्या मान लिया गया तब उनके सिद्धांत को मायावाद मानना कैसे युक्तिसंगत हो सकता है क्योंकि उन्होंने तो यही बताया है कि जब तक जीवपर मायाका आवरण रहता है तभी तक वह अपनेको अर्थात् अपने ब्रह्मत्वको नहीं पहचान पाता। अज्ञानका आवरण ही माया है मूलतः सिद्धान्त तो यही है कि जीव और ब्रह्म दोनों एक ही हैं केवल अज्ञान और माया-के कारण ही दोनों में भेद प्रतीत होता है।

शंकराचार्यजीके अनुसार ब्रह्म, मनोवागगोचर अर्थात् मन और वाणीसे अप्राप्य, अप्रतर्क्य, अविज्ञेय, एक, अद्वितीय और चिन्मात्र है। शंकराचार्यजीका कथन है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी सृष्टिके बहुत पहले न जाने कबसे एकमात्र चिन्मय परब्रह्म ही विद्यमान थे। यह परब्रह्म एक अकेला और अद्वितीय है। यह ब्रह्म ही सत् (सदा रहने वाला) है और यह सारा संसार असत् या नश्वर (नष्ट होनेवाला) है। माध्यमिक बौद्धों-का मत है कि संसारसे पहले कुछ भी नहीं था सब शून्य था। शंकराचार्यजीने यही सिद्ध किया कि जो नहीं था उस असत्से सत कैसे उत्पन्न हो सकता है। उन्होंने यह सिद्ध किया है कि यह सारा संसार ब्रह्मकी मायाके सहारे ही दिखाई देता है। ब्रह्मसूत्र के द्वितीयपादके अट्ठाइसवें सूत्रमें—'नाभाव उपलब्धेः भाष्यमें शंकरा-चार्यजीने बौद्धोंके शून्यवादका अत्यन्त विशदरूपसे खण्डन किया है। शंकराचार्यजीके अनुसार ब्रह्मचिन्मात्र होनेपर भी पूर्ण, सत्य, ज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप है। उनके अनुसार ब्रह्म निर्गुण और चिन्मात्र होनेपर भी पूर्ण और विभु है। इतना ही नहीं वह स्वयं प्रकाश भी है।

शकराचार्यजीने संसारकी उत्पत्तिके प्रसंग में ईश्वरका भी अनुमान किया है। ब्रह्मसूत्र भाष्यके प्रथम

अध्याय, प्रथमपादके द्वितीयसूत्रके भाष्यमें उन्होंने लिखा है—

"न यथोक्तविशेषणस्य जगतो यथोक्तविशेषणमीश्वरं मुक्त्वानयतः
प्रधानादचेतनादणुभ्यो वा भावाद्वा संसारिणों वा उत्पत्त्यादि संभावयितुंशक्यम्"

[सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर या सगुण ब्रह्मके अतिरिक्त शून्य या अत्यन्त अणुसे या जड़ प्रकृतिसे या परमाणुसे या जन्म-मरणवाले किसी सांसारिक जीवसे इस विचित्र संसारका जन्म, स्थिति और प्रलय होना किसी भी प्रकार नहीं हो सकता।]

शंकराचार्यजी भात्र पदार्थमें पूर्ण विश्वास करते थे; किन्तु उन्होंने जो भाव पदार्थ स्वीकार किया था यह नित्य शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाववाला है और चिदेकमात्र है तैत्तिरीय उपनिषद्के भाष्यमें अपने इस मतको स्पष्ट करते हुए शंकराचार्यजीने लिखा है—

आत्मनः स्वरूपो ज्ञपतिर्न ततो व्यतिरिच्यते अतो नित्यैव।
प्राप्तमन्त्वमं लौकिकस्य ज्ञानस्य अन्तवत्वं दर्शनार्थं अतस्तन्निवृत्यर्थम्॥ (2।1)

[चिन्मात्र ही आत्माका वास्तविक स्वरूप है। यह ज्ञान कि वह चिन्मात्र है, उसके स्वरूपसे किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है इसलिए यह नित्य ही है। लौकिक ज्ञानकी तो सीमा होती है; किन्तु ज्ञानस्वरूप आत्माका अन्तवत्व नहीं है अर्थात् इनकी कोई सीमा नहीं है। वह निःसीम और अनन्त है। संसारमें जितने सचेतन जीव हैं उनमें जो ज्ञान दिखाई पड़ता है वह सब उन्हें तुरीय चैतन्यसे ही प्राप्त हुआ है। कठोपनिषद्के भाष्यमें शंकराचार्यजीने इसीको स्पष्ट करते हुए लिखा है—

आत्माचैतन्यनिमित्तमेव च चेतयितृत्वमन्येषां आदि (2।1।3)

अन्य उपनिषदोंके भाष्यमें और ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें शंकराचार्यजीका यह सिद्धान्त प्रमुख रूपसे और विशद रूपसे निरूपित किया गया है। उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट और विस्तार से यह समझाया है कि आत्मा केवल चिन्मात्र अर्थात् केवल ज्ञानरूप ही है।

शंकराचार्यजी का स्पष्ट मत है कि ब्रह्म निर्गुण और निष्क्रिय है। वह स्थूल भी नहीं है, सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है, कार्य भी नहीं है, कारण भी नहीं है वह ब्रह्म इन्द्रियातीत है किसी भी इन्द्रियसे उसे न तो जाना जा सकता, न समझा जा सकता, इसीलिए वह वाणी और मन से अगोचर है। उस तक न नेत्र जा सकते, न मन जा सकता, न वाणी से ही उसका परिचय दिया जा सकता। वह न तो ज्ञाता ही है न ज्ञेय ही है। वह ज्ञानातीत और क्रियातीत है।

शंकराचार्यजीने ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता तथा बृहदारण्यक आदि अनेक उपनिषदोंके भाष्योंमें अनेक प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध किया है कि ब्रह्म निर्विशेष है, किसी गुण और क्रियासे उसका कोई सम्पर्क नहीं है।

यद्यपि शंकराचार्यजीने निर्गुण, निष्क्रिय और निर्विशेष ब्रह्मका ही प्रतिपादन किया है तथापि उन्होंने सविशेष या सगुण ब्रह्मको अमान्य नहीं किया। उन्होंने यह निरूपित किया है कि ईश्वर ही सगुण ब्रह्म है। यह सगुण ब्रह्म मायिक है, इसलिए ब्रह्मकी जो सगुण अभिव्यक्ति है वह नित्य नहीं है, अनित्य है। जिस प्रकार सगुण ब्रह्मके गुण अनित्य हैं उसी प्रकार उसकी अभिव्यक्ति (संसार) भी अनित्य है। वेदों में सविशेष और सगुण ब्रह्मका भी उल्लेख मिलता है इसलिए स्वभावतः शंकराचार्यजीको वे सभी श्रुतिवाक्य स्वीकार करके ईश्वरका अस्तित्व मानना पड़ा; किन्तु शंकराचार्यजीके मायावादके सिद्धान्तके कारण श्रुतिवर्णित सगुण ब्रह्म भी अनित्य और मिथ्या ही कल्पित किये गये हैं। उन्होंने शक्ति और गुण आदिका अस्तित्व निर्गुण ब्रह्ममें स्वीकार न करके सगुणमें स्वीकार किया; किन्तु जब ये सगुण ब्रह्म अनित्य और मायिक है तब यह शक्ति भी मायिक ही है इसलिए शंकराचार्यजी किसी भी प्रकार शक्तिके परमार्थत्व को स्वीकार नहीं करते।

शंकराचार्यजीने स्पष्ट कहा भी है कि केवल व्यावहारिक रूपसे ही सगुण ब्रह्म स्वीकार किया गया है जो संसारकी सृष्टि, स्थिति, प्रलय आदिका कारण है; किन्तु जब आत्मज्ञानको दिव्य आलोक मिल जाता है तब मायाका अंधकार दूर हो जाता है जिससे इस सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् सगुण ब्रह्मका अस्तित्व नहीं रह जाता। तब एक मात्र पारमार्थिक तत्त्व निर्विशेष ब्रह्म ही रह जाता है। यद्यपि शास्त्र और व्यवहार के अनुरोधसे शंकराचार्यजीने सगुण ब्रह्मको स्वीकार तो किया है तथापि उनका सिद्धान्त निर्विशेष ब्रह्मका प्रतिपादन करना ही है।

अनेक विद्वानों का यह भ्रामक मत है कि जीव और ब्रह्म की अभेदता या अद्वैतता का प्रतिपादन सर्वप्रथम शंकराचार्यजीने ही किया है, ब्रह्म सूत्रमें ही स्थान-स्थानपर अनेक प्राचीन ऋषियोंका उल्लेख मिलता है जो ब्रह्म और जीवके सम्बन्धमें विस्तारसे विचार कर चुके थे। ऊपर बताया जा चुका है कि आश्मरथ्य, औडुलोमि, आत्रेय, काशकृत्स्न, बादरि और जैमिनि आदि अनेक ऋषि ब्रह्म और जीवके सम्बन्धमें विभिन्न प्रकारसे विचार कर चुके थे। उन सब मनीषी आचार्योंमेंसे शंकराचार्यजीने बादरि और काशकृत्स्नके मतका ही अनुमोदन और समर्थन किया जो ब्रह्म और जीवको अभिन्न मानते हुए यह स्वीकार करते थे कि केवल मायाके द्वारा ही ब्रह्म और जीव का पार्थक्य सूचित होता है; किन्तु जब ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब माया तिरोहित हो जाती है और उस अवस्था में जीव और ब्रह्ममें कोई अन्तर नहीं रह जाता। उनके मतानुसार यह संपूर्ण विचित्र विश्व ब्रह्माण्ड केवल माया की ही लीला है। यह पूर्णतः असत् मायाका ऐन्द्रजालिक खेल है। ब्रह्म ही एक मात्र सत् और नित्य है जो एक और अद्वितीय है। ब्रह्म और जीवमें किसी प्रकारका कोई भेद नहीं है, दोनों एक ही हैं। उन्होंने ज्ञानको भी ब्रह्मका गुण नहीं माना है क्यों कि ब्रह्म तो चिदेकमात्र और विशुद्ध ज्ञानस्वरूप अर्थात् स्वयं ज्ञान ही ज्ञान हैं।

ऊपर बताया गया है कि ब्रह्म निर्गुण है किसी प्रकारका कोई भी गुण इनमें आरोपित नहीं किया जा सकता। तब यह प्रश्न उठता है कि यह जो इतना विचित्र, विशाल, विश्व ब्रह्माण्ड दिखाई पड़ रहा है यह फिर क्या है? इसके उत्तरमें शंकराचार्यजीने कहा है कि पारमार्थिक दृष्टिसे यह संपूर्ण विश्वब्रह्माण्ड अलीक या मिथ्या है। सगुण ब्रह्मकी मायाके कारण ही यह संसारका प्रपञ्च विद्यमानसा प्रतीक होता है; किन्तु है यह इन्द्रजाल मात्र। जिस मायाके कारण यह ऐन्द्रजालिक लीला सत्य सी प्रतीक हो रही है उसे अविद्या भी कहते है। यह माया भी न सत् ही है न असत् ही। तत्वज्ञानकी दृष्टिसे विचार किया जाए तो यह पूर्णतः असत् है; किन्तु व्यावहारिक ज्ञानकी दृष्टिसे यह सत् ही मानी जाती है यह सद्सदात्मिका और अनिर्वचनीय माया ही संसारका उपादन कारण है। इस मायाके गुणसे समन्वित ब्रह्म ही है। उस ईश्वरकी मायाशक्ति की चकाचौंधमें यह सारा संसार मायामें फंसे हुए जीवको प्रत्यक्ष सत् जैसा दिखाई देता है। इसलिए ब्रह्म और जीवमें जो भेद प्रतीक होता है वह मायाके कारण ही प्रतीत होता है। यह जो अगणित जीव अलग-अलग दिखाई देते हैं ये केवल मायाके कारण ही हैं, अन्यथा उस एक और अखण्ड ब्रह्मको छोड़कर जितना सब दिखाई देता है वह सब माया का इन्द्रजाल भर ही है। पर यह भी समझ लेना चाहिए कि मायामें बँधे हुए व्यक्तिको ब्रह्म और जीवके भिन्न होनेका जो ज्ञान है वह भी मिथ्या ही है। मायाके पाशमें बँधा हुआ जीव अपना मोहका आवरण भेदकर परमतत्त्वको देख ही नहीं पा सकता। इसलिए मायामें बँधे हुए जीवको 'अहं-ब्रह्मास्मि' का भास नहीं हो पाता। वह मायाबद्ध जीव अपनेको ब्रह्म न समझकर मायाकी उपाधिको ही 'अहम्' समझता रहता है और भ्रान्तिके कूप में ऊभ-चूभ करता रहता है, वह अथाह, अनन्त और अपार ब्रह्मरूपी सागरकी आनन्द लहरियोंका रस ही नहीं ले पाता। जीवको यह ज्ञान ही नहीं हो पाता कि आत्मा ज्ञानस्वरूप, निष्क्रिय और अनन्त है क्योंकि जीवका ज्ञान अपनी नेह तक ही परिमित रहता है और वह अपने किए हुए अच्छे और बुरे कर्मोंका फल अर्जित करता रहता है। यही कारण है कि जीवको निरन्तर सुख और

दुःख भोगते रहना पड़ता है और साथ ही जन्म-मरणकी यातना भी सहन करनी पड़ती है। ईश्वर ही सब जीवोंको उनके अच्छे और बुरे कर्मोका फल देता रहता है। कल्पके अन्तमें जब संसारका प्रलय हो जाता है उस समय यह विचित्र विश्वब्रह्माण्ड मायामें विलीन हो जाता है। वहाँ पहुँचकर जीवोंकी कोई उपाधि नहीं रह जाती। फिर भी जब तक उनके किए हुए कर्मोंका प्रायश्चित्त नहीं हो पाता तब तक वे अपने किए हुए कर्मोंके अनुसार जन्म ग्रहण करते चलते हैं और इस प्रकार मायाबद्ध जीव इस अनन्त संसार-प्रवाहमें निरन्तर बहते रहते हैं।

शंकराचार्यजीके अनुसार इस अनन्त संसार-प्रवाहसे मुक्त होनेका विधान वेदोंमें प्राप्त हो जाता है। वेदोंमें कर्मकाण्ड अर्थात् यज्ञ आदि करने की व्यवस्था इसीलिए है; किन्तु उससे जीवको मुक्ति प्राप्ति नहीं होती क्योंकि स्वर्गादि लोक प्राप्त करनेके लिए चाहे जितने भी यज्ञ क्यों न किए जाएँ उनसे जीवकी आत्यन्तिक मुक्ति नहीं हो पाती।

वैदिक ज्ञानकाण्डके अध्ययनसे यह स्पष्ट होता है कि ब्रह्मके दो रूप निरूपित हुए हैं—एक सगुण और दूसरा निर्गुण। उसी सगुण ब्रह्मको ईश्वर कहा गया है जो इस सांसारिक क्रियाकी रचना करता है। इस संपूर्ण जगत्प्रपञ्चका संबंध सगुण ब्रह्मसे ही है। परब्रह्म तो निर्गुण और निष्क्रिय है। इस मायिक जगत्का उससे कोई संबंध नहीं है। वह परमात्मा है। सगुण ब्रह्मकी चाहे जितनी उपासनाकी जाय उससे मुक्ति नहीं मिल सकती। जब तक जीवको ब्रह्मका ज्ञान नहीं हो जाता तब तक वह ब्रह्मको प्राप्त नहीं कर सकता। 'तत्त्वमसि' महावाक्यके अनुष्ठानसे जब जीव और ब्रह्मकी भिन्नता तिरोहित हो जाती है तभी जीव मुक्ति प्राप्त करके अपने वास्तविक स्वरूपमें या परमात्मस्वरूपमें पहुँच जाता है। ब्रह्मसूत्र तथा अन्य उपनिषदोंके भाष्यमें शंकराचार्यजीका यही सार-गर्भित सिद्धान्त निहित है।

—स्वात्माराम
(सीताराम चतुर्वेदी)

उपनिषदों के शांकर भाष्य

डा० ऋतंभरा वत्स

वेदान्त के सर्व प्रमुख शीर्षस्थ ग्रंथों में प्रस्थान त्रयी का सबसे अधिक महत्व माना जाता रहा है। इनमें उपनिषद तो श्रुति प्रस्थान है ? जो पूर्णतः श्रुति या वेद पर ही आश्रित है। दूसरा न्याय प्रस्थान ब्रह्म-सूत्र है, जिसमें तर्क के द्वारा अन्य सब मतों का खण्डन करके ब्रह्म का स्वरूप और उसकी प्राप्ति का महत्व अत्यन्त सूक्ष्म रूपों में प्रतिपादित किया गया है। तीसरा स्मृति प्रस्थान श्रीमदभागवत्गीता है। जो भीष्म-पर्व में अर्न्तहित है और जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को परमार्थ की सिद्धि और प्राप्ति के लिए सब मार्गों का परिचय देकर अन्त में उसे यही निर्देश दिया है कि जिसके लिए शास्त्र ने जो कर्म विहित बताए हैं उन कर्मों के फल की आकांक्षा छोड़कर उनके पालन करने से ही ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती हैं। इसमें ब्रह्म की प्राप्ति के सब मार्गों का स्मरण करा दिया गया है। इसलिए इसे स्मृति प्रस्थान कहते हैं। इन तीनों में भी श्रुति पर आश्रित होने के कारण उपनिषदों का अधिक महत्व है।

मुक्तिकोपनिषद् में 108 उपनिषद् गिनाये गये हैं उसी प्रसंग में भगवान् श्रीराम ने हनुमान जी को उपनिषद् का उपदेश देते हुए बताया है,—"ब्रह्म की प्राप्ति के लिए केवल माण्डूक्य उपनिषद् ही पढ़ना पर्याप्त है यदि उससे ब्रह्म की ओर प्रवृत्ति न हो तो दस उपनिषद् पढ़े जाएं उससे भी तृप्ति न हो तो बत्तीस उपनिषद् पढ़ने चाहिए और यदि विदेह मुक्त होना चाहो तो फिर उपनिषदों का पाठ करो।"

अनेक बार वेदान्त के विद्वानों ने यह प्रश्न उठाया है कि आद्य शंकराचार्य जी ने ग्यारह उपनिषदों के ही भाष्य क्यों लिखे अधिक पर क्यों नहीं लिखे ? जिन उपनिषदों पर उन्होंने भाष्य लिखे हैं वे उपनिषद हैं—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर, छान्दोग्य, बृहदारण्यक। विद्या-रण्य स्वामी ने अपने सर्वोपनिषदर्थनुभूति प्रकाश नामक ग्रंथ में अग्रांकित उपनिषद् ग्रहण किये हैं—ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, मुण्डक, प्रश्नकौषीतकि, मैत्रायणी, कठवल्ली, श्वेताश्वतर, बृहदारण्यक तलवकार उप-निषद्, नृसिंहोत्तर तापनी उपनिषद् यह आश्चर्य की बात है कि उन्होंने नृसिंहोत्तर तापनी उपनिषद तो स्वीकार किया किन्तु नृसिंहपूर्वतापनी उपनिषद् स्वीकार नहीं किया। आदि शंकराचार्य जी ने विद्यारण्य स्वामी से बहुत पहले ही उपनिषदों पर भाष्य लिखे थे, फिर क्या कारण हैं कि उन्होंने शंकराचार्य जी के उपनिषदों से भिन्न कुछ उपनिषद् ग्रहण किये ? इसका कारण न तो आदि शंकराचार्य जी ने ही दिया और न ही विद्यारण्य स्वामी जी ने दिया।

उपनिषदों के अनेक अर्थ बताए गये हैं—'उप' का अर्थ है—समीप, 'नि' का अर्थ है—'निश्चय' और 'सद्' का अर्थ है—बैठना या रहना अर्थात् जो निश्चय रूप से परमात्मा के पास पहुंचाकर बैठा दे, उसे उपनिषद् कहते हैं।

दूसरा अर्थ है—जिनकी बुद्धि ब्रह्म विद्या में नहीं लगती उनकी बुद्धि को संसार से हटा देने की शक्ति होने के कारण इसका नाम उपनिषद् पड़ा या जिससे परमश्रेय स्वरूप प्रत्यगात्मा (परमात्मा) प्राप्त हो जाए और अज्ञान मिट जाए उसे उपनिषद् कहते हैं।

तीसरा अर्थ यह है कि किसी ब्रह्मवेत्ता के पास निश्चयपूर्वक अर्थात् ब्रह्मचर्य पूर्वक रहकर जो ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त किया जाए वही उपनिषद् है। यह तीसरा अर्थ इसलिए भी अधिक उपयुक्त है कि सभी उपनिषदों में कोई जिज्ञासु एक या अनेक व्यक्ति किसी भी ब्रह्मवेत्ता के पास जाकर ब्रह्म के विषय में जिज्ञासा करते हैं और वह ब्रह्मवेत्ता उन्हें ब्रह्मचर्य पूर्वक कुछ समय तक रहने के लिए आदेश देता है, जब वह समझ लेता है कि इसने या इन्होंने निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया है, तब ही वह ब्रह्मवेत्ता उस जिज्ञासु को ब्रह्मज्ञान का उपदेश देता है। यहां तक कि देवराज इन्द्र भी प्रजापति के पास ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए गये, तब उन्होंने इन्द्र को भी ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने का आदेश दिया। मुक्तिकोपनिषद् में यह बात और भी स्पष्ट रूप से बता दी गयी है

विद्या ह वै ब्राह्मण मा जगाम, गोपाय मा शेवधिष्ठेऽहमस्मि।
असूय कायानृजवेऽयताय मा मा ब्रूया वीर्यवती यथा स्याम॥
यमेव विद्याश्रुतमप्रमन्तं मेधा विनं ब्रह्मचर्योपन्नमृतस्मा इमामुपसन्नाय सम्यक् परीक्ष्य दद्याद्वण्णवीमात्मनिष्ठाम्

(ब्रह्म विद्या ने ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण से जाकर कहा—मैं आपकी निधि हूं। आप मेरी रक्षा कीजिए। मैं तभी शक्तिशालिनी बनी रह सकती हूं, जब आप किसी ऐसे व्यक्ति को ब्रह्म विद्या न दे, जो द्वेषी हो, कुटिल हो और असंयत हो।)

(यह कहकर ब्रह्मविद्या ने यह बताया कि ब्रह्मविद्या किसे दी जाए) यह ब्रह्मविद्या उसी को दी जाए जिसने इसके विषय में भली प्रकार पहले सुन रखा हो, जो सावधान हो, प्रमादी न हो, मेधावी हो और ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाला हो। ऐसे व्यक्ति को भी तब ही यह विद्या दी जाय, जब वह स्वयं आपके पास (गुरु के पास) आकर रहे और उसका भी भली प्रकार परीक्षण कर लेने पर यह वैष्णवी आत्म विद्या प्रदान की जाए।)

इस उपर्युक्त वचन से यह निश्चय हो जाता है कि ब्रह्मविद्या ही वह उपनिषद् विद्या है जो किसी ब्रह्मवेत्ता के पास ब्रह्मचर्यपूर्वक रहकर उनके (गुरु के) सन्तुष्ट हो जाने पर ही उनसे प्राप्त हो सकती है। श्रीमद्भागवद्गीता में भी यही बात स्पष्ट रूप से कह दी गयी है—

तद्विद्धि प्राणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्वत्वदर्शिन: गीता ॥4।34॥

ब्रह्मज्ञान किसी ब्रह्मवेत्ता के पास नम्रतापूर्वक जाकर उनसे प्रश्न पर प्रश्न पूछकर और उनकी सेवा करके ही प्राप्त कर लेना चाहिए। नृसिंहपूर्वतापनी और नृसिंहोत्तर तापनी तथा गोपालपूर्व तापनी और उत्तरतापनी उपनिषद् में तो प्रत्येक अध्याय को अध्याय काण्ड बल्ली, अनुवाक, खण्ड, प्रश्न, ब्राह्मण आदि न कहकर उपनिषद् ही कहा गया है।

अपने सब भाष्यों में आद्य शंकराचार्य ने केवलाद्वैत का ही प्रतिपादन किया है जिसे इस प्रकार आधे श्लोक में कह दिया गया है—

श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थः कोटिभि।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव ना परः॥

(करोड़ों ग्रंथों में जो लिखा गया है वह आधे श्लोक में ही कह दे रहा हूं कि ब्रह्म ही एक मात्र सत्ता

वाला है अर्थात् जो कुछ है केवल एक ब्रह्म ही है, संसार मिथ्या है और जीवात्मा भी ब्रह्म ही है।

शंकराचार्य का ब्रह्म चिन्मात्र होने पर भी पूर्ण और सत्य ज्ञान आनन्द स्वरूप है। बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य में उन्होंने ब्रह्म का नामपूर्ण ही दिया है। शंकर का ब्रह्म निर्गुण और चिन्मात्र होने के साथ-साथ पूर्ण और विभु ही नहीं स्वयं प्रकाश भी है।

न वयमुपहितेन रूपेण पूर्णतां वदामः किन्तु केवलेन स्वरूपेण। बृहदारण्यक ॥4।1॥

शंकराचार्य जी के नाम से लगभग दो सौ ग्रंथों के भाष्य या उनकी टीका या उनकी रचना का विवरण मिलता है, किन्तु वे आदि शंकराचार्य के बनाए हुए नहीं है, उनमें से कुछ तो अन्य लोगों ने शंकराचार्य के नाम से चला लिए हैं और कुछ चारों शंकर पीठो के शंकराचार्य द्वारा रचे हुए हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् के निम्नांकित अंश के भाष्य में शंकर ने लिखा है—

आत्मनः स्वरूपो ज्ञाप्तिर्न ततो व्यतिरिच्यते अतो नित्यैव। प्राप्तमन्तवत्त्वं लौकिकस्य ज्ञानस्य अन्तवत्त्वदर्शनात् अतस्तन्निवृत्त्यर्थम् (2।1)

(आत्मा या ब्रह्म का स्वरूप चिन्मात्र है अर्थात् ब्रह्मज्ञान ही ज्ञान है। यह ज्ञान उससे भिन्न नहीं है इसलिए यह चित्स्वरूप नित्य है। जहां तक लौकिक ज्ञान की बात है उसकी तो सीमा होती है किन्तु ज्ञान स्वरूप परमात्मा या ब्रह्म तो निसीम और अनन्त ज्ञान का भण्डार है। सामान्य जीवों में जो ज्ञान दिखायी पड़ता है वह तुरीय ब्रह्म चैतन्य से ही प्राप्त होता है कठोपनिषद् के भाष्य में शंकर ने यह बात स्पष्ट रूप से बता भी दी है—

आत्माचितन्यनिमित्तमेव च चेतयितृत्वमन्येषाम् ॥2।1।3॥

शंकराचार्य ने यह स्पष्ट रूप से कहा है—कि ब्रह्म निर्गुण और निष्क्रिय है वह स्थूल भी नहीं है। सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है वह इन्द्रयातीत है इसलिए वह वाणी और मन से भी नहीं जाना जा सकता। जब मन और वाणी से भी वह नहीं जा सकता तो आंख से देखे जा सकने का तो प्रश्न ही नहीं। वह ब्रह्म, ज्ञाता भी नहीं, ज्ञेय भी नहीं और ज्ञान से भी परे है। उन्होंने अपने सब उपनिषदों के भाष्यों में यही बताया है कि ब्रह्म निर्विशेष है पर साथ ही उन्होंने सविशेष या सगुण ब्रह्म को भी अस्वीकार नहीं किया है। जिसे वे ईश्वर कहते हैं। उन्होंने बताया है—कि माया के सम्बन्ध वाला ब्रह्म ही सगुण ब्रह्म है अर्थात् सगुण ब्रह्म मायिक है। वेद में भी सविशेष और सगुण ब्रह्म का उल्लेख मिलता है इसलिए शंकराचार्य जी को भी वे सब श्रुति वाक्य मानने पड़े हैं किन्तु उनके मायावाद के अनुसार वेद के सगुण ब्रह्म को स्वीकार किया है नहीं तो उनके सिद्धान्तानुसार परब्रह्म निर्विशेष ही है।

बहुत से विद्वानों का विश्वास है कि अभेदवाद या अद्वैतवाद का प्रवर्तन शंकराचार्य जी ने किया है किन्तु ब्रह्मसूत्र की रचना से बहुत पूर्व ही अभदवाद या अद्वैतवाद पर बहुत विचार हो चुका था। आश्वरथ्य औडुलोभि बादरि आत्रेयी काशकृत्स्न और जैमिनि आदि अनेक ऋषियों ने ब्रह्म और जीव के पारस्परिक सम्बन्ध पर बहुत विस्तार से विचार करके अपने-अपने अलग-अलग मत प्रतिपादित किये थे। शंकराचार्य जी ने बादरि और काशकृत्स्न के मत को मान्य करते हुए यह स्वीकार किया है कि ब्रह्म और जीव दोनों अभिन्न है। केवल माया के कारण ही जीव और ब्रह्म का पार्थक्य प्रतीत होता है, किन्तु ज्ञान प्राप्त करके अर्थात् ब्रह्म और जीव को एक ही समझ लेने पर जब माया लुप्त हो जाती है, तब जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं रह जाता। यह समस्त संसार या ब्रह्माण्ड केवल माया के ही कारण सत्य तुल्य प्रतीत होते हैं, किन्तु यह पूर्णतः असत् और माया की लीलामात्र है। जहां तक ब्रह्म की बात है, वह सत्य और नित्य है। एक और अद्वैत है तथा ब्रह्म और जीव में कोई पृथक्ता नहीं है। केवल माया के कारण अलग-अलग प्रतीत होने पर भी दोनों वास्तव में एक ही हैं। ज्ञान को भी ब्रह्म का गुण नहीं समझना चाहिए वह तो चिदेकमात्र (ज्ञान

ही ज्ञान) अर्थात् विशुद्ध ज्ञान स्वरूप है।

ऊपर बताया जा चुका है कि ब्रह्म निर्गुण अर्थात् सब गुणों से रहित है। सत्व, रजस और तमस गुण उसे स्पर्श नहीं कर पाते। इस पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि यह जो परिदृश्यमाण ब्रह्माण्ड है, क्या यह कुछ दूसरा हैं? इसके उत्तर में शंकराचार्य जी ने कहा है कि परिमार्थिक दृष्टि से यह सारा ब्रह्माण्ड मिथ्या ही है। केवल सगुण ब्रह्म की माया के कारण ही यह सारा संसार सत्यतुल्य प्रतीत होता है अन्यथा यह केवल इन्द्रजाल मात्र ही है। इसी माया को अविद्या भी कहा गया है विचित्र बात यह है कि माया न सत् है न असत् है तात्विक दृष्टि से देखा जाए तो माया असत् है किन्तु व्यावहारिक ज्ञान की दृष्टि से प्रत्यक्ष दिखायी देने के कारण यह सत् मानी जाती है। यह सदसदात्मिका और अनिर्वचनीय माया ही इस संसार का उपादान कारण है और माया के गुण से युक्त ब्रह्म ही ईश्वर है जैसे कोई ऐन्द्रिजालिक इन्द्रजाल के द्वारा अविद्यमान् वस्तु को भी विद्यमान दीखा देता है वैसे ही ईश्वर भी माया शक्ति के द्वारा जीव को यह सारा संसार प्रत्यक्ष रूप से दिखलाता चलता है और इस माया के कारण ही ब्रह्म और जीव का भेद प्रतीत होने लगता है। संसार में दिखायी देने वाले अनन्त जीव माया के ही कारण इतने रूप और नाम लेकर अलग-अलग दिखायी दे रहे हैं अन्यथा एक अखण्ड अद्वैत ब्रह्म को छोड़कर शेष जितना कुछ भी दिखायी देता है। वह सब माया का इन्द्रजाल ही है। विचित्र बात यह है कि माया में बंधे हुए जीव को जो संसार के अनेक पदार्थ पृथक्-पृथक् और बहुत से प्रतीत होते हैं। उनके पृथक् होने का ज्ञान भी मिथ्या ही है। वास्तव में इस माया से बंधे हुए जीवात्मा पर माया ने ऐसा अज्ञान का आवरण डाल रखा है कि उसे भेदकर यह जीव उस परम तत्त्व या परब्रह्म को नहीं देख पाता और यह नहीं समझ पाता कि मैं ही ब्रह्म हूँ। (अहम्ब्रह्मास्मि) यह जीव जब अपने को ब्रह्म नहीं समझ पाता तब वह माया के द्वारा प्रस्तुत की हुई सब उपाधियों को अहम् समझाने लगता है कि में पिता हूँ, गुरु हूँ, भाई हूं, अधिकारी हूँ, राजा हूँ, ऋषि हूँ आदि-आदि और इसी अहम् के साथ ही मम् या मेरे का भाव भी आ जाता है जिससे उसका अहम् और भी तीव्र हो जाता है। यही कारण है कि माया के कुचक्र में पड़े हुए देही जीव इस अहम् के फेर में निरन्तर भ्रान्ति के कूप में ऊब-चूभ करते रहते हैं और इस उस विशाल ब्रह्म रूपी सागर की आनन्दमयी लीला-लहरिया उसे दिखायी नहीं पड़ती तब इस जीव को यह ज्ञान कभी नही हो पाता कि आत्मा भी विशुद्ध ज्ञान स्वरूप निष्क्रिय और अनन्त है उसका सारा ज्ञान अपनी देह में ही परिमित हो जाता है जिसका परिणाम यह होता है कि जीव अपने किए हुए अच्छे और बुरे कर्म के फलस्वरूप सुख-दुःख भी भोगता है और जन्म-मरण के विशाल चक्र में चक्कर खाता रह जाता है। ईश्वर ही जीवों को उनके सुकृतों और दुष्कृतों का फल देता चलता है कल्प के अन्त में महाप्रलय के समय जब इस विश्व ब्रह्माण्ड का विलय हो जाता है। उस समय यह सारा ब्रह्माण्ड माया में लीन हो जाता है और उस समय जीव की कोई उपाधि नहीं रह जाती, फिर भी जब तक उस जीव के किए हुए कर्मो का पूरा प्रायश्चित नहीं हो जाता, तब तक उसे जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा नहीं मिलता।

शंकराचार्य जी ने कहा है—कि इस अनन्त संसार के प्रवाह से जीव के विमुक्त होने का विधान वेदों में यथा स्थान प्राप्त हो जाता है। कर्मकाण्ड के द्वारा याज्ञ-यज्ञ करके स्वर्ग तो प्राप्त हो जाता है किन्तु स्वर्ग का सुख नित्य नहीं होता। पुण्य क्षीण हो जाने पर फिर संसार में लौटकर आना पड़ता है। अर्थात् कर्म-काण्ड से जीव को मुक्ति नहीं प्राप्त होती। केवल वेद में वर्णित ज्ञान काण्ड का ही समुचित ज्ञान प्राप्त करने पर दो प्रकार के ब्रह्म का परिचय मिलता है। एक सगुण ब्रह्म है, दूसरा निर्गुण ब्रह्म है, सगुण ब्रह्म का नाम ईश्वर है, जिसका काम इस परिदृश्यमाण संसार का संचालन करना है। इस संसार के प्रपंच का सम्बन्ध सगुण ब्रह्म या ईश्वर के साथ ही है। शंकराचार्य जी के अनुसार परब्रह्म तो निर्गुण और निष्क्रिय है

जिसके साथ इस मायावृत संसार का कोई सम्बन्ध नहीं है वही परमात्मा है। शंकराचार्य का मत है कि सगुण ब्रह्म की उपासना से मुक्ति लाभ नहीं होता। जब तक जीव को ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो पाता, तब तक यह जीव संसार के दुःख से मुक्ति लाभ नहीं कर सकता। जब तत्वमसि (वह परमात्मा तुम ही हो) वाक्य के द्वारा निर्दिष्ट मैं और तू का भेद दूर हो जाता है, तब जीव को मुक्ति मिल जाती है और उसे अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। सब उपनिषदों में शंकराचार्यजी ने अपने इसी सिद्धान्त को स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

प्रारम्भिक युग में वैदिक ऋषि—सभी प्राकृतिक दृश्यों और पदार्थों में देव मूर्ति को निहित मानते थे और उसी रूप में वे उन देवताओं का आह्वान करते थे। सम्पूर्ण यज्ञ की प्रक्रिया के पीछे यही भावना निहित थी और स्वर्ग प्राप्ति ही उनके यजमानों का परम लक्ष्य था, किन्तु वेदान्त युग में पहुंचने पर ऋषियों ने यह अनुभव किया कि वास्तव में स्वर्ग का सुख भी अल्पकालीन है। इससे भी महान और नित्य स्थायी परमानन्द है जिसकी उपासना करने से मनुष्य जन्म-मरण के बन्धन से तो छूट ही जाता है साथ ही वह परमानन्द भी प्राप्त कर लेता है। इसीलिए वे अपने शिष्यों को उपदेश देने लगे—।

न च क्षुषा गृह्यते वाचनान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञान प्रसादेन विशुद्ध सत्वस्तुतस्तु तं पश्यते निष्फलं ध्यायमाना।

आंखे जिसे खोजकर न निकाल सके वाणी जिसे खोजकर कह ना सके। यहाँ तक कि तप और यज्ञ के द्वारा भी उन्हें नहीं पाया जा सकता। वे तो केवल ज्ञान से प्रबुद्ध विशुद्ध चित्र वाले मनुष्य को ध्यान के द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं।)

इस साधना से अर्थात् ज्ञान चक्षु से प्रशान्त ध्यायमान ऋषियों ने उसे अर्थात् ब्रह्म को जान लिया। मुण्डक उपनिषद् (2।2।7) में इसी का निर्देश करते हुए कहा गया है।

तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः आनन्दंरूपममृतं यद् विभाति।

(वह आनन्द स्वरूप अमृत रूप ब्रह्म ऊपर नीचे दांये-बांये, आगे पीछे सर्वत्र विराजमान है।)

इस प्रकार ब्रह्म का दर्शन हो जाने पर या ब्रह्मकी अनुभूति हो जाने पर 'भिद्यन्ते हृदय ग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' हृदय की गाँठ खुल जाती है अर्थात् हृदय में ही ब्रह्मका दर्शन होने लगता है और सभी संशय समाप्त हो जाते हैं। इतना ही नहीं जितने भी संचित और प्रारब्ध कर्म है वे और उनके फल तो नष्ट हो ही जाते हैं साथ ही सारी अविद्या भी और कर्म बीज भी सदा के लिए नष्ट हो जाते हैं। यही कारण है कि जब नचिकेता ने यम से स्वर्ग के सम्बन्ध में पूछा और यम ने स्वर्ग प्राप्ति के लिए त्रिनाचिकेता विद्या का उपदेश दे दिया तब भी नचिकेता के मन को शक्ति नहीं प्राप्त हुई और इसीलिए कठोपनिषद् कार ने त्रिनाचिकेत विद्या का उल्लेख करके भी उसका विवरण नहीं दिया. क्योंकि वह वास्तव में नचिकेता का उद्दिष्ट विषय नहीं था। अचिन्त्य ऐश्वर्य ब्रह्म का अद्भुत प्रभाव इसी उपनिषद् में वर्णन करते हुए कहा है—

आसीनो दूरं व्रजति शयानोयाति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातु मर्हसि ॥ (2।21)

(वे बैठे रहने पर भी बहुत दूर-दूर तक चले जाते हैं। सोते रहने पर भी सर्वत्र चलते रहते हैं उस हर्ष और अहर्ष दोनों भावों से भरे हुए परम देव को मुझे छोड़कर दूसरा कौन जानता है ?।)

इस मानव शरीर में जो अशरीरी दहराकाश में विराजमान रहते हैं और सम्पूर्ण अनित्य पदार्थों में जो विद्यमान है उस ब्रह्म तत्त्व का जिसे ज्ञान हो जाए फिर उसे न शोक होता है और न मोह ही होता है। प्रसिद्ध दार्शनिक हरबर्ट स्पेन्शर ने अनेक युक्तियों से यह सिद्ध किया है कि इस अनन्त परिवर्तन विश्व के

अन्तराल में एक अद्वितीय अपरिवर्तनशील महाशक्ति अवश्य कार्य कर रही है, जिस पर यह सारा संसार अवस्थित है। यह सारा विश्व जगत् उसी शक्ति का प्रकाश है। कठोपनिषद् में भी यही बात कही गई है—

एकोवशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं योऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।

(वही एक सब प्राणियों का आत्मा बनकर सबके भीतर विद्यमान है जो अपने एक रूप के बहुत से रूप बना लेता है। उस अपने भीतर बैठे हुए परमात्त तत्त्व को जो जान ले। उसी को शाश्वत सुख मिल सकता है, दूसरे किसी को नहीं मिल सकता।)

आद्यशंकराचार्यजी ने इस विषय को उसी प्रसंग में अत्यन्त स्पष्ट रूप से विवेचित कर दिया है। यही वास्तव में वेदान्त का आलोच्य विषय है और वेदान्त का उपास्य भी है।

उपनिषद् ही ब्रह्म विद्या है, यह विद्या सभी विधाओं का सार है मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है—कि दो ही प्रकार की विद्याएं सब लोगों जाननी चाहिए। एक है परा विद्या और दूसरी है अपरा विद्या। इस ब्रह्म-विद्या में या पराविद्या में सारी विद्याएं स्वय समाहित है। उपनिषदों में कई स्थानों पर शिष्यों ने गुरु से कहा है—गुरुदेव ! आप उपनिषद् का उपदेश कीजिए। गुरु उसी समय कहते हैं—"मैं तुम्हें उपनिषद् का उप-देश करता हूँ अर्थात् मैं अब तुम्हें ब्रह्मतत्त्व समझाता हूँ। उस ब्रह्मज्ञान से शिष्यों का चित्त तो प्रसन्न हो ही गया साथ ही उन्हें समस्त जड़-चेतन में ब्रह्म का दर्शन भी होने लगा। ईशोपनिषद् में यही बात कही गई है, जिसे शंकराचार्य ने बहुत अच्छे ढंग से समझाया है—

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वं भूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥

(जो सब प्राणियों को अपने आत्मा में देखता है और अपने को सब प्राणियों में देखता है, उसके लिए कोई छोटा या हेय नहीं रह जाता। इस प्रकार जो सबको एक परमात्मा रूप समझने लगता है फिर उसे किसका मोह और किसका शोक हो सकता है अर्थात् किसीका नहीं।)

वाजसनेय उपनिषद् में कहा गया है—आत्मा प्रकाश रूप अखण्ड, अशरीरी, विशुद्ध—कवि, त्रिका-लज्ञ, मनीषा, अन्तर्यामी-विभु—सर्वोत्तम और स्वयंभू है। बृहदारण्यक उपनिषद् में इसी विषय को निरुपित करते हुए कहा है—कि वे ब्रह्म सबसे अधिक प्रिय है। वे ज्योतियों के भी ज्योति हैं। सारा विश्व ब्रह्माण्ड उन्हीं पर टिका हुआ है, यही बात मुण्डकोपनिषद् में स्पष्ट करते हुए कहा है—वे अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस नित्य, अगम्य, अनादि अनन्त और परात्पर हैं। ऐसे ब्रह्म को जान लेने पर मनुष्य जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में इसी प्रसंग को स्पष्ट करते हुए शंकराचार्य ने लिखा है कि वे वृहत् होने पर भी वृहत्तर है। महत् होने पर भी महत्तर है, पूर्ण आनन्दमय है। विश्व के कर्ता और भोक्ता है। इस संसार में न तो कोई उनसे बड़ा है और न कोई उनके समान है। चर्म चक्षु से उन्हें नहीं देखा जा सकता। हाथ पैर न होने पर भी वे सब कुछ ग्रहण कर सकते हैं और सब कही जा पहुँच सकते हैं। कान न होने पर भी सुनते हैं, नेत्र न होने पर भी देखते हैं वे तो सर्वज्ञ हैं, पर उन्हें कोई नहीं देख सकता या जान सकता। वे अक्षय, अज और सर्वव्यापी है जो उन्हें जान जाते हैं, उन्हीं को अक्षय परम-शान्ति मिलती है, दूसरे किसी को नहीं मिल पाती।

आद्य शंकराचार्यजी ने विभिन्न उपनिषदों में अपने केवलाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म का निरूपण तो किया किन्तु उन्होंने विस्तार के साथ यह विवरण नहीं किया कि उस ब्रह्म का साक्षात्कार किस प्रकार

सरलता के साथ हो सकता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में यह विवेचन अवश्य किया गया है कि मनुष्य पुण्य कार्य करके ही पवित्र होते हैं और कुत्सित कार्य करके अपने अन्तरात्मा को कुत्सित और कदर्य बनाते हैं; क्योंकि जिसकी जैसी वासना होती है, उसका वैसा ही संकल्प होता है। जैसा उसका संकल्प होता है वैसा ही उसका कार्य होता है और जैसा वह कार्य करता है वैसा ही उसे फल मिलता है—यथाकारी यथाचारी तथा भवाति काममय सवायं पुरुष इति स यथा काम्यो भवति, तत् कर्तुर्भवति तत् कर्म कुरुते। यत कर्म कुरुते तदभि सम्पद्यन्ते ॥4।4।5॥ (बृहदारण्यक)

कठोपनिषद् (1।2।24) में भी इसा बात को दूसरे प्रकार से कहा गया है—

ना विरतो दुश्चरितान् नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्त मनसो वापि प्रज्ञानेनैन माप्नुयात् ॥1।2।24॥

(जिसने कुकर्म करना नहीं छोड़ा, जिसका मन अशान्त रहता है, जो असंयत या असमाहित है जो इधर-उधर के अनेक दुष्कृयो में लगे रहते हैं उन्हें आत्मज्ञान कभी प्राप्त नहीं होता। वास्तव में जीव का परम पुरुषार्थ ब्रह्मज्ञान ही है, जिससे उसे मोक्ष मिल सके। यह ब्रह्मज्ञान उपनिषदों से अवश्य प्राप्त हो सकता है, जिसमें कूट-कूटकर ऋषियों ने ब्रह्म के स्वरूप उसकी महिमा उसे जान लेने से लाभ, इन सबका विस्तार से परिचय दिया है। केवल शास्त्र पढ़ने मात्र से या उपनिषद पढ़ने मात्र से ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। उसके लिए सब वासनाओं का त्याग, चित्र की एकाग्रता और संकल्प शक्ति नितान्त अपेक्षित है।

जब ऋषियों को यह ज्ञान हुआ कि अनेक प्रकार के बलिदान, यज्ञ, अग्निहोत्र तथा अन्य उपासना पद्धतियां ब्रह्मतक पहुँचाने में असमर्थ हैं तब कुछ ऋषि तो अवाङ्मनसगोचर कहकर मौन हो गये और ध्यान-मग्न होकर समाधि की अवस्था में उन्होंने निष्कम्प दीप की 'लौ' के समान ब्रह्म का साक्षात्कार किया, जिसे तृतीय मुण्डक (2/8) में अत्यन्त भावुकता के साथ वर्णन किया गया है—

यथा नद्यः स्पन्दमानाः समुद्रेऽस्तं परात्पर पुरुषमुपैति दिव्यं।

(जैसे बढ़ी-चढ़ी लहराती नदियाँ अपने नाम रूप छोड़कर समुद्र में जा मिलती है वैसे ही ब्रह्मज्ञानी विद्वान पुरुष अपना नामरूप सब छोड़कर ब्रह्म में जा मिलते हैं, क्योंकि 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' ब्रह्म जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है।)

ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार की साधना और उपासना बताई गई है क्योंकि ब्रह्म लाभ के लिए किसी-न-किसी प्रकार की एकान्त साधना नितान्त अपेक्षित है। उपासना के बिना उस निष्पाप विशुद्ध परमात्मतत्त्व की धारणा के निमित्त चित्त वृत्ति का निर्मल होना अत्यन्त आवश्यक है। ब्रह्म वादियों के मत के अनुसार उस निर्विशेष परमात्मतत्त्व में सोऽहम् का ध्यान करने से ही ब्रह्म की उपासना की जा सकती है। कुछ दूसरे वेदान्ती सत्यं शिवं सुन्दरं मानकर ही ब्रह्म की उपासना करते हैं; किन्तु सभी उप-निषदों में प्रायः यही बताया गया है कि चित्त को संयत करके शम दम आदि के द्वारा आत्म चिन्तन में लगाने से साधना सफल होती है और तब शोक मोह और पाप आदि से विमुक्त होकर तथा जन्म मृत्यु के चक्कर से सदा के लिए छूटकर वह मुक्ति प्राप्त कर लेता है। मुण्डकोपनिषद् के प्रथम मुण्डक के द्वितीय काण्ड में कर्मकाण्ड की विधि का निषेध किया गया है और यज्ञ के यजमान को अंधेन नियमानः यथा अन्धा—अन्धे के सहारे चलने वाला अन्धा कहा है। ब्रह्म साधना के लिए चित्त की शुद्धि आवश्यक है और चित्त की शुद्धि के लिए ब्रह्मचर्य सत्य शान्ति वैराग्य शम, दम, त्याग, श्रद्धा ध्यान और धारणा को आवश्यक बताया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में तो आद्यशंकराचार्य के अनुसार श्रद्धा और निष्ठा आदि को ही ब्रह्म साधना आदि का विशेष उपाय बताया गया है।

वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावलीकार ने ब्रह्म साधना का महत्त्व बताते हुए कहा है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन: ।
अपार सच्चित् सुख सागरेऽस्मिल्लीनं परे ब्रह्ममणि यस्य चेत: ।

(जिसका मन उस अपार सच्चिदानन्द समुद्र परब्रह्म में लीन हो गया है उसका कुल पवित्र हो जाता है । माता कृतकृत्य हो जाती है और धरती पुण्यवती हो जाती है ।)

श्री आद्यशंकराचार्य ने अपने भाष्य में सभी वचनों पर पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष दोनों स्थापित करके अत्यन्त विशद् शैली में व्याख्या की है । यह तो निश्चितबात है कि शंकर का मत यद्यपि अधिकांश लोग ग्राह्य मानते हैं । तथापि श्रीमद्रामानुजाचार्य का भाष्य भी कम महत्त्व का नहीं है फिर भी प्रस्थात्रयी के सभी अंगों पर आद्यशंकराचार्य ने ही सर्वप्रथम अत्यन्त स्पष्ट रूप से भाष्य करके अन्य आचार्यों के लिए द्वार खोल दिया उन सब आचार्यों का मत भले ही भिन्न हो किन्तु उसका आधार शांकर भाष्य ही है क्योंकि सभी ने ब्रह्म के विषय में अपने मत का समर्थन करने के लिए शंकर के मत का खण्डन किया है । बहुत से ऐसे स्थल अवश्य हैं, जहाँ शंकर ने उपेक्षित समझकर छोड़ दिया है जैसे कठोपनिषद् में त्रिनाचिकेतविद्या क्या है ? इसका स्पष्ट निरूपण नहीं किया । मूलत: कर्मकाण्ड का विषय होने के कारण अन्य आचार्यों ने भी इसकी उपेक्षा की । भाष्यकरण के सिद्धान्त के अनुसार यथास्थान त्रिनाचिकेतविद्या का भी विस्तार से वर्णन दे देना चाहिए था, किन्तु न तो शंकर ने और न ही किसी अन्य आचार्य ने यह विवरण दिया । इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद् में जहाँ संसार का वर्णन करते हुए कहा गया है—

तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभि: अष्टकै: षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्ग भेदं द्विनिमित्तैक मोहम् ॥4॥
पञ्चस्त्रोतोऽम्बुं पञ्चदु:खौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीम: ।

संसार चक्र के इस विचित्र रूपक का अर्थ सब आचार्यों ने कुछ तो समान रूप से किया है कुछ भिन्न रूप से किन्तु विचित्र बात यह है कि इसमें आए हुए 'अष्टक' का अर्थ किसी ने भी स्पष्ट नहीं दिया । सम्भवत: शंकराचार्य जी ने भी इसीलिए छोड़ दिया कि यह पहिये का कोई ऐसा भाग है जो उत्तर भारत की गाड़ियों के पहियो में होता होगा । किन्तु उत्तर भारत के आचार्यों ने भी इस विषय हर अपना कोई स्पष्ट मत नहीं दिया ।

शंकराचार्यजी ने अपने भाष्य में जिस शैली में पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष स्थापित करके अपने भाष्य का स्पष्टीकरण किया है । वह कहीं-कहीं अधिक दार्शनिक और जटिल भी हो गया है । इस सम्बन्ध में केनोपनिषद् का एक भाष्य दे देना ही पर्याप्त होगा, जिससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि अत्यन्त सरल विषय भी दार्शनिक चपेट मे आकर कैसे जटिल हो जाता है । अपने इस भाष्य में शंकराचार्यजी ने दो प्रकार के भाष्य किए हैं—पद भाष्य और वाक्य भाष्य बहुत जटिल हो गया है । केनोपनिषद् के द्वितीय खण्ड का द्वितीय श्लोक है—

नाहं मन्ये सुवेदेति, नो न वेदेति वेद च ।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥

इस श्लोक पर शंकराचार्य का पद भाष्य इस प्रकार है—

न अहं मन्ये सुवेदेति, नैवाहं मन्ये सुवेद ब्रह्मेति । नैव तर्हि विदितं त्वया ब्रह्मेत्युक्ते आह—नो न वेदेति वेद च चेति च शब्दान्न वेद च । ननु विप्रतिषिद्धं नाहं मन्ये सुवेदेति, नो न वेदेति, वेद च इति । यदि न मन्यसे सुवेदेति, कथं मन्यसे वेद चेति । अथ मन्यसे वेदैवेति, कथं न मन्यसे सुवेदेति एकं वस्तु येन ज्ञायते, तेनैव तदेव वस्तु न सुविज्ञायत इति विप्रतिषिद्धं संशयविपर्ययौ वर्जयित्वा । न च ब्रह्म संशयितत्वेन ज्ञेयं विपरीतत्वेन वेति नि यन्तुं शक्यम् संशयविपर्ययौ हि सर्वत्रानर्थकरत्वेनैव प्रसिद्धौ ।

एवमाचार्येण विचाल्यमानोऽपि शिष्यो न विचचाल, अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' इत्याचार्योक्तागम सम्प्रदाय बलात् उपपत्यनुभवबलाच्च, जगर्ज च ब्रह्म विद्यायां दृढ़ निश्चयतां दर्शयन्नात्मनः। कथमित्युच्यते यो यः कश्चिद् नः अस्माकं स ब्रह्मचारिणां मध्ये तन्मदुक्तं वचनं तत्वतो वेद स तद् ब्रह्म वेद।

किंपुनस्तद्वचनमित्यत आह नो न वेदेति वेद च इति। यदेव 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' इत्युक्तम् तदेव वस्तु अनुमानानुभवाभ्यां संयोज्य निश्चितं वाक्यान्तरेण नो न वेदेति वेद च इत्यवोचत् आचार्यबुद्धि संवादार्थं मन्दबुद्धि ग्रहण—व्यपोहार्थं च। तथा च गर्जितमुपन्नं भवति 'यो नस्तद्वेद तद्वेव' इति॥

वाक्य भाष्य—परिनिष्ठितं सफलं विज्ञानं प्रतिजानीत आचार्यात्मनिश्चयोः तुल्यतायै यस्माद्धेतुमाह नाह मन्ये सुवेद इति।

अहेत्यव धारणार्थो निपातो नैव मन्य इत्येतत्। यावदपरिनिष्ठितं विज्ञानं तावत्सुवेद सुष्ठु वेदाहं—ब्रह्मेति विपरीती मम निश्चय आसीत्।

स उपजगाम भवद्भिर्विचालितस्य; यथोक्तार्थं मीमांसाफल भूतात् स्वात्मब्रह्मत्वनिश्चयरूपात्सम्यक् प्रत्ययाद्विरुद्धत्वात्। अतो नाह मन्ये सु वेदेति।

यस्माच्चैनतन्नैव न वेद नो न वेदेति मन्य इत्यनुवर्तते, अविदित ब्रह्मप्रतिषेधात्। कथं तर्हि मन्यसे इत्युक्त आह-वेद च। च शब्दाद्वेद च न वेद चेत्यभिप्रायः विदिताविदिताभ्यामन्यत्वाद् ब्रह्मणः तस्मान्मया विदितं ब्रह्मेति मन्य इति वाक्यार्थः।

अथवा वेद चेति नित्यविज्ञान-ब्रह्मस्वरूपतया नो न वेद वेदैव चाहं स्वरूपविक्रियाभावात्। विशेष-विज्ञानं च पराध्यस्तं न स्वत इति परमार्थतो न च वेदेति।

यो नस्तद्वेद तद्वेदेति पक्षान्तरनिरासार्थमाम्नाय उक्तार्थानुवादात्। यो नोऽस्माकं मध्ये स एव तद्ब्रह्म वेद नान्यः। उपास्य ब्रह्मवित्वादतोऽन्यस्य यथाहं वेदेति। वेद चेति पक्षान्तरे ब्रह्म वित्वं निरस्यते। कुतोऽयमर्थोऽवसीयत इत्युच्यते उक्तानुवादादुक्तं ह्यनुवदति नो न वेदेति वेद चेति॥2॥

इन उपर्युक्त भाष्यों में जहाँ तक पद भाष्य की बात है वह तो अत्यन्त स्पष्ट और सरल भाषा में टीका के समान विवृत कर दिया गया है; किन्तु वाक्य भाष्य में उसकी व्याख्या करते हुए उसके भाष्य को अधिक जटिल बना दिया गया है। जैसे 'अहम्' शब्द के लिए कोई भाष्य आवश्यक नहीं था किन्तु इसको भी गूढ़ बताते हुए कहा है—

"अहम् यह निश्चयार्थक निपात है" निपात शब्द का प्रयोग यास्क ने अपने निरुक्त में किया है, जिसका अर्थ है—'अव्यय' अर्थात् वह शब्द जिसके और रूप न बने। इसे और गूढ़ करते हुए वे लिखते हैं—

"इसका यह तात्पर्य है कि मैं ऐसा मानता ही नहीं कि (मैं ब्रह्म को अच्छी तरह जानता हूँ।) जब तक मुझे ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था तब तक ही मेरे मन में ऐसा विपरीत निश्चय था कि मैं ब्रह्मको जानता हूँ। आपके द्वारा विचलित किये जाने पर मेरा वह निश्चय दूर हो गया क्योंकि वह पूर्वोक्त अर्थ की मीमांसा के फलस्वरूप अपने आत्मा के ब्रह्मत्व निश्चय रूप, सम्यक् प्रत्यय के विरुद्ध है। अतः मैं अच्छी तरह जानता हूँ। ऐसा तो मानता ही नहीं; और उस ब्रह्मको मैं नहीं जानता ऐसा भी मैं नहीं मानता क्योंकि अविदित ब्रह्मका प्रतिषेध किया गया है। यहां 'नो न वेदेति' वाक्य के आगे 'मन्ये' इस क्रिया पदकी अनुवृत्ति होती है, तो तुम किस प्रकार मानते हो, यह पूंछने पर शिष्यने कहा—'वेद च'। यहां 'च' शब्द से वेद च न वेद च अर्थात् जानता भी हूँ और नहीं भी जानता ऐसा अभिप्राय है क्योंकि ब्रह्म विदित और अविदित अर्थात् जाने हुए और न जाने हुए दोनों से भिन्न है। अतः इस वाक्यका यही अर्थ है कि ब्रह्म मुझे विदित है। यह मैं मानता हूं अथवा 'वेद च'। इसका यह अभिप्राय है कि मैं नित्य विज्ञान स्वरूप होनेके कारण 'नहीं जानता' यह बात नहीं

है वरन् मैं जानता ही हूं, क्योंकि अपने स्वरूप में कोई विकार नहीं है तथा विशेष विज्ञान भी दूसरो का आरोपित किया हुआ ही है, स्वरूपसे नहीं है। इसलिए परमार्थतः मैं नहीं भी जानता। इस भाष्य में अथवा देकर उलझन खड़ी कर दी गयी है और जो मूल श्लोक में भाव है वह जटिल हो गया है।

आगे भाष्य करते हुए कहा गया है—'यो नस्तद्वेद तद्वेव'। यह आगम उपर्युक्त अर्थका अनुवाद होने के कारण इसके द्वारा अन्य पक्षों का निषेध किया गया है। हममेंसे जो उस ब्रह्मको इस प्रकार विदित व अविदित से भिन्न जानता है वही जानता है और कोई नहीं जानता, क्योंकि जैसा मैं जानता हूँ उससे भिन्न जानने वाला तो उपास्य ब्रह्मको ही जानता है। 'वेद च' इस पद से अन्य पक्ष वाले में ब्रह्मवित्त्व का निरास किया गया है। इसका कारण बताते हुए कहते है कि ऊपर कहे हुए अर्थ का अनुवाद करने के कारण ही यह निष्कर्ष निकाला गया है क्योंकि यहां "नो न वेदेति वेद च" इस वाक्य से ही पूर्वोक्त का अनुवाद करते हैं।

इस वाक्य भाष्य से यह समझना कठिन नहीं है कि शंकराचार्यजी ने भाष्य को सरल करने के बदले बहुत दुःरूह, जटिल, कठिन और दुर्बोध कर दिया, किन्तु यह अवश्य है कि उन्होंने आगे के विचारकोंके लिए विमर्श करने का मार्ग खोल दिया है। यदि वे पद भाष्य तक भी छोड़ देते तब भी उनका भाष्य बहुत महत्व का ही हो सकता था, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि आद्यशंकराचार्यजी वेदान्त ब्रह्मवाद उपनिषद् तथा अनेक शास्त्रों के पारंगत विद्वान थे इसलिए उपनिषदों के शांकर भाष्य का विद्वानों में बड़ा आदर है।

डी-223 विवेक विहार, दिल्ली-32

आचार्य शंकर और उनका गीता भाष्य

डा० विजयपाल शास्त्री

श्रीमद् भगवद्गीता विश्व-वाङ्मय का मुकुटमणि है, समग्र मानव जाति की अमूल्य निधि तथा मोक्ष मार्ग पर अग्रसर मुमुक्षु की जीवन-यात्रा के लिए अक्षम पाथेय है। साक्षात् भगवान् पुरुषोत्तम के वेदनाम्बुज से निःसृत होने के कारण इसकी प्रतिष्ठा वेदों की अपेक्षा कथमपि न्यून नहीं है। भगवत्पाद आचार्य शंकर ने गीता पर भाष्य लिखा इससे उसका महत्व शतगुणित हो गया। गीता का यह अप्रतिम वैशिष्ट्य है कि उसने कर्तव्य पथ से विचलित होते हुए अर्जुन को प्रलयंकारी महाभारत-संग्राम में ममत्व और भय को दूर कर खड़ा होने के लिए प्रेरित किया, यह उसकी अनन्यलभ्य दूसरी विशेषता है कि वह प्रत्येक अनुशीलन-कर्त्ता को उसके विचारों के पोषण की सामग्री प्रस्तुत करती है। उसने आचार्य शंकर को मुमुक्षु के हितार्थ संन्यास-ग्रहण करने की अपरिहार्यता बताने के लिए सोत्साह बनाया। उसी ने आचार्य रामानुज आदि वैष्णवों को भक्ति रसामृत की श्रोतस्विनी प्रवाहित करने के लिए उद्यत किया। उसी की प्रेरणा पाकर बालगंगाधर तिलक ने स्वदेश को कर्म मार्ग पर ले चलने का प्रयास किया और उसी के अध्ययन के परिणाम-स्वरूप भारतीय नवयुवकों ने अदम्य-उत्साह-सम्पन्न होकर गौरांग प्रभुओं के दुर्दमनीय क्रूर शासन के विरुद्ध क्रान्ति की ज्वाला को समृद्ध करने की निर्भयता और फाँसी के फन्दे को सहर्ष चूमने की शक्ति प्राप्त की। इसी कारण "गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्र विस्तरैः" यह उक्ति विद्वत्समाज में सत्यता को प्राप्त कर रही है क्योंकि इसमें समग्र शास्त्रों का सारतत्त्व एकत्र उपलब्ध हो जाता है।

गीता पर अब तक जितने भाष्य उपलब्ध हैं उनमें भगवत्पाद आचार्य शंकर द्वारा रचित भाष्य सबसे प्राचीन है। आचार्य शंकर द्वारा अनुमोदित गीता के सिद्धान्त अन्य भाष्यों से सर्वथा विलक्षण हैं। इनकी अपनी कुछ विशेषताएं हैं। आचार्य शंकर मूलतः निर्विशेषाद्वैतवादी दार्शनिक हैं। यह निर्विशेषाद्वैत समस्त उपनिषदों का सारतत्त्व है। आचार्य शंकर ने गीता के सन्दर्भ में भी उक्त सिद्धान्त की ही प्रतिष्ठापना की है। आइये देखते हैं कि शंकर भाष्य की वे क्या विशेषताएं हैं जिनके कारण यह अन्य भाष्यों से अपनी पृथक् पहचान बनाये हुए है।

1. संन्यास मार्ग की स्थापना

आचार्य शंकर ने गीता में अन्तिम सत्य-सिद्धान्त के रूप में निर्विशेषाद्वैतवाद का और आचार तत्व के रूप में संन्यास-मार्ग का प्रतिपादन किया है। यह संन्यास-मार्ग कोई नूतन सिद्धान्त नहीं है अपितु यह पुरातनकाल से ही प्रचलित है। प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग में दोनों ही मार्ग स्वतन्त्र रूप में उप-निषत्काल से ही चले आ रहे हैं। इसलिए कुछ लोग सांसारिक कर्त्तव्यों के पालन को मोक्ष प्राप्ति का हेतु

मानते थे और कुछ अन्य लोग संन्यास मार्ग को श्रेष्ठ समझते थे।

आचार्य शंकर ने भी वैदिक धर्म को उक्त दोनों प्रकारों में विभाजित किया है। वे कहते हैं कि—

द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः प्रवृत्ति लक्षणो निवृत्ति लक्षणश्च जगतः स्थिति कारणम्…इमं हि द्विप्रकारं धर्मं निःश्रेयसप्रयोजनं परमार्थं तत्वं च वासुदेवाख्यं परं ब्रह्माभिधेय भूतं विशेषतः अभिव्यंजयत् विशिष्ट प्रयोजन सम्बन्धाभिधेयवत् गीता शास्त्रम्" (गीता शांकर भाष्य-उपोद्घात)

अर्थात् वैदिक धर्म के दो प्रकार हैं—प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति-मार्ग। निःश्रेयस की प्राप्ति इन दोनों मार्गों का परम प्रयोजन है। गीता शास्त्र उस वासुदेव नामक परब्रह्म की अभिव्यक्ति कराता हुआ सप्रयोजन होता है।

इस प्रकार प्रारम्भ में आचार्य शंकर ने दोनों मार्गों को ही महत्वपूर्ण स्वीकार किया है किन्तु आगे चलकर उन्होंने संन्यास मार्ग को ही निःश्रेयस प्राप्ति का साधन माना है। प्रवृत्ति मार्ग मोक्ष में उपयोगी नहीं है। उनका स्पष्ट मत हैं कि प्रवृत्ति-मार्ग की परिणति निवृत्ति में ही होती है। निवृत्ति में पर्यवसित होकर ही प्रवृत्ति मार्ग उपयोगी है स्वतन्त्र रूप से नहीं। आचार्य शंकर की दृष्टि में गीता जीवन के अन्तिम उद्देश्य के रूप में संन्यास अथवा निवृत्ति मार्ग को ही उपदेश करती है।[1] यद्यपि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्म करने के लिये प्रोत्साहित किया एवं अर्जुन ने उनका आदेश मानकर युद्ध भी किया और विजय भी प्राप्त की, किन्तु इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि गीता कर्मयोग या प्रवृत्ति मार्ग का समर्थन करती है। अर्जुन के लिए तो कर्मयोग का उपदेश इसलिये करना पड़ा क्योंकि अर्जुन संन्यास का अधिकारी नहीं था। ब्राह्मण ही संन्यास का वास्तविक अधिकारी है। इसी कारण भगवान् अर्जुन को संन्यास की सम्मति नहीं दी, यद्यपि अर्जुन त्रैलोक्य के राज्य से भी निःस्पृह होकर भिक्षावृत्ति से जीवन बिताना अच्छा समझता था।[2]

दूसरी बात यह है कि अर्जुन पूर्ण विज्ञानवान् पुरुष नहीं था। वह एक साधारण तथा मोहग्रस्त व्यक्ति था। यदि वह ज्ञानी होता, एवं आत्मा तथा अनात्मा का उसे विवेक होता तो वह कदापि स्वजनों के वध से विचलित न होता। इसलिये उसके लिये कर्मयोग का उपदेश उचित ही था। किन्तु यह कर्मयोग का लक्ष्य नहीं है। गीता का लक्ष्य तो मुमुक्षु के लिए संन्यास मार्ग की स्थापना करना है।

प्रवृत्ति मार्ग की सत्व शुद्धि में उपयोगिता

आचार्य शंकर ने गीता-भाष्य के प्रारम्भ में स्वीकार किया है कि "इमं द्विप्रकारं धर्मं निःश्रेयस प्रयोजनम्।" किन्तु आगे चलकर जब वे दोनों में से केवल निवृत्ति लक्षण मार्ग को ही निःश्रेयस का साधन स्वीकार करते हैं तो यहाँ स्ववचन विरोध उपस्थित होता है। इस विरोध के परिहार के लिये उन्होंने यह समाधान दिया है कि प्रवृत्ति-मार्ग अभ्युदय के लिये और निवृत्ति मार्ग निःश्रेयस के लिए अनुष्ठित किया जाता है। प्रवृत्ति मार्ग स्वतन्त्र रूप से तो मोक्ष में उपयोगी नहीं है किन्तु जब यह निष्कामभाव से ईश्वर प्रणि-

1. तस्यास्य गीता शास्त्रस्य संक्षेपतः प्रयोजनं परं निःश्रेयसं सहेतुकस्य संसारस्यात्यन्तो परम लक्षणम् तच्च सर्व कर्म संन्यास पूर्वकादात्म ज्ञान निष्ठारूपाद धर्माद्भवति—गीता शांकर भाष्य का उपोद्घात।
2. एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्य राज्यस्य हेतोः किन्नु महीकृते॥

धानपूर्वक किया जाता है तब यह चित्त को शुद्ध करता है।[1] चित्त-शुद्धि के द्वारा ज्ञान प्राप्ति की योग्यता प्राप्त होती है। निरपेक्ष रूप में ज्ञान ही निःश्रेयस का एकमात्र हेतु है। इस प्रकार प्रवृत्ति मार्ग भी परम्परया निःश्रेयस की प्राप्ति में सहायक है।

ज्ञान से निःश्रेयस की भक्ति

आचार्य रामानुज और वैष्णव दार्शनिकों की दृष्टि में निःश्रेयस का मुख्य साधन भक्ति है। कर्मयोग से चित्त-शुद्धि और ज्ञान योग से आत्म ज्ञान होता है। आत्म ज्ञान से ईश्वर में अनुरक्ति होती है। इस प्रकार रामानुज के मत में ज्ञान भक्ति में सहायक मात्र है।[2]

आचार्य शंकर की मान्यता इसके विपरीत है। उनके मत में निःश्रेयस का प्रमुख साधन आत्मज्ञान है। सगुण ब्रह्म की उपासना रूप भक्ति ज्ञान-प्राप्ति में ही सहायक है। निःश्रेयस की प्राप्ति में उसकी साक्षात् उपयोगिता तनिक भी नहीं है। संसार के हेतुभूत मोह को दूर करने के लिए सम्यग की ही अपेक्षा है कर्म और भक्ति की नहीं। कर्म तो मोह का जनक होने के कारण बन्धन का ही कारण है। अर्जुन अज्ञानवश शोकसागर में निमग्न था। उसके अज्ञान के निवारण के लिये भगवान् ने जिस गीताशास्त्र का उपदेश किया उसका विषय आत्मज्ञान ही हो सकता है।[3]

ज्ञान कर्म समुच्चय का खण्डन

रामानुज आदि कतिपय भाष्यकारों ने गीता में ज्ञान कर्म समुच्चय के सिद्धान्त की स्थापना की है। उनका कहना है कि ज्ञान और कर्म दोनों मिलकर मोक्ष का अधिगम कराते हैं। दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। दोनों का समान महत्त्व है। इसके विपरीत आचार्य शंकर का मत है कि ज्ञान और कर्म का समुच्चय गीताकार को मान्य नहीं है। ये दोनों विरोधी मार्ग है। इनका समन्वय कदापि सम्भव नहीं। जिस प्रकार पूर्व समुद्र की ओर जाने वाले तथा उत्तर समुद्र की ओर जाने वाले पुरुष का मार्ग एक नहीं हो सकता, उसी प्रकार ज्ञान और कर्म का मार्ग भी एक नहीं हो सकता। दोनों का गन्तव्य पृथक्-पृथक् है।

अपने मत की पुष्टि में भाष्यकार आचार्य शंकर कहते हैं कि गीता में ज्ञान निष्ठा और कर्मनिष्ठा का पृथक् पृथक् व्याख्यान किया गया है। इनके साधक दो भिन्न कोटि के पुरुष हैं। ज्ञान योग सांख्यों के लिये और कर्म योग अभ्युदय के साधक योगियों के लिए अपेक्षित है।[4] ज्ञान के अनुसार आत्मा देह इन्द्रिय प्राणादि से सर्वथा पृथक् है। कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि धर्म भी आत्मा के नहीं हैं। अहंकार विमूढ होकर ही वह इन

1. अभ्युदयार्थमपि यः प्रवृत्ति लक्षणो धर्मो वर्णाश्रमान् चोद्दिश्य विहितः स देवादि स्थान प्राप्ति हेतुरापि सन् ईश्वरार्पण बुद्धया अनुष्ठीयमानः सत्त्व शुद्धये भवति—गीता शांकर भाष्य—उपोद्घात
2. मध्यमे भगवत्तत्त्व याथात्म्यावाप्ति सिद्धये।
   ज्ञान कर्माभि निर्वर्त्यो भक्तियोगः प्रकीर्तितः॥

   श्री यामुनाचार्य कृत गीतार्थ संग्रह
3. तत्रैवं धर्म सम्मूढ चेतसो महति शोकसागरे निमग्नस्य अर्जुनस्य अन्यत्रात्म ज्ञानादुद्धरणमपश्यन् भगवान् वासुदेवस्ततः अर्जुनमुद्धारयिषुः आत्मज्ञानाय अवतारयन्नाह—गीता शांकर भाष्य 2।1।10
4. लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ।
   ज्ञान योगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ —गीता 3।3

धर्मों को अपना समझता है ।[1] ये सब देह के धर्म हैं । किन्तु योग अर्थात् कर्मयोग के अनुसार कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि धर्म आत्मा की अपेक्षा रखते हैं । ये धर्म कर्म योग के अनुसार वास्तविक हैं कल्पित नहीं । किन्तु जब चित्त में निर्मल ज्ञानातिशय का उदय होता है तब इन कर्तृत्व भोक्तृत्व धर्म अधर्म आदि की आत्मा में कथमपि सम्भावना नहीं की जा सकती । इस प्रकार सम्यक् ज्ञान की पराकाष्ठा की दशा में कर्मयोग से विरोध उपस्थित होने के कारण दोनों का समुच्चय हो ही नहीं सकता । यही बात तो भगवान् बार-बार अर्जुन से कहते हैं कि बुद्धि से युक्त होकर तू कर्म के बन्धन को छोड़ देगा ।[2] श्रौत और स्मार्त समस्त कर्म अविद्या काम युक्त पुरुषों के लिए ही कहे गये हैं । ज्ञानी के लिए ये कर्म विहित नहीं हैं ।[3]

ज्ञान और कर्म का यह समुच्य उपनिषदों को भी मान्य नहीं है । ज्ञान और कर्म में यदि यह विरोध न होता तो उपनिषद् के ऋषि का यह कथन कदापि उपपन्न नहीं होता कि सब साधनों को त्याग कर आत्म ज्ञानी को संन्यास का ग्रहण कर लेना चाहिए ।[4] ज्ञान और कर्म का विरोध गीताकार को भी इष्ट है । यदि ऐसा न हो तो अर्जुन के इस प्रश्न की संगति न बैठ सकेगी कि—"आपके मत में यदि कर्म की अपेक्षा ज्ञान ही श्रेष्ठ है तो आप हमें इस भीषण संग्राम रूप कर्म में क्यों धकेल रहे हैं ।[5] यह प्रश्न यही सिद्ध करता है कि ज्ञान और कर्म का परस्पर विरोध है ।

यदि भगवान् कृष्ण को ज्ञान और कर्म का समुच्चय मान्य होता तो अर्जुन के लिए भी वह ग्राह्य होता ।[6] किन्तु अर्जुन का प्रश्न तो यह था कि—

"यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्"

—गीता 5।1

"तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्"

"इन दोनों में जो मार्ग श्रेयस्कर हो उसका निश्चय करके मुझे बताइये जिससे मैं कल्याण को प्राप्त कर सकूं ?" यह प्रश्न निश्चित ही असंगत होता यदि ज्ञान और कर्म का समुच्चय कथमपि सम्भव होता । यदि कोई पित्त के प्रकोप से ग्रस्त पुरुष वैद्य के पास जाये और वैद्य उसे यह कहे कि मधुर और शीतल वस्तु के सेवन से पित्त का शमन होता है तो वह पुरुष वैद्य से यह नहीं पूछेगा कि दोनों में से कोई एक ही वस्तु

1. अहंकार विमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते— गीता
2. एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु ।
   बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्म बन्धं प्रहास्यसि ॥ —गीता 2।39
   बुद्धि युक्तो जहातीह उभे सुकृत दुष्कृते—गीता 2।50
3. इत्य विद्या कामवत एव सर्वाणि कर्माणि श्रौतादीनि दर्शितानि- गीता शांकर भाष्य 2।1-10
4. तेभ्यो व्युत्थाय प्रव्रजन्ति—इति व्युत्थानमात्मानमेव लोकमिच्छतोऽकामस्य विहितम् । तदेद् विभाग-वचनमनुपपन्नं स्याद्यदि श्रौतकर्मज्ञानयोः समुच्चयोऽभिप्रेतः स्याद् भगवतः—
   गीता शांकर भाष्य 2।10
5. न चार्जुनस्य प्रश्न उपपन्नो भवति—
   ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
   तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥—गीता 3।1
6. किं च यदि बुद्धि कर्मणोः सर्वेषां समुच्चय उक्तः स्यादर्जुनस्यापि स उक्त एवेति—गीता शांकर भाष्य 2।10

बताइये जिससे पित्त का शमन हो।[1] यदि वह यह प्रश्न पूछता है तो निश्चित ही दोनों वस्तुओं में विरोध होगा। ठीक यही स्थिति अर्जुन के प्रश्न की भी है। यदि बुद्धि और कर्म दोनों का ही एक समान उपदेश गीताकार को अभीष्ट हो तो इनमें से किसी एक की ही उपयोगिता का प्रश्न कैसे सम्भव है ? किन्तु यदि प्रश्न किया गया है तो ज्ञान और कर्म का विरोध स्पष्ट ही परिलक्षित हो रहा है।

यदि यह माना जाये कि भगवान् ने ज्ञान कर्म-समन्वय का ही उपदेश दिया था किन्तु अर्जुन उसे न समझ सका। ऐसी स्थिति में भगवान् का यह उत्तर उचित था कि मैंने ज्ञान और कर्म दोनों के समन्वय का उपदेश दिया है, फिर तुम्हें संशय क्यों हो रहा है।[2] किन्तु भगवान् ने ऐसा उत्तर नहीं दिया। उन्होंने समन्वय का निर्देश नहीं किया अपितु उन्होंने तो दोनों के स्वतन्त्र महत्त्व पर प्रकाश डाला है। (द्वे निष्ठे मया प्रोक्ते)।

इस प्रकार आचार्य शंकर का यह सिद्धान्त पर्यवसित होता है कि गीता शास्त्र में श्रौत और स्मार्त कर्मों के साथ आत्मज्ञान का समुच्चय लेशमात्र भी प्रमाणित नहीं किया जा सकता।[3]

कतिपय समालोचकों की धारणा है कि गीता में जनक आदि राजर्षियों के दृष्टान्त दिये गये हैं जिन्होंने कर्मानुष्ठान से ही सिद्धि पायी थी। गीता भी इस तथ्य को स्वीकार करती है—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोक संग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥ 3।20

इससे सिद्ध होता है कि गीता को ज्ञान के साथ कर्म का समुच्चय मान्य है।

आचार्य शंकर को यह मत मान्य नहीं। उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या में उनका कथन है कि जनक आदि को तत्त्व ज्ञान नहीं था। उन्होंने ईश्वरार्पण-बुद्धि से किए गए कर्मों के द्वारा केवल चित्त की शुद्धि प्राप्त की थी। कर्मानुष्ठान से उन्हें ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई थी। यदि वे जनकादि सम्यग्दर्शन से युक्त थे तब तो उन्होंने जो कर्म किये थे केवल लोक संग्रह के लिये किये। अतः कर्म का त्याग किये बिना ही सिद्धि को प्राप्त हुए। यदि वे असम्यग् ज्ञानी थे तब तो उन्होंने सत्त्व शुद्धि के द्वारा ज्ञान प्राप्त करके तदनन्तर सिद्धि को प्राप्त किया।[4]

इस प्रकार उपर्युक्त श्लोक से ज्ञान और कर्म का समुच्चय प्रमाणित नहीं होता। उससे इतना ही प्रमाणित होता है कि कर्तृत्व भावना से रहित होकर ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करने से चित्त शुद्धि होती है। चित्त-शुद्धि से ज्ञान प्राप्ति में सहायता मिलती है। कैवल्य की प्राप्ति केवल तत्त्वज्ञान से होती है, ज्ञान कर्म समुच्चय से नहीं। यही गीता का निश्चित अर्थ है।[5]

1. न हि पित्त प्रशमनार्थिनो वैद्येन मधुरं शीतं च भोक्तव्यमित्युपदिष्टे तयोरन्यतरत् पित्त प्रशमन कारणं ब्रूहीति प्रश्नः सम्भवति—तदेव
2. मया बुद्धि कर्मणोः समुच्चय उक्तः किमर्थमित्थं त्व भ्रान्तोऽसि—गीता शांकर भाष्य 2।10
3. तस्माद् गीता शास्त्रे ईषन्मात्रेणापि श्रौतेन स्मार्तेन वा कर्मणाऽऽत्मज्ञानस्य समुच्चयो न केनचिद् दर्शयितुं शक्यः—तदेव
4. यदि ते प्राप्त सम्यग्दर्शनास्ततो लोक संग्रहार्थे प्रारब्ध कर्मत्वात् कर्मणा सहैवासंन्यस्यैव कर्म संसिद्धि मास्थिता इत्यर्थः। अथाप्राप्त सम्यग्दर्शना जनकादयस्तदा कर्मणा सत्त्व-शुद्धि साधनभूतेन क्रमेण संसिद्धमास्थिता इति व्याख्येयः श्लोकः—गीता शांकर भाष्य 3।20
5. तस्माद् गीता शास्त्रे केवलादेव तत्त्व ज्ञानान्मोक्ष प्राप्तिर्न कर्म समुच्चितादिति निश्चितोऽर्थः।—
गीता शांकर भाष्य 2।10

निष्कर्ष रूप में आचार्य शंकर के द्वारा स्वीकृत अद्वैतवाद के निखिल सिद्धान्त अविकल रूप में गीता में प्रतिपादित हैं। आत्मा निर्गुण और निर्विशेष है। ब्रह्म और आत्मा में लेशमात्र भी अन्तर नहीं है। जगत् मिथ्या है। यह माया का परिणाम है। रामानुज के मतानुसार माया ब्रह्म की शक्ति है और यथार्थ है[1] किन्तु आचार्य शंकर की दृष्टि में माया शब्द मिथ्या अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उन्होंने उसे सर्वभूत मोहिनी कहा है।[2]

अन्य भाष्यकारों ने ज्ञान के साथ भक्ति को भी निःश्रेयस के लिए समान महत्त्वपूर्ण माना है।[3] किन्तु आचार्य शंकर ज्ञान के साथ भक्ति का भी समन्वय नहीं करते। भक्ति से जहां वासुदेव पद की प्राप्ति कही गई है वहां भक्ति से ज्ञान लक्षण भक्ति का ही ग्रहण किया जाना चाहिये ऐसा उनका मत है। उपासना रूप भक्ति में भी चूंकि द्वैत भाव निहित है इसलिए वह परम पुरुषार्थ की प्राप्ति नहीं करा सकती। उपासना का आश्रय लेने वाला साधक क्षुद्र ब्रह्मवेत्ता होने के कारण कृपण दीन और क्षुद्र माना गया है।[4]

संक्षेप में इस महनीय गीता शास्त्र की आचार्य शंकरानुमोदित यही विशेषताएं हैं जिस कारण यह तत्त्वान्वेषणपरायण निःश्रेयसाभिलाषी सुधीजनों के लिए सुतराम सेवनीय हो गया है। ओंशम्

1. मन्त्रौषधादिरेव च तत्र माया—गीता रामानुज भाष्य 7।14
2. मायामेतां सर्वभूतमोहिनीं तरन्त्यति क्रामन्ति संसार बन्धनाद् मुच्यन्त इत्यर्थः—गीता शांकर भाष्य 7।14
3. आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
   कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्ति मित्थं भूत गुणो हरिः। श्रीमद्भागवत 1।190
4. उपासनाश्रितो धर्मसाधको येनैवं क्षुद्रब्रह्मवित् तेनासौ कारणेन कृपणो दीनोऽल्पकः स्मृतः—
   माण्डूकोपनिषद् शांकर भाष्य।

श्री शंकराचार्य और भारतीय धर्म-साधनाएँ

डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

लोकमान्य ने लिखा है कि बुद्धि की चलनी में संसार को चाला जाय तो दो तरह की सत्ता स्पष्ट दिखाई पड़ती है - एक चिन्मय और दूसरी जड़, एक आत्मतत्व और दूसरा अनात्म। साधना की दृष्टि से अनात्म के चार पक्ष लिये जा सकते हैं—काम, प्राण, शुक्र और मन। मानव मात्र के चार पक्ष चंचल या अस्थिर हैं —फलतः अविश्रान्त हैं। इनसे अज्ञान-जन्य तादात्म्यवश आत्मा भी निरन्तर स्वरूप विस्मृति के कारण अविश्रान्ति का अनुभव करता रहता है। प्राणी के स्वभाव में नित्य, निरतिशय विश्रान्ति की अदम्य कामना है—पर अविद्या, अनादि अविद्या के प्रभाववश आत्मा इच्छा की प्राप्ति नहीं कर पाता, विपरीत इसके अनिष्ट की प्राप्ति करता रहता है। ऐसा क्यों? कठोपनिषत्कार कहता है—पराचि खानि व्यतृणत स्वयम्भू स्मात्पराङ् पश्यतिनान्तरात्मन कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन्।

अर्थात् स्वयम्भू ने इन्द्रियों (ज्ञानसाधनों) को बहिर्मुख बनाया है—इसीलिए वह बाहर देखती है न कि अन्तरात्मा को। ऐसा ही कोई धीर होगा जो प्रत्यगात्मा की अपरोक्षानुभूति करता है— अमृत की इच्छा करता हुआ अपनी इन्द्रियों को उलटकर। अभिप्राय यह कि अनादि कर्मजाल प्राणियों के अन्तस् में सुरक्षित है। वही इस अनर्थ के मूल में है। बात यह है कि जिन्हें जीवन मिला है—उन्हें जीवन की इच्छा मिली है और इच्छा मिली है तो उसे चरितार्थ भी करने को वह विवश है। चरितार्थता की इस प्रक्रिया में जीव संसार के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—विषयों से सम्पर्क करता है -- उनका ग्रहण करता है—ग्रहण-जन्य आस्वाद या उपभोग के संस्कार मन में जम जाते हैं और वे अपनी तृप्ति में इष्ट विश्रान्ति की संभावना देखते हैं। इस प्रकार कर्म से संस्कार, संस्कार से प्रवृत्ति का कभी न टूटनेवाला चक्र चलता रहता है। त्रिगुणात्मक जड़ जगत के इस चक्र में अज्ञानतावश आत्मा आरोपित अविश्रान्ति का कष्ट जो उसे अनिष्ट है —भोगता रहता है। इस चक्र का भंग अन्तःकरण में आत्मा के प्रति जो पराभाव है—उसे हटाकर प्रत्य-भाव के आधान से सम्भव है। यही साधना की बात आती है—उसे कैसे किया जाय -- अनात्म के काय, शुक्र, प्राण और अन्तःकरण में व्याप्त अस्थिरता को किस प्रकार निश्शेष किया जाय? चक्षु को किस प्रकार आवृत्त किया जाय कि आत्मा के प्रति उसमें औन्मुख्य आ जाय? कठिन तो बहुत है—तभी गीता का गान करनेवाला कहता है—

> मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
> यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

हजारों हजार लोगों के बीच इस दिशा में सिद्धि प्राप्त करने के लिये कोई एक यत्नशील होता है और उनमें से कुछ एक को सिद्धि मिल भी जाय तो भी उनमें से ऐसा ही कोई धीर पुरुष होता है जो स्वरूप

स्मृति कर विश्रान्ति लाभ कर सकता है अर्जुन जैसा भगवदनुग्रह प्राप्त साधक कहता है—

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

हे कृष्ण, यह मन नितान्त अस्थिर है, बड़ा बलवान है—अपने अनात्मभोग पर ही दृढ़ रहता है—मथ डालता है । जिस प्रकार वायु को बाँधकर स्थिर करना दुष्कर है—वैसे ही मन की बात है । अस्थिर मन है और उसके अस्थिर तथा अविश्रान्त होने से सभी अस्थिर और अविश्रान्त हैं—चाहे काय हो, शुक्र हो या प्राण । इन्हें कैसे स्थिर कर आत्मा की ओर उन्मुख किया जाय ? इनका स्थिर होना कर्मज संस्कार के ध्वस्त होने पर ही सम्भव है—इसका ध्वंस किस प्रकार हो ? कर्म का भोग, भोग का कर्म—यह चक्र कैसे समाप्त हो ?

साधकों ने इसके लिए एक-एक को पकड़कर शेष को विश्रान्त करना चाहा है—क्योंकि सभी परस्पर सम्बद्ध हैं—काय, शुक्र, प्राण एवं मन । रुचि भेद और संस्कार भेद से साधक मार्गभेद कर लेते हैं । भेद मार्ग या पद्धति में ही सम्भव है—गन्तव्य या नित्य, निरतिशय विश्रान्ति स्वरूप, स्वरूप विश्रान्ति में नहीं । कोणभेद से वहाँ भेद दिखायी पड़ता है तो वह आरोपित होता है—वास्तविक नहीं । वास्तव में यदि किसी कोण से न देखे—तो वह वागोचर है । अतः गन्तव्य में भेद नहीं होता—पद्धति में ही भेद होता है और साधकगण रुचिभेद से उसे ग्रहण करते हैं ।

एक वर्ग ऐसा है जो काय की अविश्रान्ति पर बल देता है अपना प्रस्थान बनाता है । एक बात अत्यन्त स्मरणीय है और वह यह कि हर साधक को अपनी निष्ठा दूसरी ओर से हटाकर अपने मार्ग पर केन्द्रित करनी चाहिए । यदि वह अन्य मार्ग को छोटा कहता है या दोषदर्शन करता कराता है तो उसका मतलब यह नहीं है कि उससे दूसरे का मार्ग उसके लिए भी छोटा या दूषित हो जाता है । नहीं, बिल्कुल नहीं । प्रत्येक साधक का मार्ग उसके लिए उसके लिए सर्वोपरि है । उसका मनन भी निरन्तर दूसरों में प्रतिरूपता देखता हुआ अपने की पुष्टि में लगा रहे—तभी उसकी निष्ठा और आस्था अडिग होगी—तभी उसकी साधना फलवती होगी । फलतः मैं जिस साधनामार्ग की बात जिसके पक्ष मे करूँगा—सम्भव है दूसरों में दोषदर्शन का भी प्रसंग आ जाय । इस बात से पाठकों को आगाह करना भी आवश्यक है ।

सम्प्रति, काय साधना से आरम्भ करनेवालों का पक्ष प्रक्रान्त है । हर साधना या आचार के पीछे उसके विचार होते हैं—जो उसे हस्तावलम्ब प्रदान करते हैं । इन लोगों (नाथपन्थियों) में यह विचार प्रचलित है कि अनात्म संसार, त्रिगुणात्मक जगत् स्वरूपतः मिथ्या नहीं है—इसका अन्यथा प्रतिभास हमारे अज्ञान के कारण है—दृष्टिदोष के कारण है । यदि यह दृष्टिदोष हट जाय तो दृश्य जगत् जड़ नहीं, चिन्मय प्रतीत होगा—चिद् विलास प्रतीत होगा—चित् का ही स्फार या परिणाम प्रतीत होगा—तत्वतः चित्‌रूपी मिट्टी का रूपान्तर जान पड़ेगा । जिस प्रकार विज्ञान मानता है कि 'मास' 'एनर्जी' का रूपान्तर है—वैसे ही ये भी मानते हैं कि जागतिक पदार्थ शक्तिव्यूह ही है—शक्ति का रूपान्तर ही है । अन्तर इतना ही है कि विज्ञान अभी उसके जड़ रूप तक ही जान पाया है—नाथ परम्परा उसके भी मूल चिन्मय शक्ति को जानती है—यह स्पन्दात्मा शक्ति जगत् है—जो पिण्ड रूप में परिणत है—यह पिण्ड निराकार से साकार तक षड् विध है—जिसकी चर्चा आगे की जायेगी । स्पन्दात्मा शक्ति है तो निःस्पन्द की भी सत्ता माननी ही पड़ेगी । मूल सत्ता के ये दोनों पक्ष हैं—पर उसे तत्वतः दो नहीं कहा जा सकता—चन्द्र और चन्द्रिका की भाँति है । नाथ लोग स्पन्दात्मक पक्ष को 'शक्ति' और निःस्पन्दात्मक पक्ष को 'शिव' कहते हैं—पर तत्वतः दोनों में कोई अन्तर नहीं है ।

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः ।

अन्तरं नैव पश्यामि चन्द्र चन्द्रिकयोरिव ।

दोनों में अनुस्यूत हैं—पर उनमें 'द्वैत' नहीं है—इसीलिए द्वैत-सापेक्ष होने से उसे 'अद्वैत' भी नहीं कह सकते—वह समरस तत्त्व है। इसीलिए उनके यहाँ कहा गया है—

द्वैतं वाद्वैत रूपं द्वयत उत परं योगिनां शंकरं वा ।

नाथयोगियों का शंकर न द्वैतमय है न अद्वैतमय—वह इन दोनों के अतीत हैं—दो का नित्य समरस रूप है—शक्ति के परिणामभूत सस्पन्द पिण्ड और निःस्पन्द परमपद—दोनों का समभावपिन्न रूप है। नाथ के कोण से गन्तव्य का यही रूप कहा-सुना जाता है। इसे वे लोग 'पिण्डपदसामरस्य' की भी संज्ञा देकर अपनी पहचान अलग बना लेते हैं। इनकी साधना इसी गन्तव्य या साध्य की उपलब्धि के लिए है—यही सामरस्य चरम विश्रान्ति है।

इस सन्दर्भ में एक बात और भी स्मरणीय है और वह यह कि कायसाधना या पिण्डसाधना का अर्थ यह नहीं है कि शुक्र, प्राण तथा मन को असंयत रहने दिया जाय—नहीं, संयम तो उन पर भी रखना होगा पर प्राधान्य पिन्डसाधना पर केन्द्रित होगा। जिस पिण्ड साधना की बात की जा रही है—उसे समग्रतः जानकर ही किया जाना चाहिए। अज्ञानपूर्वक की गयी साधना बलवती नहीं होती—अतः 'पिण्ड' से क्या अभिप्राय है—नाथों का, यह जानना होगा। विश्व के सम्बन्ध में ऊपर जो पक्ष दार्शनिक दृष्टि से रखा गया है—उससे स्पष्ट है कि जो लोग जड़ तथा चेतन का अत्यान्तिक विरोध मानते हैं—वे भ्रान्त हैं। नाथ दृष्टि से वे भ्रान्त हैं। कारण, यहाँ चिन्मयी शक्ति ही जड़वत होकर प्रसुप्त हो जाती है—ब्रह्माण्ड में भी और उसकी प्रकृति पिण्ड में भी - ब्रह्माण्ड की भांति पिण्ड में भी चेतन और पिण्ड (शरीर) का भद तब तक नहीं मिटता जब तक पिण्डपद समरसीकरण नहीं होता। नाथयोगी जिस कर्म कौशल से पिण्ड का चिन्मयीकरण कर परमपद से समरमीकरण करते हैं—उसे ही 'नाथ योग' कहा जाता है। इस मान्यता के आलोक में ही इनकी पिण्डसाधना समझी जा सकती है।

नाथसिद्ध मानते हैं कि मुक्ति पूर्ण मुक्ति ज्ञान से ही नहीं होती—प्रारब्ध तब भी शेष रह जाता है। हम लोग कर्म को अनादि मानते हैं—उसको जो अंश फल—जाति, आयु और भोग—भोग के लिए आरब्ध हो जाता है—वह प्रारब्ध है और जो बचा रहता है—वह अनारब्ध या संचित है। क्रियमाण आरब्ध या प्रारब्ध का परिणाम है। इस प्रकार कर्म के तीन रूप हुए—आरब्ध या प्रारब्ध तथा अनारब्ध या संचित। इनके साथ तीसरा रूप है—क्रियमाण। क्रियमाण (भोग) से संचित, संचित से प्रारब्ध और प्रारब्ध से क्रियमाण। मुक्ति की पूर्णता इस पूर्ण चक्र से मुक्ति है ज्ञान से 'संचित' भस्म होना है—पर प्रारब्ध नहीं। गीता में अर्जुन को भगवान कृष्ण कहते हैं—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेर्जुन ।

यहाँ सर्व कर्म से अभिप्राय 'संचित' कर्म से ही है। कारण, आप्त प्रमाण कहता है—नाभुक्तं क्षीयते कर्म—कर्म अर्थात प्रारब्ध बिना भोग के क्षीण नहीं होता। सामान्यतः विधि भी है—

प्रारब्धं न परिशोधयेत्

प्रारब्ध का परिशोधन नहीं करना चाहिए। नाथसिद्धपूर्ण मुक्ति के लिए प्रारब्ध का परिशोध आवश्यक मानते हैं। प्रारब्ध जय के लिए खड्ग भी चाहिए और बल भी। निर्बल या बलहीन व्यक्ति को खड्ग मिल भी जाय—तो विजय हासिल नहीं कर सकता। यहाँ ज्ञान खड्ग है और योग बल। दोनों से पूर्ण विश्रान्ति रूप पिण्डपद समरसीकरण संगत है यही मुक्ति है।

यह अविश्रान्ति स्वरूप पर पड़े हुए सभी आवरणों में व्याप्त है। पिण्डपद समरसीकरण रूप

सहजावस्था की उपलब्धि से पूर्व जो कुछ भी है—असहज है—इसीलिए अ-विश्रान्ति है। इस आवरण को भिन्न-भिन्न धाराओं में भिन्न-भिन्न नाम दिये गये हैं। एक जगह हम उसे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश कहते हैं और अन्यत्र इड़ा-पिंगला, सुषुम्णा, वज्रा, चित्रा और ब्रह्मनाड़ी कहते हैं। सहजावस्था के इन आवरणों में—अविश्रान्ति या विकल्प व्याप्त है। इस विकल्प के रूप इन आवरणों में—बदलते रहते हैं। स्थूल शरीर की इड़ा-पिंगला नाड़ियों में वायु, प्राण-अपान के द्वन्द्व में प्रवाहित है—जो अविश्रान्त है। प्राणसाधना से जब प्राण-अपान अपना वक्रभाव त्यागकर ऋजुभाव में आ जाते हैं। तब सुषुम्णा का मार्ग खुल जाता है और वही सूक्ष्म वायु का ऊर्ध्वगति तथा अधोगति के रूप में संचार होने लगता है। इस अभ्यास के प्रगाढ़ और परिपक्व होने पर मनोराज्य का पता चलता है और प्राणक्रिया मनःक्रिया के रूप में बदल जाती है है। वज्रा में संकल्प-विकल्प के रूप में वही द्वन्द्व आरम्भ हो जाता है। इस साधना के प्रगाढ़ होने पर अर्थात विकल्प बुद्धि के शान्त होने पर—विज्ञानमय कोश का पता चलता है—चित्रा नाड़ी में प्रवेश होता है—वहाँ संकल्प का आविर्भाव और तिरोभाव चलता है। धीरे-धीरे जब संकल्प का भी तिरोभाव होने लगता है—तब आनन्दमय कोश या ब्रह्म नाड़ी का पता चलता है—वहाँ निर्विकल्प अवस्था का उदय होता है। यहाँ भी अविश्रान्ति ही रहती है। इसके बाद सहजावस्था आती है—जो सद्‌गुरु की कृपा के बिना असम्भव है। कहा गया है—

दुर्लभा सहजावस्था सद्‌गुरोः करुणां बिना।

यही विश्रान्ति दशा है—यहाँ सारे द्वंद्व परिसभास हो जाता है।

इस सिद्ध के लिए नाथ योगी प्राणोपासना करते हैं—प्राणसाधना का मार्ग अपनाते हैं। जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। प्राण-अपान का समीकरण। इसे ही हठयोग कहा गया है। हठयोग की एक क्रिया मार्कण्डेय मुनि द्वारा प्रवर्तित थी—नाथसिद्ध गोरक्षनाथ ने उसमें कुछ और परिष्कार किया। हठयोग 'ह' और 'ठ' का योग है—'ह' का अर्थ देहस्थित 'सूर्य' हे और 'ठ' का चन्द। इस दोनों की समीकरण से शरीर या काय के सब प्रकार के दोष नष्ट हो जाते हैं। दोनों के नष्ट हो जाने से दोषजनित जड़ता भी नष्ट हो जाती हैं। हठयोग से कायसिद्ध होती है और तब जीवभाव समाप्त हो जाता है—जीवात्मा और परमात्मा का एकात्म्य हो जाता है—इसे ही राजयोग की परिणति माना जाता है। हठयोग राजयोग के बिना पूरा नहीं होता। हठयोग राजयोग की सीढ़ी है—कहा गया है—

हठं बिना राजयोगो राजयोगं बिना हठः।
न सिद्धयति ततो युग्मभानिष्पत्तिः सम्यसत्॥

अर्थात् हठयोग के बिना राजयोग और राजयोग के बिना हठयोग अधूरा है। फलतः जब तक सहजावस्था न मिल जाय—तब तक सद्‌गुरु के निर्देशन में दोनों का साथ-साथ अभ्यास करता रहे। जिस प्रकार हकार और ठकार के योग को हठयोग कहते हैं—उसी प्रकार रजस् और रेतस् के योग को राजयोग कहते हैं। हठयोग से पिण्डसिद्धि या कायसिद्धि और कायसिद्धि से राजयोग द्वारा समाधिसिद्धि होती। राजयोग से समाहित होने पर निरुत्थान दशा में जीवात्मा, परमात्मा पिण्ड पद का समरसीकरण होने पर चित्त का लय हो जाता है, वायु स्थिर हो जाती है—बिन्दु भी स्थिर हो जाता है। इसलिए कहा गया है—

मनः स्थैर्ये स्थिरो वायुः ततो बिन्दुः स्थिरो भवेत्।
बिन्दुस्थैर्यात् सदा सत्त्वं पिण्डस्थैर्यं प्रजायते॥

हाँ, तो राजयोग शब्द का अर्थ निरूपण किया जा रहा था। जिस राजयोग से निरुत्थान दशा में सहजावस्था की बात कही गयी है—वहाँ एकमात्र परसत्ता और उसकी स्वरूप शक्ति समभावापन्न होकर रहती है। योगशिखोपनिषद् में कहा नया है कि महापीठ योनि में देवीतत्त्वस्वरूप रक्तवर्ण 'रज' और ऊपर

चन्द्रमण्डल में बिन्दु या रेतुस् स्वरुप शिवतत्त्व विराजमान है। इस प्रकार ब्रह्मपथ के दो शिराओं पर नित्य-मिलित दोनों तत्त्व कृत्रिम रूप से पृथक्-पृथक् अवस्थित जान पड़ते हैं। इन्ही रजस् और रेतस् का योग राजयोग है। इन्ही सब बातों को ध्यान में रखकर नाथयोग का महायोग कहा गया है और फिर—

एक एव चतुर्द्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते।

यह एक ही अखण्ड महायोग चार रूपों में विभक्त माना जाता है—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग, और राजयोग। मन्त्र योग में मन्त्र का जय और लययोग में चित्त का निरोध आता है। हठयोग के बीस अंग है—यम, नियम, आसन; प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा; ध्यान और समाधि—अरेठ तथा महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, जालन्धर, उड्डीयान, मूलबन्ध, नादानुसन्धान, सिद्धान्त, श्रवण, वज्रोली, अमरोली और सहजोली—बारह। इस हठयोग के अभ्यास से ही राजयोग में प्रवेश होता है। मनुष्य के देह में प्राणशक्ति श्वास-प्रश्वास के रूप में क्रीड़ा करती है। योगियों का कहना है कि वह प्राणशक्ति बाहर निकलते समय श्वास में 'हम्' (हं) ध्वनि होती है और भीतर जाते समय प्रश्वास में 'सः'। गुरुकृपा से योगलाभ होने से—अर्थात् उनके मुख से उच्चारित दीक्षा के महात्म्य से यही जय सुषुम्णा मार्ग में विपरीत हो जाता है—सो हम—बन जाता है—निष्प्रयास होने लगता है—यही अजपा जाप भी है क्योंकि इसके गान से त्राण होता है। जिसके गान से त्राण होता है—वही गायत्री है।

ऊपर कहा गया है कि नाथों की असाधारण साधना काय-साधना है—पिण्ड की स्थिरीकरण है। शुक्र स्वयं अस्थिर है—अतः उससे उत्पन्न शरीर भी अस्थिर है—अतः प्राणसाधना द्वारा चिदाग्नि का जागरण कर इस सप्तधातुमय देह को दग्ध कर सिद्ध देह का आविर्भाव करना पड़ता है। इसकी सिद्धि होने पर अपने देह में छह चक्र, सोलह आधार, तीन लक्ष्य और पाँच आकाशों का पता लगता है—जब तक इनका पता न लगे—तब सिद्धि नहीं समझनी चाहिए। हठयोगी और राजयोगी सभी मानते हैं कि गुरु निर्दिष्ट क्रिया से ही यह सम्भव है। षटचक्र तो स्पष्ट ही हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा। स्वरूप शक्ति अधोमुखी होकर अपने ही भीतर चन्द्रजाल का उद्‌भत करती हुई बद्ध होती है और अन्ततः जड़वत प्रसुप्त हो जाती है। ब्रह्माण्ड में वह शेषनाग और पिण्ड में कुण्डलित होने के कारण कुण्डलिनी कही जाती है। तीन लक्ष्य हैं—अन्तर्लक्ष्य, बहिर्लक्ष्य तथा मध्यलक्ष्य। कहीं-कहीं अन्तर और बाह्य दो ही लक्ष्य कहे गये हैं। अन्तर्लक्ष्य सुषुम्णा के अन्तर्गत कुण्डलिनी मध्य स्थिति आकाश का साक्षात्कार है। नासिकाग्र में चार अंगुल से बारह अंगुल तक प्रधानतः नील और पीत वर्ण वाले आकाश का दर्शन बहिर्लक्ष्य है। मध्यलक्ष्य है—निकटवर्ती अन्तरिक्ष में सूर्य, चन्द्र और बहु निज्वाला का दर्शन। मध्यलक्ष्य में ही अभ्यासवश क्रमशः आकाश, पराकाश, महाकाश, तत्वाकाश और सूर्याकाश—ये पंचव्योम या पाँच आकाश दृष्टिगोचर होते हैं। जहाँ तक षोडश आधार का सम्बन्ध है—उनका विवरण इस प्रकार -(1) पादांगुष्ठाधार (2) मूलाधार (3) गूढ़ाधार (4) मेढ़ाधार (अण्डकोष) (5) उड्याणाधार (6) नाभ्याधार (7) हृदयाधार (8) कण्ठाधार (9) घण्टिकाधार (10) ताल्वाधार (11) जिह्वाधार (12) भ्रूमध्याधार (13) नासाधार (14) ललाटाधार (15) ब्रह्मरन्ध्राधार। अन्तर्लक्ष्य में जिन-जिन का का ध्यान होता है—उस सन्दर्भ में भ्रमरगुहा की बात भी आयी है।

पर वह सबकुछ सन्मार्ग निर्देशक सद्‌गुरु की कृपा से बिना असम्भव है। यही सन्मार्ग योगमार्ग है—उससे भिन्न पाखण्ड मार्ग है सिद्ध सिद्धान्त पद्धति में कहा गया है—

गुरुस्त्र सम्यक् सन्मार्गदर्शन शीलो भवति, सन्मार्गश्च योगमार्गः।
तदितरस्तु पाखण्डमार्गः॥ (पृष्ठ 91)

(2) बिन्दु साधना

सारी आध्यात्मिक साधनाएं किसी-न-किसी नाम रूप से अनादिकाल से परम्परा में मौजूद हैं। ऊर्ध्वरेतस् संज्ञा कितनी प्राचीन है ? बिन्दु सिद्धि उर्ध्व रेतस् होने में ही है। इस धारा का विशेष प्रकाश बौद्धसिद्धों में हुआ। ऊपर कहा जा चुका है कि स्वरूप विश्रान्ति हमारा लक्ष्य है—पर तदर्थ अशुद्ध काय, प्राण, शुक्र तथा मन की शुद्धि है। अशुद्धि अर्थात् विश्रान्ति। जिस प्रकार नाथसिद्धों ने परम्परा में विद्यमान प्राणयानसमीकरण द्वारा कामशुद्धि की धारा का प्रतिष्ठापन किया—उसी प्रकार तान्त्रिक बौद्धसिद्धों ने बिन्दु साधना का मार्ग ग्रहण किया और उसकी असिधार परम्परा उजागर की।

विश्रान्ति अनिष्ट की निवृत्ति से होती है और इष्ट की प्राप्ति से। पहला अभावात्मक है और दूसरा भावात्मक। वात यह है कि बौद्धों में साध्य के सम्बन्ध में आरम्भ से ही दो तरह के पक्ष प्रचलित हैं—एक है—वासनादमन और दूसरा है—वासनाशोधन का। पहला दुःख के—अविश्रान्तिजनित दुःख से छुटकारा पाने के लिए उसके निमित्त विषयासक्ति का उच्छेद करना चाहता है। जब तक विषयों के प्रति आसक्ति रहेगी—काय, प्राण, मन, शुक्र सभी अविश्रान्ति का अनुभव करेंगे—अतः उसका विनाश या समुच्छेद ही आवश्यक है। उनका खयाल है कि आत्मा नाम की कोई स्थिर सत्ता नहीं है—शेष जो कुछ है वह क्षणिक फलतः निरन्वय विनाशशील है। चेतना के नाम पर चित्त है जो विषय वासना के कारण वृत्तिमान रहता है। दीपक के दृष्टान्त से अपनी बात स्पष्ट करते हुए उनका कहना है कि चित्त दीप की तरह है—उसकी वृत्ति दीपशिखा है और तेल के स्थान पर विषयासक्ति है। शील से समाधि और समाधि से प्रज्ञा का उदय होता है और प्रज्ञा से चित्त दीप की ज्वाला शान्त हो जाती है। जन्म-मृत्यु का चक्र समाप्त हो जाता है।

दूसरा आदर्श है—पहले की तरह वासना दमन का नहीं—वासनाशोधन का। पहला मानता है कि वासना मलिन ही होती है—अतः उनका क्षय ही काम्य है—दूसरी धारा शोधनवश उसकी शुद्धि का पक्षधर है—अतः वह शुद्ध वासना मानती है। इससे देहशुद्धि भी होती है जिससे लोककल्याण किया जाता है। शरीर की भूख मलिन वासना के कारण है पर शरीर की सर्वथा उपेक्षा कर लोकहित सम्पादन शुद्ध वासनावश है। लोकहित में जब लोकहित की भी वासना शान्त हो जाती है—तब उसका भी क्षय हो जाता है और पूर्णता का लाभ हो जाता है। इस पूर्ण लाभ को ही बुद्धत्व लाभ कहा जाता है। पहला आदर्श हीनयान का है और दूसरा महायान का। विद्वानों की धारणा है कि हीनयान में भी महायान के बीज निहित थे—जो अनुकूल समय पाकर बाद में अंकुरित हुए। श्रावक यान या हीन यान में व्यक्ति मुक्तिकामिना थी जबकि महायान में समष्टि मुक्तिकामिता थी। मध्यवर्ती है—प्रत्येक बुद्धियान—इनका भी लक्ष्य दुःखनाश तथा व्यक्तिगत बुद्धत्व की उपलब्धि थी—अर्थात् स्वयं बुद्धत्व लाभ करके औरों के भी दुःखनाश में सहायता करना। बुद्धत्व लाभ उसी को होता है जिसमें परार्थवासना होती है—श्रावकयान में परार्थवासना नहीं होती—अतः वहाँ बुद्धत्व लाभ नहीं होता, केवल मलिनवासनाजनित क्लेश का क्षय हो जाता है—निर्वाण प्राप्त हो जाता है। परार्थपासना जिसमें होती है वह बोधिसत्व कहा जाता है। बोधिसत्व का अर्थ है—"बौधौ सत्वमभिप्रायो यस्य सः बोधिसत्वः"—अर्थात् बोधि या बुद्धत्व की उपलब्धि जिसका लक्ष्य है—वह बोधिसत्व कहा जाता है। बोधि सत्त्व की दशा अज्ञान की ही दशा है—पर यह अज्ञान क्लिष्ट नहीं, अक्लिष्ट है। बोधिसत्व की दस भूमियां मानी गई हैं। भूमिप्रविष्टप्रज्ञा का विनाश होते-होते इस अक्लिष्टअज्ञानकी भी निवृत्ति हो जाती है। तबबोधिसत्व बुद्धत्व की उपलब्धि करते हैं—यही अद्वय दशा है। हीनयानियों के यहां मुद्गल नैरात्म्य का बोध हो जाता है—पर धर्म नैरात्म्य शेष रह जाता है—इसीलिए वहां तब भी द्वैत रह जाता है—अक्लिष्ट

अज्ञान की निवृत्ति होने पर—द्वैत की पूर्ण निवृत्ति होती है। तब नैरात्म्य दृष्टि से ज्ञाता और ज्ञेय का समरसी भाव हो जाता है। हीनयानियों की श्रुत चिन्ता भावनामयी 'प्रज्ञा' से महायानियों की भूमिप्रविष्ट प्रज्ञा में अन्तर है। जिस प्रकार पातंजल दर्शन में विवेक ज्ञान या विवेकख्याति और विवेकजज्ञान (अनौपदेशिक प्रातिभ ज्ञान) है—पहले से मात्र कैवल्य और दूसरे से ईश्वरत्व का लाभ होता है—वैसा ही भेद यहां भी समझना चाहिए। जैन साधनों में भी यह भेद है—वहां केवल ज्ञान सबको हो सकता है—पर तीर्थंकर सब नहीं हो सकते। इनके यहां भी विकास की चौदह भूमियां हैं जिन्हें चतुर्दश गुणस्थान कहा जाता है। त्रयोदश गुणस्थान पर तीर्थंकरत्व का प्राकट्य होता है परन्तु सिद्ध अवस्था का उदय चतुर्दश भूमि पर होता है। शैवसाधकों में भी अद्धाध्वा से श्रद्धध्वा में उत्थानक्रम और अधिकार वासना तथा योगवासना की निवृत्ति से शिवत्व का लाभ होता है।

महायान पथ हीनयान की अपेक्षा व्यापक है—करुणा के कारण हृदय का जो विकास वहां है—वह यहां नहीं है। महायान पथ में दो नय हैं—पारिमितानय और मंत्रनय। यद्यपि लक्ष्य दोनों का एक है—तथापि अनेक कारणों से दोनों में अन्तर है—पद्धति भेद हैं। मंत्रनय है अत्यन्त प्राचीन, पर नितान्त दुष्कर होने के कारण सर्वसाधरण के लिये अप्रकाश्य था। उसमें बड़ी शक्ति है—अतः उसके दुरुपयोग की सम्भावना थी—फलतः वह गोपनीय था।

महायान के बाद तृतीय धर्म चक्र प्रवर्तन में वज्रयान आया। मंत्रनय इसी यान का नय है। सहजयान में मंत्र पर बल नहीं है। वज्रयान और कालचक्रयान में मंत्र का ही प्राधान्य है। असल में हीनयान संकीर्ण यान है—महायान अनेकजन्म साध्य है—अतः एक ही जन्म में व्यापक साध्य की सिद्धि के लिये तृतीय धर्म चक्र प्रवर्तन हुआ। यह शार्ट-कट है—इसीलिए खतरनाक है। यह तांत्रिक मार्ग है—बिन्दुसाधना इसी की साधना है।

यह तो ऊपर कहा ही जा चुका है कि तृतीय धर्म चक्र प्रवर्तन के इस तांत्रिक बौद्धयान की साधना बिन्दु साधना है। तन्त्रों में यह बिन्दु शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त मिलता है—प्रस्तुत सन्दर्भ में वह चित्र तत्व का संवृत रूप, अन्नमयकोष का सार शुक्र है। वास्तव में बद्ध जीवात्माओं के—मन, प्राण एवं शुक्र—तीनों ही अनादिकाल से संचित विषय-वासना के कारण निरन्तर अस्थिर होते हैं और तीनों ही परस्पर इस प्रकार सम्बद्ध हैं कि इनमें से किसी एक के स्थिर होने से शेष दो लगभग निष्प्रयास स्थिर हो जाते हैं। प्राण को मन का इसीलिए पलना कहा जाता है साधकगण इसीलिए इनमें से किसी एक के स्थिरीकरण पर बल देते हैं और उसी की प्रधानतया साधना करते हैं। तांत्रित और बौद्धि चित्त को संवृत्त चित्त रुप शुक्र के स्थिरीकरण द्वारा 'बोधीचित्त' रूप (पारमार्थिक स्थिति में) प्रतिष्ठपित करता है। चित्त का ही सांवृतिक रूप शुक्र है और पारमार्थिक रूप 'बोधिचित्त'। यह बोधिचित्त द्वयात्मक अद्वय रूप है। इसीलिए कहा गया है—"शून्यता करुणा भिन्न बोधि चित्तं तदुच्यते'—चित्त को बोधिचित्त के रूप में परिणत करना ही महाराग, महासुख, निरावरण प्रकाश, अनुत्तर बोधि या बुद्धत्व कहा गया हैं।

मध्ययुग के इस पूर्वार्ध में बिन्दुसाधना की न जाने कितनी प्रणालियां प्रचलित थीं। बिन्दु या शुक्र के ऊर्द्धवी करण की हठयोगियों में एक वज्रोली नामक प्रक्रिया भी प्रसिद्ध है—जिसके द्वारा क्रमशः शुक्र का ऊर्द्धवीकरण होता है। चौदह अंगुल की एक शीशे की इतनी सुराखदार नली बनती है जो लिंग के छिद्र द्वारा धीरे-धीरे भीतर तक प्रविष्ठ की जाती है और इस मार्ग से क्रमशः पानी, तेल, पारा आदि के ऊपर खींचने का प्रयास किया जाता है—अन्ततः संक्षुब्ध शुक्र को भी ऊपर खींचा जाता है। यह प्रक्रिया कृच्छ साधना रूप है। नाथयोग में बिन्दु के ऊर्ध्वीकरण को 'कालाग्निरुद्रीकरण' योग कहा जाता है। हठयोग में प्राण के शुद्धीकरण से -स्वाधतीकरण से—बिन्दु में स्थिरता आती है। वैष्णवों में विशेषकर सहजिया तथा

गौड़ी—सम्प्रदाय में भी बिन्दुशोधन, बिन्दु स्थिरीकरण तथा उसके उर्ध्वीकरण पर जोर दिया गया है। वस्तुतः द्वयात्मकअद्वय क्रीड़ा के लिए अपने आपको परस्पर दो विपरीत धाराओं में प्रपंचात्मक परिणति के निमित्त विभक्त कर लेता है। वे ही दोनों तत्व एक दूसरे से पुनः समरस होने के लिए तरसते और तड़पते रहते हैं—दोनों का मिलन महामिलन कहा जाता है। एतदर्थ स्थूल प्रवृत्ति के आलम्बन से भाव द्वारा चित्त होकर समरस स्थिति प्राप्त करना ही परम लक्ष्य की प्राप्ति है। कौल भी बिन्दुसाधन की इसी प्रक्रिया का सहारा लेते हैं। कौलों की यह चर्चा भोग अथवा वासना मूलक नहीं, योग मूलक है।

एक तरफ यह भी सत्य है कि इन्द्रियां विषयभोग से तृप्त न होकर और भी अतृप्त होती रहती हैं—अर्थात् इस रास्ते मनुष्य की चिर अभीष्ट विश्रान्ति मिल नहीं सकती। यही कारण है कि पातंजल योग में स्वयं द्वारा वासना के शमन की बात की गई है लेकिन एक मनोवैज्ञानिक सत्य यह भी है कि जिसको हम होने या करने से रोकते हैं वह मन में एक सुप्त संस्कार डाल देता है जो कालान्तर में निमित्त पाकर पुनः पनप उठता है। तांत्रिक साधना इस मर्म को समझती है—अतः कहती है —

यत्र यत्र मनो गच्छेत् तत्र तत्र शिवः स्वयम् ।
चलित्वा यास्यति कुत्र सर्वं शिवमयं जगत् ॥

फलतः तांत्रिकों ने कृच्छ साधना की जगह सहज साधना निकाली। हठयोगीयों की प्रक्रिया-वज्रोली-वैज्ञानिक होने पर भी मनोवैज्ञानिक नहीं है। यह सही है कि प्राणायाम द्वारा शुक्र का अधोगामी वेग क्षण भर को रुक सकता है—पर इससे मन का चांचल्य कैसे जा सकता है? मनोवेग बड़ा प्रबल होता है—इसे कौल और बौद्धयोगी समझते हैं। अतः प्राणायाम का महत्व समझते हुए भी इनका ध्यान मन की शक्ति की तरफ गया। उन लोगों ने वेगवती जलधारा में निष्प्रयास एवं सहज ही विपरीत चलने वाली मछली की गति देखी थी। जिस प्रकार मछली जल की गति देखकर उसकी प्रकृति को आत्मसात कर उसमें रहकर भी उस पर विजय प्राप्त कर लेती है और सहज ही विपरीत गति करती है। उसी प्रकार इन साधकों की भी धारणा थी कि विषय प्रवाह में रहकर भी सहज ही विपरीत गमन हो सकता है। ऐन्द्रिक स्तर पर जीकर भी इनकी विजय विद्या सीखी जा सकती है। इसलिए इन लोगों ने भोग से योग की प्रणाली अपनाई।

कौलों ने बिन्दुसिद्धि की परमावस्था को अनुत्तर कहा है। इस मन में बिन्दु सिद्धि की अनन्त प्रक्रिया है—बिन्दुसाधना के समय साधक चित्त और प्राण को एकाग्रह करके कंछ भूमि के संकोच विकास के क्रम से शक्ति के उन्मेष को सावधानीपूर्वक करे—यह क्रिया तब तक करता रहे—जब तक शक्ति का उद्ध्र्वीकरण न हो। यह वैंदवी शक्ति कंछ भूमि से द्वादशांत पर्यन्त प्रसारित होती है और पुनः आवृत्ति पूर्ण करती हुई मूलाधार तक सिंचन करती है। इस प्रकार सिद्धावस्था प्राप्त होती है।

जहाँ तक बौद्धतांत्रिकों का सम्बन्ध है उनके हिसाब से भी स्वरुपगत द्वयात्मकता ही परस्पर विरोधी प्रवाहों में प्रपंचात्मक आकार ग्रहण कर गई है। इन्हीं (दो) के प्रतीक रूप में इड़ा, पिंगल, आलिकालि, धवन-चमन, ललना-रसना, बोल-कक्कोल, शून्यता-करुणा, प्रज्ञाउपाय, कमल-कुशिल आदि संज्ञाओं का प्रयोग किया गया है। शरीर के भीतर का यह विरुद्ध प्रवाह इड़ा एवं पिंगला के मध्य परस्पर विरोधी दिशा में प्रवाहित प्राण एवं अपान की धाराएं हैं तांत्रिकों की तो यह धारणा है कि वाम नाड़ियों में रक्त का सम्बन्ध है और दक्षिण में शुक्र का। वायु ही चित्त को चंचल कर विषय की ओर प्रवृत्त करता है। यदि रक्तवाही, वायु वाही, और शुक्रवाही नाड़ियों को मर्माहत कर दिया जाए तो इनका आवागवमन अवरुद्ध हो जाए इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये प्रज्ञोपाय योग किया जा सकता है। परस्पर विरुद्ध नाड़ियों में श्वास-प्रश्वास के चलने विकल्पों का अनियंत्रित प्रवाही चलता है।

जननेन्द्रिय में तीन नाड़ियां मिलती हैं—इनमें से ललना और रसना अधोवर्तिनी हैं और अवधूती

ऊर्ध्ववर्तिनी। इन तीनों के केन्द्रों में बोधिचित्त है जो संवृत दशा में शुक्र के रूप में पड़ा हुआ है। वास्तव में शरीर के कामोद्रेक से उत्पन्न होने वाली उष्णता के कारण बिन्दुपात होता है। यह उष्णता शरीर स्थित शुक्र को वीर्यवाही नाड़ी तक ले जाती है। नाभि के नीचे आते ही वह शुक्र बनता है और एतदर्थ साधक गुरु के निर्देश से महामुद्रा या प्रज्ञा (नारी) की अपेक्षा करता है। यही प्रज्ञोपाय समायोग से उत्पन्न बिन्दु क्षोभ है—बोधिचित्त का उद्भव है—कुंडलिनी जागरण है—चिदग्नि कन प्रज्वलन है। उद्बुद्ध या क्षुब्ध बिन्दु उत्तेजित होकर कहीं वज्रमणि में स्खलित न हो जाये—फलतः उसे निर्माण चक्र में धारण करना पड़ता है। पर यह निरोध कृत्रिमनिरोध है। यहां के शुक्र में पंचतत्वात्मकता होने से गुरुता रहती है और उसके रहने से स्खलन सम्भव है।

बिन्दु के ऊर्ध्व संचार के लिए अवधूतिका का खुलना आवश्यक है और यह कार्य प्रज्ञोयाम समायोग से सम्भव है। ललना और रसना के नियंत्रण से प्राणायाम द्वारा श्वास-प्रश्वास का नियंत्रण हो जाता है—मध्यमार्ग या अवधूति खुल जाती है। पर अवधूतिका नाभि, हृदय, कंठ एवं सहस्रार में प्रवाहित रहती है। इनमें शक्ति स्तर के निरूपक चार चक्र हैं—निर्माण-चक्र, काम-चक्र, सम्भोग एवं उष्णीष चक्र। इनमें क्रमशः 64,32,16 एवं 6 पंखुरियां हैं। क्षुब्ध बिन्दु इन्हीं चक्रों में क्रमशः प्रवाहित होता हुआ उष्णीष तक पहुंचता है।

क्षुब्ध बिन्दु का स्थिरीकर और ऊर्ध्वसंचार-वैसी क्रियाओं में शुक्रगत पार्थिवांश और जलीय अंश जब कम हो जाता है—तभी स्थिरीकरण सम्भव है। कामाग्नि की उष्णता से उक्त दोनों अंश सूख जाते हैं और वायु उसे स्थिर रखती है। प्रारम्भ में अग्नि और जल की क्रीड़ा चलती रहती है। जब तक इस कामाग्नि का ठीक-ठीक उपयोग करने नहीं आ जाता है—तब तक उसको पुनः पुनः भीतर के अमृतत्व द्वारा शान्त किया जाता है। जब इसका स्वरूप ठीक-ठीक समझ में आ जाता है तब अग्नि को प्रज्वलित रखकर शुक्रगत पांचों भूतों—क्षिति, जल, पावक, गगन तथा समीर—यदि शुद्ध कर लिया जाता है और फिर गगनोमप चित्त का उर्द्ध्वीकरण होने लगता है। वास्तव में पार्थिवांश और जलीय अंश के शुष्क होते ही तेजमय शुक्र का ऊर्ध्व संचार आरम्भ हो जाता है। इस ऊर्ध्व ज्वलनात्मक उर्ध्व संचार में उसकी सूक्ष्म शक्ति संपंदात्मक शक्ति हो जाती है। इसी सहज शक्ति के प्रादुर्भूत होने से पहले बाह्य शक्ति का सहारा लिया जाता है। यही स्थूलबिन्दु का ओजोमय रुपान्तर है। इसको बुद्धसदृश या ईश्वरसदृश अवश्य कहा जाता है। इस स्थिति में बिन्दु-सिद्ध योगी अपने में ही—शरीरस्थ शक्ति में ही रमने लगता है। इसी स्तर पर करुणा का उदय होने लगता है। यही बौद्धों की करुणा-पुण्डरीक अवस्था है। इसी को कौल लोग प्रेम की जागर्ति कहते हैं। ऊर्ध्वसंचार में सभी तत्व शुद्ध होकर चैतन्य रूप से प्रवाहित होने लगते हैं। इस प्रकार यह कामाग्नि प्रेममय हो जाती है और तब उसका इच्छित संकल्प ओज द्वारा समस्त वायुमण्डल में प्रवाहित होने लगता है। इससे योगी में सहज करुणा और प्रेम का उदय होने लगता है। यहां काम करुणा और प्रेम में परिणत हो जाता है। फिर तो ब्रह्माण्ड के मूल में सक्रिय ओज शक्ति बिन्दु-सिद्ध-योगी के पिण्ड में सक्रिय होने लगती है—वह कल्याणकारी हो जाता है।

बौद्ध वज्रयानी सिद्ध तांत्रिकों की धारणा है कि बिना दीक्षा के सत्य ज्ञान का उदय नहीं होता और बिना अभिषेकउसका संचारनहीं होता। यही अभिषेक दो प्रकार है—पारमार्थिकऔर संवृत। संवृत भी दो प्रकार का है—पूर्व और उत्तर। पारमार्थिक अभिषेक ही अनुत्तर अभिषेक कहा गया है। कलश, गुप्त, प्रज्ञा एवं अनुत्तर सेक्त का प्रयोग बिन्दु के आरोह एवं अवरोहपूर्वक समाध्य आवर्तन में होता है। ब्राह्मण तन्त्रों में कुण्डलिनी का भी ऊर्ध्व सहस्रार से अधः सहस्रार तक आरोहण-अवरोहण होता है। जैसे इन तत्वों में जड़ता त्यागपूर्वक चिदुपलब्धि या आरोह के बाद पुनः अवरोहण से त्यक्त का चिन्मयीकरण होता है—

फलतः यात्रा पूरी होती है—ठीक यही स्थिति यहां भी है।

इस प्रक्रिया में अपेक्षित 'उपाय' का सविस्तार निरूपण 'गुह्य समोजतंत्र' में उपलब्ध होता है। उपाय है—सेवा, उपसाधन, साधन तथा महासाधन। सेवा भी दो प्रकार की होती है—सामान्य और उत्तम। उत्तम सेवा में षडंगयोग का स्थान है जिसका प्रयोग बिंदु के ऊर्ध्व संचार में किया जाता है। षडंग हैं—प्रत्याहार, प्राणायाम धारणा, ध्यान, अनुस्मृति तथा समाधि। उपाय की चर्चा के सन्दर्भ में यह भी कह देना आवश्यक है कि अभिषेक के अनन्तर साधक गुरु के निर्देशन में मण्डल के भीतर प्रज्ञा के साथ प्रवेश करता है और योग का रहस्यात्मक अंश प्रारम्भ हो जाता है। आसन, बन्ध तथा मुद्रा आदि के द्वारा गुह्यांगों के बीच की नसें और नाड़ियां अपेक्षित संकोच और प्रसार प्राप्त करती हैं जिससे उनके द्वारा ऊर्ध्व संचार हो सके। षडंग में प्राणायाम का महत्व इसलिए है कि उसी के द्वारा प्राण एवं अपान की विरोधी धाराओं को एकोन्मुख कर मध्यमार्ग को अनावृत्त किया जाता है और इसी के द्वारा गुरुनिर्दिष्ट क्रम से बिंदु ऊपर की ओर अग्रसर होता है। उत्तर तथा अनुत्तर सेक से जब उसे पुनः नीचे उतारा जाता है जब उसमें इतनी स्थिरता आ जाती है कि निर्माण चक्र में उतरकर भी वह वज्रमणि में स्खलित नहीं होता। इस बिंदु से जिस दिव्य देह की उपलब्धि होती है उसी से सहजानन्द को धारण किया जाता है। चार चक्रों से बिन्दु के ऊर्ध्व संचरण क्रम में जो चार क्षण—विचित्र, निपाक, विमर्द और विलक्षण—आते हैं—उनमें चार प्रकार के आनन्द—प्रथमानन्द, परमानन्द, विरमानन्द तथा सहजानन्द—अनुभूत होते हैं। इन आनन्दों को प्राप्त कराने वाली चार मुद्राएं हैं—कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, ज्ञानमुद्रा, तथा महामुद्रा। सिद्धों में इन मुद्राओं के भी भिन्न-भिन्न नाम मिलते हैं। इन आनन्दों के अनुभव के अनुरूप चारों चक्रों में चतुर्विध काम की भी उत्पत्ति होती है। वज्रयोग भी के चार रूप होते हैं। कहां तक अबोधगम्य विस्तार किया जाय—वास्तव में यह साधना के गोपनीय व्यापार हैं। वज्रयान की बिंदु साधना का भी यही तान्त्रिक स्वरूप है।

सिद्धों ने अपने साहित्य में इस प्रकार की बातें अनेकत्र की हैं। साधना और तज्जन्य अनुभूतियों की छटा उनके दोहों एवं चर्चापदों में उपलब्ध होती है। यों तो चर्चापदों में बोधिचित्त की चर्चा अर्थात् प्रज्ञा को ग्रहण करने की महारागयुक्त चर्चा का संध्या या संधा भाषा में काव्यात्मक वर्णन है। दोहे में तत्वचिन्तन और साधना को प्रचलित करने, साम्प्रदायिक खण्डन-मण्डन करने सैद्धान्तिक विवेचन करने तथा साधक को उपदेश और चेतावनी के लिए बहुत-सी बातें कही गई हैं।

मनः साधना

काय, प्राण तथा बिन्दु के स्थिरीकरण से विश्रान्ति-लाभ की दिशा का किंचित् निर्देश नाथ और बौद्धों की आगमिक और अनागमिक पद्धतियों से किया गया। सम्प्रति, उन लोगों की साधनाओं की चर्चा करती है जो उक्त पद्धति से भिन्न पद्धति द्वारा सीधे मानसिक चांचल्य को निवृत्त करने पर बल देते हैं।

अभी बौद्धों की साधनाओं से विभिन्न लक्ष्यों—अर्हत, प्रत्येक बुद्ध तथा संबोधि की प्राप्त की बात ऊपर की गई है फलतः इसी सन्दर्भ में अवैदिक जैन साधना की भी थोड़ी चर्चा की जा सकती है। इन लोगों के अनुसार आत्मा स्वरूपतः अनन्त प्रकाश, अनन्त सप्न—आदि रूप ही है—अनादिकाल से काषायवश आत्मा में स्पंदन होता है और पौद्गलिक कर्ममय आवरण उसके सहज स्वरूप को ढंक लेते हैं—इस आवरणसे आत्मा को मुक्त करने के लिए इन लोगों के यहां 'मोक्षमार्ग' का निर्देश है—मोक्षमार्ग है—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र। पूर्व-पूर्वउत्तर—उत्तर के प्रति कारण हैं। इन्हें आत्मा पर पड़े हुए कर्म द्रव्यात्मक आवरण को तो हटाना ही नहीं है—आने वालों को रोकना भी है। मल के आस्रव का संवर भी करना है और आए हुए को निर्जरा।

स्वरूपस्थिति—निरावरण आत्म दशा में पहुंचने के लिए सबसे पहले अपने 'आगम' में श्रद्धाहोनी चाहिए, ऐसी श्रद्धा जिसमें किसी प्रकार का मिथ्यात्व न हो—यही सम्यक् दर्शन है। श्रद्धावान् ही सम्यक् ज्ञान—जीव तथा अजीव आदि शास्त्रोक्त सातों पदार्थों का मिथ्यात्व रहित ज्ञान प्राप्त कर सकता है—तदनन्तर यथासम्भव श्रावक व्रत या मुनिव्रत का आचरण करे। मतलब यह कि श्रद्धा का पर्यवसान श्रद्धागोचर ज्ञान में और ज्ञान का पर्यवसान चारित्र में होना चाहिए।

साधनावस्था से सिद्धावस्था तक पहुंचने के लिए इनके कुल 'चतुर्दश गुणस्थान'—चौदह सोपान बताए गए हैं। तत्वतः देखा जाय तो चारित्र आत्मा की स्वरूपस्थिति ही है—उसकी अभिव्यक्ति 'दर्शन' और 'ज्ञान' गत सम्पृक्त्व से ही सम्भव है।

इस सम्पृक्त्व को पाने के लिए श्रावक (गृहस्थ) के लिए अणुव्रत और मुनियों के लिए महाव्रत का विधान है। इन्हीं के आसेवन से सचारित्रगत सम्पृक्त्व या स्वरूपस्थिति की उपलब्धि होती है। पांच महापाप काषायवश होते हैं—हिंसा, असत्य, चौर्य, कुशील तथा परिग्रह—इन्हीं की निवृत्ति के लिए पांच महाव्रत हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इन महाव्रतों से विरति—काषायनिवृत्ति, होती है—आवरण निवृति होती है। विरति भी दो प्रकार की होती है—सर्वदेश विरति तथा एकदेश विरति। विरति भी दो प्रकार की होती है—ओर सर्वदेश विरति सकल चारित्र। एक देश विरति से सर्व देशविरति की ओर धीरे-धीरे उठ जाता है—माध्यस्था भाव की ओर उठ जाता है।—मतलब उसकी अभिव्यक्ति सोपान-दर-सोपान होने लगती है। वस्तुतः देखा जाय तो ये पांचों पाप हिंसा ही हैं—अतः 'अहिंसा,' ही पांचों महाव्रतों में शिरोमणि है। राग-द्वेष भय काषाय ही हिंसा है—उसकी निवृत्ति से जो शेष रह जाय—वही अहिंसा है। सर्वावरणमूल हिंसा की निवृत्ति ही निरावाण चैतन्यलाभ है। इसी हिंसा पर विजय पाने वाला 'जिन' है—जयी है। हिंसा काषायवश अपनी भी होती है और दूसरे की भी। भावप्रण और द्रव्यप्राण का घात ही हिंसा है। हिंसा आचरण में ही नहीं होती—राग-द्वेषवश हिंसा क्रियात्मक ही नहीं होती 'एकान्त चिन्तन' रूप से विचारगत भी होती है—अतः विचारगत 'एकान्तदर्शन' भी हिंसा ही है। अतः जहां आचरण में सिद्ध अहिंसा का प्रकाश हो वहीं विचार में अनेकान्त दर्शन का सहारा लिया जाय। जब साधक आचार तथा विचार—भीतर और बाहर—उभयत्र अहिंसा होने लगे—तब समझना चाहिए चारित्र में सम्पृक्त्व सिद्ध हो गया। हिंसा चाहे स्वभाव हिंसा हो, पराभाव हिंसा हो, स्वद्रव्यहिंसा हो या परद्रव्य-हिंसा हो—सबका मूल मनोगत काषाय है—राग-द्वैष है—अनात्म व्यासंग है। भावना, विवेक तथा तन्मूलक आचार के सम्मिलित प्रभाव से ही व्यक्ति में निहित स्वरूपस्थिति पर्यन्त सम्भावनाओं का विकास होता है। मोक्षमार्ग रत्नमय-सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र का यहीं उपयोग है। वेदान्त के ये ही श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन हैं। गीता का यही प्रणियान, परिप्रश्न और सेवा है।

इस प्रकार जैन मार्ग में अशुद्ध वासना या काषाय का—जो मनोगत होकर —हिंसा' में प्रवृत्त कराता है और स्वभावमय अहिंसा को अनभिव्यक्त रखता है—उसी का शमन किया जाता है। हिंसा अविश्रान्ति ही है और अहिंसा विश्रान्ति। निष्कर्ष यह कि यहां नाथों की प्राणसाधना द्वारा कायसिद्धि और उसके फलस्वरूप पिण्डपद सामरस्य की उपलब्धि की बात नहीं है और न ही नैरात्म्यवादी हीनयानी बौद्धों की भांति 'निर्वाण'। महायान और मंत्रयान में—पारमितानय और मंत्रनय में वासना-शोधन होता है। यहां वासना दमन ही है। फिर भी विश्रान्ति सबकी काम्य है।

मनःसाधना पर अपेक्षाकृत बल देने वाली साधना वैदिकों की भी है और अवैदिकों की भी। आगमिकों की भी है और अपने को नैगमिक मानने वालों की भी। 'निगम' को सर्वाधिक महत्व देने हैं—पूर्व मीमांसक और उत्तर मीमांसक। यों तो न्याय, वैशेषिक तथा सांख्य और पातंजल योग भी वेद को

प्रमाण मानते हैं। पर 'विश्रान्ति' का स्वरूप सर्वत्र भिन्न-भिन्न हैं। तार्किकों की विश्रान्ति-मुक्ति सुख व दुःखादि संवेदन शून्य अचेतन दशा है—सांख्यों की चिन्मय स्वरूप ख्याति है। अज्ञानवश आत्मा गुणत्रयमयी प्रकृति से अपने को अभिन्न समझता है बुद्धिधर्म 'ज्ञान' से भेदज्ञान—प्रकृति-पुरुष भेद ज्ञान हो जाता है—यही कैवल्य ही इनकी विश्रान्ति है—चिद्विश्रान्ति है। पातंजल दर्शन एक कदम और आगे जाता है—वह स्वरूपख्याति ही नहीं, प्रकृति से अपने भिन्न होने का ज्ञान ही नहीं करता, अनौपदेशिक विवेकज्ञान से प्रातिभज्ञान से ईश्वरत्व की अपने में अभिव्यक्ति का भी बोध करता है। समाधि इनका साधन है और यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा तथा ध्यान में सहायक हैं—समाधि संप्रज्ञात ही नहीं, असंप्रज्ञात भी है और अन्ततः असंप्रज्ञात के भी विदेह प्रत्यय—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा-वाले स्वरूप चित्तवृत्ति निरोधपूर्वक स्वरूपावस्थिति प्राप्त होती है। निष्कर्ष यह कि इनके यहां भी अविश्रान्ति से विश्रान्ति की ओर जाना अभीष्ट है, पर तदर्थ वृत्ति निरोध आवश्यक है। यहां तक कि निरोध का संस्कार भी निवृत्त होना आवश्यक है। इसके लिए विषयगत परवैराग्य आवश्यक है जो 'प्रज्ञा' द्वारा दोष दर्शन से सम्भव है। प्रकृतिगत दोष-दर्शन से परवैराग्य और परवैराग्य से चित्त का विषय की ओर जाना बन्द हो जाता है—विषयासक्त चित्त का परिणाम ही तो वृत्ति है—वह निरुद्ध हो जाता है। वृत्ति निरोध स्वरूप स्थितिरूपी विश्रान्ति व्यक्त हो जाता है।

नैगमिक दर्शन तत्वतः पूर्व-मीमांसा और उत्तरमीमांसा है। 'पूर्वमीमांसा' निगम के 'अक्रियार्थक' सिद्ध वाक्यों को निरर्थक मानती है। महर्षिजैमिनि कहते हैं—

'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यमतदर्थानाम्'

इनका तात्पर्य यह कि मनुष्य चेतन प्राणी है और उसमें जिजीविषा है—फलतः वह जीवनधारण के अनुरूप प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप व्यापार करता है पर इतने अंश में तो वह सभी प्राणियों के समान है—उसकी विशिष्टता और प्राणियों से यह है कि और (मानवेतर) प्राणियों में जीवन किसी महत्तरसम्भावना का साधन नहीं है पर मानवीय जीवन अपरिमेय फलतः महत्, महत्तर और महत्तम सम्भावनाओं की उपलब्धि का रूप देने में साधन है। फलतः उसकी प्रवृत्ति तथा निवृत्ति रूपी क्रियात्मक जीवन शरीर यात्रा मात्र के लिए नहीं है—बल्कि कुछ और के लिए भी है—स्वभाव सिद्ध नित्य तथा निरतिशय विश्रान्ति। मीमांसा इस साध्य की सिद्धि में एकमात्र प्रवर्तक-निवर्तक वेदवाक्य को महत्व देती है और 'कर्म' ही को सब कुछ मानती है। यह कर्म नित्य, नैमित्तिक, निषिद्ध और काम्य—चतुर्विध है। इस काम्य कर्म स्वर्ग से की प्राप्ति सम्भव है—पर वह चिर विश्रान्तिमय नहीं है इसलिए उत्तरमीमांसा या वेदान्त और आगे बढ़ता है। वह कहता है कि स्वभावसिद्ध नित्य, निरतिशय आनन्द स्वरूप आत्म साक्षात्कार ही चिर विश्रान्ति लाभ करा सकता है—अतः 'कर्म' नहीं, स्वरूप 'ज्ञान' चाहिए।

'आत्मा व अरे द्रष्टव्यः'

आत्मसाक्षात्कार ही सर्वस्व है—दुःख से आत्यन्तिक छुटकारा द्वारा चिदानन्दमय विश्रान्ति है। इसके लिए—

श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

श्रुति कहती है—श्रवण करना चाहिए, मनन करना चाहिए और फिर निदिध्यासन करना चाहिए—तभी आत्मा की अपरोक्षानुभूति सम्भव है। इस मार्ग का प्रवर्तन आदिदेव-व्यास-शुकदेव-गौड़पादाचार्य-गोविन्द भगवत्पाद से होती हुई आद्य शंकराचार्य तक आती है और फिर गुरु परम्परा में विद्यमान रहकर प्रवाहित है।

भगवान आद्य शंकराचार्य हमारी सांस्कृतिक और आध्यात्मिक साधनाओं के उत्स हैं और उन्होंने

निगम-आगम-दोनों को महत्व दिया है। एक तरफ उनको शांकर भाष्य और उसकी परम्परा है और दूसरी ओर सभी मठों में परम्परागत 'श्रीविद्या' 'त्रिपुर-सुन्दरी की उपासना है, भक्ति की साधना है। आगमिक साधना का व्यावर्तक बिन्दु है—शक्ति साधना। कहा गया है—

आ समन्तात् गमयति अभेदेन परामृशति पारमेशं निजस्वरूपमिति कृत्वा या पराशक्तिः सैव आगमः।

तत्वतः पराशक्ति त्रिपुर महासुन्दरी ही आगम है—वही प्रकाशमयस्वरूप का अभेदन परामर्श करती है। भगवान शंकराचार्य में इस प्रकार माना जाय तो उभयनिर्दिष्ट साधनाएं मिलती हैं। दक्षिणामूर्तिस्तोत' और उसकी पद्मपादाचार्यकृत टीका से भी शक्ति साधना का पक्ष पुष्ट होता है। जो भी हो– मैं यहां दोनों की चर्चा करके साधनाराज्य की समग्रांगता का संकेत भगवान शंकराचार्य की साधना के सन्दर्भ में देना चाहूंगा। यदि निगमसम्मत श्रवण-मनन-निदिध्यासन वाला मार्ग वासना दमनपूर्वक स्वरूपानुभव तक जाता है तो 'सौन्दर्यलहरी' और 'आनन्दलहरी' समर्थित मार्ग स्वरूप का चिदानन्दमयी निजी शक्ति द्वारा रसास्वाद तक पहुंचता है। पहला विशुद्ध ज्ञानमार्ग है और दूसरा ज्ञानोत्तरा अभेद भक्ति का मार्ग—जिसके लिये कहा गया है—

सत्यमपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥

वास्तव में नित्य निरतिशय आनन्दस्वरूप विश्रान्ति के निमित्त हमारे यहां दो मार्ग हैं—एक वासना-दमन का और दूसरा वासनाशोधन का। अशुद्ध वासना का दमन होता है और शुद्ध वासना का शोधन। वासना वासना ही है—मल ही है, चाहे अशुद्ध हो या शुद्ध। शुद्ध वासना स्वरूप साक्षात्कार के बाद भक्ति से ही शान्त होती है। गोस्वामीजी कहते हैं—

रामभगति सर बिनु अन्हवाये।
अभिअन्तर मल कबहुं न जाये॥

परमशांकर वेदान्ती मधुसूदन सरस्वती भी इसी स्वर में बोलते हैं—

'कृष्णात्परं किमपितत्वमहं न जाने'

ज्ञान दृष्टि से स्वरूपबोध और ज्ञानोत्तर भक्ति की दृष्टि से परम रसमय कृष्णा ही आस्वाद्य हैं—उससे भिन्न कोई तत्त्व नहीं।

ज्ञानमार्गी शांकरनय और तत्सम्मत साधना का स्वरूप

वेदान्त या उपनिषद का विधान है—आत्मदर्शन और इसका उपाय है—श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन। श्रवण या वेदान्त महाकाव्य के श्रवण का अधिकार उसे है जिसमें मोक्ष की सच्ची इच्छा उत्पन्न हो चुकी हो—मुमुक्षा का उदय हो चुका हो। सच्ची मुमुक्षा के उदय में चार कारण हैं—

(1) नित्य और अनित्य वस्तु के बीच विवेक।
(2) ऐहिक (लौकिक) तथा पारलौकिक फल के भोग में विराग।
(3) शम-दम आदि साधन सम्पत्ति तथा
(4) फलतः मुक्ति की प्रबल इच्छा।

काम्य (यज्ञात्मक) कर्म से प्राप्त लोक (परलोक सुख) क्षीण होता है परब्रह्मवित परमश्रेयस को प्राप्त करता है। उपर्युक्त चारों भूमियों पर आरूढ़ फलतः शुद्ध चित्त वाले साधक की स्वरूपस्थिति के लिए जिन तीन साधनों—श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन का विधान है—वह ब्रह्मनिष्ठ तथा सन्मार्गदर्शनशील

सद्गुरु से ही सम्भव है। मुमुक्षु साधक आचार्य से वेदान्त के महावाक्य का श्रवण करता है। इस श्रवण रूप साधना के अधिकारी दो प्रकार के होते हैं—नैष्ठिक ब्रह्मचारी तथा संन्यासी। गृहस्थ श्रवण-साधना का अधिकारी नहीं हैं। श्रवण और श्रवण-साधना में अन्तर है। गुरु से पढ़ना श्रवण है और इसके अधिकारी उप कुर्वाण ब्रह्मचारी तथा गृहस्थ दोनों हैं किन्तु श्रवण साधना के अधिकारी नैष्ठिक ब्रह्मचारी ही है। श्रवण साधना के लिए सर्वकर्मोपरिति आवश्यक है और यह नैष्ठिक ब्रह्म चारी तथा संन्यासी में ही सम्भव है। भीष्म की भांति जो विवाह करता ही नहीं, वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी है। संन्यासी भी इस सन्दर्भ में दो प्रकार के होते हैं—लिंग संन्यासी तथा अलिंग संन्यासी। पहला काषायवस्त्र, दण्ड तथा कमण्डलु धारण करता है और शिखासूत्र आदि गृहस्थ लिंगों का परित्याग कर देता है। दूसरा वह है जिसे चिह्न के अभाव में कोई पहचान ही न सके। अवधूत, ऋषभ, जड़भरत तथा दत्तात्रेय आदि विद्वत् संन्यासियों का चरित भागवत में वर्णित है—

नैष्ठिक ब्रह्मचारी तथा संन्यासी—जैसे सत् शिष्य को ब्रह्मनिष्ठ और श्रोत्रिय आचार्य के पास जाना चाहिए। ब्रह्मनिष्ठ आचार्य वह है जिसे ब्रह्म साक्षात्कार हो चुका हो। शिष्य की भी कुछ अर्हताएं होती हैं, जैसे—उसमें शम, दम तथा उपरति हो, वह विरागी हो—अभ्यासन तथा वैराग्य से जिसने मन को एकाग्र रखने की क्षमता प्राप्त कर ली हो। श्रवण साधना मानसिक स्थिरता से ही सम्भव है। श्रद्धा तो होनी ही चाहिए। श्रद्धा मनः प्रसाद या मनोनैर्मल्य है। कुछ लोगों की श्रवण साधना से ही ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाता है जिसे श्रवण साधना से ब्रह्मसाक्षात्कार न हो—समझना चाहिए कि उसका मन असम्भावना या विपरीत भावना से आक्रान्त है—उसके लिए मनन आवश्यक है। मनन विचार का ही दूसरा नाम है। मन को अपने मार्ग में अडिग और स्थिर रखने के लिए विपरीत विकल्पों का खण्डन मनन द्वारा करना पड़ता है। मनन वेद-प्रतिपाद्य के अनुकूल तर्क को कहा जाता है। विचार से विश्व विभ्रम की निवृत्ति तथा अधिष्ठान रूप ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। गीता कहती है—

> यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
> एकं सांख्यश्च योगश्च यः पश्यति स पश्यति॥

सांख्य और योग पद्धति में भिन्न हैं—गंतव्य दृष्टि से एक हैं—दोनों से एक गंतव्य तक पहुंचा जाता है। सांख्य मनन या विचार का ही दूसरा नाम है। मननात्मक अभ्यास दृढ़ न होने के कारण इससे भी जिसे आत्मदर्शन न हो—प्रत्युत मनन से चित्त उद्विग्न और निराश हो गया हो, उसको 'निदिध्यासन' (ध्यान) उपासना रूप साधना का अभ्यास करना चाहिए। निदिध्यासन-आत्मविषयक स्थैर्य संपादन के लिए किया जाने वाला व्यापार है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है—

> 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्'

अपने गुणों से निगूढ देवात्म शक्ति को ध्यान योग द्वारा साधकों ने जाना।

मानसिक उपासना उपनिषदों में दो प्रकार की कही गई है—सगुण ब्रह्म की उपासना और निर्गुण ब्रह्म की उपासना। श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन द्वारा निर्गुण ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार करने में जो अपने को असमर्थ पाते हों—उन्हें चाहिए कि वे सगुणोपासना करें। यह समाधि सविकल्पक है और निर्गुणोपासना निर्विकल्पक। पहली दूसरी की सीढ़ी है। विद्यारण्य कहते हैं—

> ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सगुणब्रह्मकल्पनात्।

तभी कहा गया है—

> वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मचिन्तनात्।
> तदैवाविर्भवेत् साक्षादपेतोपाधिकल्पनम्॥

जब सगुण ब्रह्म के चिन्तन से साधक का मन एकाग्र होने लग जाता है तब निरुपहित ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। यह सगुण ब्रह्म की उपासना भी 'सम्पद्' तथा 'अभ्यास' भेद से दो प्रकार की होती है। संपद् रूप उपासना निरवलम्ब है और अभ्यास रूप सावलम्ब। 'मनो ब्रह्म'—मनकी ब्रह्म रूपसे उपासना निरवलम्ब है। कारण, इस उपासना में ब्रह्म रूप आलम्बन अनिर्ज्ञात होने के कारण अविद्यमान है—विपरीत इसके ब्रह्म में मनोबुद्धि रूप उपासना सावलम्ब है—क्योंकि यह आलम्बन-मनोबुद्धि-ज्ञात है। इसे क्रम मुक्ति का मार्ग कहा जाता है। सगुणोपासना का फल उपास्य लोक की प्राप्ति है। सगुणोपासना के इसी पद्धति पर दो और रूप कहे गये हैं—अहंग्रहोपासना है और अनहंग्रहोपासना। 'अहं मनोब्रह्म'—यह अहंग्रहोपासना है और 'मनोब्रह्म'—अहंग्रहोपासना है। इस उपासना के अधिकारी भक्तगण होते हैं। उपनिषदों में प्रतीकोपासना का उल्लेख है। किसी को प्रतीक बनाकर उसी में उपास्य बुद्धि करती प्रतीकोपासना है। छोटे में बड़े की भावना हो सकती है—बड़े में छोटे की भावना नहीं। मन में ब्रह्म की भावना तो हो सकती है—ब्रह्म में मन की नहीं।

निष्कर्ष यह कि श्रवण से साक्षात्कार न हो तो मनन की सहायता लेनी चाहिए और मनन से भी सम्भव न हो तो निदिध्यासन पर आ जाय। 'निदिध्यासन' की उच्च सीढ़ी पर भी मन आरूढ़ न हो सके—तो सगुणोपासना की भूमिका पर उतरना चाहिए—इस प्रकार मन्दबुद्धि क्रम से ब्रह्मतत्त्व साक्षात्कार करते हैं। सगुणोपासक अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्मलोक जाते हैं—वहीं 'श्रवण' द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार होता है और फिर कार्य ब्रह्म के साथ ही उस साधक की मुक्ति होती है—सकाम कर्मवालों को गति ऊर्ध्व ही नहीं अधोभाव की भी होती है—पर निष्काम कर्म करने वालों की गति अधोवर्ती नहीं होती। फिर कर्म भी कृष्ण, शुक्ल तथा अकृष्ण शुक्ल होता है—तदनुरूप गतियाँ होती हैं।

साक्षात् निर्गुण निर्विशेष आत्म तत्त्व के साक्षात्कार के विषय में दो पक्ष हैं—एक श्रवण को ही साक्षात्कार में साक्षात् साधन मानता है और शेष मनन तथा निदिध्यासन को अंग, जबकि दूसरा निदिध्यासन-आत्मविषयक स्थैर्यानुकूल व्यापारशील-परिष्कृत मन को और शेष दो अंग। शांकर भाष्य पर दो प्रस्थान प्रसिद्ध हैं—भामती प्रस्थान और विवरण प्रस्थान। भामती प्रस्थान वालों का पक्ष है कि शब्द से जो ज्ञात होता है वह परोक्ष होता है—अतः इससे जन्य प्रभा परोक्ष ही होगी, प्रत्यक्ष नहीं। श्रवण-मनन से परिष्कृत मन ही आत्मसाक्षात्कार के प्रति करण है। श्रुति भी कहती है—

'मनसैवानु द्रष्टव्यः'

मन से ही आत्मसाक्षात्कार होना चाहिए। साक्षात्कारात्मक भ्रम या विपर्यास का उच्छेद साक्षात्कारात्मक तत्त्व ज्ञान से ही हो सकता है दिङ्मोह, मरुमरीचिका-आदि प्रत्यक्षात्मक भ्रम बिना प्रत्यक्षात्मक तत्त्व के निवृत्त नहीं होता। अतः 'तत्वमसि' की अखण्डार्थता का ज्ञान बिना तत्त्व ज्ञान के सम्भव नहीं है। त्वम्-पदार्थ का तत्पदार्थ रूप से साक्षात्कार होगा, तभी त्वम् पद के दुःखी इत्यादि विपर्यस्त रूपों की निवृत्ति होगी, अन्यथा नहीं। 'कल्पतरु' कार एक शंका प्रस्तुत करता है कि यदि शब्द प्रमाणमात्र को अपरोक्ष ज्ञान का कारण न माना जाय और यह मान लिया जाय कि भ्रमनिवारक नहीं होता—तब तो शब्दात्मक वेद भी भ्रम निवारक नहीं होंगे और कुछ तो होंगे ही—न निवारक होंगे—तो साधक तो होंगे। मतलब इस रीति से वेद भ्रम का कारण माना जायेगा। इसको उत्तर देते हुए 'परिमल' कार कहता है कि वास्तव में साक्षात्कार है क्या? साक्षात्कार अभिव्यक्त चैतन्य से अर्थ की अभिन्नता ही है—यह साक्षात्कार नित्य अभिव्यक्त तथा जीव चैतन्य से अभिन्नब्रह्म में स्वाभाविक हैं—इसीलिए श्रुति ब्रह्म में साक्षात् अपरोक्ष ही कहती है—'यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म'। अतः 'तत्वमसि' इस शब्द का जिस प्रकार अर्थबोध में प्राथमिक कारणता है उसी प्रकार अविद्या निवर्तक चरम साक्षात्कार में भी सम्भव है—पर भामतीकार ये सब तर्क स्वीकार नहीं

करते । उनका कहना है कि यद्यपि तत्वतः और श्रुति वाक्य से भी ब्रह्म अपरोक्ष ही है—तथापि व्यवहार में कोई फर्क नहीं पड़ता—उसमें परोक्षता का भी अनुभव सिद्ध है—श्रुति भी ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान ही कराती है—प्रत्यक्ष भ्रम की निवृत्ति नहीं होती । यह सामर्थ्य अन्तःकरण में ही है—वही परिष्कृत होकर साक्षात्कार करा सकता है । यदि शब्द को कथमपि चरम साक्षात्कार का कारण मान भी लिया जाय—तब भी अन्तः-करण की वृत्ति तो द्वार या व्यापार बनेगी ही । गीताभाष्य में भगवान शंकराचार्य कहते हैं—शास्त्र, आचार्योपदेश, शम, दम आदि साधन सम्पत्तिसे संस्कृत हुआ मन आत्मदर्शन में करण होता है ।' यह समझता है कि ब्रह्म नित्यापरोक्ष ज्ञान रूप है—अतः यदि अन्तःकरण वृत्ति को करण माना जायेगा तो उसमें नव्यता या अनित्यता आ जायगी ठीक नहीं । जिस 'साक्षात्कार' की बात यहां की जा रही है—वह अन्तःकरण का ब्रह्म विषयक वृत्ति भेद ही है । भामतीकार ने कहा है—

न चाप्यमनुभवो ब्रह्मस्वभावो येन न जन्येत, अपि
तु अन्तःकरणस्थैव वृत्तिभेदः ब्रह्मविषयः ।

विवरण प्रस्थानकार का कहना है कि श्रवण से ही साक्षात्कार होता है—मनन तथा निदिध्यासन अंगी हैं । उनका आशय यह है कि आचार्य ज्ञान को वस्तुतन्त्र मानते हैं—अतः वस्तु को प्रकृति से ज्ञान भी प्रभावित होता है । जिस प्रकार 'दशमस्त्वमसि' में शब्दज प्रत्यक्षता वस्तु की प्रकृति से सिद्ध है—वैसे ही यहां भी है ।

वास्तव में ब्रह्म साक्षात्कार में अविद्या ही प्रतिबन्धक है—उस अविद्यात्मिका वृत्ति का उच्छेद सो हमस्मि'-इत्थाकारक अखण्ड-वृत्ति—जो विद्यात्मिका कही जाती है—कर देती है । अन्ततः कलकर जो न्याय से वह भी शान्त हो जाती है—प्रतिबन्धक के हट जाने से सिद्ध अपरोक्ष स्वभाव ब्रह्म का अपरोक्षीकार व्यक्त हो जाता है ।

यह है निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार । 'सौन्दर्यलहरी' अथवा 'आनन्दलहरी' के समक्ष्य पर आगे बढ़-करयह भी कहा जा सकता है कि श्रीविद्या की पारम्परिक उपासनासे उसमें तादात्म्य भाव से निहित शक्ति का भी स्वयत्तीकरण होता है और जिसमें रस तत्त्व के आस्वाद की शुद्ध वासना है—वह अभेद भक्ति से उसे चरितार्थ करता है ।

इस प्रकार काय, प्राण तथा मन-में से मनः साधना वाली प्रशस्त धारा आचार्य की धारा है—जिसकी बोधात्मिका और रागात्मिका विद्यावृत्ति उभयविध आविधिक वृत्तियों को निःशेष कर देती है और यदि साधक रुक्ष अन्तःकरण का हुआ तो वहीं विश्रान्त हो गया और यदि मधुसूदन सरस्वती की भांति संवेदनशील हुआ तो अभेद भक्ति से शुद्ध वासना को चरितार्थ करेगा ।

दीपावली
9-11-88

राममूर्ति मिश्र
2 स्टेट बैंक कालोनी,
देवासरोड, उज्जैन

आचार्य शंकर के दर्शन की वैदिक पृष्ठभूमि

आचार्य डा० जयदेव वेदालंकार, पी-एच० डी०, डी० लिट्

यह निर्विवाद माना जाता है कि भारतीय वाङ्मय का आदि ग्रन्थ वेद है। मैक्समूलर ने भी स्वीकार किया है कि विश्व के पुस्तकालय का प्रथम ग्रन्थ ऋग्वेद है। ("Regveda is first book in the library of the world") भारत के प्रचेता उसी तथ्य को प्रामाणिक रूप में स्वीकार करते हैं, जिन्हें वेद स्वीकार करता है।

आचार्य शंकर का जन्म जिन परिस्थितियों में हुआ, उसकी पृष्ठभूमि को अवलोकित करना परमावश्यक है। आचार्य शंकर के प्रादुर्भाव पूर्व महात्मा बुद्ध द्वारा ने अवैदिक मति का प्रचार-प्रसार हो चुका था पूर्व मीमांसकों का कर्मकाण्डवादी मत भी थोथा और सारहीन था यज्ञों में मांस, पशु हिंसा और नरबलि तक देने की प्रथा मीमांसकों के युग में प्रचुर रूप में प्रचलित हो गई थी। परिणाम यह हुआ कि बुद्ध के उत्तरवर्ती आचार्यों ने वैदिक साहित्य का खण्डन किया। बौद्ध धर्म समस्त भारत और एशिया में कुछ वर्षों में प्रबल गति से फैल गया। वेदों के प्रति अनास्था का कारण उस युग में फैले आचार्यों का भ्रष्ट आचरण और कर्मकाण्ड का विकृत रूप था। यदि किसी निर्धन व्यक्ति का पिता या पितामह मर जाता था तो उसके लिए सब कुछ बेचकर भी श्राद्धतर्पण अधूरा ही रह जाता था। साधारण जनता इस व्यर्थ के कर्मकाण्ड से त्राहि माम्कर रही थी।

अतः बौद्ध आचार्यों को बहुत कुछ परिश्रम नहीं करना पड़ा। कालान्तर में वैदिक साहित्य और मान्यताओं का परिहास होने लगा। वैदिक साहित्य की अवहेलना और निन्दा को देखकर बनारस में एक युवती के मुख से स्वाभाविक रूप में निसृत हुआ था कि "किं करोमि कुत्र गच्छामि को वेदानुद्धारिष्यति" ऐसी भयंकर स्थिति में आचार्य शंकर का इस भूतल पर प्रादुर्भाव हुआ। शंकर के इस जन्म को कवि-उक्ति में इस प्रकार कहा जा सकता है "दुष्टाचार विनाशाय प्रादुर्भूतोमहीतले"। शंकर की प्रतिभा के विषय में कहा जाता है कि ये आठ वर्ष की आयु में साङ्गोपाङ्ग-वेदों का अध्ययन कर चुके थे 10 वर्ष की अल्प-आयु में आचार्य गौडपाद के प्रसिद्ध शिष्य गोविन्द भगवत्पाद से सन्यास की दीक्षा ले, इन्होंने वैदिक धर्म की पुनः रक्षा और अन्य दार्शनिक मतों का अपने प्रबल तर्कों से प्रत्याख्यान करना प्रारम्भ कर दिया।

यद्यपि आचार्य गौडपाद की दार्शनिक शैली महायान की दार्शनिक शैली से समता सी रखती है। जैसे कि माध्यमिक कारिका में उल्लेख मिलता है कि :

> न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
> चतुष्कोटि विनिर्मुक्तंतत्वं माध्यमिका विदुः ॥1।7॥

इसी प्रकार की दर्शनशैली का दिग्दर्शन माण्डूक्य कारिका भाष्य में आचार्य गौडपाद ने किया है—

अस्ति नास्त्यस्तिनास्तीतिनास्तिनास्तिनातीवा पुनः ।
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव बालिशः ।। (मा० का० 4183)

इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं कि शंकराचार्य बौद्ध साहित्य से प्रभावित थे। वरन वे अपने प्रबल तर्कों और उपनिषदों की नवीन शैली एवं भाष्य से बौद्ध दर्शन की मान्यताओं का प्रत्याख्यान करने में पूर्णरूपेण सफल हुये।

आधुनिक युग में वैदिक धर्म के पुर्नस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यद्यपि आचार्य शंकर के दर्शन की प्रबल समीक्षा की तो भी आचार्य शंकर की प्रशंसा में अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में लिखते हैं :

"बाइस सौ वर्ष हुए कि एक शंकराचार्य द्रविड़देशोत्पन्न ब्राह्मण ब्रह्मचर्य से व्याकरणादि सब शास्त्रों को पढ़कर सोचने लगे अहह ! सत्य आस्तिक वेद मत का छूटना और जैन नास्तिक मत का चलना बड़ी हानि की बात हुई है, इनको किसी प्रकार हटाना चाहिए...। वहां जाकर वेद का उपदेश करने लगे और वहां के राजा ने मिलकर कहाकि जैन पण्डितों से मेरा शास्त्रार्थ कराइये इस प्रतिज्ञा पर जो हारे सो जीतने वाले का मत स्वीकार कर ले और आप भी जीतने वाले का मत स्वीकार कीजियेगा।...अर्थात शंकराचार्य का पक्ष वेदमत स्थापन और जैनियों का खण्डन......। दस वर्ष के भीतर सर्वत्र आर्यव्रत देश में घूमकर जैनियों का खण्डन और वेदों का मन्डन किया।"[1]

यह निर्विवाद है कि शंकर अपने युग के युग संस्थापक और प्रतिनिधि दार्शनिक है। उनके दार्शनिक विचारों की सूक्ष्मता अत्यधिक प्रभावित करती है। उनके दर्शन के सिद्धान्त जिनका उत्तरवर्ती आचार्यों ने पर्याप्त मात्रा में खण्डन किया है परन्तु उनकी वह दार्शनिक चेतना के ओज की प्रतीति आज भी उतनी है सबल विद्यमान है।

आचार्य शंकर कहीं पर भी अपने दार्शनिक मत को नवीन कहते हैं। अपनी मान्यताओं का मण्डन केवल युक्ति और तर्क से ही नहीं करते अपितु वेद और उपनिषदों को प्रमाण रूप में प्रस्तुत करते हैं। शंकराचार्य ने वैदिक वाङ्मय को प्रमाणरूप में प्रस्तुत करके एक दर्शन की नूतन शैली एवं विद्या को जन्म दिया है, उनके इस दार्शनिक सिद्धान्त को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जाता है—

मायावाद

मायावाद का सृजन शंकर ने उपनिषदों एवं वेदान्त दर्शन के आधार पर सिद्ध करने का प्रबल प्रयास किया है। छान्दोग्य के अमृतेन हि प्रत्यूढ़ा" में अनृत शब्द का अर्थ अविद्यापरक ही किया है। वहीं पर आनन्द गिरि ने उक्त शब्द का अर्थ अनादि मिथ्या ज्ञान किया है।[2] वाचारम्भण श्रुति का अर्थ करते हुए शंकराचार्य ने कहा है कि विकार जात सम्पूर्ण कार्य-जगत वस्तुतः कारण से अभिन्न है। जिस प्रकार रक्तोपधान युक्त स्फटिक मणि में पद्मराग मणि का भ्रम होता है। वस्तुतः वह पद्मराग मणि नहीं है उसी प्रकार कार्य रूप जगत-ब्रह्म से कारण रूप ब्रह्म भिन्न नहीं है।[3] भिन्नता की केवल प्रतीति होती है। "एकमेवाद्वितीयम्" श्रुति की व्याख्या में टीकाकार आनन्दगिरि ने ब्रह्म में स्वजातीय-विजातीय भेदों का निषेध किया है[4] जिसका अर्थ है कि भेद मिथ्या है छान्दोग्य में उल्लेख आया है कि जहां पर अन्य को देखता है, अन्य को सुनता है, अन्य को जानता है वह अहम् है। आचार्य शंकर ने वहीं पर अल्प को स्वप्नवत मिथ्या

1. सत्यार्थ प्रकाश ताम्रपत्र प्रकाशन पृ० 195, 196, समु० 11वां
2. छान्दोग्य उ० शांकर भाष्य आनन्दागिरि टीका 8।3।1 आनन्दाश्रम
3. वही—2।4।1 पृष्ठ 316 पूना 1890 (पूना 1899 पृष्ठ 421)
4. वही टीका पृष्ठ 296, 298।

कहा है ।[1] इसी प्रकार मुण्डक उपनिषद में "ब्रह्मैदं विश्वम्" इसके भाष्य में नाम रूप को अवभास कथन किया है ।[2]

श्वेताश्वतर उपनिषद में "माया तु प्रकृति विद्यात" में माया शब्द को भाष्यकार ने कल्पित अर्थ में लिखा है[3] । बृहदारण्यक में "नेह नानास्ति किञ्चन" के भाष्य में शंकर ने ब्रह्मनानात्व का निषेध किया है। वस्तुतः अविद्यारोपण व्यतिरेक परमार्थ द्वैत है ही नहीं ।[4] यहां यह सब स्पष्ट करना समीचीन प्रतीत होता है कि जिस मायावाद की आधारशिला को आचार्य गौडपाद ने माण्डूक्य कारिका के भाष्य में निरूपित किया वह आचार्य शंकर के मायावाद से किस तरह भिन्न कहा जा सकता है । माण्डूक्य कारिका में उन्होंने माध्यमिक कारिकाकार नागार्जुन के समान जगत प्रपञ्च को मिथ्या कहा है[5] । आचार्य गौडपाद सांख्य और न्याय दर्शन की तरह जगत-उत्पत्ति को मान्यता नहीं देते । उनके अनुसार सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद दोनों के अनुसार जगत की उत्पत्ति सम्भव नहीं है । क्योंकि यदि कार्य पूर्व ही सत हो तो उत्पत्ति की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि वह है ही । स्वयं न्याय इस सत्कार्यवाद का प्रत्याख्यान करता है । यदि कार्य है ही असत तो वह सत कैसे हो सकता है ? इस तरह दोनों का खण्डन उन्होंने किया है ।[6] इनके अनुसार परमार्थतः जगत प्रपञ्च मिथ्या है । तात्पर्य है कि कारण ब्रह्म से पृथक रूप में उत्पत्ति असम्भव है । अतः समस्त पदार्थों को अनुत्पन्न कहा जा सकता है । आचार्य ने माण्डूक्य कारिका में वैतथ्य नामक द्वितीय प्रकरण में भाव वस्तुओं को स्वप्नवत् मिथ्या कहा है । जिस प्रकार स्वप्न की वस्तुयें अन्तस्थ होती हैं, उनमें बाह्यता नहीं होती फिर भी वे स्वप्न की वस्तुयें बाह्य वस्तुओं के समान दृष्टिगोचर होती हैं । उसी प्रकार जागृत अवस्था की वस्तुओं को जानना चाहिए । स्वप्न की वस्तुयें तथ्य हीन हैं । अतः स्वप्नकालिक वस्तुओं के सदृश जागृत अवस्था की वस्तुयें भी तथ्यहीन अर्थात वे वितथ हैं ।[7] आचार्य शंकर ने गौडपाद की उक्त 2।1 कारिका का भाष्य वितथ के भाव को वैतथ्य असत है, अर्थात जिसमें तथ्यता नहीं है । जो अतथ्य वही वैतथ्य सत् है ।[8] स्वप्नकालिक वस्तुयें जब तक स्वप्न दर्शन होता रहता है तब तक दिखलाई देती हैं, तभी तक उनकी सत्ता है । स्वप्न से उठे हुए व्यक्ति के लिए स्वप्नकालिक वस्तुयें मिथ्या हैं । आचार्य गौडपाद वैतथ्य प्रकरण की तृतीय कारिका में स्वप्न की वस्तुओं को मिथ्य सिद्ध करने के लिए श्रुति से भी प्रमाण उद्धृत करते हैं । श्रुति में कहा है कि स्वप्न में रथ और उसके वाहन, अश्व एवं रथमार्ग नहीं होते फिर भी वे वस्तुयें स्वप्न में अवलोकित की जाती है[9]

1. छान्दोग्य शांकर भाष्य 2।24।1 पृष्ठ सं० 90 एवं 400
2. मुण्डक भा० 2।2।111 पृष्ठ 33, 34 पूना 1896
3. श्वेताश्वतर भाष्य 4।10 पृष्ठ 56 आनन्दाश्रम पूना
4. बृहद० उ० शांकरभाष्य 4।4।19 पृष्ठ 6भ2 आनन्दाश्रम पूना
5. जायमानं कथं-अजं भिन्नं नित्यं कथञ्च तत् (मा० का० 3।11 पृष्ठ 162)
6. भूतं न जायते किञ्चिदभूतं नै व जायते ।
   विविदन्तो द्वया ह्येवमजातिं ख्यापयन्ति ।। (गौ० का० 8।8)
7. वैतथ्यं सर्वभावनां स्वप्न आहुर्मनीषिणो ! (मा० का० 2।1 पृष्ठ 65 आ० पूना)
8. वितथस्य भावो वैतथ्यम् असत्वमित्यर्थः (मा० का० 2।1। पृष्ठ 65)
9. अभावश्चरथादीनां श्रुततेन्यायपूर्वकं वैतथ्यं तेन वै प्राप्तं स्वप्नं-आहु प्रकाशितम् ।
   (वही 2।3। पृष्ठ 68)

वे सभी मनः कल्पित हैं सत् नहीं हैं ।[1] आचार्य शंकर ने गौडपाद वैतथ्य प्रकरण से चतुर्थ कारिका भाष्य में स्वप्न की वस्तुओं के सदृश जागृत अवस्था की वस्तुओं को भी मिथ्या सिद्ध किया है। इससे आगे गौडपाद मिथ्यात्व सिद्ध करने हेतु कहते हैं कि वस्तुयें पूर्वकाल में नहीं थी, भविष्यत् में नहीं रहेंगी इसी प्रकार यदि कालिक परिच्छिन्न वस्तुयें यदि वर्तमान मैं दिखाई भी दें तो उनको वितथ हीं कहना पड़ेगा, वे तथ्यहीन हैं। वे तथ्यहीन होते हुए ही दिखलाई देती हैं।

आचार्य गौडपाद विश्वदर्शन अज्ञान या माया के कारण मानते हैं। वस्तुतः अनादि माया के कारण जीव सोया हुआ है, अपने स्वरूप को भूला हुआ है। माया के सुप्त होने के कारण उसे दर्शन हो रहा है। गौडपाद की भाषा में अनादि माया सुप्त जीव सब-सब ज्ञान प्राप्त करता है। वह तभी शाश्वत् अद्वैत तत्व को जान सकता है। जो कि अनिद्रस्वरूप ज्ञानस्वरूप है।

अनादि माया ही उसे सुप्त रखकर तत्वबोध नहीं होने देती है उनका कथन है कि परमार्थ तत्त्व ज्ञान से घटादि वस्तुओं का वैसा ही बाध होता है जैसा कि रज्जु में सर्प का रज्जु ज्ञान से, मरु जल का मरु जाने से और शुक्तिका में रजत ज्ञान, शुक्ति के ज्ञान से रजत ज्ञान बाधित होता है। इसी कारण गौड-पाद प्रपञ्च की सत्ता नहीं मानते हैं। वास्तव में प्रपन्च उनके अनुसार मायामय है। एकमात्र अद्वैत ही पर-मार्थ है।[2] जिस प्रकार अन्धकार में रज्जुविषयक ज्ञानाभाव के कारण सर्प का भ्रम होता है उसी प्रकार जगत् विकल्प है और रज्जु ज्ञान में सर्पज्ञान की निवृत्ति होती है।[3]

आचार्य शंकर के अद्वैतवाद और गौडपाद के मायावाद में कोई मूल अन्तर है ? या गौडपादाचार्य के मायावाद की प्रतिलिपि मात्र है। वस्तुतः गौडपाद का मायावाद केवल बौद्धों के विज्ञानवाद का खण्डन करने में तो सफल रहा परन्तु विज्ञानवादी बौद्धों की तरह बाह्य वस्तुओं को अलीक सा ही गौडपाद को भी मानना पड़ा। आचार्य शंकर बाह्य जगत् की वस्तुओं को अलीक नहीं मानते हैं। यद्यपि उन्होंने बहुत स्थलों पर स्वप्न की वस्तुओं का दृष्टान्त अपने समर्थन में दिया है तथापि वे जाग्रतकाल की वस्तुओं और स्वप्नकालिक वस्तुओं में स्पष्ट भेद स्वीकार करते हैं वेदान्त दर्शन के भाष्य में विज्ञानवाद का खण्डन करते हुए उन्होंने माना है कि जगत् की वस्तुयें स्वप्न की वस्तुओं की तरह अलीक नहीं हैं। वेदान्त दर्शन के सूत्र "वैधर्म्याच्च स्वप्नादिवत" (ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य 2।2।29) के भाष्य में स्पष्ट मानते हैं कि जाग्रत ज्ञान स्वप्नादि ज्ञान के सदृश नहीं हो सकते, किससे ? क्यों इसके दोनों वैधर्म्य हैं। वह वैधर्म्य है बधित और और अबाधित का क्यों स्वप्नकालिक उपलब्ध वस्तुयें, बाधित हो जाती हैं। जो मुझे स्वप्न में महाजन समागम हुआ था, वह सब मिथ्या है। परन्तु जाग्रत में उपलब्ध स्तम्भ आदि किसी भी अवस्था में बाधित नहीं होती है। अतः आचार्य शंकर बाह्य वस्तुओं का ज्ञान केवल विज्ञान से सम्भव नहीं मानते हैं अपितु वे बाह्य वस्तुओं के ज्ञान को यथार्थ अनुभव मानते हैं[4]। इस प्रकार का वर्णन गौडपाद दर्शन में नहीं मिलता है। अतः आचार्य शंकर

1. अनादि मायया सुप्तोमया जीव प्रबुध्यते ।
   अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैत बुध्यते तदा ।। (मा० का० 1।16 पृष्ठ 50)
2. मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः (मा० का० 1।16 पृष्ठ 52 वही)
3. माण्डूक्य का० 2।16 तथा 2।18 पृष्ठ 81, 82)
4. न स्वप्नादिप्रत्ययवज्जाग्रत्प्रत्यया भावितुमर्हन्ति । कस्मात् वैधर्म्यंहि भवति स्वप्नजागरितयोः। किं पुनःवैधर्म्यम् ? बाधाबाधाविति ब्रूमः । बाध्यतेहि स्वप्नोलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्यमिथ्यांमिथ्यामयो-पलब्धोमहाजनसमागमइति—। नैव जागरितोपब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्यांचिदेप्यावस्थायां बाध्यते। अपि च स्मृति रेषायत्स्वप्नदर्शनम् उपलब्धिस्तु जागारित दर्शनम् । (शांकरभाष्यं 2।2।29)

ने वस्तुओं की तीन प्रकार की सत्तायें स्वीकार की हैं—1. प्रतिभाषिक सत्ता, 2. व्यावहारिक सत्ता और 3. पारमार्थिक सत्ता। गौडपादाचार्य व्याहारिक सत्ता को स्वीकार करते प्रतीत नहीं होते हैं। इस तरह हम गौडपादाचार्य और शंकराचार्य के मायावाद में मौलिक अन्तर कह सकते हैं। आचार्य शंकर अपने मायावाद के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए ब्रह्म सूत्र के भाष्य के प्रारम्भ में ही कहते हैं कि अन्धकार ओर प्रकाश के समान विरुद्ध स्वभाव वाले युष्मत् (तुम) और अस्मत् (हम) प्रतीति के विषय में भूतविषय और विषयी की इतरेतरभाव (तादात्म्य की) सिद्धि न होने पर उनके धर्मों की भी इतरेतर भाव की सिद्धि नहीं होती है। अतः "अस्मत्" प्रतीति के विषयभूत चैतन्य स्वरूप विषयी में युष्मत् प्रतीति के विषयभूत विषय और उसके धर्मों का अध्यास और इसके विपरीत विषय में विषयी और उसके धर्मों का अध्यास नहीं हो सकता। इसका समाधान करते हुए शंकर कहते हैं कि अत्यन्तभिन्नधर्मों और धर्मियों का भेद ज्ञान न होने के कारण एक दूसरे में परस्पर स्वरूप तथा एक दूसरे के धर्मों का अध्यासकर सत्य और अनृत का मिथुनीकरण करके यह 'मैं' और यह 'मेरा' इस प्रकार मिथ्याज्ञान निमित्त स्वभाविक यह लोक व्यवहार होता है।[1]

ब्रह्म

शंकराचार्य की तत्वमीमांसीय मीमांसा में ब्रह्म के स्वरूप विषयक अद्वैतवादी सिद्धान्त दार्शनिक जगत में विख्यात है। उनका मत है कि जैसे रज्जु में सर्प की प्रतीति स्पष्ट रूपेण होती है, हम उससे भयभीत भी होते हैं, इसी प्रकार शंकर शुक्तिका में रजत् की प्रतीत का दृष्टान्त भी देते हैं। यहां इन दृष्टान्तों रज्जु और शुक्तिका सर्प एवं रजत् का निमित्तकारण और उपादान कारण भी है। उक्त दृष्टान्तों से जगत् का ब्रह्म अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। वे यह सिद्ध करने के लिए अध्यास का आश्रय लेते हैं। उनकी मान्यता है कि स्मृतिरूप पूर्व दृष्ट का अन्य में (अधिष्ठान में अवभास प्रतीति) वही अध्यास है। अन्य कुछ विद्वान एक-दूसरे के धर्म के आरोप को अध्यास मानते हैं।[2] जैसे शुक्ति रूप अधिष्ठान में कल्पित होने के कारण रजत् अध्यस्त है अथवा रज्जुरूप अधिष्ठान में अज्ञान कल्पित सर्पअध्यास को दो प्रकार का स्वीकार किया जाता है। स्वरूपाध्यास और संसर्गाध्यास[3]। जब अज्ञान समाप्त हो जाता है तो हम कहते हैं, वह सर्प नहीं अपितु रज्जु है। जिस अधिष्ठान में जिस वस्तु का अध्यास होता है, उसके गुण अथवा दोष से वह अणुमात्र भी सम्बन्धित नहीं होता है।

जैसे कि रज्जु के गुण सर्प में नहीं आते। इसी प्रकार ब्रह्म रूप अधिष्ठान में जगत् अध्यस्त है तो ब्रह्म के भी गुण जगत् में नहीं आयेंगे। यह मानकर आचार्य शंकर ने उपादान कारण के गुण कार्य में आते हैं, इस दोष से ब्रह्म को बचाने का प्रयास किया है। ब्रह्म को अभिन्न निमित्तोपादान कारण सिद्ध करने के लिए उन्होंने मुण्डकोपनिषद् का प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जैसे मकड़ी अपने में से जाला उत्पन्न करती है अपने में समेट लेती है ठीक इसी प्रकार इस ब्रह्म से यह जगत् उत्पन्न हुआ है और इसी में लीन हो

1. युष्मदस्मत् प्रत्यय गोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमः प्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायां···ज्ञाननिमित्तः सत्यानृतेमिथुनीकृत्य, 'अहमिदं' ममेदं इति नैसर्गिकोऽयं लोक व्यवहारः।
(ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य पृष्ठ 2, 3)
2. स्मृतिरूपःपरत्र पूर्वदृष्टावभासः। तं केचित् अन्यत्रान्यधर्माध्यासः। (वही पृष्ट 4)
3. जैसे कि "शुक्तिमिदं रजतम्" उसके पश्चात् नेदरजतंम्, यह यह स्वरूप-अध्यस्त है। इसी प्रकार शुक्ति अध्यस्त रजत् के साथ संसर्गाध्यास है। (वही पृष्ठ 5)

जायेगा ।[1]

ब्रह्मसूत्र के शांकर भाष्य में: उपनिषदों के प्रमाणों द्वारा तथा उनके भाष्यों में ब्रह्म को ही जगत् का कारण सिद्ध करने के साथ-साथ यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि एक ही चैतन्य व्यष्टिगत रूप में आत्मा है और समष्टिगत रूप में वही चैतन्य ब्रह्म है । आत्मा और ब्रह्म में अद्वैत है ।[2] ब्रह्म शब्द का मूल अर्थ-बृहत् अर्थात् महान होने के कारण वह ब्रह्म है ।[3] वही परम सत्य है । आचार्य शंकर तैत्तिरीयोपनिषद् का भाष्य करते हुए लिखते हैं ब्रह्म जिसका लक्षण है कि वह महान् है । उसे जो जानता है, वह ब्रह्मवित् कहलाता है । ब्रह्मवित् वह परम निरपेक्ष परमसत्य ब्रह्म ही है । ब्रह्मवित् वस्तुत: उस ब्रह्म से भिन्न नहीं है । ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है ।[4]

श्रुति के अनुसार ब्रह्म के स्वरूप के विविध पक्षों को शंकर वैदिक प्रमाणों से संचलित करके विस्तार-पूर्वक विवेचन करते हैं । छान्दोग्य का प्रमाण प्रस्तुत करते हुए उन्होंने अपने भाष्य में कहा है कि आत्मा ही सब कुछ है ।[5] इसी प्रकार मुण्डकउपनिषद् में कहा है कि सबसे पूर्व ब्रह्म ही अमृत है तथा ब्रह्म ही सब कुछ है ।[6] जगत् में नाना कुछ भी नहीं केवल ब्रह्म ही है ।[7] इसी प्रकार वे आगे कहते हैं जगत् में नाना कुछ भी नहीं, केवल ब्रह्म ही है ।[8] आचार्य शंकर "अहं ब्रह्मास्मि" और तत्वमसि उपनिषद् के वचनों को महावाक्य संज्ञा देते हैं । अद्वैत वेदान्त उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी इन्हें महावाक्य ही कहा है । इनकी व्याख्या करते हुए आचार्य अद्वैतवादी ब्रह्म के स्वरूप की विस्तारपूर्वक मीमांसा करते हुए इन महावाक्यों को तत्त्व बोध अनु-भूतिमूलक मानते हैं । उनका मत इनके विषय में यह भी प्रतीत होता है इन महावाक्यों के अन्तर्निहित सम्पूर्ण अद्वैत वेदान्त दर्शन सार रूप छिपा हुआ है । "तत्वमसि" महावाक्य का अर्थ अभिधा से ग्रहण नहीं किया जा सकता है । तत् का अर्थ वह और 'त्वम्' का अर्थ तुम । दोनों ही शब्द विरोधी गुणों वाले हैं । अत: इनका अभिधा से अर्थ नहीं किया जा सकता है ।

वे आगे लिखते हैं कि सर्वप्रथम वह ब्रह्म ही था, उसने अपने आपको जाना कि मैं ब्रह्म हूं अत: वह सब कुछ हो गया है । वह देवों में से जानने वाला ब्रह्म रूप हो गया । उसे आत्मरूप से देखते हुए ऋषि वामदेव ने जाना कि इस ब्रह्म को इस समय भी जो इस प्रकार जानता है कि मैं ब्रह्म हूं ।[9] इसका विस्तृत भाष्य करते हुए वे कहते हैं कि यहां ब्रह्म शब्द से परब्रह्म अभिप्रेत है । उसी में सर्वभाव का साध्यत्व सम्भव है । इससे आगे कहा गया है कि वह यह ब्रह्म अपूर्व कारण रहित अपर (कार्य रहित) अनन्तर

1. यथोर्णनिभि: सृजते गृह्णते च, यथापृथिव्यामोषधय: सम्भवान्ति ।
   यथा सत: पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीहविश्वम् ॥ (शांकर भाष्य मु० 1 एवं 1-6)
2. स वा अयं आत्मा ब्रह्म । (शांकर भाष्य, बृहदारण्यक 4।4।5)
3. बृहत्वात् ब्रह्म (यह धात्वर्थ है । अर्थात् महान है)
4. स यो वै ह वै तत्परमं ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति ।
   (शांकर भाष्य, तैत्तिरीय उ० । गीता प्रेस गोरखपुर पृ० 98)
5. इदं सर्वं यदयमात्मा (बृ० 2।4।6) शांकर भाष्य
6, ब्रह्मनेवेदममृतं पुस्तात् ब्रह्मनेवदं सर्वम् (शांकर भाष्य मु० उ० 2।2।11)
7. आत्मैवदं सर्वम् (शांकर भाष्य, छा० उ० 7।25।2)
8. नेह नाना अस्ति किञ्चन (शां० भा०, बृ० उ० 4।4।19)
9. ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेव···अहं ब्रह्मनास्मिइति । तस्मात्तसर्वमभवत्—(शां० भा० बृ० 1।4।10)

(विजातीय द्रव्य से रहित) और अबाध्य है। यह आत्मा ही सब कुछ अनुभव करने वाला है।[1] वे आगे और कहते हैं कि वह निरन्तर ब्रह्म कौन है जो प्रत्यगात्मा द्रष्ट, श्रोता, मन्ता, बौद्धा अर्थात् जानने वाला और सर्वानुभू है। उसका न कोई कारण, वह आत्मा ब्रह्म है। इससे अगले महावाक्य पहले यह पुरुष आत्मा ही था। उसने आलोचना करने पर अपने से भिन्न कोई नहीं देखा। उसने आरम्भ में अहमस्मि अर्थात् वह ब्रह्म मैं हूं।[2] इससे अगले महावाक्य में भी इसी भाव को इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि वह यह जो अणिमा है एतद् रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है। हे श्वेतकेतु वही तू है। शंकर कहते हैं कि वही सत् संज्ञक है वही परमार्थ सत्य है।[3] अर्थात् आत्मा ही जगत् सत् स्वरूप है वह तत्त्वतः याथात्म्य है। जिस प्रकार गौ आदि शब्द बैल गाय आदि अर्थ में रूढ़ हैं उसी प्रकार उपपदरहित आत्मा शब्द प्रत्यगात्मा में रूढ़ है। हे श्वेतकेतु वह सत् तू है।[5]

यह जो समस्त जगत् दृश्यरूप दिखलाई दे रहा है वह सब कुछ चिन्मात्र ब्रह्म है, जो निर्विशेष है वही परमार्थतः सत् है। उसके अतिरिक्त जितने भी ज्ञात-ज्ञेय आदि जो भेद हैं वे सब कल्पित और मिथ्या ब्रह्म हैं।[6] आचार्य शंकर ब्रह्म को किसी प्रकार भी सविशेष स्वीकार नहीं करते हैं अर्थात् उनकी दृष्टि में ब्रह्म केवल निर्विशेष एवं निर्गुण ही है। केवल सगुण और सविशेषत आदि व्यवहारिक है पारमार्थिक रूप में ब्रह्म निर्गुण और निर्विशेष ही है। निर्गुण शब्द से अभिप्राय है कि उस ब्रह्म में किसी भी प्रकार का गुण नहीं है अर्थात् वह ब्रह्मगुणविहीन है। उपनिषदों के उन वचनों को जो ब्रह्म के सगुण वाचक हो सकते हैं, उनका अर्थ आचार्य विधेयात्मक शैली न करके निषेधात्मक प्रणाली से अर्थ करते हैं। जैसा कि तैत्रिरीयोपनिषद् में ब्रह्म को सत्य, ज्ञान और अनन्त विशेषणों या गुणों वाला कहा है।[7] सत्य का अर्थ आचार्य करते हैं कि ब्रह्म असत्य नहीं है, ज्ञान का अर्थ करते हैं कि ब्रह्म में अज्ञान नहीं है। अनन्त का अभिप्राय है कि ब्रह्म सान्त नहीं है।[8] अर्थात् अनन्त वाला नहीं है।

आचार्य शंकर ब्रह्म को पर ब्रह्म और अपर ब्रह्म मानते हैं। उनका कथन है कि ब्रह्म में उभयालिङ्गत्व नहीं हो सकता। यह नहीं हो सकता कि एक ही वस्तु स्वतः ही रूप आदि विशेषणों वाली भी हो और उसके विपरीत गुणों वाली भी हो।[9] वे मानते हैं कि अपर ब्रह्म का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता अर्थात् पर ब्रह्म

1. तदेतत् ब्रह्मपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्य अयमात्मा सर्वानुभूदित्यनुशासनम्। (5।1।9 बृ०) शांकर भाष्य।
2. आत्मैवदग्र आसीत् पुरुष—सोऽहम्—अस्मीत्यग्रेव्याहरत् ततोऽहं नामभवत् (शांकर भा० बृ० 1।4।9
3. स य एष अणिमैतदात्म्यमिदं सर्वतत् सत्यं स आत्मातत्त्वमसि श्वेतकेतोइति। (शांकर भा० छा० 6।8।7)
4. येन चात्मनात्मैवतसर्वमिदं जगत्तदेव सदाख्यं कारणं सत्यंपरमार्थसत्ता अत एव स एवात्मा जगतः प्रत्यग् स्वरूपं सतत्त्वं यथात्म्यम् (छा० 6।8।7 पर शांकर भाष्य)
5. अशेषविशेष प्रत्यनीकचिन्मात्रब्रह्मैव परमार्थतः। तदतिरिक्त नानाविधज्ञातृज्ञेयतत्कृतज्ञानभेदादि सर्वं तस्मिन्नेव परिकल्पितं मिथ्याभूतम्। (छा० 6।8।7 पर शांकर भाष्य)
6. सत्यंज्ञानानन्तं ब्रह्म (तै० उ०-ब्र० अनु-1)
7. अत : सत्यं ब्रह्मेति ब्रह्म विकारान्निवर्तयति (शांकर भाष्य तै० उ० 2।1)
8. न तावत् स्वत एव परस्य ब्रह्मण उभयालिङ्गत्वमुपपद्यते। न ह्येकं वस्तु स्वतः एव रूपादि विशेषोपेतं तद् विपरीत चेत्यवधारयितुंशक्य विरोधात् (शांकर भाष्य ब्र० सू० 3।2।11)

और अपर ब्रह्म दोनों का प्रतिषेध नहीं हो सकता है। अन्यथा शून्यवाद सिद्ध हो जायेगा।[1] जैसा कि हम ऊपर संकेत कर आए हैं कि आचार्य ब्रह्म को सभी विशेषणों से रहित और निर्गुण तथा निर्विकल्पक मानते हैं।[2] उनका स्पष्ट मत है कि उपनिषदें एवं वेद ब्रह्म को निर्विशेष ही स्वीकार करते हैं। ब्रह्म तो सब विशेषणों से रहित है। ब्रह्म को जानने के विषय में आचार्य शंकर का मत है कि ब्रह्म जिसको ज्ञात नहीं है, उसी को ब्रह्म ज्ञात है, जिसको ब्रह्म ज्ञान है, वह उसे नहीं जानता। क्योंकि शब्द रहित, स्पर्श रहित और रूप रहित है।[3]

वस्तुतः उपनिषदों में ब्रह्म का स्वरूप उभयलिंग रूप में मिलता है। जैसा कि छन्दोग्य उपनिषदों में ही कहा है कि ब्रह्म का सर्व विश्व कर्म है, समस्त दोषों से रहित उसका कार्य है, वह समस्त गन्धवाला अर्थात् उसका गन्ध सुखकर है। वह सर्व रस अर्थात् रसानां रस है।

इसी प्रकार ब्रह्म के विषय में निर्विशेष अथवा निर्गुण वाचक श्रुतियां भी पर्याप्त हैं। यह तो एक प्रकार का विरोध है। तब ती ब्रह्म सविशेष और निर्विशेष दोनों रूपों वाला हुआ है। निर्विशेष श्रुति कहती है कि व न स्थूल है, न अणु है, न ह्रस्व है और न दीर्घ है। क्या इन श्रुतियों में दोनों लिङ्ग वाला ब्रह्म समझना चाहिये अथवा दोनों में एक लिङ्ग वाला ? यदि दोनों में एक लिङ्ग वाला समझा तो भी क्या वह सविशेष है अथवा निर्विशेष, इस पर विचार करने से उसमें दोनों लिङ्ग वाली श्रुतियों के अनुग्रह से दोनों लिङ्ग वाला ब्रह्म समझना चाहिए। आचार्य शंकर ऐसा मानने पर कहते हैं कि पर ब्रह्म का स्वतः उभयलिङ्गत्व सिद्ध नहीं होता, क्योंकि स्वतः ही एक वस्तु रूपादि विशेष युक्त और रूपादि विशेष रहित हो, इस प्रकार विरोध होने से वस्तु का अवधारण अर्थात् निश्चय नहीं किया जा सकता है।[4] यदि कहो कि स्वभावतः पृथ्वी आदि योग से ऐसा हो, तो वह भी उपपन्न नहीं हो सकता। उपाधि योग से अन्य प्रकार की वस्तु का अन्य प्रकार का स्वभाव सम्भव नहीं है। स्वभावतः स्वच्छ स्फटिक लाख आदि के योग से अस्वच्छ नहीं हो जाता उसमें अस्वच्छ का अभिनिवेश भ्रममात्र है।[5]

श्रुति में निर्गुण पर ब्रह्म को निष्प्रपञ्च भी कहा गया है। उस अजन्मा अजर, अमर, अमृत और अभय किया गया है। इसके स्वरूप को निषेधात्मक शैली में निरूपित किया है।[6] बृहदारण्यकोपनिषद् में ब्रह्म के स्वरूप का विस्तृत वर्णन करते हुए निषेधात्मक प्रणाली ब्रह्म विषयक बड़ा ही समीचीन वर्णन प्राप्त होता

1. न तावद् उभयप्रतिषेध उपपद्यते शून्यवाद प्रसङ्गात् (ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य 3।2।22)
2. अतश्चान्यतरलिङ्ग परिग्रहेऽपि समस्त विशेषरहितं निर्विकल्पमेव ब्रह्म प्रतिपतव्यं न तद्विपरीतं··· सर्वत्रहि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादन परेषु वाक्येषु अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् (क० 3।15) इत्येवमादिष्वपास्त समस्त विशेष मेव ब्रह्मोपदिस्यते (शांकर भाष्य ब्र० सू० 3।2।11)
3. कठ० 3।15)
4. 'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्ग सर्वत्रहि' (ब्र० सू० 3।2।11) पर शांकर भाष्य—सन्त्युभयलिङ्गा श्रुतयो ब्रह्मविषयाः—सर्वकर्मासर्वकामः सर्वगन्धः सर्व रसः (छा० 3।14।2) इत्येवमाद्यासविशेष लिङ्गाः। अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम् (बृह० 3।8।8) इत्येवमाद्याश्च निर्विशेष लिङ्गा। किमासु श्रुतिषूभयलिङ्ग ब्रह्म—न ह्येकं वस्तु स्वतः एव रूपादिविशेषोपेतंतद्विपरीतं चेत्यवधारयितुं शक्यं विरोधात्···।" शांकर भाष्य ब्र० सू० 3।2।11)
5. अस्तुतर्हि स्थानतः पृथिव्याद्युपाधियोगादिति, तदपि नोपपद्यते—नहि—उपाधियोगदप्यन्यादृशष्य वस्तुनोऽन्यादृशः—
6. बृहदारण्यक—4।4।25

है। वह न मरता है, न मीठा है, न पतला है, न बड़ा, न लाल, न द्रव्य, न छाया, न तम, न शत्रु, न आकाश, न संठ, न रस, न गन्ध, न नेत्र, न कान, न वाणी, न मन न तेज, न प्राण, न मुख, न काम, न अन्दर, न बाहर, न भक्षक और न भव्य है।[1] आचार्य मानते हैं कि वह अशक्त, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, रसहीन, तैल और गन्धरहित, अनादि, अनन्त महत्वातीत और अटल है।[2]

जब वह विपय नहीं है तो इन्द्रिय मन एवं बुद्धि के लिए अग्राह्य है और अज्ञेय है।[3] आगे कहा वह आत्मतत्त्व अशीय, अग्राह्य और निर्विकार है।[4]

आचार्य शंकर ने निर्विशेष और सविशेष ब्रह्म को क्रमशः पारमार्थिक और व्यावहारिक स्तर पर रख कर देखा है। उनके मतानुसार ये जो ब्रह्म के लक्षणपरक शब्द श्रुति में पुलिङ्ग में प्रयुक्त हुए हैं, वे सगुण अर्थात् ईश्वर के द्योतक हैं। जो नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त हुए हैं वे परम अर्थात् पारमार्थिक निर्गुण ब्रह्म के अभिधायक है।

जीवात्मा—आचार्य शंकर श्रुति और ब्रह्मसूत्र का भाष्य करते हुए जीव और ब्रह्म में अभेद मानते हैं। भेद केवल व्यावहारिक स्तर पर है, पारमार्थिक रूप में जीव ब्रह्म से भिन्न है ही नहीं। केवल अज्ञान के कारण विवर्त रूप में पृथक् भासित होता है। वे इस जीव और ब्रह्मके विवर्त को अनादि मानते हैं। इस पर उनकी अनेक आचार्यों ने सबल आलोचना भी की है, उनका मत है कि जब यह भेद अनादि है तो दोनों में अभेद कैसे माना जा सकता। आचार्य शंकर के जीव एवं ब्रह्म के अभेद को सार रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सजता है—

1. ब्रह्म के दो रूप हैं, एक तो नाम रूप विकार भेद वाला दूसरा इसके विपरीत सब प्रकार की उपाधि से छुटा हुआ है।[5]

2. वहां अविद्या की अवस्था ब्रह्म के उपास्य और उपासक आदि लक्षण वाले सब व्यवहार होते हैं। ये सब में उपाधि के भेद से भेद होता है।[6]

3. परमात्धा ही शरीर, मन बुद्धि की उपाधियों से परिच्छिन्न होकर मूर्खों के लिए शरीर एवं जीव कहलाता है।[7]

4. जीव ब्रह्म का भेद अविद्या के कारण है। पारमार्थिक रूप में आत्मा एक ही है, दो नहीं हो सकते हैं।[8]

5. अन्य मतावलम्बी और हम में से भी कुछ लोग जीव के स्वरूप को पारमार्थिक रूप में ही मानते हैं। हमने शारीरक भाष्य उनके भ्रम को दूर करने के लिए किया है। जिससे स्पष्ट हो जाय कि आत्मा

1. बृहदारण्यक—3।3।8
2. कठोपनिषद्—1।1।15
3. पूर्वोक्तव—2।1।12। तथा बृहदारण्यक 3।8।1
4. बृहदारण्यक 3।4।22
5. द्विरूपं हि ब्रह्म वगमयते नामरूपविकारभेदोप्पाधि...। (ब्र० सू० शांकर भाष्य 1।1।12)
6. तत्राविद्यावस्थायां ब्रह्मण उपास्योपासकादिलक्षण—सर्वो व्यवहार—(शांकर भाष्य ब्र० सू० 1।1।12)
7. पर एवात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिभिः परिच्छिदमानो बालै शारीर इत्युपचर्यते।—शांकर भाष्य 1।26 वही)
8. अविद्याप्रत्युपस्थापित कार्य कारणोपाधि...न द्वौ प्रत्यगात्मानौ सम्भवतः। (शांकर भाष्य 1।2।20)

एक ही है। एक ही कूटस्थनित्य जादूगर की तरह अनेकों प्रकार का अवलोकित होता है।[1] ब्रह्म सूत्र के कई भेदमूलक सूत्रों पर शंकर का भेदपरक अर्थ भी प्राप्त होता है परन्तु यह भेद उनकी दृष्टि में पारमार्थिक रूप में न होकर व्यावहारिक एवं औपाधिक है। यद्यपि आचार्य की समीक्षा करने वाले अन्य आचार्य उनका प्रत्याख्यान भी करते हैं।

सृष्टि रचना—द्वैतवादी आचार्य सृष्टि रचना में ब्रह्म को निमित्त कारण, प्रकृति एवं परमाणु को उपादान कारण और जीवात्मा को साधारण कारण मानते हैं। आचार्य शंकर, जैसा कि हम इस शोधपत्र के प्रारम्भ में स्पष्ट कर चुके हैं, ब्रह्म को अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानते हैं सृष्टि की रचनाविकार से न होकर विवर्तवाद के अनुसार स्वीकार करते हैं। मायोपहित चैतन्य की सृष्टि क्रम में माया की उत्कृत सत्व की उपाधि से युक्त चैतन्य सर्वज्ञादि विशेषणों युक्त ईश्वर कहलाता है। अद्वैतवाद में माया शब्द का ग्रहण ऋग्वेद से किया जाता है। एक ही इन्द्र-परमात्मा मायाशक्तियों के द्वारा अनेक रूपों वाला प्रतीत है।[2] इसी प्रकार श्वेताश्वेतर उपनिषद् में माना है कि माया को प्रकृति यानी विश्व का परिणामी उपादान कारण और माया के अधिष्ठाता को परमेश्वर समझो।[3] इसी प्रकार इसी उपनिषद् में दूसरे स्थान पर कहा गया है कि विश्वमाया की निवृत्ति होती है।[4] अनेक गीता आदि ग्रन्थों के भी माया सम्बन्धी प्रमाण दिये जाते हैं। श्रुति में अर्थात् वैदिक साहित्य में ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में सृष्टि संरचना का संक्षिप्त रूप में परन्तु अति गम्भीर और सूक्ष्म वर्णन आता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा है कि जिस ब्रह्म से ये समस्त महाभूत उत्पन्न होते है जिसके उत्पन्न हुए जीवित रहते हैं और उसी में पुनः लीन हो जाते हैं।[5] आगे इसी उपनिषद् ने सृष्टि क्रम का वर्णन करते हुए कहा है कि उस ब्रह्म की ईक्षण शक्ति से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से थल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधियां रूप नाना जगत उत्पन्न होता है।[6] इसी प्रकार मुण्डक उपनिषद में भी सृष्टि रचना के संक्षिप्त वर्णन में कहा गया है कि उस तप के परिणाम-स्वरूप, अन्न, प्राण, मन पंचमहाभुत, समस्त लोक और कर्म तथा कर्मों से अवश्यंभावी सुख-दुःख रूप फल उत्पन्न होते हैं। इसके आगे इसी उपनिषद के वचनों में नाना विधि रूप विश्व की संरचना सभी उसी से उत्पन्न होती है, यह सुस्पष्ट वर्णन मिलता है। यहां शंकर अपने भाष्य में स्पष्ट करते हैं कि जिस प्रकार दृष्टि दोष से आकाश तल मलादि युक्तभासता है, उसी प्रकार देहाधि-उपाधि भेद में दृष्टि रखने वालों को वह अक्षर ब्रह्म प्राण, मन, इन्द्रिय एवं विषयों से युक्त सा भासित होता है। उसी से (अक्षर पुरुष) प्राण उत्पन्न होता है। उससे ही अविद्या उपाधि से उपलक्षित, अविद्या का विषय विकारभूत नाममात्र तथा प्राण, मन

1. अपरे तु वादिनः पारमार्थिकमेव जैवं रूपमिति मन्यन्तेऽस्मदीयाश्च केचित। एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्योविज्ञान धातुरविद्ययामाययामायाविवदनेकधाविभाव्यतेनान्यो विज्ञान धातुरस्तीति (ब्र० सू० शांकर भाष्य 1।3।19)
2. इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपईयते (6।47।18)
3. मायांतु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम् (श्वेता० उ० 4।10)
4. विश्वमायानिवृत्तिः (श्वेता० 1।10)
5. यतो इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति (पर शांकर भाष्य) अन्यान्यप्येवं जातीय कानि वाक्यानि नित्यशुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव सर्वज्ञस्वरूप कारणविषयाण्यु-दाहर्तव्यानि। (तैति० 3।1)
6. तस्मादवा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वाय। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अदभ्य पृथ्वी। पृथिव्या औषधयः···। पर शांकर भाष्य (तै० ब्र० व० 1 अनुवाक)

आदि महाभूतों की उत्पत्ति होती है ।[1] इसी प्रकार छान्दोग्य में कहा गया है कि यह विकार तो केवल नाम रूप जगत का वाचारम्भण मात्र है ।[2] इस प्रकार उसी पुरुष से अग्नि, समिधा, सूर्य, पर्जन्य, औषधियां और पृथ्वी आदि समस्त जगत के साथ समस्त प्रजा उत्पन्न हुई है ।[3] वस्तुतः यह त्रैलोक्यदेहोपाधिक प्रथम शरीरी अनन्त देव परमात्मा ही समस्त भुतों का अन्तरात्मा है ।[4] उस परमात्मा की महिमा महान है वह विश्व में एक पाद और उसके तीन पान अमृत में हैं ।[5]

वह परमात्मा ही अग्नि आदि नामों से भिन्न कहा जाता है ।[6] यह मित्र आदि समस्त नाम एक ही सत के हैं, विद्वान उसे बहुनामों से कहते हैं ।[7] दो समान गुण बालकों में मित्र एक वृक्ष पर बैठे हैं । उनमें एक उसके फल खाता है, दूसरा चेता बनकर कुछ भी नहीं खाता है ।[8] इत्यादि वेद मन्त्रों का भाष्य आचार्य शंकर, उपनिषदों एवं ब्रह्म सूत्र के भाष्य में अद्वैतपरक ही करते हैं ।

---

1. तस्मादेव पुरुषान्नामरूपबीजोपाधिलक्षिताज्जायते ।···न हि तेना विद्याविषयेणानृतेन प्राणेनसप्राणस्व परस्य···विषयाश्चैतस्मादेव जायन्ते···परमार्थतोऽन्तसन्तस्तय। प्रलीनाश्चेति द्रष्टव्या:। (मुण्डक 2 खण्ड 1।3 मं० पर शांकर भा०)
2. वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् (छा० उ० 6।1।4)
3. तस्मादग्नि समिधो यस्य सूर्य (मु० 2। खण्ड 1।5 पर शांकर भाष्य)
4. ···एवं क्रमेण बह्वीबह्वयः प्रजा ब्राह्मणाद्या: पुरुषात परमातसम्प्रसूता: समुत्पन्ना: मु० 2 । खं० 1।4 पर शांकर भाष्य)
5. पादोऽस्य सर्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि (यजु० अ० 31 मन्त्र)
6. तदेवाग्निस्तदादित्यं···भाप स प्रजापति । (यजु० 32।1)
7. इदं मित्रं वरुणमग्नि···एवं सद विप्रा बहुधावदन्ति (ऋ० 1।164।46)
8. द्वासुपर्णा सयुजा सखाया···अभिचाकशीति···

अद्वैत वेदान्त : परम्परा, साहित्य और सिद्धान्त

डा० अभेदानंद भट्टाचार्य

आचार्य शंकर अद्वैत वेदान्त को औपनिषदीय सिद्धान्त कहते हैं। उपनिषदों में बहुस्थलों में अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन मिलता है। इस अद्वैत ब्रह्मवाद की स्थापना के लिए आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्रों पर बहुत बड़ा भाष्य लिखा। बादरायण ने उपनिषद् वाक्यों की मीमांसा के लिए शारीरक मीमांसा सूत्रों की रचना की। इन सूत्रों में जो उपनिषद् सिद्धान्त प्रतिपादित हुए हैं, उन्हीं की व्याख्या शंकर ने अपने भाष्य में की है, यह उनका दावा है। आचार्य शंकर से पूर्व और भी अद्वैत वेदान्त के कुछ आचार्य हुए हैं उन आचार्यों में आचार्य गौड़पाद का नाम बहुत ही महत्वपूर्ण है। आचार्य गौड़पाद शंकराचार्य के परमगुरु थे। उन्होंने मांडूक्य-उपनिषद् पर मांडूक्य-कारिका लिखकर अद्वैतवाद की व्याख्या की है। आचार्य शंकर ने मांडूक्य-कारिका पर भी भाष्य लिखा है इसके अतिरिक्त ग्यारह उपनिषदों पर उनका लिखा गया भाष्य विद्वानों में बहुत चर्चित है। उनमें भी छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य में उन्होंने अद्वैतवेदान्त की सैद्धान्तिक बातें लिखी हैं जो कि अद्वैत वेदान्त के लिए महत्वपूर्ण हैं। शंकर ने तृतीय प्रस्थान भगवत्गीता पर भी भाष्य लिखा है। इनके अतिरिक्त उपदेश साहस्री, विवेक चूड़ामणि एवं बहुत-से स्तोत्रों की रचना भी उन्होंने की है। आप्तवज्रसूची, आत्मबोध, मोहमुद्गर, दश-श्लोकी अपरोक्षानुभूति, विष्णु सहस्रनाम आदि ग्रन्थ भी शंकराचार्य रचित कहे जाते हैं।[1]

आचार्य शंकर के उक्त सभी ग्रन्थों एवं भाष्यों में ब्रह्मसूत्र भाष्य ही प्रधान रूप से अद्वैतवेदान्त का आधार ग्रन्थ है। इसीको अद्वैतवेदान्त दर्शन कहा जा सकता है। आचार्य शंकर के बाद अद्वैतवेदान्त में अनेक विद्वान् आचार्य हुए हैं एवं बहुत-से पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये हैं। प्रक्रिया-भेद से बाद के आचार्यों में विवरण सम्प्रदाय एवं भामती सम्प्रदाय नाम से दो विशेष धाराओं की प्रसिद्धि हुई। आचार्य पद्मपाद शंकराचार्य के शिष्य थे। उन्होंने शंकरभाष्य के ऊपर पंचपादिका के नाम से एक टीका लिखी। उस टीका के ऊपर आचार्य प्रकाशात्मा ने विवरण नाम की टीका की रचना की। ये दोनों ही टीकायें अद्वैत वेदान्त का बारीकी से विश्लेषण करती हैं। विवरण टीका के नाम से ही पूर्वोक्त विवरण सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। इसीसे पता चलता है कि इस टीका की कितनी महत्ता है। विद्यारण्य मुनि ने, जिन्हें माधवाचार्य भी कहा जाता है, विवरण-प्रमेयसंग्रह की रचना की। इन्होंने ही वेदान्त का महत्वपूर्ण ग्रन्थ पंचदशी एवं जीवन-मुक्तिविवेक नामक ग्रन्थों की भी रचना की। पंचदशी के विषय में कहा जाता है कि इस ग्रन्थ के प्रथम छः अध्याय विद्यारण्य मुनि के द्वारा रचित हैं एवं बाद के नौ अध्याय भारती तीर्थ द्वारा रचे गए है।

भामती सम्प्रदाय वाचस्पति मिश्र द्वारा रचित प्रसिद्ध भामती नामक टीका से प्रादुर्भूत होता है।

1. Indian philosophy. Dr. Radhakrishnan, Vol. II,page 451

भामती टीका भी ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य पर लिखी गई एक पांडित्यपूर्ण एवं व्याख्यात्मक टीका है । इस टीका में अद्वैत वेदान्त के प्रायः सभी सिद्धान्तों का विश्लेषण हुआ है । भामती की व्याख्या अमलानन्द स्वामी ने कल्पतरु नामक टीका द्वारा की है । कल्पतरु की व्याख्या परिमल नामक टीका है जोकि महापण्डित अप्पय दीक्षित द्वारा रचित है । इसी प्रकार अद्वैतानन्द द्वारा लिखित ब्रह्मविद्याभरण तथा स्वामी गोविन्दानन्द की रत्नप्रभा अद्वैत वेदान्त के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं । आनन्दगिरि की न्यायनिर्णय टीका बहुत ही प्रसिद्ध है । अखण्डानन्द ने विवरण के ऊपर तत्त्वदीपन टीका लिखी है । सुरेश्वर आचार्य का बृहदारण्यकवार्तिक अद्वैत वेदान्त में बहुत महत्त्वपूर्ण रचना है । इन्हीं का दूसरा ग्रन्थ नैष्कर्म्य-सिद्धि है । सर्वज्ञात्म मुनि ने संक्षेपशारीरक लिखकर वेदान्त सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है । इधर श्रीहर्ष ने खण्डनखण्डखाद्य ग्रन्थ द्वारा सम्पूर्ण प्रपंच को अनिर्वचनीय सिद्ध किया है । मण्डनमिश्र द्वारा लिखित ब्रह्मसिद्धि, विमुक्तात्मा द्वारा लिखित इष्टसिद्धि, काश्मीरक सदानन्द यति की अद्वैतब्रह्मसिद्धि, मधुसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि इससे पूर्व उल्लेखित सुरेश्वर की नैष्कर्म्यसिद्धि, इन सबको अद्वैत वेदान्त में पंचसिद्धियाँ कहते हैं । इनमें से अद्वैतसिद्धि बहुत ही पांडित्य-पूर्ण ग्रन्थ है । आचार्य चित्सुख ने तत्त्वप्रदीपिका की रचना करके अद्वैत वेदान्त के विषयों का पांडित्यपूर्ण विवेचन किया है । न्यायमकरन्दकार आनन्दबोध भट्टारक आचार्य के, 'न्यायमकरन्द' ग्रन्थ में ख्यातिवादों का विद्वत्तापूर्ण विवेचन हुआ है । नृसिंहाश्रम द्वारा रचित 'अद्वैतदीपिका' एवं 'वेदान्त तत्त्व विवेक' अद्वैत वेदान्तविषयक पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ हैं । अप्पय दीक्षित ने अद्वैत वेदान्त के लिए अनेकों ग्रन्थ लिखे हैं । 'कल्पतरु परिमल' का उल्लेख हमने पहले ही किया है जो कि एक पाण्डित्यपूर्ण एवं बृहत् टीकाग्रन्थ है । इसके अतिरिक्त न्यायरक्षामणि, सिद्धान्तलेशसंग्रह, आदि ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं । अद्वैत वेदान्त में बहुत-से और भी ग्रन्थ लिखे गये हैं जिनमें प्रकाशानन्द सरस्वती का वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, सदानन्द का वेदान्तसार, धर्मराजाध्वरीन्द्र का वेदान्तपरिभाषा, रामाद्वय का वेदान्तकौमुदी, कृष्णमिश्रयति का प्रबोधचन्द्रोदय, लक्ष्मीधर का अद्वैतमकरन्द आदि ग्रन्थ उल्लेखीय हैं । इनके अतिरिक्त और भी बहुत-से टीकाग्रन्थ एवं वृत्तिग्रन्थ अद्वैत वेदान्त के आचार्यों ने लिखे हैं । गौड़ ब्रह्मानन्द की अद्वैतसिद्धि के ऊपर लघुचन्द्रिका टीका अद्वैत वेदान्त के पंडितों में महत्त्वपूर्ण स्थान बना चुकी है ।

अद्वैत वेदान्त में अनेकों आचार्य हो चुके हैं । उनमें आचार्य शंकर के बाद उपर्युक्त आचार्य पद्मपाद, आचार्य सुरेश्वर, आचार्य मण्डनमिश्र, (कुछ लोग इन दोनों आचार्यों को एक व्यक्ति भी कहते हैं) आचार्य वाचस्पति मिश्र, आचार्य श्रीहर्ष, आचार्य चित्सुख, आचार्य सर्वज्ञात्म मुनि, आचार्य प्रकाशात्म यति, आचार्य मधुसूदनसरस्वती, आचार्य अप्पय दीक्षित बहुत ही प्रसिद्ध एवं श्रद्धा के पात्र हैं । अद्वैत वेदान्त के विषयों की दृष्टि से उपर्युक्त ग्रन्थों में पंचपादिका, पंचपादिकाविवरण, भामती, कल्पतरु, परिमल प्रसिद्ध टीकाग्रन्थ हैं । मौलिक ग्रन्थों में संक्षेप—शारीरक भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है । पाण्डित्य एवं शास्त्रार्थ की दृष्टि से तत्त्वप्रदीपिका, खण्डनखण्डखाद्य, अद्वैतसिद्धि एवं लघुचन्द्रिका प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं । अद्वैतसिद्धि में द्वैतवादी न्यायामृतकार व्यासतीर्थ द्वारा अद्वैत सिद्धान्त में किये गये आक्षेपों का शास्त्रार्थपूर्ण उत्तर दिया गया है । व्यासतीर्थ के शिष्य तरंगिणीकार द्वारा किये गये आक्षेपों का उत्तर लघुचन्द्रिकाकार ने दिया है । इस प्रकार यह द्वैत एवं अद्वैत-वादों की खण्डनपरम्परा चली है । खण्डनखण्डखाद्य अद्वैत वेदान्त का एक अद्वितीय ग्रन्थ है । इसमें श्रीहर्ष ने नागार्जुन की शैली से प्रमाण, प्रमेय आदि तत्त्वों की सर्व प्रकार से तार्किक असिद्धि बतलाई है । तार्किक विश्लेषण करने पर श्रीहर्ष के अनुसार संसार में किसी भी वस्तु की सिद्धि सम्भव नहीं । ब्रेड्ले के समान श्रीहर्ष भी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रमाण-प्रमेय आदि तत्त्वों की सिद्धि विरोधपूर्ण है । इसलिए विश्व की सभी वस्तुएं अनिर्वचनीय हैं ।

उपर्युक्त सभी ग्रन्थों में नाना प्रकार से अद्वैतब्रह्म की ही सिद्धि की गई है । अद्वैतब्रह्म की सिद्धि के

लिए आत्मा-अनात्मा-अध्यास, अनिर्वचनीय अविद्या, ब्रह्म का निर्गुणत्व, जीव-ब्रह्म-एकत्व, तत्त्व-मसि का अखण्डार्थत्व, जगत् मिथ्यात्व, मुक्ति में जीव—ब्रह्मैक्य आदि विषयों का विवेचन उक्त ग्रन्थों में हुआ है।

संक्षिप्त तत्त्वमीमांसा : आत्म-अनात्माध्यास

ब्रह्मसूत्र में 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' इस प्रथम सूत्र द्वारा ब्रह्म की जिज्ञासा का प्रतिपादन हुआ है। श्रुति में भी 'तद्विजिज्ञासस्व' कहा गया है। यहाँ पर ब्रह्म जिज्ञासा में प्रश्न उठाया गया है कि ब्रह्म की जो जिज्ञासा करनी चाहिए उस जिज्ञासा का विषय ब्रह्म ज्ञात है अथवा अज्ञात। यदि ब्रह्म ज्ञात है तो उस विषय में जिज्ञासा का उदय ही नहीं हो सकता, यदि अज्ञात है तो जिज्ञासा ही असम्भव है।[1] कोई भी व्यक्ति पूर्ण रूप से अज्ञात वस्तु की जिज्ञासा नहीं कर सकता, न ही पूर्ण रूप से ज्ञात वस्तु की जिज्ञासा हो सकती है। पूर्ण रूप से ज्ञात एवं पूर्ण रूप से अज्ञात वस्तुओं में सन्देह नहीं हो सकता, सन्देह के बिना जिज्ञासा सम्भव नहीं। इस समस्या का समाधान आचार्य शंकर ने किया है। उनके अनुसार ब्रह्म की जिज्ञासा असम्भव नहीं है। आत्मरूप से ब्रह्म सबके लिए प्रसिद्ध है। आत्मास्तित्व को सभी मानते हैं। कोई भी 'मैं नहीं हूँ' इस प्रकार नहीं कहता।[2] अद्वैत वेदान्त आत्मकेन्द्रित दर्शन है। देकार्त के समान स्वतःसिद्ध आत्मास्तित्व को केन्द्र बनाकर अद्वैत दर्शन प्रवृत्त होता है। इस प्रकार आत्मा के रूप में अर्थात् 'मैं हूँ' के अनुभव से आचार्य शंकर आत्मा की प्रसिद्धि करते हैं। उनके अनुसार आत्मा ही ब्रह्म है, यह बात शंकर शास्त्रीय आधार पर मान लेते हैं, क्योंकि उपनिषद्शास्त्रों की मीमांसा एवं समन्वय ही उनका कार्य है। इसीलिए शास्त्र-प्रमाण उनके लिए दार्शनिक आधार है। आत्मा के रूप में ब्रह्म प्रसिद्ध होने पर भी आत्मा स्वयं अपने स्वरूप से प्रसिद्ध नहीं है। अर्थात् आत्मा जिस रूप में प्रसिद्ध है, वह आत्मा स्वरूप नहीं है। वह तो आत्मा का अध्यस्त रूप है। इसीलिए स्वरूपभूत आत्मा की जिज्ञासा होनी चाहिए। इस प्रकार आचार्य शंकर आत्मा को प्रसिद्ध बतलाते हुए भी वास्तविक स्वरूपभूत आत्मा को अप्रसिद्ध मानकर आत्मा की अर्थात् ब्रह्म की जिज्ञासा का प्रतिपादन करते हैं। जहाँ पर 'अहं' करके आत्मा का प्रत्यक्ष होता है वहाँ पर शरीर को लेकर ही 'मैं देवदत्त हूँ, मैं स्थूल हूँ' इत्यादि प्रयोग होते हैं। शरीर-अभिमानी के रूप में आत्मा स्वरूपभूत आत्मा नहीं है, आत्मा शुद्ध चेतन है। उसमें स्थूलत्व आदि धर्म सम्भव नहीं, स्थूलत्व आदि जड़ वस्तुओं के धर्म हैं। आत्मा अभौतिक है, अतः उसमें वास्तविक अर्थ में भौतिक धर्म नहीं हो सकते। स्थूल शरीर एवं अन्तःकरण के धर्मों को लेकर जीवात्मा सुखी-दुखी होता है। आत्मा का इस प्रकार शरीर धर्मों के साथ तादात्म्यभाव वस्तुतः अध्यासपूर्वक है। आत्मा विषयी है। विषय अनात्मा जड़ पदार्थ है। विषयी एवं विषय प्रकाश एवं अन्धकार के समान परस्पर विरोधी हैं। दोनों का किसी प्रकार से सम्बन्ध नहीं बन सकता, फिर भी आत्मा-अनात्मा का इतरेतरभावसम्बन्ध होता है। वस्तुतः यह सम्बन्ध आध्यासिक ही है। यह आध्यासिक सम्बन्ध मिथ्या सम्बन्ध है।[3] अध्यास मिथ्या सम्बन्ध का मूल है। इस अध्यास के कारण ही चेतन आत्मा में जड़ वस्तु के सम्पर्क से 'अहमिदं' 'मम इदम्' इत्यादि प्रकार से मिथ्याभिमान का उदय होता है। लोग इस मिथ्याभिमान को स्वाभाविक एवं सत्य समझने लगते हैं- यह मिथ्या अभिमान अनादि अज्ञान के कारण है, यह नहीं समझ पाते।

1. ब्रह्मप्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात्। यदि प्रसिद्धं, न जिज्ञासितव्यम्। अथाप्रसिद्धं, नैव शक्यं जिज्ञासितुमिति। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, पृ० ७९
2. सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः। सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति न नाहमिति--आत्मा च ब्रह्म। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, पृ० 81।
3. युष्मदस्मत् प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोः···इत्यादि। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, पृ० 6-15

इस प्रकार यह लोकव्यवहार अनादि अज्ञान के कारण चल रहा है।[1]

अध्यास का विवरण देते हुए आचार्य शंकर ने भाष्य में कहा है कि 'स्मृतिरूप: परत्र पूर्वदृष्टावभास:[2] अर्थात् पूर्वदृष्ट वस्तु के समान अन्यत्र प्रतीत अध्यास है। अध्यास को 'अतस्मिन् तद्बुद्धि' समझना चाहिए। जो जिसमें नहीं, उसमें उसकी प्रतीति अध्यास है। अध्यास भ्रम ज्ञान है। यह 'तद्वति तत्प्रकारक' ज्ञान नहीं है, अपितु 'तदभाववति तत् प्रकारक' ज्ञान है। जैसे शुक्ति रजतमें रजत-अभाव होने पर भी रजत प्रकारक ज्ञान भ्रम से हुआ करता है। यह अध्यासज्ञान का उदाहरण है। अध्यासज्ञान को स्मृति-रूप कहा गया है। अर्थात् यह ज्ञान स्मृति के समान है न कि स्मृति। स्मृति में विषय उपस्थित नहीं रहता, भ्रम-ज्ञान में द्रष्टा के सामने विषय उपस्थित होता है। स्मृति रूप कहने का तात्पर्य और भी है कि जिस प्रकार स्मृति संस्कार से उत्पन्न होती है उसी प्रकार मिथ्या-ज्ञान भी संस्कारजन्य है। किन्तु स्मृतिज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता। भ्रमज्ञान प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है। आचार्य पद्मपाद के अनुसार भ्रम ज्ञान में अधिष्ठान अवश्य होता है।'[3] भ्रम किस आश्रय में होता है। सर्वभ्रम रज्जुरूप आश्रम में हुआ करता है, उसी प्रकार ब्रह्म को आश्रय करके सम्पूर्ण जगत्भ्रम होता है। वाचस्पति मिश्र ने अध्यास का संक्षिप्त लक्षण प्रस्तुत करके कहा है कि; अवभासोऽध्यास:,' उनके अनुसार अवभास ही अध्यास है। स्मृतिरूप, परत्र एवं पूर्वद्रष्ट—इन तीनों पदों द्वारा उक्त लक्षण का विश्लेषण हुआ है। भास का अर्थ प्रकाश है। यहां पर प्रकाश प्रतीति को कहा गया है। 'अव' पद से अवसाद प्राप्त भास समझना चाहिए। परवर्ती ज्ञान से बाधित होना ही अवसाद को प्राप्त करना है। भ्रम ज्ञान परवर्ती सत्य ज्ञान से बाधित होता है। इसलिए भ्रमज्ञान अवसाद प्राप्त ज्ञान है। इसप्रकार अवभास का अर्थ भ्रम ज्ञान हुआ, और यही अध्यास का लक्षण भी हुआ।[4] शुक्ति-रजत भ्रमस्थल में जिस प्रकार रजत शुक्ति में अध्यस्त है, उसी प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनुसार जगत प्रपंच भी ब्रह्म में अध्यस्त है एवं मिथ्या है। शुक्ति रजत भ्रम में जो शुक्तिबोध होता है, उसका शुक्तिज्ञान से बोध हो जाता है। बाध होने के कारण ही उक्त रजत अध्यस्त है। उसी प्रकार ब्रह्म के ज्ञान से यह प्रपंच एवं अहं-मम आदि व्यवहार बाधित हो जाते हैं। बाधित होते हैं, इसलिए वे सब अध्यस्त हैं। अध्यास लक्षण में 'परत्र' शब्द द्वारा भ्रमअधिष्ठान का कथन हुआ है। उक्त भ्रमस्थल के द्रष्टान्त में जिस प्रकार बिना शुक्ति के रजत-भ्रम नहीं हो सकता, उसी प्रकार बिना सत्य अधिष्ठान ब्रह्म के प्रपंचभ्रम नहीं हो सकता। प्रतिभासिक रजतभ्रमस्थल में पूर्वद्रष्ट रजत का स्मरण अपेक्षित है। इसलिए अध्यास लक्षण में स्मृतिरूप पद दिया गया है। पंचपादिका में इसकी व्याख्या करते हुए पद्मपाद ने कहा है कि 'स्मृते: रूपमिव रूपमस्य, न पुन: स्मृतिरेव' अर्थात् स्मृति के समान न कि स्मृति, ऐसा 'स्मृतिरूप' पद का तात्पर्य है। पूर्वदृष्ट होने पर ही वस्तु का संस्कार रहता है और उसीका अवभास परत्र, अर्थात् किसी अधिष्ठान में होना ही अध्यास है। इस प्रकार अध्यास लक्षण में दिए गए, सभी पदों की सार्थकता हो जाती है। अद्वैत वेदान्त में जिस प्रकार प्रतिभासिक वस्तुएँ अध्यसित होती हैं, उसी प्रकार व्यवहारिक प्रपंच भी आध्यासिक है। व्यावहारिक प्रपंच अध्यास के लिए भी प्रपंच के अनादि होने के कारण पूर्व-पूर्व प्रपंच के दृष्ट संस्कारों की संगति बन सकती है। अध्यास में अधिष्ठान की अपेक्षा, अध्यस्त

1. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, पृ० 16-17
2. वही, पृ० 17-18
3. पंचपादिका, पृ० 62-63 मद्रास
4. भाष्यभामती, पृ० 18
5. पंचपादिका, पृ० 41

की सत्ता न्यून होती है। इसीलिए परिमलकार अप्पय दीक्षित ने 'अधिष्ठानासमसत्ताकस्यावभासोऽध्यासः'[1] यह अध्यास का लक्षण किया है, अर्थात् अधिष्ठान से विषम सत्ता के साथ अध्यास होता है। वेदान्त कल्पतरुकार अमलानन्द स्वामी ने 'असन्निहितस्य परत्र प्रतीतिरध्यासः'[2] ऐसा अध्यास का लक्षण किया है। असन्निधान का अर्थ है अधिष्ठान में वास्तविक अर्थ में वस्तु का न होना। फिर भी उसमें उनकी प्रतीति होना ही अध्यास है। पंचपादिकाकार ने अनेकों दृष्टान्त देकर अध्यासलक्षण को घटाया है। उन्होंने कहा है कि जिस प्रकार जपाकुसुम के सान्निध्य से स्फटिक में लालिमा आ जाती है, स्फटिक में वस्तुतः लालिमा नहीं होती, उसी प्रकार आत्मा में अहंकार आदि का उपराग होता है। यही अध्यास है। उन्होंने दर्पण में मुख प्रतिबिम्बदर्शन के उदाहरण द्वारा भी अध्यास को समझाया है।[3] आत्मा में वस्तुतः अहंकार आदि धर्म नहीं हैं। वे धर्म अन्तःकरण के हैं। अतःकरण के धर्मों को अध्यास के कारण आत्मा में मान लिया जात है। तथा आत्मा के संसर्ग का अध्यास अन्तःकरण में होता है।[4] अद्वैतवेदान्तियों ने इस आत्मा-अनात्मअध्यास को दो प्रकार का बतलाया है। ज्ञानाध्यास एवं अर्थाध्यास। अर्थाध्यास छः प्रकार का होता है। केवल सम्बन्धाध्यास, सम्बन्धसहित सम्बन्धी का अध्यास, अन्योन्याध्यास, एवं अन्यतराध्यास। सम्बन्धाध्यास में आत्मा का सम्बन्धाध्यास होता है, क्योंकि आत्मा का स्वरूपतः अनात्मा में अध्यास नहीं हो सकता। अन्तःकरण आदि में आत्मा का संसर्ग हो सकता है। इसीको सम्बन्धाध्यास कहते हैं। आत्मा में अनात्मा अन्तःकरण आदि का तथा उनके सम्बन्ध का भी अध्यास होता है। आत्मा में स्थूलदेह के धर्मों का अध्यास होता है। जैसे 'मैं स्थूल हूँ,' 'मैं कृश हूँ' इत्यादि। अन्तःकरण के धर्मों एवं स्वरूप का अध्यास आत्मा में होता है। इसी प्रकार अन्योन्याध्यास, अन्यतराध्यास भी समझना चाहिए।[5] मूल बात यह है कि आत्माअनात्मा अध्यास में आत्मा स्वच्छ है; शुद्ध चेतन है, इसीलिए जिस प्रकार स्फटिक में लालिमा का संसर्गाध्यास होता है, स्फटिक में लालिमा चढ़ती नहीं है, वह तो स्वच्छ ही रहता है, उसी प्रकार आत्मा में अन्तःकरण एवं अन्तःकरण के धर्मों तथा शरीर के धर्मों का अध्यास होता है, फिर भी आत्मा स्वच्छ ही रहती है। किन्तु इसी अध्यास को लेकर ही आत्मा में मिथ्या कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि का उदय होता है और जीव सुखी-दुखी होता रहता है।

इसी अध्यास को समझाने के लिए अद्वैत वेदान्तियों ने असत्-ख्याति, आत्मख्याति, अख्याति एवं अन्यथा-ख्याति आदि ख्यातिवादों का खण्डन करके अनिर्वचनीय ख्याति मानी है।[6] भ्रमस्थल में प्रतीत रजत न सत् और न ही असत् है। सत् होने पर बाधित न होता, असत् होने पर प्रतीत न होता। उक्त रजत की प्रतीति होती है तथा मुक्ति ज्ञान से वह बाधित भी होता है, इसी प्रकार की वस्तु को अद्वैत वेदान्त अनिर्वचनीय कहता है।[7] उक्त वस्तु के ज्ञान को अनिर्वचनीय ज्ञान कहा जाता है। यही अनिर्वचनीय ख्याति है।

यह अध्यास आचार्य शंकर के अनुसार अनादि है। इस अनादि अध्यास के कारण आत्मा का स्वरूप

1. कल्पतरुपरिमल पृ० 19
2. वेदान्त कल्पतरु पृ० 19
3. पंचपादिका पृ० 100, 105
4. पंचपादिका पृ० 113
5. विस्तृत व्याख्या के लिए शांकरोत्तर अद्वैत वेदान्त में मिथ्यात्व निरूपण' (राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी) पृष्ठ 23 द्रष्टव्य।
6. शांकरभाष्य ब्रह्मसूत्र भूमिका, उस पर परिमल एवं विमुक्तात्मकी इष्टसिद्धि द्रष्टव्य है।
7. अद्वैतसिद्धि, पृ० 63

प्रकाशित नहीं होता। अज्ञान-आवरण के कारण उनका स्वरूप आवृत होता है तथा अनात्मा अन्तःकरण एवं शरीर के धर्मों का विक्षेप उत्पन्न हो जाता है। जब तक आत्म-अनात्मविवेक द्वारा आत्मज्ञान नहीं होता तब तक इस मिथ्या अध्यास का नाश नहीं होगा। इस मिथ्या अध्यास का कारण अनादि अज्ञान है।

अविद्या—आचार्य शंकर ने अध्यास को मिथ्या अज्ञाननिमित्त कहा है।[1] विवरणकार प्रकाशात्मयति ने भी 'अज्ञान को अध्यास का उपादान कहा है।[2] अविद्या अनादि है, इस अविद्या के कारण ही आत्मा-अनात्मा का अध्यास होता है। यही बन्धन है। अविद्या की निवृत्ति के साथ-साथ सम्पूर्ण जगत्-भ्रम दूर हो जाता है तथा देहात्मबोध समाप्त हो जाता है। अविद्या को अज्ञान शब्द से भी अभिहित किया गया है। यह अज्ञान अद्वैववेदान्त के अनुसार ज्ञानाभावरूप नहीं है। अविद्या का लक्षण प्रस्तुत करते हुए आचार्य चित्सुख ने तत्वप्रदीपिका के प्रथम परिच्छेद में कहा है कि "अनादि भावरूपं यद्विज्ञानेन विलीयते।" अर्थात् अद्वैत वेदान्त के अनुसार अज्ञान अनादि है, साथ में वह भावरूप है। भावरूप होने के कारण उसे ज्ञानभाव नहीं कह सकते। ज्ञानाभाव तो अभावरूप है। अज्ञान भावरूप होने पर भी विनाशी है, क्योंकि अज्ञान के विषय में विज्ञान से विलय होने को कहा गया है। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने भी अज्ञान का लक्षण चित्सुखाचार्य के समान ही किया है। उनका भी कहना है कि जो भावरूप होते हुए, अनादि होते हुए ज्ञान द्वारा नाश्य है, वही अज्ञान है।[3] वाचस्पति मिश्र ने भी अविद्या को भावरूप कहा है।[4] अविद्या को भावरूप कहने का तात्पर्य यह है कि अद्वैत वेदान्त के अनुसार जगत् प्रपंच अलीक नहीं है। जगत् प्रपंच अलीक मानने पर अद्वैत वेदान्त का शून्यवाद में प्रवेश होगा। इसलिए अद्वैत वेदान्तियों ने प्रपंच को सत् से भिन्न एवं असत् से भिन्न अनिर्वचनीय कहा है, इस अनिर्वचनीय जगत् का उपादान अविद्या भी अनिर्वचनीय है। अविद्या को अनिर्वचनीय अर्थ में भावरूप कहा जाता है, अर्थात् असत् अलीक पक्ष में अद्वैत वदान्त को पृथक् करने के लिए अविद्या को भावरूप कहा गया है। यह भावरूपता त्रिकालाबाध्यरूप नहीं त्रिकालाबाध्यरूप भावरूपत्व एकमात्र ब्रह्म का ही है। ब्रह्म ही त्रिकालाबाध्यरूप सत् है। अविद्या का ब्रह्म-ज्ञान से बाध हो जाता है, इसलिए अविद्या का बोध होता है, इसलिए वह बन्ध्यापुत्र के समान अलीक भी नहीं है, क्योंकि अलीक का बोध नहीं देखा गया है। अलीक की प्रतीति नहीं होती।[5] इसलिए अलीक विषयक बोध सम्भव नहीं। बाधित विषय का किंचित् भावरूपत्व अर्थात् प्रातीतिक भावरूप त्व अद्वैतवेदान्त को स्वीकार है। अविद्या का भावरूपत्व इसी प्रकार प्रतीतिक भावरूपत्व है। इस प्रकार प्रतीतिक भावरूप अविद्या को उपादान मानने पर जगत् सृष्टि की प्रतीति की संगति भी बैठ जाती है और अद्वैत वेदान्त का ब्रह्मवाद शून्यवाद में भिन्न हो जाता है। अविद्या का बाध होने के कारण अविद्याकार्य प्रपंच का बाध हो जाता है। इसलिए अविद्या एवं प्रपंच इस अर्थ में मिथ्या हैं।

पूर्वोक्त अर्थ में अद्वैत वेदान्त के अनुसार अविद्या अनिर्वचनीय है जो सद्रूप से एवं असद्रूप से प्रतिपाद्य नहीं है, उसे अद्वैत वेदान्त में अनिर्वचनीय कहा जाता है।[6] इसी प्रकार उस अविद्या उत्पादन से उत्पन्न प्रपंच भी सद्रूप एवं असद्रूप से प्रतिपाद्य न होने के कारण अनिर्वचनीय है। अनिर्वचनीय होने पर भी जिस प्रकार रज्जुज्ञान से भ्रमस्थलीय सर्प का बाध हो जाता है, उस प्रकार ब्रह्म विज्ञान से अविद्या अपने

1. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, पृ० 16
2. पंचपादिका विवरण, पृ० 73
3. अद्वैतसिद्धि, पृ० 544
4. भावरूपा मताऽविद्या स्फुटं वाचस्पतेरिह। वेदान्त कल्पतरु 1।3।30 सूत्र में टीका।
5. अद्वैतसिद्धि, पृ० 50, 51
6. तत्त्वप्रदीपिका, पृ० 89

कार्यों सहित बाधित हो जाती है, इसलिए अविद्या ज्ञानद्वारा निवर्त्य है।

अद्वैतवेदान्तियों में अविद्या के आश्रय के विषय में कुछ मतभेद हैं। कुछ लोग ब्रह्म को अविद्या का आश्रय कहते हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त अविद्या आदि द्वैत प्रपंच मिथ्या हैं। उस मिथ्या प्रतीत का आश्रय ब्रह्म ही हो सकता है, क्योंकि ब्रह्मातिरिक्त परमार्थ है नहीं, जिसे अविद्या का आश्रय कहा जाय। जीव भी वस्तुतः ब्रह्म ही है। इसलिए इस मत में अविद्या का आश्रय एकमात्र ब्रह्म ही रह सकता है। अविद्या का ज्ञान से विरोध है, किन्तु ज्ञानस्वरूप ब्रह्म से अविद्या का विरोध नहीं है, क्योंकि वास्तविक अर्थ में अविद्या भी ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है। अविद्या का विरोध वृत्तिज्ञान के साथ है।[1] जब ब्रह्म विषयक वृत्तिज्ञान का उदय होता हैं, तब अविद्या का नाश होता है। इसलिए वृत्तिज्ञान से अविद्या का विरोध समझना चाहिए, ब्रह्म को अज्ञानाश्रय मानने पर भी ब्रह्म उससे निर्लेप होता है, इसलिए उसमें अविद्यागत दोष नहीं आते, वह असंग रहता है।[2] अद्वैत सिद्धिकार ने अविद्या का आश्रय ब्रह्म को ही बतलाया है।[3] वाचस्पति मिश्र ने अविद्या का आश्रय जीव है और विषय ब्रह्म है, कहा है, क्योंकि जीव मेंही ब्रह्मविषयक अज्ञान होता है। इस पर शंका हो सकती है कि जीव तो स्वयं अविद्याकृत है, फिर वह अविद्या का आश्रय कैसे बन सकता है? अविद्या का आश्रय जीव है एवं जीव का जीवत्व अविद्या कल्पित है, इस प्रकार परस्पर-आश्रयता का दोष होगा। वाचस्पति मिश्र का उत्तर है कि बीजांकुरवत् परस्पर आश्रयता को यहां पर दोष नहीं माना जा सकता।[4] वाचस्पति मिश्र के जीवाश्रय अविद्यावाद को विवरण अनुयायियों ने नहीं माना है। उनके अनुसार अविद्या का आश्रय एवं विषय ब्रह्म ही है अविद्या के आश्रय एवं विषय के सम्बन्ध में मण्डनमिश्र भी जीवाश्रयअविद्यावादी हैं। उन्होंने ब्रह्मसिद्धि में 'अविद्या जीवानामिति ब्रूमः[5] कहा है, जीव आश्रित ब्रह्मविषयक अविद्या होती है, ऐसा उनका सिद्धान्त है। सुरेश्वर के अनुसार अविद्या का आश्रय ब्रह्म ही है, एवं विषय भी। अज्ञानकल्पित जीव अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता।[6] आचार्य शंकर के अनुसार अविद्या का आश्रय ब्रह्म ही जान पड़ता है, क्योंकि उन्होंने 1।4।3 सूत्रभाष्य में अविद्या को परमेश्वराश्रया मायामयी कहा है[7] इसलिए विवरण आचार्य आदि आचार्यों ने शंकर का ही अनुसरण करते हुए अविद्या को ब्रह्माश्रित माना है। अद्वैतसिद्धिकार ने जीवाश्रित, अविद्या पक्ष को भी असंगत नहीं बतलाया है।[8] विचार करने पर जीवाश्रय पक्ष भी पूर्णतः असंगत नहीं लगता, क्योंकि अज्ञान जीव को ही होता है, वह अज्ञान ब्रह्मविषयक जीव आश्रयक होता है, जैसे भ्रमस्थल में शक्तिविषय भ्रान्त व्यक्तिआश्रयक अज्ञान होता है।

कल्पनाभेद से प्रति जीव में अविद्या मानी गई हैं। एक ही अविद्या कल्पनाभेद से नाना जीव सम्भव अतःकरणरूपों में प्रतीत होता है। इसीलिए जीव अविद्या के एक होने पर भी नाना हो सकते हैं। कुछ लोग प्रति जीव नाना अविद्या को भी मानते हैं। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने प्रति नाना

1. अज्ञानविरोधि ज्ञानं हि न चैतन्यमात्रम्, किन्तु वृत्ति प्रतिबिम्बितम्।—अद्वैतसिद्धि पृ० 577
2. विवरण प्रमेय संग्रह, पृ० 81
3. अविद्याया आश्रयस्तु शुद्ध ब्रह्मव। तदुक्तम्-आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
—अद्वैतसिद्धि, पृ० 577
4. भामती, पृ० 378
5. ब्रह्मसिद्धि पृ० 10 तथा शंखपाणि टीका पृ० 29
6. बृहदारण्यक वार्तिक भाग 1, श्लोक 175-182
7. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, पृ० 378
8. अद्वैतसिद्धि, पृ० 585

अविद्या मानी है, किन्तु अविद्या का नानत्व भी कल्पित ही है।[1] जो लोग अविद्या को एक मानते हैं, उनके अनुसार भी कल्पित भेद मानना ही पड़ता है। आचार्य शंकर ने अविद्या को माया भी कहा है। उसके अनुसार माया, अविद्या में कोई भेद नहीं है।[2] कुछ लोग आवरण शक्ति प्रधान को अविद्या एवं विक्षेप शक्ति को माया कहते हैं। अविद्या की दो शक्तियां हैं—आवरण एवं विक्षेप। आवरण शक्ति से से अविद्या वस्तु के स्वरूप को आवृत कर लेती है एवं विक्षेप शक्ति से उस वस्तु में विपरीत रूप की प्रतीति करा देती है।[3] जैसे शुक्तिरजत भ्रमस्थल में अविद्या की आवरणशक्ति द्वारा अर्थात् शुक्तिविषयक अज्ञान की आवरणशक्ति द्वारा शुक्ति का स्वरूप भ्रान्त व्यक्ति के लिए आवृत हो जाता है। अज्ञान की विक्षेप शक्ति द्वारा उस अज्ञात शुक्ति को आश्रय करके रजत की प्रतीति होने लगती है। इस प्रकार अज्ञान की विक्षेप शक्ति वस्तु को अन्यथा रूप दिखाती है। वस्तु को अन्यथा रूप में देखना ही अध्यास है। इस अध्यास का मूल अज्ञान ही है। अविद्या की सिद्धि में अद्वैत वेदान्तियों ने प्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाण भी प्रस्तुत किए हैं। अज्ञान की सिद्धि में श्रुति प्रमाण भी दिये जाते हैं। विवरण आदि ग्रन्थों में अज्ञान की सिद्धि एवं अज्ञान की भावरूपता की सिद्धि में बहुत विस्तार से विचार मिलते हैं। आचार्य चित्सुख ने भी तत्वप्रदीपिका में अज्ञान की सिद्धि एवं उसकी भावरूपता पर बहुत विचार किया है। इस विषय पर तद्तद् द्रष्टव्य हैं।

आत्मा एवं ब्रह्म—अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा स्वतःसिद्ध एवं सत् है, यह पहले कहा जा चुका है। आत्मा देहेन्द्रियों से भिन्न वस्तुतः निर्लेप एवं चेतनस्वरूप है। यह आत्मा ही ब्रह्म है 'अयमात्मा ब्रह्म' आदि श्रुतियों द्वारा आत्मा को ब्रह्म कहा गया है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार एकमात्र ही सम्पूर्ण प्रपंच का सार है एवं अधिष्ठान है। ब्रह्म के अतिरिक्त वस्तुतः प्रपंच साररहित है। ब्रह्मरूप अधिष्ठान में ही प्रपंच की प्रतीति हो रही है। यह प्रतीति अज्ञानमूलक है, अज्ञान का आश्रय भी ब्रह्म है, यह कहा जा चुका है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार यह ब्रह्म जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण है। इसलिए ब्रह्म को अभिन्न-निमित्त-उपादान कहा जाता है।[4] श्रुति में एक विज्ञान से सर्वविज्ञान कहा गया है। एक कारण के ज्ञान से सम्पूर्ण कार्य का ज्ञान होता है। इसका अर्थ यह है कि उत्पादन कारण को जान लेने से कारणरूप कार्य का 'कारणात्मना' ज्ञान हो जाता है, क्योंकि कार्य कारणरूप ही है। जिस प्रकार घट मिट्टी रूप ही है, उसी प्रकार सम्पूर्ण प्रपंच ब्रह्मरूप है।[5] ब्रह्म प्रपंच का निमित्त कारण भी है, क्योंकि मायाधीश ब्रह्म सर्वत्र सर्वप्रभु, सर्वशक्तिमान है। सम्पूर्ण कार्यात्मक जगत् कारण के बिना सत् नहीं हो सकता। इसलिए कारण की सत्ता ही उसमें सत्ता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म 'एकमेवाद्वितीयम्' है। अर्थात् ब्रह्म में स्वगत-स्वजातीय-विजातीय भेद नहीं है। ब्रह्म के समान दूसरा ब्रह्म नहीं है। ब्रह्म में अवयव भेद नहीं है, क्योंकि वह निरवयव है। चेतन के अवयव नहीं होते। ब्रह्म से विजातीय कुछ नहीं है। जो कुछ भी है ब्रह्मानतिरिक्त है, इसलिए श्रुति 'नेह नानास्ति किंचन' कहती है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार यह ब्रह्म अप्रमेय है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अगम्य है। ब्रह्म का अनुमान

1. न वयं प्रधानवदविद्यां सर्वजीवेष्वेकामाचक्ष्महे, येनैवमुपालभ्येमहि, किन्त्वियं प्रति जीवं भिद्यते।
—भामती, पृ० 377
2. पंचदशीकार विद्यारण्यमुनि ते 'सत्व शुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते' अर्थात् शुद्ध सत्व प्रधान एवं मलिनसत्व प्रधान अविद्या—इस प्रकार माया अविद्या भेद किया है।—पंचदशी-1।16।
3. वेदान्तसार 16, पृ० 25 वाराणसी 1972
4. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 1।4।23
5. वही, 2।1।14

भी नहीं कर सकते, क्योंकि अनुमान के लिए हेतु की आवश्यकता होती है। ब्रह्म का किसी से संसर्ग नहीं है, वह निःसंग है, इसलिए श्रुति में 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' कहा है। यह तार्किकबुद्धि से परे है। मन, बुद्धि, वाणी की वहाँ पहुंच नहीं है। वह वाक्य मन का अगोचर है। फिर भी ब्रह्मविषयक कुछ जानकारी के साधन हो सकते हैं, तो एकमात्र शास्त्र ही हो सकते हैं। इसलिए ब्रह्म शास्त्र प्रमाणवेद्य है।[1] शास्त्रप्रमाण लक्षण द्वारा ही ब्रह्म का प्रतिपादन करता है। इसलिए 'महिम्नः स्त्रोत' में पुष्पदन्ताचार्य ने कहा है कि 'चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि' श्रुति भी चकित रहकर किसी प्रकार उसका कथन करती है। इसलिए ब्रह्म निषेधात्मक विधि से ज्ञातव्य है। सम्पूर्ण जगत का बाधपूर्वक अर्थात् निषेध करते हुए, ब्रह्म तक पहुँचना है। ब्रह्म जगत् का विवर्तकारण है, जगत् ब्रह्म का विवर्त है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म निर्गुण निर्विशेष है। ब्रह्म सच्चिदानन्द है। किन्तु सत्-चित एवं आनन्द ब्रह्म गुण नहीं है। ये सब ब्रह्मरूप हैं, क्योंकि उनको गुण मानने पर इसके साथ ब्रह्म का गुण-गुणी-सम्बन्ध मानना पड़ेगा, उस सम्बन्ध को भी सम्बन्धित करने के लिए एक और सम्बन्ध मानना पड़ेगा, इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। अद्वैत के अनुसार 'सत' आदि पद अपने में सार्थक होते हुए भी ब्रह्म रूप के ही बोधक हैं।

श्रुति में ब्रह्म के पर-अपर दो रूप बतलाए गये हैं। वस्तुतः ब्रह्म सबसे अतीत है। व्यावहारिक दृष्टि से उसमें पर-अपर भावों का कथन करने के लिए श्रुति में लोक-व्यवहार का अनुवाद मात्र किया गया है, ऐसा अद्वैतवेदान्तियों का सिद्धान्त है। तात्पर्यलिंग द्वारा विचार करने पर एकमात्र निर्विशेष, निर्गुण ब्रह्म में समस्त वेदान्त वाक्यों का पर्यवसान होता है।[2] यही शंकर सिद्धान्त है। ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय करके मायाधीश ईश्वरभाव को प्राप्त करता है। इसलिए अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म का ईश्वरभाव भी माया-शबलित होने के कारण प्रतीतिक है। वस्तुतः अविद्या के अस्तमित होने पर एकमात्र ब्रह्म ही अद्वैतभाव से अवशेष रहता है।

जीव—अद्वैत वेदान्त के अनुसार जीव वास्तविक अर्थ में अविद्या-कल्पित है। तत्वविवेककार एवं प्रकटार्थविवरणाकार के अनुसार अविद्या में चित्प्रतिबिम्ब ही जीव है। अप्पय दीक्षित ने सर्वज्ञात्मुनि के मत को उद्धृत करते हुए 'कार्योपाधिरयं जीवः'[3] कहा है। विवरणकार के अनुसार सूर्य जिस प्रकार नाना जलपूर्ण पात्रों में प्रतिबिम्बित होता है, उसी प्रकार शुद्ध चैतन्य भी अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होकर जीवभावापन्न होता है।[4] महाकाश जिस प्रकार घटिय उपाधियों से परिछिन्न होकर घटाकाश और महाकाश आदि रूप में भिन्न-भिन्न प्रतीत होने लगता है, उसी प्रकार विशुद्ध अपरिसीम चैतन्य ही उपाधियों के कारण नाना जीवों के रूप में प्रतीत होता है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के अनुसार शुद्ध चैतन्य ही अहं-अभिमानी जीव के रूप में प्रतीत होता है। जीव स्वरूप की व्याख्या में अद्वैत सम्प्रदाय में दो प्रसिद्ध मत हैं—1. अवच्छेदवाद और 2. प्रतिबिम्बवाद। अवच्छेदवादी के अनुसार अन्तःकरण अवच्छिन्न चेतन ही जीव है। अन्तःकरण के नाना होने के कारण जीव भी नाना दिखाई देते हैं। इस मत में जीव घटाकाश के समान और ब्रह्म महाकाश के समान हैं। अवच्छेदवादी के अनुसार जीव के नानत्व सिद्ध होने के कारण जीव ब्रह्म में उपासक उपास्य-भाव भी बन सकता है।

1. श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथा सम्भवमिह् प्रमाणम। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य 1/1/1
2. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य 1/1/4
3. सिद्धान्तलेशसंग्रह, पृ० 85
1. ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य 2/3/50।

प्रतिबिम्बवादी अद्वैत वेदान्ती अवच्छेदवाद में अनास्था प्रकट करते हुए जीव की व्याख्या में प्रतिबिम्बवाद की युक्तिसंगतता प्रस्तुत करते हैं। वे वास्तविक अर्थ में जीवब्रह्म में अभेदसिद्धि के लिए सूर्य और प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं। सूर्य और जलपूर्ण पात्रों में सूर्य प्रतिबिम्बों में भेद नहीं है। यहाँ पर बिम्ब और प्रतिबिम्ब एक हैं। इसी प्रकार बिम्बस्वरूप ब्रह्म और प्रतिबिम्बस्वरूप जीव में कोई भेद नहीं है। वास्तविक अर्थ में दोनों एक हैं। फिर भी प्रतिबिम्ब के आधार के नाना होने से जिस प्रकार प्रतिबिम्बभाव से सूर्य नाना हो सकता है, उसी प्रकार नाना अन्तःकरणों में प्रतिबिम्बित ब्रह्म भी नाना जीवों के रूप में प्रतीत होता है, यद्यपि विशुद्ध चैतन्य ही जीविरूप में प्रतीत होता है, फिर भी व्यवहार में जीवभेद का निषेध नहीं किया जाता।

कुछ अद्वैताचार्य व्यवहारिक दृष्टि से भी एक जीववादी हैं। उनका कहना है कि अविद्या एक है और एक अविद्या में प्रतिबिम्बभूत जीव भी एक ही है। स्वप्न में जिस प्रकार व्यक्ति स्वप्नद्रष्टा होकर नाना रूपों में स्वयं को देखता है, उसी प्रकार अविद्या प्रतिबिम्बित जीव भी एक है, नानात्व दर्शन स्वप्न के समान है। अनेक जीववादी अद्वैत आचार्यों का कहना है कि अविद्या के एक होने पर भी अन्तःकरण रूप में अविद्या नाना है और नाना अन्तःकरणों में प्रतिबिम्बित जीव भी व्यवहार में नाना हैं। इस प्रकार व्यवहार में जीव को नाना मानने पर प्रतिकर्मव्यवस्था भी बनी रहती है।

अद्वैतवेदान्त के अनुसार जीव में कर्तृत्व-भोक्तृत्व-ज्ञातृत्वादि धर्म अध्यस्त हैं, अतः ये धर्म मिथ्या हैं। रामानुजादि दार्शनिकगण जीवकर्तृत्वादि को सत्य धर्म मानते हैं। अद्वैत के अनुसार इन धर्मों को अध्यस्ततया मिथ्या मानने पर ही 'जीवो ब्रह्मैव' कहा जा सकता है। जीवगण परिमाण के विषय में अद्वैतवादी वैष्णव वेदान्तियों द्वारा स्वीकृत अणुपरिणाम का, एवं जैनदार्शनिकों द्वारा स्वीकृत मध्यम परिमाण का प्रत्याख्यान करते हैं। इस विषय में अद्वैतवादी नैयायिकों के साथ हाथ मिलाते हुए जीव को विभुपरिमाण वाला बतलाते हैं। अन्तःकरणादि उपाधियों द्वारा सीमित हो जाने के कारण जीव सीमित लगने लगता है, वस्तुतः वह विशुद्ध चैतन्य स्वरूप है, अतएव विभु है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य की व्याख्या द्वारा अद्वैत वेदान्ती जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध करते हैं। यहां पर विशुद्ध चैतन्यांश को लेकर जीव-ब्रह्म की एकता लक्षणा द्वारा मानी जाती है। इस प्रकार अद्वैत के अनुसार जीव का जीवत्वभाव अविद्या के कारण है। वास्तविक अर्थ में वह ब्रह्म ही है।

जगत्—अद्वैतवेदान्त में जगत् को मिथ्या कहा गया है। मिथ्या का अर्थ यहां पर अलीक नहीं है। अलीक आकाशकुसुमादि ज्ञान का विषय नहीं बनता। अद्वैतवेदान्ती अपने मिथ्यात्ववाद को शून्यवाद से पृथक रखने का भरसक प्रयास करते हैं। इनके अनुसार जिस प्रकार विश्व का उपादान अविद्या सद्सद्-विलक्षण अनिर्वचनीय है, उसी प्रकार अविद्या का कार्य जगत् भी अनिर्वचनीय है। अधिष्ठानस्वरूप ब्रह्म के ज्ञान से पूर्व तक जगत्-प्रपंच की प्रतीत होती है। इसलिए व्यवहार काल में जगत् का अपलाप नहीं किया जा सकता। साथ में यह भी समझ लेने की बात है कि ब्रह्मज्ञान से जगत् बाध्य है। अतः जगत्-प्रपंच को त्रिकालबाध्यनित्य भी नहीं कहा जा सकता। अतः अनिर्वचनीय जगत् मिथ्या है। मिथ्यात्व का लक्षण करते हुए विवरणकार प्रकाशात्मयति ने कहा है कि 'जो प्रतीयमान उपाधि में प्रतीत हो, परन्तु वह उसमें तीनों कालों में न हो—अर्थात् वह वस्तु उक्त अधिष्ठान में त्रैकालिक निषेध प्रतियोगी हो, उसे मिथ्या कहते है।[1] जैसे शुक्तिरजत भ्रम स्थल में शुक्तिरूप अधिष्ठान में रजत तीनों कालों में नहीं है, फिर भी शुक्तिविषयक अज्ञान के कारण शुक्ति में रजत की प्रतीत होती है। वस्तुतः शुक्ति में देखा गया रजत मिथ्या

2. पंचपादिका विवर, पृ० 212 तथा अद्वैतसिद्धि, पृ० 94

है। उसी प्रकार जगत्-प्रपंच की भी ब्रह्म में प्रतीति मिथ्या ही है। ब्रह्म सम्पूर्ण जगत्-भ्रम का अधिष्ठान है। अद्वैत में निरधिष्टान भ्रम नहीं माना गया। जिस प्रकार शुक्ति को अवलम्बन करके ही रजतभ्रम होता है, उसी प्रकार ब्रह्मरूप अधिष्ठान को अवलम्बन करके रजत-भ्रम होता है। जिस प्रकार शुक्ति ज्ञान से रजतभ्रम का बाध हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान से जगत् का भी बाध हो जाता है। जगत् की प्रतीत होती है, इसलिए अद्वैतवेदान्त में इसे अलीक नहीं माना गया। इसकी वास्तविक सत्ता ब्रह्म की सत्ता को लेकर है। आचार्य पद्मपादने अनिर्वाच्यत्व को ही मिथ्या कहा है।[1] ब्रह्मसाक्षात्कारसे जगत्-प्रपंच का बाध हो जाता है, इसीलिए विवरणकार प्रकाशात्मयति ने 'ज्ञाननिर्वत्यत्व को मिथ्यात्व' कहा है।[2] ज्ञान द्वारा जिसकी निवृत्ति होती है, वह मिथ्या है। आनन्दबोध भट्टारक ने दृश्यत्व, परिच्छिन्नत्व, एवं जड़त्व आदि हेतुओं से जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध किया है। जगत् एवं जागतिक वस्तुएं परिच्छिन्न हैं, दृश्य हैं, तथा जड़ हैं अतएव मिथ्या हैं। जगत् की व्यावहारिक सत्ता की रक्षा के लिए ही आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र नाभाव उपलब्धेः' 2।2।28 के भाष्य में विषयीविज्ञानवाद का खण्डन किया है तथा बाह्य वस्तुओं को स्वाप्निक पदार्थों से विलक्षण बतलाया। अद्वैत के अनुसार स्वाप्निक वस्तुएं प्रातिभासिक हैं तथा जाग्रत्कालीन वस्तुएं व्यावहारिक हैं। जगत् की व्यावहारिक सत्ता को मानकर ही अद्वैतवेदान्ती जीव-जगत् की व्याख्या भीं प्रस्तुत किया करते हैं।

सृष्टि की व्याख्या—दार्शनिकों ने नाना पद्धतियों से विश्व सृष्टि की व्याख्या की है। परमतत्व के के सम्बन्ध में अपनी-अपनी धारणा के अनुकूल ही सभी दार्शनिकों ने इस सृष्टि को समझने का प्रयास किया है। विश्वसृष्टिको लेकर किसी भी बुद्धिमान् व्यक्तिको यह जिज्ञासा होती है कि सृष्टिका रहस्य क्या है? यह सृष्टि कहां से आयी हैं? ऋग्वेदीय ऋषि भी कहते हैं कि 'कुत आजाता, कुत इयं 'विसृष्टि' यह सृष्टि कहां से हुई? कैसे हुई? यह जिज्ञासा स्वाभाविक है। कारण की दृष्टि से कुछ दार्शनिकों ने भौतिकपरमाणुओं से ही इस सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। भारतीयदर्शन में न्याय-वैशेषिक आदि दार्शनिक परमाणु-कारणवादी हैं। किन्तु न्याय-दर्शन निमित्त कारण के रूप में ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानता है। अनीश्वरवादी दार्शनिकों के अनुसार ईश्वर की मान्यता सृष्टि की व्याख्या के लिए आवश्यक नहीं है। उनके अनुसार अनादि जीव-कर्म-शृंखला ही सृष्टि का निमित्त हो सकती है। सांख्य दर्शन में चेतन एवं जड़ दोनों ही तत्वों की स्वीकृति है। उनके अनुसार प्रकृति अर्थात् प्रधान तत्त्व से सृष्टि की व्याख्या हो सकती है। प्रधान को मानकर सांख्यवादी प्रकृति-परिणामवाद द्वारा सृष्टि की व्याख्या देते हैं। वैष्णव दार्शनिकगण विश्वसृष्टि को ब्रह्म का परिणाम कहते हैं; उनके अनुसार सृष्टि की व्याख्या के लिए सर्वगुण-सम्पन्न, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान परमेश्वर की मान्यता ही पर्याप्त है। वैष्णव दार्शनिकगण सृष्टि को परिणाम मानते हैं।

आचार्य शंकरके अनुसार सृष्टिकी व्याख्या परमाणु कारणवादसे, प्रकृति परिणामवादसे तथा ब्रह्म परिणामवाद नहीं दी जा सकती। उन्होंने ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में पूर्वोक्त वादों का, सृष्टि की व्याख्या के सन्दर्भ में खण्डन किया है। उनके अनुसार सृष्टि की व्याख्याके लिए एकमात्र अद्वैत ब्रह्मकी मान्यता पर्याप्त है। यह सृष्टि अद्वैत ब्रह्मका विवर्त है। चूंकि अद्वैत वेदान्ती सृष्टिकी व्याख्या के लिए अनिर्वचनीय अविद्याके सिद्धान्त को मान लेते हैं, इसलिए इस सिद्धान्त के माध्यम से वे अद्वैतवादी रहते हुए भी सृष्टि की व्याख्या देने में

1. पंचपादिका, पृ० 88
2. अद्वैतसिद्धि, पृ० 160

समर्थ होते हैं । इस व्याख्या के अनुसार सृष्टि के आदि कारण परमाणु नहीं ।[1] न ही जड़-प्रकृति है, बल्कि एकमात्र ब्रह्म ही निमित्त एवं उपादान कारण है मायाशक्ति के माध्यम से ब्रह्म में कारणता मान ली जाती है । वैसे तो कारणता का स्पर्श ब्रह्म में है ही नहीं । 'यतो वा' तथा 'जन्माद्यस्ययतः' आदि उपनिषद्-वाक्य एवं ब्रह्मसूत्र ब्रह्म को ही जगत् कारण बतलाते हैं । सांख्य की प्रकृति में ईक्षणा शक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वह जड़ है इसलिए निमित्त कारण के रूप में प्रकृति का खण्डन हो जाता है । इसी प्रकार बिना चेतन अधिष्ठित हुए प्रकृति स्वयं सृष्टि के रूप में परिणत नहीं हो सकती । इसलिए वह उपादान भी नहीं नहीं बन सकती ।[2] ब्रह्म परिणामवाद को मानने पर अद्वैतवेदान्तियों के अनुसार ब्रह्म को विकारी मानना पड़ेगा, क्योंकि परिणाम में विकार देखा जाता है ।[3] जिस प्रकार दूध से दधि बनता है और दूध विकृत हो जाता है, उसी प्रकार यदि ब्रह्म जगत् रूप में परिणत होता है उसमें भी विकृति अवश्य आयेगी । श्रुति ब्रह्म को अविकारी बतलाती है, इसलिए शंकर के अनुसार ब्रह्म परिणामवाद श्रुतिविरुद्ध है । आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र में ब्रह्मपरिणामवाद खण्डन किया है ।[4] वैष्णव दार्शनिकगण ब्रह्माधीन चित्शक्ति के माध्यम से ब्रह्म में परिणाम की संगति बैठाते हैं । साथ ही ब्रह्म को अविकृत भी बतलाते हैं, किन्तु अद्वैत वेदान्तियों को वैणव दार्शनिकों की युक्ति समीचीन नहीं लगती ।

विवर्तवाद के अनुसार कारण स्वयं कूटस्थ रहकर भी कार्य को उत्पन्न करता है । इस सिद्धान्त के अनुसार कारण से कार्य की न्यून सत्ता होती है ।[5] अर्थात् कार्य प्रतीयमान होता है । जिस प्रकार शुक्ति रजत भ्रम में शुक्ति अविकृत रहती है तथा उसमें रजत का भ्रम होता है, उसी प्रकार विवर्तवाद में ब्रह्म कूटस्थ एवं अविकृत रहता है एवं उस ब्रह्मरूप अधिष्ठान में जगत्रूप भ्रम होता है । यह भ्रम अलीक नहीं है । व्यवहारकालीन सत् है ।

इस प्रकार की सृष्टिव्याख्या को आध्यारोप-अपवाद कहते हैं । अद्वैतवेदान्ती सृष्टि-प्रक्रिया को ब्रह्म में आरोप करके फिर अपवाद द्वारा उसका निषेध करते हैं । यही विवर्तवाद है । इस सिद्धान्त के अनुसार आकाशादिक्रम से स्थूल शरीर एवं घटपटादि तक सम्पूर्ण सृष्टि की व्यावहारिक व्याख्या दी जाती है। परमार्थतः सृष्टि का निषेध किया जाता है ।

मुक्ति और मुक्ति के साधन—अद्वैत वेदान्त दर्शन भी अध्यात्म दर्शन है । यह दर्शन कुछ आध्यात्मिक मूल्यों को लक्ष्य मानकर आगे बढ़ता है । इस आध्यात्मिक मूल्यों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों का नाम आता है । इनमें मोक्ष को परमपुरुषार्थ कहा गया है । अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति ही मोक्ष है । यह ब्रह्म की स्वरूपभूति स्थिति है । मोक्ष कोई नवीन प्राप्ति नहीं है । यह आत्मा का अपना स्वरूप है । अपने स्वरूप को जान लेना ही मोक्ष है । अद्वैत वेदान्ती एक खोये हुए राजकुमार का दृष्टान्त दिया करते हैं । शिकारी के घर में लालित-पालित राजकुमार अपने को शिकारी का बेटा मानता रहा, जब उसे पता चला कि वह राजघराने का राजकुमार है, तब वह अपने स्वरूप

1. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य 2/2/ 11, 12, 13, 14, 15, 16, 17 आदि में परमाणुवाद का खण्डन हुआ है ।
2. 'ईक्षतेर्नाऽशब्दम् ब्रह्मसूत्र' 1/1/5 तथा ब्रह्मसूत्र द्वितीय अध्याय प्रथम एवं द्वितीय पाद में प्रधान कारणवाद का खण्डन हुआ हैं ।
3. परिणामो नाम उपादानसमसत्ताक कार्यापत्तिः । वेदान्तपरिभाषा, पृ० 58
4. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य 2/2/14 सूत्र तथा भामती कल्पतरु एवं परिमल टीका भी ।
5. विवर्तो नाम उपादान विषमसत्ताक कार्यापत्तिः । वेदान्त परिभाषा, पृ० 58

में स्थिति हो जाता है।[1] राजकुमार के लिए अपनी पूर्व स्थिति की प्राप्ति कोई नई प्राप्ति नहीं है, अपितु अपने अज्ञान का निराकरण ही है वह अब यह जान गया कि वह राजकुमार है, न कि शिकारी का बेटा। इसी प्रकार जीव अपने अज्ञान के अज्ञान के कारण ब्रह्मस्वरूप को नहीं जान पा रहा है और जीवभावापन्न होकर सुखी-दुःखी हो रहा है। जब ब्रह्मविषयक ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होगी, तब वह अपनी स्वरूपभूत स्थिति में आसीन हो जाता है। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में मोक्ष की स्थिति के विषय में विवरण देते हुए कहा है कि मोक्ष एक नित्यसिद्धि अवस्था का नाम है, यह उत्पाद्य और विकार्य नहीं है, नहीं यह संस्कार्य है। ऐसा मानने पर मोक्ष को अनित्य मानना पड़ेगा।[2]

अविद्या के कारण जीवत्व है और अविद्या की निवृत्ति से ही जीवत्वभाव का बाध होकर शिवत्व अर्थात् ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति होती है। इसीलिए अद्वैतसिद्धि में मधुसूदन सरस्वती ने ग्रन्थारम्भ में ही कहा है कि "मिथ्याबन्धविधूननेन"[3] अविद्या का बन्धन मिथ्या है, इस मिथ्या अविद्याबन्धन के विधूनन से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस मिथ्या बन्धन का विधूनन किस प्रकार सम्भव है? इसके उत्तर में हम सुरेश्वर को उक्ति को उद्धृत कर सकते हैं कि:—"तत्वामस्यादि वाक्योत्था सम्यक् धी जन्ममात्रतः। अविद्या सह कार्येण नास्ति नासीत् न भविष्यति" जब "तत्त्वमसि" आदि वाक्यों द्वारा ब्रह्मविषयक सम्यक् ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है, उसी समय सम्पूर्ण कार्य सहित अविद्या का बाध हो जाता है और जीव अपने स्वरूप ब्रह्म में स्थित हो जाता है। यही मुक्ति है, यही पुरुषार्थ है।

इस मुक्ति की दो अवस्थाएं हैं—जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति ज्ञान होते ही शरीर का पात नहीं होता। अविद्या बन्धन तो विदूरित हो जाता है, परन्तु प्रारब्ध कर्मों के कारण शरीर क्रिया बनी रहती है। जिस प्रकार दण्ड द्वारा चक्र को घुमा चुकने पर, पश्चात् कुछ समय तक बिना घुमाये घूमता रहता है, उसी प्रकार पूर्वकर्मों के अनुसार प्राप्त यह शरीर ज्ञान होते ही नष्ट नहीं होता, किन्तु प्रारब्ध कर्मों के लेशमात्र भी शेष रहने तक चलता रहता है।[4] इस प्रकार ब्रह्मविषयक ज्ञान द्वारा अज्ञान के नष्ट हो चुकने पर प्रारब्ध कर्मों के शेष होने तक जीवित रहना ही जीवन्मुक्ति है। प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त होने पर जीवन्मुक्त पुरुष का जब शरीरपात होता है, तब उस स्थिति को विदेहमुक्ति कहते हैं। कहा भी है कि उस परमात्मा के साक्षात्कार से सभी कर्मों का क्षय हो जाता है।[5] अद्वैत वेदान्त के आचार्य मण्डनमिश्र ने जीवन्मुक्ति को साधक की एक उच्चावस्था कहा है। उनके अनुसार जीवन्मुक्ति मुक्ति नहीं है' मुक्ति तो विदेहमुक्ति ही है जीवन्मुक्ति में ज्ञानोदय पूर्णभाव से नहीं होने के कारण उसमें अविद्यालेश शेष रहता है और जब तक अविद्या-लेश शेष रहेगा तब तक मुक्ति नहीं मानी जा सकती। इसलिए मण्डनमिश्र के अनुसार जीवन्मुक्ति सिद्धावस्था नहीं, अपितु उन्नततर की साधकावस्था है। सुरेश्वर आदि अद्वैत आचार्य जीवन्मुक्ति को स्वीकार करते हैं।

इस मुक्ति का साधन एकमात्र ज्ञान है। ब्रह्मविषयक ज्ञान ही ब्रह्म विषयक अज्ञान का निवर्तक होगा। अतः ब्रह्मज्ञान से ही अविद्या की निवृत्ति होगी; यद्यपि 'तत्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि वेदान्त वाक्यों के

1. बृहदारण्यक उपनिषद्—शांकरभाष्य 2/1/20
2. नित्यश्च मोक्षः……नापि संस्कार्यो मोक्षः। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य सूत्र 1/1/4
3. अद्वैतसिद्धि, मंगलश्लोक।
4. सर्वकर्मक्षयेऽपि भुज्यमानविपाकसंस्कारानुवृत्तिनिबन्धना शरीरस्थितिं कुलालव्यापार विगमइव चक्रभ्रान्तिः।—ब्रह्मसिद्धि, पृ० 131
5. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः
क्षीयन्ते चास्यकर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥- -मुण्डक उपनिषद् 2,28

श्रवण से ही ब्रह्म साक्षात्कारज्ञान का उदय होता है। फिर भी जब तक साधन चतुष्टय सम्पन्न होकर श्रवण-मनन-निदिध्यासन नहीं किया जाता तब तक साक्षात्कारवृत्ति का उदय नहीं हो पाता।[1] इसलिए सर्व-प्रथम साधन चतुष्टय सम्पन्न होने के लिए कहा गया है। साधनचतुष्टय इस प्रकार हैं:—1—नित्यानित्य-वस्तुविवेक 2. इहामुत्रफलभोगविराग 3. शमादिषट्क सम्पत्ति 4. मुमुक्षुत्व। ब्रह्मवस्तु ही नित्य है और अन्य सभी अनित्य हैं, इस प्रकार विवेक ही नित्यानित्य विवेक है। सभी के प्रति वैराग्य की भावना ही विराग है। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा—ये षट्कसम्पत्ति हैं। मुक्ति की इच्छा ही मुमुक्षुत्व है। इस प्रकार साधन चतुष्टय सम्पन्न अधिकारी वेदान्त श्रवण करने के पश्चात् मनन एवं निदिध्यासन करके 'तत्वमसि' आदि वेदान्तवाक्यों द्वारा उदित साक्षात्कार वृत्ति को दृढ़तर करता है। और अन्त में सविकल्पक और तदन्तर निर्विकल्पक समाधियों की स्थिति में 'अहं ब्रह्मास्मि' नामक वृत्तिज्ञान द्वारा समूल अविद्या के नाशपूर्वक ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है। ब्रह्मभाव की प्राप्ति वृत्तिज्ञान नहीं कराती, अपितु वृत्तिज्ञान से अज्ञान का नाश होता है और तभी ब्रह्मभाव की प्राप्ति होती है। यह प्राप्ति स्वरूप प्राप्ति है, इसलिए इसे प्राप्ति न कहकर प्राप्ति के समान कहा गया है। यही अद्वैत के अनुसार परमपुरुषार्थ है, यही अमृतत्व है और अद्वैत की स्थिति है जिसके लिए ब्रह्म जिज्ञासा की जाती है।

1. आत्मावारे, दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

—बृहदारण्यकोपनिषद् 2/4/5

संस्कृत साहित्य पर आचार्य शंकर का प्रभाव

डा० राममूर्ति शर्मा

मनीषी महापुरुषों का तत्वचिन्तन शाश्वत एवं प्रभविष्णु होता है। अतएव बुद्ध, महावीर शंकराचार्य, रामकृष्ण परमहंस एवं विवेकानन्द प्रभृति महापुरुषों का ज्ञानोपदेश समाज के लिए श्रेयस्कर दिग्दर्शन प्रस्तुत करता रहा है। साहित्यकार पर इन तत्ववेत्ताओं की अन्तर्दृष्टि का प्रभाव सर्वाधिक अक्षुण्ण एवं सन्तुलित होता है। इसका कारण यही है कि दार्शनिक तत्वचिन्तक एवं साहित्यकार दोनों की ही दृष्टि जीवन के साध्य को किसी-न-किसी रूप में प्रस्तुत करने की होती है। अन्तर केवल यही कहा जा सकता है एक (दार्शनिक) की प्रस्तुति में यदि दार्शनिक विश्लेषण एवं प्रस्थापन की प्रमुखता होती है तो दूसरे (साहित्यकार) की अभिव्यक्ति में सामाजिक चिन्तन एवं दर्शन का प्राधान्य देखा जाता है। यहाँ यह स्वीकार्य होगा कि किसी-न-किसी रूप में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से साहित्यकार पर दार्शनिक प्रभाव प्रायः परिलक्षित होता है। इस सम्बन्ध में संस्कृत के कालिदास, भारवि, श्रीहर्ष तथा माघ आदि महाकवि इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। संस्कृत ही नहीं, हिन्दी के सूर, तुलसी, कबीर, जायसी, पन्त, निराला एवं महादेवी आदि पर भी वल्लभाचार्य, रामानुजाचार्य, शंकराचार्य आदि के सिद्धान्तों का प्रभाव नितान्त स्पष्ट है। इसी प्रकार अंग्रेजी के वर्ड्सवर्थ आदि कवियों पर भी दार्शनिक प्रभाव के प्रतिबिम्ब विशद् रूप से देखे जा सकते हैं। प्रकृत विषय के अनुरूप संस्कृत साहित्य पर आचार्य शंकर का प्रभाव देखने के लिए शांकर वेदान्त के सिद्धान्तों का संक्षेप में उल्लेख आवश्यक होगा।

शांकर अद्वैतवाद—शंकराचार्य का प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त अद्वैतवाद के नाम से विश्व-भर में प्रख्यात है। इस सिद्धान्त के अनुसार एकमात्र त्रिगुणातीत ब्रह्म को परमार्थ सत्य के रूप में स्वीकार किया गया है। ब्रह्मतत्त्व जीव से भिन्न न होकर उसका (जीव का) स्वभाव ही है। इस प्रकार यह प्रस्थापना शंकराचार्य द्वारा की गयी थी कि जीव का यह स्वरूपबोध अथवा ब्रह्मबोध ही मोक्ष है।[1] शांकर दर्शन के अनुसार यह ब्रह्मतत्व ही जीवन का परम साध्य है। शांकर सिद्धान्तों के निरूपण के अवसर पर जीव एवं जगत् की स्थिति के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, यदि एकमात्र परमार्थ-सत्य अद्वैत ब्रह्म की ही सत्यता है तो प्रत्यक्ष अनुभूयमान जीव एवं जगत् की क्या स्थिति है। क्या ये नितान्त मिथ्या हैं एवं निषेधात्मक। इस सम्बन्ध में यह तथ्य अवलोकनीय है कि शंकराचार्य ने 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' के उपोद्घात में "सत्यानृते मिथुनीकृत्य अहमिदं ममेदम्, इति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः" कहकर जागतिक व्यवहारों की सत्यता को स्वीकार किया है। इसी प्रकार के कथनों के आधार पर वेदान्त के अध्येताओं ने

1. ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था, ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, 3/5/52

शंकराचार्य को व्यावहारिक सत्ता का प्रस्थापक कहा है। मेरे विचार से शंकराचार्य व्यावहारिक सत्ता के व्यवहारिक सत्ता के प्रस्थापक कदापि नहीं हैं, उन्होंने तो केवल लोक-व्यवहार मात्र का निर्देश किया है। उन्हें सत्ता तो केवल ब्रह्ममात्र की ही स्वीकार्य थी। इस प्रकार जब व्यवहारिक सत्ता ही शंकराचार्य को अमान्य थी तो, प्रतिभासिक सत्ता की स्वीकृति का तो प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। शंकराचार्य के नाम के साथ इन दोनों सत्ताओं को जोड़ना एक मनगढन्त के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यदि इन दोनों सत्ताओं को स्वीकार किया जायेगा तो शंकराचार्य अद्वैती किस प्रकार रह पायेंगे। संक्षेप में यह कहना पर्याप्त होगा कि व्यावहारिक स्तर पर ही जीव एवं जगत् की स्थिति है, पारमार्थिक स्तर पर कदापि नहीं। परमार्थतः तो एकमात्र ब्रह्म की ही सत्यता अथवा सत्ता है। शंकराचार्य ने सत् का लक्षण "यत्न व्यभिचरित" (जिसमें व्याभिचार नहीं है) किया है। इस परिभाषा के अनुसार ब्रह्म की सत्ता निश्चित होती है, व्यावहारिक जगत् अथवा प्रातिभासिक पदार्थों की नहीं।

जहां तक जगत् की सृष्टि की समस्या है, मायोपहित ब्रह्म अर्थात् सगुण ईश्वर जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। माया के कारण उपादान कारणता है तथा ईश्वर के कारण निमित्तकारणता। सृष्टि ईश्वर की लीला मात्र है। ईश्वर पर्जन्यवत शुभाशुभफल का दाता है।

माया—यद्यपि शंकराचार्य का प्रमुख सिद्धान्त अद्वैतवाद या ब्रह्मवाद है, किन्तु ये ब्रह्मवादी की अपेक्षा मायावाद के प्रस्थापक के रूप में विशेष रूप से जाने जाते है, इस प्रकार यदि मायावाद को शंकराचार्य का प्रमुख प्रतिपाद्य कहा जाय तो अनुचित न होगा। इससे यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि शांकर वेदान्त का साध्य ब्रह्म न होकर माया है। इस सम्बन्ध में केवल यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि शांकर वेदान्त की प्रमुख देन मायावाद है। इसका कारण यह है कि यों तो ब्रह्मवाद की स्थापना उपनिषदों में हो चुकी थी, किन्तु जगत् की स्थिति का निर्धारण उपनिषदों में सम्यक् रूप से नहीं हो सका था। यहाँ यह कथन संगत होगा कि जगत् के स्वरूप के निश्चय के बिना अद्वैतसिद्धि कदापि सम्भव न थी। अतः यह मानना अनुचित न होगा कि सैद्धान्तिक पूर्णता की दृष्टि से शंकराचार्य के पूर्वकाल में जगत् की स्थिति असिद्ध ही बनी रही। आचार्य शंकर ने इसी न्यूनता की पूर्ति की थी। उन्होंने मायावाद की स्थापना के द्वारा जगत को मायिक कहकर एक ओर जगत् की व्यावहारिकता का प्रतिषेध किया तथा दूसरी ओर पारमार्थिक दृष्टि से जगत् के मिथ्यात्व प्रतिपादन के द्वारा अद्वैतवाद अथवा ब्रह्मवाद की निष्पत्ति भी की। यद्यपि इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि शंकराचार्य से पूर्वकाल में—उपनिषदों तथा गौडपादाचार्य की कारिका में मायापरक अभिव्यक्ति वर्तमान थी, किन्तु माया को सैद्धान्तिक रूप प्रदान करने का कार्य शंकराचार्य ने ही सम्पन्न किया था।

जगत्—जगत् का मिथ्यात्व वेदान्त में जैसा प्रसिद्ध है, वैसा ब्रह्म का सत्यत्व और न जीव का मिथ्यात्व। शंकराचार्य के जगमिथ्यात्व को लेकर जितने प्रहार एवं आक्षेप शांकर वेदान्त पर किये गये हैं, उतने कदाचित् ही किसी सिद्धान्त पर हुए होंगे। इन आक्षेपों का प्रमुख पक्ष यही है कि जीते-जागते जगत् को शंकराचार्य ने मिथ्या किस प्रकार कह दिया। किन्तु इन आक्षेपकर्ताओं ने शांकर वेदान्त के इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया कि इस दर्शन के अनुसार परमार्थिक दृष्टि से विचार करने पर ही जगत् का मिथ्यात्व निरूपित किया गया है, न कि व्यावहारिक दृष्टि से।

जगत् के स्वरूप को वेदान्त में विवर्तवाद के आधार पर भी स्पष्ट किया गया है। तदनुसार, जिस प्रकार कि सरोवर की ऊर्मियों एवं भंवर आदि जल से भिन्न न होकर जलस्वरूप हैं, उसी प्रकार जगत् भी

ब्रह्म से भिन्न न होकर ब्रह्मस्वरूप ही है। विवर्तवाद का यही आशय है।[1]

मोक्ष—शांकर वेदान्त का चरम साध्य मोक्ष अथवा ब्रह्मभाव प्राप्ति है। जीव की अविद्यानिवृत्ति होने पर उसका स्वरूप ज्ञान प्राप्त करना ही मोक्ष अथवा ब्रह्मभाव को प्राप्त करना कहा जाता है। मोक्ष शुद्ध, बुद्ध एवं नित्य स्वरूप है। मोक्ष की स्थिति में जीव ममत्व एवं परत्वभावना से ऊपर उठकर समस्त जगत् में एक ही ब्रह्म का अनुभवकर्ता है। मोक्ष की यही स्थिति जीवन्मुक्ति कहलाती है। जीवनमुक्ति की इस स्थिति में मानव संसार में द्वैत का दर्शन करता हुआ भी अद्वैत दृष्टि ही रखता है। यह मुक्त पुरुष स्वाभाविक रूप से सत् कर्मों को करता हुआ भी निष्क्रिय बना रहता है। इस प्रकार जीवन्मुक्त आदर्श कर्मों का सम्पादन करते हुए भी निष्क्रिय बना रहता है। शांकर वेदान्त के अन्तर्गत व्यवहार एवं परमार्थ के समन्वय की यह विशेषता उसकी विलक्षणता ही कही जायेगी। उपदेश साहस्री के अन्तर्गत शंकराचार्य ने कहा है—

सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः स आत्मविन्नान्यः इतीह निश्चयः॥

कालिदास

अब यहाँ संस्कृत साहित्य पर वेदान्त दर्शन का प्रभाव देखने का प्रयास करेंगे। इस स्थल पर यह कहना और आवश्यक है कि संस्कृत साहित्य के विशाल महोदधि के प्रत्येक रत्न का आकलन न आवश्यक है और न सम्भव ही। अतः स्थालीपुलाक-न्याय से संस्कृत साहित्य सागर के प्रमुख कवि रत्नों—कालिदास, भारवि, श्रीहर्ष, माघ आदि की विशिष्ट कृतियों पर वेदान्त दर्शन के प्रभाव के सम्बन्ध में ही विचार किया जाएगा।

"कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः" के रूप में अग्रगण्य कालिदास संस्कृत वाङ्मय के शिरोमणिस्वरूप हैं। सामान्यतः कालिदास की रचनाओं पर शैवदर्शन का प्रभाव देखा जाता है, किन्तु यदि विचार कर देखा जाये तो महाकवि की शैव दृष्टि के मूल में अद्वैतवाद की ही धारणा के दर्शन होते हैं। निदर्शनार्थ शिव दृष्टि से कालिदास की प्रमुख कृति 'कुमार सम्भव' के द्वितीय सर्ग के अन्तर्गत शिव को 'परंज्योतिः स्वरूप[2] कहा गया है। यह परम ज्योतिस्वरूपशिव परब्रह्म का ही स्वरूप है। अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत भी परमात्मा को शिव स्वरूप कहा गया है—'शिवः केवलोऽहम्'। वस्तुतः शिव अद्वेत स्वरूप आत्मा ही है।[3] इस सम्बन्ध में 'कुमार सम्भव' का वह स्थल भी अवलोकनीय है, जहाँ ब्रह्म को, ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश, इन तीनों का समन्वित रूप कहा गया है। इसीको कालिदासने 'केवलात्मा' भी कहा है।[4] यह केवलात्मा वेदान्तका केवलाद्वैत ही है। इसी प्रकार शिवके विराट् स्वरूपका वर्णन करते हुए भी एक तत्वको त्रिरूप कहा गया है। पुनर्जन्मका सिद्धान्त वेदान्तका प्रमुख सिद्धान्त है। इस सिद्धांतके अनुसार जीवका पुनर्जन्म होता है तथा जन्म-जन्मान्तर के कर्म जीवके सदा साथ जाते हैं। 'रघुवंश' के अन्तर्गत भी अजविलापके अवसर पर कहा गया है कि मृत्यु के

1. विवर्तो नाम उपादानविषयसत्ताककार्योत्पत्तिः।
'वेदान्तपरिभाषा', 1
2. स हि देवः परं ज्योतिस्तमः पारे व्यवस्थितम्। कुमारसम्भव, 2/48
3. शिवोऽद्वैत ओङ्कार आत्मैव। नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्, 2/7
4. नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक् सृष्टेः केवलात्मने। कुमारसम्भव, 2/4

पश्चात् प्राणी निजकर्मानुरूप पृथक्-पृथक् मार्ग से जाते हैं ।[1] इसी प्रकार 'अभिज्ञानशाकुन्तलं' के अन्तर्गत भी 'भावस्थिराणि जननांतरसौहृदानि' कहकर पूर्वजन्म के संस्कारों का समर्थन किया गया है ।[2] वेदान्त के अन्तर्गत संन्यासी का मोक्ष बतलाया गया है । गीता में भी 'अभ्यासेने तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते'[3] कहकर संन्यासी के मूल वैराग्य का महत्व निरूपित किया गया हैं । 'रघुवंश' में संन्यासी रघु को मोक्ष देनेवाले धर्म के अंश के रूप में चित्रित किया गया है । इतना ही नहीं, मोक्ष के अभिलाषी संन्यासी रघु की तत्त्वदर्शी योगियों के साथ चर्चा का वर्णन भी 'रघुवंश' में वर्तमान है ।[4] जैसा कि वेदान्त की पृष्ठभूमि का उल्लेख करते हुए ऊपर कहा गया है, मोक्ष जीवन का परम साध्य है तथा अविद्या अथवा अज्ञान मोक्ष मार्ग का बाधक है । यह विचार कालिदास द्वारा भी यत्रतत्र अभिव्यक्त हुआ है । निदर्शनार्थ, 'अभिज्ञान शाकुन्तलं' के भाव वाक्य में शिव से पुनर्जन्म के उच्छेद एवं मोक्षलाभ की प्रार्थना की गई है ।[5] इसी प्रकार, मालविकाग्निमित्र' के अन्तर्गत मंगलाचरण में ही कालिदास ने मोक्षमार्ग की ओर संकेत करते हुए कहा कहा है कि परमेश्वर मोक्ष मार्ग के लिए हमारी तामसी वृत्ति का नाश करे ।[6] वस्तुतः तमो वृत्ति ही अज्ञान वृत्ति है और यही मोक्ष में बाधिका है । जैसा कि ऊपर कहा गया है, अज्ञान ही ब्रह्मबोध में बाधक है । गीता में भी कहा है—'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' ।[7]

भारवि तथा माघ

वेदान्त आत्मवादी दर्शन है । आत्मज्ञानी शीतोष्णसम होता है तथा उसे किंचित् उद्वेग नहीं होता । 'किरातार्जुनीय' के अन्तर्गत भी भारवि ने इन्द्रनील पर्वत पर मुनिवृत्ति धारण करनेवाले अर्जुन के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए लिखा है कि उसे दुष्कर तपस्या से किंचित्मात्र भी दुःख नहीं हुआ, क्योंकि आत्मतत्त्ववेत्ताओं के लिए कुछ भी उद्वेग कर नहीं होता ।[8] इसी प्रकार माघ रचित 'शिशुपाल वध के अन्तर्गत भी वेदान्तिक प्रभाव दृष्टिपथ में आता है । इस सम्बन्ध में एक उदाहरण द्रष्टव्य है । 'शिशुपालवध' के अन्तर्गत एक स्थल पर कहा गया है कि जब महागज ने जलाशय में अपना प्रतिबिम्ब देखा तो भ्रान्ति से प्रतिबिम्बित गज से अपने को आक्रांत समझ वह निर्भीक होकर क्रोध से उसे मारने के लिए दौड़ा ।[9] यह भ्रान्तिमान् का उदाहरण है । वेदान्त में भीं जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए प्रतिबिम्बवाद का आश्रय लिया गया है । प्रतिबिम्ब वाद के अनुसार ब्रह्म एवं जीव में अभेद है ।—'जीवो ब्रह्मैव नापरः' । किन्तु अविद्या में प्रतिबिम्बित परमात्मा के प्रतिबिम्ब के कारण जीव का जीवत्व प्रतीत होता है । इस प्रकार आत्मबोध होने पर जीव की स्वतन्त्र प्रतीति का अवसर शेष नहीं रह जाता । अतः प्रतिबिम्ब ही भ्रान्ति का कारण बनता है ।

---

1. परलोकजुषां स्वकर्मनिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम्, रघुवंश, 8/85
2. अभिज्ञानशाकुन्तलं, 5/2
3. गीता, 6/35
4. अनपायिपदोपलब्धये रघुराप्तैः समियाय योगिभिः ।
5. ममापि चक्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ।
   अभिज्ञानशाकुन्तलं 7/34
6. सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः । मालविकाग्निमित्र, 1
7. गीता, 5/15
8. किमिवावसादकरमात्मवताम्, किरातार्जुनीयं, 6/19
9. शिशुपालवध, 5/32

बाणकी कादम्बरी एवं हर्षचरित

संस्कृत में गद्य काव्य को कवियों की कसौटी कहा है।[1] इससे यह स्पष्ट है कि गद्य का महत्व कालिदास आदि की अपेक्षा किसी प्रकार कम नहीं है। कालिदास आदि के समान बाण की 'कादम्बरी' में वेदान्त के प्रभाव की रेखाएं स्पष्ट दिखायी पड़ती हैं। जैसा कि आरम्भ में ही कहा गया है, वेदान्त में अज्ञान अथवा मोह को मोक्ष में बाधक माना गया है। इस प्रकार बिना विवेक के अज्ञान का नाश असम्भव है। तथा तप के बिना कुमार्ग की प्रवृत्ति नहीं हटती। 'कादम्बरी' के अन्तर्गत भी उक्त तथ्य की ओर संकेत करते हुए कहा गया है—

सर्व एव हि अविनयप्रवृत्तोऽनुतापाद् बिना न निवर्तते।

(कादम्बरी, अनुच्छेद, 341)

कादम्बरी का एक और स्थल लें। कादम्बरी में पुण्डरीक का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उसके उदर की सूक्ष्म रोमावलि ऐसी थी मानो अन्तर्ज्ञान से बाहर निकला हुआ मोहान्धकार अपने पैरों की छाप छोड़ गया हो।[2] यहाँ ज्ञान से अज्ञान निवृत्ति का विचार मूलतया वेदान्त का ही विचार है। 'कादम्बरी' का ही एक अंश और विचारणीय है। महाश्वेता के वर्णन के अवसर पर बाण ने उसे यज्ञोपवीत से पवित्र शरीर वाली कहा है—'ब्रह्मसूत्रेण पवित्रीकृत काया।[3] यहां यज्ञोपवीत के लिए, 'ब्रह्मसूत्र' शब्द का प्रयोग व्यास के वेदान्त सूत्र की ओर सहसा ध्यान आकर्षित करता है। यहाँ बाण ब्रह्मसूत्र के स्थान पर यज्ञोपवीत अथवा ब्रह्मास्त्र शब्द का भी प्रयोग कर सकते थे। किन्तु ब्रह्मसूत्र शब्द का प्रयोग उनकी वेदान्त के प्रति निष्ठा का अप्रत्यक्ष रूप से द्योतक है। यहाँ यह और उल्लेखनीय है कि बाण ने 'हर्ष चरित' के अन्तर्गत भी सरस्वती को 'ब्रह्मसूत्रेणपवित्रीकृत काया' कहा है।

वासुदेवशरण अग्रवालने कादम्बरी के अध्यात्म स्वरूप में महाश्वेता को सर्वशुक्ला सरस्वती का प्रतीक माना है।[4] एक स्थान पर बाण ने महाश्वेता के स्तनों को मोक्ष पुरी पार्श्वभाग में दो पूर्ण कलशों की स्थापना के रूप में स्वीकार किया है। इन तथ्यों के आधार पर बाण पर वेदान्त का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

भवभूति और उनका उत्तर रामचरित

संस्कृत नाटकों में भवभूति विरचित 'उत्तर रामचरित' पर वेदान्त का सर्वाधिक प्रभाव देखने को मिलता है। इस नाटक के अध्ययन से तो ऐसा ज्ञात होता है कि जैसे भवभूति प्रमुख रूप से अद्वैतवादी ही थे। भवभूति ने काव्य शास्त्रीय सिद्धान्तों के विशदीकरण के लिए भी अद्वैत सिद्धान्त का आश्रय लिया है। 'उत्तररामचरित' के प्रथम श्लोक में ही अमृतस्वरूपा वाणी को आत्मा की कला कहा गया है।[5] इससे स्पष्ट है कि वेदान्त के प्रमुख तत्त्व आत्मा का भवभूति के मानस पर गहरा प्रभाव है। इसके अतिरिक्त आदर्श प्रेम के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए भवभूति ने प्रेम को 'अद्वैत' स्वरूप ही कहा है। प्रथम अंक के अन्तर्गत राम आदर्श प्रेम को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जो दाम्पत्य प्रेम सुख तथा दुःख में अद्वैत स्वर है, जीवन

1. गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति। च0 6/12
2. अंजनरजोलेखाश्यामलां तनीयसीम् रोमराजिम्।
   कादम्बरी, अनु० 142
3. कादम्बरी, अनु० 133
4. वासुदेवशरण अग्रवाल, 'कादम्बरी : एक अध्ययन', पृष्ट 142
5. विन्देम देवतां वाचममृताम्यात्मनः कलाम्। उत्तररामचरित 1/1

की समस्त अवस्थाओं में जिसका अनुसरण किया जाता है, जिसमें हृदय को विश्रान्ति मिलती है, जिसके रस को वृद्धावस्था भी दूर नहीं कर सकती और जो समयानुसार विवाह से मृत्यु-पर्यन्त परिपक्व एवं उत्कृष्ट प्रेम के रूप में स्थित रहता है, उस दाम्पत्य प्रेम का एक मात्र आनन्द बड़ी कठिनता से किसी सौभाग्यशाली पुरुष को ही प्राप्त होता है।[1] एक और पद्य में करुण को समस्त रसों का आधार बतलाते हुए कहा गया है कि कारण भेद से भिन्न होकर एक ही करुण विवर्त रूप शृंगारादि के रूप में प्रकट होता है। यह उसी प्रकार है, जिस प्रकार कि जल भंवर, बुलबुले तथा तरंगे आदि का रूप ग्रहण करता है, किन्तु वस्तुतः वह जल ही है। निश्चित रूप से इस प्रकरण में अद्वैतवाद के पोषक सिद्धान्त विवर्तवाद का प्रभाव है।[2] शंकराचार्य ने "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" सूत्र पर भाष्य करते हुए विवर्तवाद का प्रतिपादन किया है। अनिर्वचनीयवाद भी वेदान्त का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। वेदान्त की माया सत तथा असत ले विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय कहलाती है 'उत्तर रामचरित' में अनिर्वचनीयता का संकेत उस समय मिलता है, जब भवभूति ने प्रियजन को किमपि कहकर अनिर्वचनीय द्रव्य कहा है।[3] यह अनिर्वचनीयता उस समय भी परिलक्षित होती है जब राम सीता के स्पर्श को न सुख कहने में समर्थ है और न दुःख, न मूर्च्छा और न निद्रा, न विष का प्रसार और न मद।[4] भवभूति प्रेम के आदर्श पारखी माने जाते हैं। एक स्थल पर वे प्रेम की आन्तरिकता पर बल देते हुए कहते हैं कि सच्चे प्रेम के लिए बाह्य उपाधियों की अपेक्षा नहीं होती। पदार्थों को मिलाने वाला कोई आन्तरिक हेतु ही होता है। यहाँ 'उपाधि' शब्द मूलतया वेदान्त का ही है। वेदान्त में जगत की समस्त वस्तुओं को 'उपाधि' एवं मिथ्या कहा है। इसी प्रकार उपर्युक्त प्रकरण में भी उपाधि शब्द से वाह्य वस्तुओं के मिथ्यात्व की ही अभिव्यंजना है।[5]

श्रीहर्ष और ऊनका नैषधीयचरित

शंकराचार्य के उत्तरवर्ती होने के कारण श्री हर्ष की रचना 'नैषधीय चरित पर वेदान्त का विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वैसे तो वेदान्त ही क्या, न्यायादि इतर दर्शन पद्धतियों का प्रभाव भी 'नैषधीय

1. अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासुयत्,
   विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
   कालेना वरणात्ययात् परिणते यत प्रेमसारे स्थितम्
   भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत प्राप्यते ॥
   उत्तररामचरित, 1/39
2. एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद् भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्,
   आवर्तबुद्बुदतरंगमयान् विकारानम्भो यथा सलिलमेव तु तत समग्रम् ॥
   उत्तररामचरित, 3/46
3. तन्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः। वही, 2/19
4. विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा। वही, 1/35
5. व्यतिजयति पदार्थान्तरः कोऽपि हेतु
   न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।
   विकसति हि पतंगस्योदये पुण्डरीकं
   द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चंद्रकान्तः ॥
   उत्तररामचरित, 6/12

चरित' पर पर्याप्त रूप से देखने को मिलता है। जहां तक नैषध' पर वेदान्त विषयक विचारों के प्रभाव की बात है, यह अनेक स्थलों पर सुलभ है। उदाहरण के लिए, 22वें सर्ग में परब्रह्म को आनन्द का सागर तथा उसके साक्षात्कार की बात कही गई है।[1] 17वें सर्ग के अन्तर्गत 'ईश्वरस्य जगत कृत्स्नं सृष्टिम्' कह कर ईश्वर को जगत का स्रष्टा कहा गया है।[2] 17वें सर्ग के ही 29वें श्लोक में अनात्म विषयों में आत्मत्व के मिथ्याबोध कराने वाले मोह का वर्णन मिलता है।[3] इसी प्रकार 17वें सर्ग के 32वें श्लोक में मोह को ज्ञान का प्रतिबन्धक कहा है—

जाग्रतामपि निद्रा यः पश्यतामपि योऽन्धता।
श्रुते सत्यपि जाड्यं यः प्रकाशेऽपि च यस्तमः ॥[4]

अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा को प्रकाश स्वरूप कहा गया है। इसी प्रकार 'नैषध' में भी कामाधीन ज्ञानी विश्वामित्र आदि को भी स्वयं प्रकाश स्वरूप अद्वैत ज्ञान से रहित कहा गया है।[5] इसके अतिरिक्त 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' (विवेक चुडामणि) आदि सूक्तियों के आधार पर वेदान्त में जगत का मिथ्यात्व अत्यन्त प्रसिद्ध है। "नैषधीयचरित" में "जगदस्थिरम्" (17/138) कह कर जगतके मिथ्यात्व का स्पष्ट संकेत मिलता है। वेदान्त में साक्षी का सिद्धान्त प्रसिद्ध है। श्वेताश्वतरोपनिषद (6/11) में 'साक्षीचेता केवलो निर्गुण च' कह कर साक्षित्व का निरुपण किया गया है। नैषध में भी एक स्थल पर कहा गया है कि वेदान्तियों के अनुसार संसारावस्था में जीव ब्रह्म दोनों की सत्ता रहती है, जबकि मुक्ति की अवस्था में केवल ब्रह्म की ही सत्ता स्वीकार की गई है—

स्वयं च ब्रह्म च संसारे मुक्तौ तु ब्रह्म केवलम।
इति स्वोच्छित्ति मुक्तयुक्तिर्वैदग्धी वेदवादिनाम् ॥

नैषध, 17-74

इस प्रकार उपर्युक्त स्थलों के अनुशीलन से नैषधीयचरित पर शाङ्कर वेदान्त का प्रभाव स्पष्ट दृष्टि गोचर होता है।

संस्कृत वाङ्मय के उपर्युक्त कतिपय स्थलों के अनुशीलन से संस्कृत साहित्य पर वेदान्त के प्रभाव की रेखाएं स्पष्ट प्रतीत होती हैं। यहां यह विशेष रूप से निर्देश योग्य है कि शंकराचार्य पूर्ववर्ती कालिदास भारवि, माघ एवं बाण पर औपनिषद वेदान्त का प्रभाव मानना चाहिए तथा शंकराचार्य परवर्ती श्री हर्ष आदि पर साक्षात शांकर वेदान्त का। यहां यह और उल्लेखनीय है कि औपनिषद वेदान्त एवं शांकर वेदान्त में मौलिक अन्तर न होकर, शांकर वेदान्त औपनिषद वेदान्त की सर्वांगीण व्याख्या ही है। दूसरे शब्दों में उपनिषदों का ही दूसरा नाम वेदान्त है—

"वेदान्तो नाम उपनिषत प्रमाणम्"

वेदान्तसार, 1

1. यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम्।
   नैषध, 22/155
2. नैषध, 17/22
3. शून्यमाश्लिष्य नोऽक्षन्तं मोहमैक्षन्त हन्त ते। नै०च०, 17/29
4. नै० च० 17/33
5. नै० च० 17/31 तथा देखें नारायणी:—न लब्धः साक्षात कृतो निर्वाणोपयोगी ज्ञानदीपकरूपः "स्व प्रकाशज्ञानरूप आत्मा यैस्तेषामद्वैतज्ञानरहितानवामिति वा।" नारायणी टीका, नै० च० 17/31

शिवराज विजय

प्राचीन परम्परा के उपर्युक्त साहित्य स्रष्टाओं के अतिरिक्त संस्कृत के आधुनिक साहित्य रचयिताओं ने भी शांकर वेदान्त दृष्टि का यत्र-तत्र आश्रय लिया है। इस प्रकार के मनीषियों में अम्बिका दत्त व्यास प्रमुख हैं। व्यास जी की कृति शिवराजविजय 19वीं शती की प्रमुख रचना है। यह एक वीर रस प्रधान उपन्यास है। इसमें स्वभावतः समाज की आधुनिक प्रवृत्तियों का निरूपण वर्तमान है। किन्तु फिर भी यह निर्देश योग्य है कि स्थान-स्थान पर शिवराजविजय में व्यास जी ने शांकर वेदान्त विषयक विचार अभिव्यक्त किए हैं। उदाहरण के लिए प्रथम विराम के अन्तर्गत "ब्रह्मनिष्ठा ब्राह्मणा अभुमेवाहरहरूपतिष्ठन्ते" कहकर शांकर वेदान्त के ब्रह्मवाद की ओर संकेत किया है। शांकर वेदान्त के अनुसार एक मात्र ब्रह्म ही साधक का परम लक्ष्य है एवं ब्रह्मसाक्षात्कार या परमात्म साक्षात्कार जिज्ञासु का चरम साध्य है। यह ब्रह्मानुभव परमानन्द स्वरूप है।[1] शिवराज विषय के निम्नोद्धृत प्रकरण में भी ब्रह्मचारी गुरु योगीराज से प्राचीन भारत के वैभव की ओर संकेत करते हुए कहते हैं—हे भगवन ! परमात्मा का साक्षात्कार करके परमानन्द का अनुभव करते हुए आनन्द रूप परमात्मा स्वरूप वाले आप जैसे योगी काल के वेग को नहीं जान पाते।[2] इस स्थल पर शांकर वेदान्त का प्रभाव स्पष्ट है। किंन्तु यहां मैं ब्रह्मानुभव के लिए साक्षातकार शब्द को उचित नहीं मानता। इसका कारण यह है कि इन्द्रियातीत ब्रह्मानुभव इन्द्रियानुभव किस प्रकार हो सकता है। जबकि साक्षात्कार शब्द के अन्तर्गत अक्ष शब्द इन्द्रिय का ही वाचक है। शिवराजविजय पर शांकर वेदान्त के प्रभाव की दिशा में यह तथ्य भी विचारणीय है कि शांकर वेदान्त में परमार्थावस्था के रूप में जिस तुरीयावस्था का निरूपण मिलता है उसकी चर्चा शिवराजविजय में भी मिलती है। द्वितीय विराम में दौवारिक संन्यासी के प्रति कहता है—

"भगवन भवान संन्यासी तुरीयाश्रमसेवीति प्रणम्यते"[3]

इस प्रकार शिवराज विजय के आधुनिक कालीन प्रवृत्तियों और परिस्थितियों से चित्रित होने पर शांकरवेदान्त के विचार विम्ब स्पष्टतर रूप से दृष्टि पथ में आते हैं।

स्तोत्र साहित्य

यद्यपि भावना एवं ज्ञान में विरोध समझा जाता है, किन्तु संस्कृत के भावना प्रधान स्त्रोत साहित्य में शाङ्कर वेदान्त सम्मत ज्ञान ग्रन्थियों का उद्घाटन बड़े सरल ढंग से किया गया है। इस सम्बन्ध में कृष्णानन्द सरस्वती के स्त्रोत विशेष रूप से उद्धरणीय हैं। इस स्थल पर सरस्वती जी की प्रश्नोत्तरमालिका से कुछ अंश उद्धृत किए जा रहे हैं—

किं कष्टं यत् सत्यं किं वा सहजं परं ह्रह्म
कर्तव्यं किं सर्वैरात्मास्कर्तेति बुद्धिरेव सहा।
गुणैः किं कर्तव्यं प्रारब्धाधीन सहसता भोगः
पुसां किं सर्वस्वं सञ्चित सुखनामिका गुरोर्मूर्त्तिः॥

1. तस्मादानन्दमयः पर एवात्मा, ब्र०सू०शा०भा० 1-1-12
2. परमात्मनं साक्षातकृत्य तत्रैव रममाणैमृत्युञ्जयैरानन्द मात्रस्वरूपैध्यानावस्थितैर्भवादृशैर्न ज्ञायते कालवेग : शिवराजविजय, 1/1
3. शिवराजविजय 1/2

को वा मान्यः सिद्धो बालोऽपि ब्रह्म भावमतिमान्यः।

सरस्वती जी विरचित 'तत्वमसि' स्त्रोत के निम्न अंश में भी शाङ्कर वेदान्त का प्रभाव दर्शनीय है—

ब्रह्मैवाहं ब्रह्मैव त्वं ब्रह्मैवैकं नाऽन्यत् किञ्चित् ।

कृष्णानन्द सरस्वती के स्त्रोतों से उद्धृत उपर्युक्त अंशों में ब्रह्म, आत्मा, प्रारब्ध तथा ब्रह्मभाव का सङ्केत शाङ्कर वेदान्त के प्रभाव का स्पष्टतया द्योतक है। इसी प्रकार स्वामी उदासीनात्मस्वरूप के ब्रह्म निरूपण स्त्रोत के अन्तर्गत भी शाङ्कर दर्शन की छाप देखने योग्य है। इस स्त्रोत का एक पद्य यहां प्रस्तुत है—

चन्द्रो यथा बहुविधो जलपात्रभेदाद् एकस्तथामतिषुभाति परः प्रविष्टः।
तेषां निहास्ति जगतो न सहेति विद्धि ब्रह्मेदमस्ति सकलं त्वमहं तथैव ॥

इस अंश के अन्तर्गत प्रतिविम्बवाद के आधार पर अद्वैतवाद की पुष्टि की गई है। यद्यपि प्रतिबिम्बवाद के प्रमुख प्रतिपादक आचार्य प्रकाशात्म यति हैं, किन्तु शङ्कराचार्य के ब्रह्मसूत्र भाष्य में भी प्रतिबिम्बवाद का आधार मिलता है। इस सम्बन्ध में शाङ्कर भाष्य का निम्न स्थल उद्धरणीय है—

"आभास एव जीवः परमात्मनो जल सूर्यकादि वत् प्रतिपत्तव्यः"

ब्र० सू० शा० भा० 2/3/50

संस्कृत के स्त्रोत साहित्य पर शाङ्कर दर्शन के प्रभाव के सम्बन्ध में विचार करते समय यह तथ्य विशेष रूप से विचारणीय है कि वैष्णव स्त्रोतों में भी यत्र यत्र शाङ्कर अद्वैत परक निष्ठा देखने को मिलती है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भक्ति में भी अद्वैतनिष्ठा के बिना गति थी। इस सन्दर्भ में यहां वेङ्कटेश्वर स्त्रोत का एक अंश प्रस्तुत है—

परस्मै ब्रह्मणे पूर्वकामाय परमात्मने ।
प्रपन्न परतत्वाय वेङ्कटेशाय मङ्गलम् ॥

यहां परब्रह्म तथा परमात्मा शब्द शङ्कर वेदान्त दृष्टि के ही परिचायक हैं।

विपुलातितिपुलकाय संस्कृत साहित्य पर शाङ्कर वेदान्त के प्रभाव की दिशा में कतिपय निदर्शन प्रस्तुत किए गए हैं। अब यहां लक्षण ग्रन्थों के रचयिता कतिपय साहित्य शास्त्रियों के शास्त्रीय विवेचन पर शाङ्कर वेदान्त के प्रभाव का दिङ्मात्र निर्देशन अपेक्षित होगा। चाहे आनन्द वर्द्धन हों या अभिनव गुप्त, मम्मट अथवा पण्डित राज प्रायः सभी ने अपने सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण लिए शाङ्कर वेदान्त की शरण ली है। यदि आनन्द वर्द्धन के "काव्यस्यात्मा ध्वनि" तथा "प्रतीयमानं पुनरन्यदेव" के सङ्केतित अनिर्वचनीयत्व के आधार पर शाङ्कर वेदान्त का प्रभाव देखा जा सकता है तो अभिनवगुप्त द्वारा विशेषरूप से प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिणी प्रत्यभिज्ञाहृदय की टीका) एवं तन्त्रालोक के अन्तर्गत प्रतिपादित एवं लोचन तथा अभिनव भारती के अन्तर्गत यत्र तत्र संकेतित प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त पर वेदान्त का प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित है। जिस प्रकार कि शाङ्कर वेदान्त के अन्तर्गत जीव स्वभावतः ब्रह्म ही है तथा ब्रह्म बोध जिज्ञासु का साध्य है, उसी प्रकार प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुरूप भी शिवस्वरूप परमात्मा का प्रत्यभिज्ञान ही जीवन का परम साध्य है। वेदान्त में यदि अविद्या परमात्मबोध में बाधक है तो अभिनव गुप्त के प्रत्यक्षादर्शन के अनुसार आणव, मायीन तथा कार्मण मल परमात्मसाक्षात्कार में बाधक हैं। रही समन्वयवादी आचार्य मम्मट की बात तो येतो रसानुभूति के सम्बन्ध में "ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्" तथा "अलौकिक चमत्कारकारी शृंगारादिको रसः" (काव्य प्रकाश चतुर्थोल्लास) कहकर स्पष्ट ही वेदान्त के ब्रह्मवाद तथा अनिर्वचनीयत्व की छाप छोड़ देते हैं। पण्डितराज ने तो वेदान्त के "साक्षिभाष्य" सिद्धान्त को यथावत् ग्रहण कर लिया है। वेदान्त के अनु-

सार आत्मा अन्तःकरण के धर्मों का प्रकाशक है । इसी प्रकार रस गंगाधर के अन्तर्गत पण्डितराज ने कहा है कि जिस प्रकार रांगे में रजत की स्वप्न में घोड़े हाथी आदि की प्रतीति साक्षिभाष्य सिद्धान्त से उत्पन्न होती है, उसी प्रकार आत्मचैतन्य द्वारा विभावादि के प्रकाशन में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती —

"विभावादीनामपि, स्वर्गादीनामिव, रङ्ग रजतादीनामिव साक्षिभाष्यत्वमविरुद्धम्"

(रसगङ्गाधर 84)

एक अलङ्कारशास्त्री अप्पय दीक्षित ने तो वेदान्त पर एक स्वतन्त्र ग्रंथ सिद्धान्त लेश संग्रह की स्थापना कर डाली । यहां अलङ्कार शास्त्र पर वेदान्त विषयक प्रभाव के सम्बन्ध में यह कहना आवश्यक है कि मम्मट प्रभृति आचार्यों का रस को "ब्रह्मास्वादमिव" (ब्रह्मास्वाद के समान) कहना एक भ्रम मात्र है । क्या ब्रह्म चर्वणाव्यापादि के समान आस्वाद का विषय है । सत्य तो यह है कि इन अलंकार शास्त्रियों ने इस प्रकार के दृष्टान्तों के द्वारा रस सिद्धान्त में व्यात्मिकता की जोड़ गांठ करके रस सिद्धान्त को और दुरुह बना दिया है इसी प्रकार यहां यह भी उल्लेखनीय है कि साहित्य शास्त्र में सदसदविलक्षणत्व से सिद्ध अनिर्वचनीयत्व ग्राह्य न होकर अवर्णनीयत्व ही ग्राह्य है । इस सम्बन्ध में यह तर्क समीचीन होगा कि रस अनुभव स्वरूप होने कारण सत् से विलक्षण नहीं सकता ।

इस प्रकार संक्षेपतः यह कहना उपर्युक्त होगा कि भगवत्पाद शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य, उपनिषद भाष्य, गीता भाष्य तथा उपदेश साहस्री आदि प्रकरण ग्रंथों के द्वारा जो अद्वैतगङ्गा प्रवाहित की है उसने साहित्य पर ही नहीं प्रत्येक भारतीय को एक अदभुत पावनता प्रदान की है । इतना ही नहीं विश्व भर में शाङ्कर वेदान्त के अनुशीलन एवं शोध की प्रक्रिया सैकड़ों से चली आ रही है और आज भी वर्तमान है ।

मध्ययुगीन हिन्दी निर्गुण भक्ति काव्य पर शंकर अद्वैतत वेदान्त का प्रभाव

प्रो० विजयेन्द्र स्नातक

विश्व के मनीषी दार्शनिकों एवं तत्ववेत्ता विचारकों में श्री शंकराचार्य का नाम अपनी विलक्षण मेधा और नैसर्गिक प्रतिभा के कारण पहली पंक्ति में आता है। अध्यात्म और दर्शन के क्षेत्र में उनके समकक्ष किसी दूसरे विद्वान् को खोज पाना दुष्कर है। प्रस्थान त्रयी (उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र) पर भाष्य लिखकर आचार्य शंकर ने जिस दार्शनिक सिद्धान्त की स्थापना की वह सिद्धान्त अपने अकाट्य तर्कों और पुष्ट प्रमाणों के कारण दार्शनिक शृंखला के सभी सिद्धान्तों और मन्तव्यों को निरस्त कर अपनी अमिट छाप छोड़ता है। अद्वैत सिद्धान्त एक ऐसा प्रमाण पुष्ट तर्काश्रित दार्शनिक सिद्धान्त है जो किसी दूसरे मतवाद से बाधित या खण्डित नहीं होता। परवर्ती आचार्यों ने शंकर अद्वैत सिद्धान्त की मान्यताओं के खण्डन में भाष्य लिखे और अपने मत की स्थापना का यथाशक्ति प्रयास किया किन्तु कोई भी आचार्य शंकराचार्य की अद्वैत विषयक मान्यता को असिद्ध नहीं कर सका। श्री रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद, मध्वाचार्य का द्वैतवाद, निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैतवाद अपने अद्वैतपरक मन्तव्यों में श्री शंकराचार्य के उच्चस्तरीय चिन्तन भूमि तक नहीं पहुंच सके। शैवाद्वैत दर्शन जिसका एक सुदृढ़ आधार प्रत्याभिज्ञा दर्शन है, अपनी अद्वैत दृष्टि में शंकराचार्य की ब्रह्म जिज्ञासा और अध्यास मीमांसा में वह स्थान नहीं रखते जो शांकर अद्वैत वेदान्त का है। शंकराचार्य के परवर्ती दार्शनिक, अद्वैतभावना को नहीं छोड़ सके किन्तु उसका विचार-विमर्श नये स्तरों पर करते रहे। केवलाद्वैत जैसा सत्य उनकी चिन्ता का विषय नहीं बना।

श्री शंकराचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त तथा मूल तत्व चिन्ता को ध्यान में रखकर उनकी प्रमुख स्थापनाओं को स्पष्ट करना आवश्यक है। उनके स्पष्ट हो जाने पर हिन्दी के भक्त कवियों पर उनके सिद्धान्त का प्रभाव देखा जा सकता है। शंकराचार्य के मत में **ब्रह्म ही सत्य है**। ब्रह्मसूत्र की रत्नप्रभा टीका में आचार्य शंकर ने **ब्रह्म शब्द** की व्युत्पत्ति करते हुए 'बृहणाद् ब्रह्मेति व्युत्पत्या देशकाल वस्तुतः परिच्छेदाभाव रूपं नित्यत्वं प्रतीयते।' व्यापक होने से ब्रह्म में देश, काल, वस्तु आदि से अपरिच्छिन्नता, रूपनित्यता लक्षित होती है। ब्रह्म अनादि है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती। ब्रह्म सृष्टि का दो रूपों में कारण है। निमित्त अथवा सृष्टि के हेतु के रूप में और उपादान अथवा सृष्ट पदार्थों के साधन के रूप में। सत् शब्द से ब्रह्म की स्थिति, चित् शब्द से क्रिया और ज्ञानरूपता और आनन्द शब्द से ब्रह्म की प्रेम रूपता का कथन होता है। कार्य और कारण का अभेद स्वीकार कर शंकराचार्य ने ब्रह्म की एकरूपता की प्रतिष्ठा की है। शंकर के मत में मुख्यतः निराकार ब्रह्म ही माया का प्रतिबिम्ब पड़ने से ईश्वर संज्ञा वाला होता है। सगुणता का आरोप व्यावहारिक है, औपाधिक और मायिक है, ब्रह्म निर्गुण होने के कारण ज्ञान का विषय है।

शंकराचार्य के मत में **अविद्या, माया और अध्यास, शब्द** विशेष **अर्थ में** प्रयुक्त हुए हैं। मिथ्या ज्ञान से

मायादि की प्रतीति होती है जैसे अंधकार में खम्भे को देखकर पुरुष का ज्ञान होता है। अथवा शुक्ति में रजत का ज्ञान होता है, रज्जु में सर्प का ज्ञान होता है। यह सब मिथ्या ज्ञान हैं। इसे मायाजनित अध्यास ही समझना चाहिए। अन्य में अन्य धर्म का आरोप अध्यास है। अध्यास एक प्रकार का भ्रम ही है जिसमें वह नहीं है वह है, ऐसी बुद्धि अध्यास है। शांकर अद्वैत दर्शन में माया, अविद्या, अध्यास आदि शब्दों का पारिभाषिक अर्थ है अतः सामान्य अर्थ में इनका प्रयोग नहीं करना चाहिए। हिन्दी भक्ति काव्य में माया शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रायः शांकर अद्वैत में प्रयुक्त माया को ही निर्गुण धारा के भक्त कवियों ने स्वीकार किया है।

+ + +

आचार्य शंकर के मत में जीव अथवा आत्मा का स्वरूप पारमार्थिक दृष्टि से अभिन्न है, आत्मा नित्य है एवं समस्त भौतिक विषय अनित्य हैं। आत्मा जन्म नहीं लेता, क्षीण नहीं होता, विकारों से दूषित भी नहीं होता। आत्मा प्रकृति और उसके विकारों से भिन्न है। आत्मा ज्ञान स्वरूप है। विवेक चूड़ामणि के अनुसार आत्मा अन्न प्राण, मन, विज्ञान और आनन्दमय इन पाँच कोशों से आवृत है। जिस प्रकार वापी का जल शैवाल से ढका रहता है, उसी प्रकार पंचकोशों द्वारा आत्मा अपने को ढक लेता है, अतः आत्मा का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता। आत्मा चैतन्य स्वरूप है, उसमें कोई विकार संश्लिष्ट नहीं है। इस चैतन्य आत्मा को सामान्य और विशेष दो भेदों से वर्णित किया गया है। सर्वव्यापी आत्मा सामान्य है और विभिन्न इकाइयों में विकसित जीव रूप में विकीर्ण विशेष चैतन्य आत्मा है। ब्रह्म सूत्रों में आत्मा के कर्तृत्व का व्याख्यान करने के लिए शिल्पी का उदाहरण दिया गया है। जिस प्रकार शिल्पकार दिन भर कर्म करके थकता और दुःखी होता है और रात्रि में थकान मिटाने के लिए विश्राम करता और सुखी होता है उसी प्रकार आत्मा कर्तृत्व से मुक्त होकर ब्रह्म स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। यह आत्मा ही जीव है। जीव चेतन है अतः यह प्रज्ञात्मा भी है। प्रज्ञात्मा शब्द से मुख्य प्राण का भी कथन होता है। प्राण का अर्थ जीव है। जीवात्मा विभु है, अणु नहीं। जीव में चैतन्य है और सर्वत्र व्याप्त है। जीव के कर्तृत्व का नियामक ईश्वर है। जीव में राग-द्वेष की प्रेरणा होती है। गीता में यही बात श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कही है। "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति, भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।" जीव का जीवत्व अविद्या के कारण है। अविद्या के व्यवधान के कारण ही जीव का ईश्वर धर्म तिरोहित रहता है। आचार्य शंकर के मतानुसार जीव और ईश्वर में अग्नि और स्फुलिंग के समान भेद है। इन दोनों में भेद होते हुए भी उनकी उष्णता में कोई अन्तर नहीं है। इसी प्रकार जीव और ब्रह्म में चैतन्य का साम्य है।

प्रकृति के सम्बन्ध में भी शंकराचार्य ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। उनके मत में प्रकृति सृष्टि रचना का साधन है। सांख्य दर्शन के अनुसार सत्व, रज और तम गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। शंकर के मत में प्रकृति के परा और अपरा दो रूप हैं और ये दोनों रूप उत्पत्ति, प्रलय एवं स्थिति में व्यक्त होकर ईश्वर के द्वारा सृष्टि का कारण बनती हैं। यह दृश्यमान जगत् भी सृष्टि का ही रूप है इसमें सत् तत्व है किन्तु चित् और आनन्द का अभाव है जागतिक पदार्थों का आभास और उनके प्रति रागात्मक सम्बन्धों की स्थापना माया के कारण ही मनुष्य करता है। यह मिथ्या प्रतीति का ही रूप है। जगत् की सत्ता प्रकृति के रूप में ही स्वीकार करनी चाहिए। जगत् और जागतिक पदार्थ अनित्य हैं। इनसे रागात्मक सम्बन्ध जोड़कर मनुष्य दुःख का ही भाजन होता है क्योंकि ये समस्त जागतिक पदार्थ क्षणभंगुर और नाशवान हैं। अतः सृष्टि रचना के रहस्य को समझकर जगत् से मिथ्या मोह का नाता जोड़ना अविद्या या माया को ही पालना है।

मोक्ष या मुक्ति के विषय में आचार्य शंकर का मत आत्मज्ञान केन्द्रित है। सत्-असत् विवेक का नाम ज्ञान है। इस ज्ञान के लिए साधन चतुष्टय का अभ्यास अपेक्षित है। विवेकचूड़ामणि ग्रन्थ में साधन चतुष्टय का वर्णन इस प्रकार किया गया है—विवेक, वैराग्य, शमादिषट् साधन और मुमुक्षुत्व। विवेक शब्द से यह ज्ञान होना कि आत्मा नित्य है और दृश्य जागतिक पदार्थ अनित्य है, सत्य ज्ञान है। इस निश्चय ज्ञान को नित्यानित्य विवेक

कहते हैं। समस्त पदार्थों से विरति का नाम वैराग्य है। वासनाओं का त्याग शम है। यह छह प्रकार का है—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान। समाधान का तात्पर्य है अपने वास्तविक लक्ष्य अर्थात् आत्म-ज्ञान में चित् की एकाग्रता होना। मुमुक्षुत्व का अर्थ है संसार के बन्धनों से मुक्ति की दृढ़ इच्छा रखना। इस मुमुक्षुत्व स्पृहा के द्वारा सांसारिक सामान्य भोग-विलास से उपरति होकर मोक्षमार्ग में संलग्न होकर भावना का विस्तार ही मोक्ष का प्रयास है। त्रिविध दुःखों से विमुक्त होकर आत्मज्ञान से परिपूर्ण विरक्त व्यक्ति ही मोक्ष के अधिकारी होते हैं।

श्री शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त विषयक सिद्धान्तों का सार-संक्षेप हमने उनके प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्रों) पर लिखे भाष्यों के आधार पर प्रस्तुत किया है। यह सिद्धान्त निरूपण न होकर सिद्धान्तों का संकेत ग्रह है। यह एक प्रकार का निकष है जिस पर हम मध्ययुगीन हिन्दी निर्गुण भक्त कवियों की रचनाओं में उपलब्ध शांकर मत के प्रभाव का आकलन करेंगे। निकष के आधार पर मन्तव्यों के समझने में, उनके परीक्षण में, परख में सहायता मिलेगी, इसी विश्वास के आधार पर ब्रह्म, जीव, आत्मा, जगत्, प्रकृति, माया, अविद्या, अध्यास, ज्ञान, मोक्ष, साधन आदि का वर्णन किया गया है। साधना पक्ष की कसौटी मध्ययुगीन कवियों की रचनाओं के साम्य निरूपण में साथ ही प्रस्तुत की जायगी और उन कवियों की साम्यमूलक कविताओं को भी उद्धृत किया जायेगा। अद्वैत वेदान्त की निर्गुण भक्त कवियों की रचनाओं पर इतनी स्पष्ट छाप है कि वह कहीं अनुकरण, कहीं अनुमोदन, कहीं अनुवाद और कहीं यथावत् लेखन प्रतीत होता है। निर्गुण भक्त कवि ब्रह्म या ईश्वरीय सत्ता को निराकार, नित्य, शुद्ध मुक्त स्वभाव मानते हैं और उसका वर्णन अद्वैत सिद्धान्त के पूरे साम्य वर्णन के साथ करते हैं।

हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा का विवेचन-विश्लेषण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से पहले किसी समीक्षक ने गम्भीर तात्विक दृष्टि से नहीं किया था। कतिपय प्रमुख निर्गुण धारा के कवियों की परिचयात्मक सूचनाएँ तो अवश्य मिली थीं किन्तु निर्गुण भक्ति के विकास का तथा इन कवियों के योगदान का वर्णन किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता। निर्गुण भक्ति से सम्बद्ध वेदान्त दर्शन, शैव दर्शन, कश्मीरी शैवाद्वैत दर्शन आदि में निर्गुणोपासना का वर्णन होने पर भी उनके प्रभाव का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। मध्यकालीन भारत के धार्मिक मत-मतान्तरों एवं सम्प्रदायों का विवरण प्रस्तुत करने वाले विद्वानों ने निर्गुण भक्ति के व्यवहार पक्ष ही पर विचार किया, सैद्धान्तिक दार्शनिक पक्ष प्रायः उपेक्षित ही रहा। कबीर, नानक, दादू और सुन्दरदास की रचनाओं के साहित्यिक पक्ष के उद्घाटन में यत्र-तत्र दर्शन की भी चर्चा हुई किन्तु मूल तत्व के संधान का प्रयत्न किसी लेखक ने शुक्लजी से पहले नहीं किया। आचार्य शुक्ल के बाद तो अनेक ग्रन्थ और शोध-प्रबन्ध लिखे गये।

निर्गुण भक्ति काव्य के विवेचन में आचार्य शुक्ल ने ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी दो धाराओं की स्थापना द्वारा इन कवियों को दो धाराओं में विभक्त कर दिया। कबीरदास को ज्ञानाश्रयी धारा के प्रवर्तन का श्रेय दिया और कबीर की भक्ति भावना को भारतीय ब्रह्मवाद (अद्वैत वेदान्त) के साथ जोड़ते हुए उन्होंने सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, नाथपन्थी हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद, और वैष्णवों के अहिंसात्मक प्रपत्तिवाद के मेल में ज्ञानाश्रयी धारा का मेरुदण्ड ठहराया। कबीर को निर्गुण भक्ति काव्य का प्रवर्तक मान लेने पर इस धारा के अन्य कवियों की वाणी का विश्लेषण करना कठिन कार्य नहीं रहा। कबीर मत को मेरुदण्ड मानकर इस धारा के कवियों के दार्शनिक मन्तव्य को उसी मुख्य धारा में बहता हुआ मान लिया गया।

निर्गुण काव्यधारा के प्रमुख कवियों में कबीर, नानक, दादू, रैदास, सुन्दरदास, धरमदास, दरिया साहब, पलटू साहब, चरनदास, और अक्षर अनन्य आदि का स्थान है। निर्गुण भक्त और सन्त कवियों की शृंखला तो बहुत लम्बी है और प्रायः सभी कवियों की वाणी अद्वैत वेदान्त से प्रभावित है किन्तु इस सीमित आलेख में सब भक्तों को समेटना सम्भव नहीं है अतः प्रमुख कवियों का ही हमने इसमें उल्लेख किया है।

निर्गुण धारा के सन्त और भक्त कवियों में सबसे पहले कबीर ने ब्रह्म या ईश्वर विषयक विचार को अपनी मान्यता के अनुसार प्रस्तुत किया। कबीर के मतानुसार ब्रह्म को जगत् का निमित्त और उपादान कारण स्वीकार करते हुए कुम्भकार की रचना प्रक्रिया से उसकी समानता वर्णित की है। जिस प्रकार कुम्हार घट-कलश आदि पात्रों का मृत्तिका से निर्माण करता है उसी प्रकार ब्रह्म भी अपने ही स्वरूप से अनेक प्रकार की सृष्टि रचता है। सृष्टि एक चित्र के समान है। इस चित्र का सूत्रधार ब्रह्म ही है। ब्रह्म सत्य तत्व है और कार्य रूप जगत् के विकारों से मुक्त रहता है। कबीरदास कहते हैं—

> आपन करता भये कुलाला, बहुविधि सृष्टि रची दरहाला।
> विधिना कुम्भ किये द्वै थाना, प्रतिबिम्बता माहि समाना॥
> जिन बहु चित्र बनाइया सो सांचो सुत धारा,
> कहै कबीर ते जन भले जे चित्रवत लेहि विचार॥

सन्त जगजीवन दास ने भी इसी उदाहरण के माध्यम से ब्रह्म सम्बन्धी अपने विचार प्रकट किये हैं। ब्रह्म रूपी कुम्हार को अनन्त रूप मानने से सृष्टि में भी विविधाताएँ लक्षित होती हैं :

> सन्तो एक वास न गढ़े, कुम्हार।
> तेहि कुम्हार का अन्त न पावो कैसे सिरजन हार।

यही भाव दादू दयाल की वाणी में उपलब्ध होता है। उनके मत में भी ब्रह्म या ईश्वर ही जगत का कारण है। जिस प्रकार कुम्हार अनेक प्रकार के घट आदि बर्तनों का कारण है वैसे ही ब्रह्म भी अनेक प्रकार की सृष्टि का कारण स्वय । सृष्टि एक प्रकार का बाजी या खेल है। ब्रह्म स्वयं अप्रत्यक्ष होते हुए भी कार्य रूप अनित्य जगत् की रचना करता है—

> सिरजन हार थैं सब होइ।
> उतपति, परलै करै आपै दूसर नाहीं कोय।
> आप ह्वै कुलाल करता बूंद थे सब लोइ।
> आप करि अगोचर बैठा दुनी मन को मोहि॥
> आप थै उपाइ बाजी निरखि देखै सोइ।
> बाजीगर कौ यह भेद आवै सहज सौज समोइ॥

प्रायः सभी सन्त कवियों ने अपनी रचनाओं में ब्रह्म को सृष्टि का निमित्त कारण ठहराते हुए शांकर वेदान्त मतानुसार विवर्त भावना को ही स्थान दिया है। रैदास, नानक, सुन्दरदास ने भी इसी मत की पुष्टि करते हुए शांकर मत का अनुसरण किया है। बाजीगर या ऐन्द्रजालिक का उदाहरण देकर ब्रह्म को सृष्टि का रचयिता-क्रीड़ाकर्ता बताया गया है। सुन्दरदास ने ईश्वर को बाजी-खेल-रचनेवाला मानकर कहा है—

> बाजी कौन रची मेरे प्यारे।
> आपु गोपि ह्वै रहे गुसांई जग सब ही ते न्यारे।
> कोई जानि सकै नहि तुमको हुन्नर बहुत तुम्हारे।
> अगाध अति अगम अगोचर चारों वेद पुकारे।

संत पलटूदास ने ब्रह्म को नट के रूप में देखा है। चरनदास ने ब्रह्म को समस्त जगत् में व्याप्त देखकर भी उससे पृथक् स्वीकार किया है। धरनीदास के मत में भी एक ब्रह्म ही समस्त सृष्टि का रचयिता है। वेदान्त दर्शन की विवर्तभावना प्रायः सभी भक्तों में समान रूप से पायी जाती है। अद्वैत भावना का प्रभाव अठारहवीं शताब्दी तक सतत बना रहा और सगुण भक्तिधारा के कवि भी इससे अछूते न रहे। सत्रहवीं शती के ओरछा के भक्त कवि अक्षर अनन्य ने तो अपने नाम के साथ 'अनन्य' जोड़कर इसकी व्याख्या में कहा है—अन्य अर्थात् द्वैत भावना में

आस्था न होना ही अनन्यता है। इसी कारण अक्षर अनन्य ने सर्वत्र द्वैत का खंडन कर अद्वैत का प्रतिपादन किया है। स्वर्ण और स्वर्णाभूषण का उदाहरण देकर उन्होंने ब्रह्म और सृष्टि का पारस्परिकता का वर्णन किया है।

कंचन सो भूषन, जो भूषन सो कंचन है
कंचन सौं भूषन सौं भेद न लहत है

— — —

एक ही अनेक यों अनेक एक भिन्न नहीं
अक्षर अनन्य ब्रह्म मूरत जगत है।

'अनन्य प्रकाश'—42

अद्वैत वेदान्त में स्वीकृत ब्रह्म की सत्ता और स्वरूप से तादात्म्य रखने वाले अनेक अवतरण और संदर्भ यहां प्रस्तुत किये जा सकते हैं। प्रायः निर्गुण धारा के सभी संतों ने अपनी वाणी में शंकराचार्य की मान्यताओं का समर्थन किया है। विस्तार भय से हम उन्हें उद्धृत नहीं करना चाहते।

श्री शंकराचार्य के मत में माया की स्वीकृति है। माया शब्द अविद्या अथवा अध्यास के अर्थ में प्रयुक्त होता है। माया शब्द मा और या अक्षरों से मिलकर बनता है। 'मा' शब्द पदार्थ सत्ता का निषेध वाचक है और 'या' शब्द व्यावहारिक पदार्थ सम्बन्ध निश्चित करता है। माया का अर्थ होगा कि वस्तु की जिस रूप में उपलब्धि होती है वह वस्तु वास्तव में वैसी है नहीं। जैसे अंधकार में रस्सी को देखकर सांप का भ्रम होना या भ्रम माया जनित ही है। माया को शंकर ने जाल शब्द से व्यवहृत किया है। कूट शब्द से भी माया का कथन किया गया है। संत कबीरदास ने माया को अति चंचल, अस्थिर, अज्ञान मूलक ठहराया है। माया जगत् को भ्रम में डालने वाली है:

संतो आवै जाय सो माया।
है प्रतिपाल काल नहिं वाकै ना कहुँ गयान आया।
ज्ञानहीन करता सब भरमै मायै जग भरमाया॥

इसी माया ने कबीर के अनुसार जगत् की क्षणभंगुर सत्ता में अपनी सत्ता को स्थापित कर मानव को भ्रम में डाल रखा है। माया की दुंदभी बजती है। सब लोग माया के वशवर्ती होकर वास्तव सत्य को भूल जाते हैं। कबीर ने अनेक पदों में माया को ठगिनी, चपलता चंचल, भ्रम कारिणी और विनाशक कहा है। दादू दयाल ने भी माया को मोहने वाली बताया है। उनके मत में माया बहुरूपी नटनी का रूप धारण कर सबको नचाती है।

माया मैली गुण भई, धरि धरि उज्ज्वल नाव।
दादू मोहे सबन को, सुर नर सबही ठांव।
दादू पाये जीव सब, जिनि ग्पतीजै कोइ।
माया बहुरूपी नटनी, नाचै सुर नर मुनि को मोहि

रैदास ने माया को मिथ्या प्रपंच का प्रसार करने वाली तथा तीन तापों में फंसाने वाली माना है। जिस प्रकार अंधकार में रस्सी को देखकर सांप का भ्रम हो जाता है और इस भ्रमजाल में मनुष्य भटक जाता है। माया इसी प्रकार मनुष्य को अज्ञान में भटकाती रहती है—

झूठी माया जग ढहकाया तौ तिन ताप दहे रे।
रजु भुजंग रजनी परगासा अस कछु भरम जनाया।
समुझि परी मोहि कनक अलंकृत अब कछु कहत न आवा॥

(रैदास की वानी)

वेदान्त दर्शन में शंकराचार्य ने माया के सन्दर्भ में जो उदाहरण दिये हैं प्रायः वे ही उदाहरण निर्गुण धारा के संत कवियों की वाणी में मिलते हैं। दरिया साहब, गरीब दास, बुल्ला साहब, धरमदास आदि सभी संतों ने माया का वर्णन इसी शैली में किया है। कबीर ने माया को सबसे अधिक छल-कपट धारी मानकर निन्दा की है—'कबीर माया पापणी हरि सूं करे हराम। मुखि कड़ियाली कुमति की कहन देई राम ।। माया को ठगिनी, पापणी, बंधनी आदि शब्दों से पुकारा है।

सुन्दरदास ने माया को नाना प्रकार के भ्रामक कौतुक करने वाली कहा है। उदाहरण वे ही दिये हैं जो शंकर अद्वैत में मिलते हैं: इन उदाहरणों को हम मात्र प्रभाव न मानकर वेदान्त की अनुकृति ही मानते हैं—

उपजै विनसे सो सब राजी वेद पुराननि में कही,
नाना विधि के खेल दिखावे वाजीगर सांची दुही।
रज्जु भुजंग, मृगतृष्णा जैसी यह माया विसारि रही ।। (सुन्दर ग्रंथावली)

भीखा साहब ने अपनी वाणी में शंकर मत का ही प्रतिपादन किया है। उनकी वाणी बड़े स्पष्ट शब्दों में अद्वैत वेदान्त का समर्थन करती है। उनकी मान्यता है कि आत्म ज्ञान हो जाने पर द्वैत भावना वैसे ही नष्ट हो जाती है जैसे प्रकाश हो जाने पर रज्जु में सर्प का भ्रम मिट जाता है। माया भ्रम है, वह मनुष्य को नाना प्रपंचों में बांध कर बंधन में फंसाये रहती है। प्रायः सभी संतों ने आत्म ज्ञान या मनोबोध को माया से मुक्त होने के लिए आवश्यक माना है। कुछ संतों ने तो माया का व्यावहारिक रूप समझने के लिए उसे स्त्री रूप में कामिनी और पदार्थ रूप में कंचन ठहराया है। संक्षेप में, जो वस्तु वास्तव रूप में अस्तित्व नहीं रखती फिर भी अविद्या या अज्ञान के कारण आत्मा का बंधन बनती है वही माया है। शंकराचार्य का यह प्रमाण सम्मत सिद्धान्त निर्गुण संत और भक्त कवियों को मान्य हुआ।

जीव या आत्मा के स्वरूप का वर्णन निर्गुण धारा के संत कवियों ने आत्मा को नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव ही माना है। शंकराचार्य ने ब्रह्म सूत्र भाष्य के प्रारंभिक चार सूत्रों की व्याख्या करते हुए आत्मा का जो रूप वर्णित किया है, वही मोटी भाषा में संत कवियों द्वारा कहा गया है। शंकर के मत में आत्मा का कर्तृत्व-भोक्तृत्व औपाधिक है। आत्मा तो कूटस्थ एवं निर्विकार है। वह जीव रूप में उपाधि के कारण कर्ता और भोक्ता बनता है। विवेकचूडामणि ग्रंथ में शंकराचार्य कहते हैं—

नजायते तो म्रियते न वर्धते न क्षयिते नो विकरोति नित्यः।
विलीयसानेऽपि वपुष्यमुष्मिन् नलीयते कर्म इवाम्बरे स्वयम् ।।

आत्मा या जीव के सम्बन्ध में संत कवियों की धारणा अद्वैत मत के साथ एकाकार होकर व्यक्त हुई है। आत्मा को नित्य मुक्त, विभु, आत्मा और ब्रह्म में अभेद, बंधन और मोक्ष से रहित, व्यावहारिक जीव औपाधिक जगत् में आसक्त होकर अपने स्वरूप को विस्मृत कर देता है। यह विस्मरण मायाजन्य ही मानना चाहिए। संत कवियों ने आत्मा और जीव के स्वरूप वर्णन में इन्हीं मान्यताओं को स्वीकार किया है। संत कबीरदास ने स्पष्ट कहा है कि आत्मा न तो जन्म लेता है और न मरता है। स्वर्ग और नरक से भी आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा को हम उपाधि भेद से नाना प्रकार का मानते हैं किन्तु यह मायाजनित भ्रम ही है। जिस प्रकार घटाकार और मठाकार आकाशों में भेद प्रतीत होता है परन्तु घट और मठ के भंग हो जाने पर आकाश का कोई आकार नहीं होता। समस्त आकाश की एक ही सत्ता होती है। आत्मज्ञान हो जाने पर आत्मा और परमात्मा (ब्रह्म) एक रूप हो जाते हैं। कबीरदास इसी भाव को अपनी वाणी में कहते हैं—

कौने मरै कौन जनमै आई, सरग नरक कौने गति पाई।
पंचतत अविगत थैं उतपनां एकै किया निवासा।
बिछूरै तन फिरि सहजि समाना रेख रही नहिं आसा ।।

जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहरि भीतरि पानी ।
फूटा कुंभ जल जल हि समानां यहु तत कथो गियानी ।।

आत्मा का ब्रह्म के साथ अद्वैत सम्बन्ध है । जिस प्रकार सूत और वस्त्र, स्वर्ण और कुंडल, जल और तरंगतत्वत: एक ही हैं वैसे ही जीव और ब्रह्म में अभेद है । आत्म ज्ञान हो जाने पर आत्मा ब्रह्म में ही लीन हो जाती है । उपाधिजन्य कोई दोष उसमें नहीं होता । मुंडकोपनिषद् में नदी और समुद्र के उदाहरण से इस तथ्य का वर्णन है—

यथानद्य: स्यन्दमाना: समुद्रे स्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपा द्विमुक्त: परात्परं पुरुषमुपैति नित्यम् ।।

आत्मा और जीव के स्वरूप वर्णन में जिस प्रकार शंकराचार्य ने दोनों का अभेद सम्बन्ध स्वीकार किया है वैसा ही संत कवियों की वाणी में उपलब्ध होता है । जीव और ब्रह्म की अद्वैत भावना परमार्थत: उपनिषदों में भी वर्णित है । 'अयमात्मा ब्रह्म', 'एकमेवाऽद्वितीयम्', 'न तुतत् द्वितीयमस्ति' आदि पदों में यही अभेद भाव व्यक्त हुआ है । भीखा साहब, पलटू साहब, गरीबदास आदि संतों ने इस तथ्य को अपनी वाणी में अनेक बार दुहराया है । पलटू साहब कहते हैं—

जीव ब्रह्म अन्तर नहि कोय, एकै रूप सर्व घट घट होय ।
जग विवर्त सूँ न्यारा मान, परम अद्वैत रूप निर्वान ।।

एक तथ्य इस संदर्भ में विशेष रूप से ध्यातव्य है कि संतों ने जीव के वर्णन में लोक का यथार्थ भी ध्यान में रखा है, शंकराचार्य को इसकी आवश्यकता नहीं हुई । परमात्मा की उपासना या आराधना में संतों की दृष्टि मधुर भाव, सेवक-स्वामी भाव पर भी रही है, इसका कारण उनकी भावना भक्तिपरक है । शंकराचार्य शुद्ध ज्ञान-मार्गी है अत: भक्ति को उस सीमा तक नहीं ले गये । भक्ति की उपेक्षा तो शंकर भी नहीं कर सके किन्तु उनकी भावना और संतों की भक्ति भावना में मौलिक अन्तर है । संतों ने जीव के बंधन पाश में जकड़े जाने के अनेक कारण गिनाये हैं, वे कारण तो शंकर वेदान्त के अनुरूप हैं किन्तु जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं वे वेदान्त भाष्य में नहीं हैं । किन्तु आत्मा और जीव के मूल स्वरूप निरूपण में संतों ने अद्वैत वेदान्त को ही स्वीकार किया है ।

इस भव बंधन से मुक्त होने के लिए शंकराचार्य ने ज्ञान-आत्मज्ञान की अनिवार्यता पर बल दिया है । 'ऋते ज्ञानान्नमुक्ति:' इसी तथ्य को रेखांकित करने वाला वाक्य है । ज्ञान का स्वरूप क्या है, उनकी परिभाषा क्या है, उसकी बोधगम्यता क्या है तथा अनादि ज्ञान क्या है आदि प्रश्नों के उत्तरों पर विचार करने के बाद ही संतों की वाणी में उपलब्ध ज्ञान-विवेचन की मीमांसा करनी होगी । मोक्ष प्राप्ति के लिए ज्ञान की अनिवार्यता होने से संतों ने ज्ञान को अपनी शैली से स्वीकार किया है । पुस्तक ज्ञान, शास्त्र ज्ञान, पांडित्य पूर्ण ज्ञान को किसी संत ने उपयोगी नही माना । सभी संत शास्त्र ज्ञान का प्राय: विरोध करते रहे । स्वानुभूत सत्य को खोजने में उनकी प्रवृत्ति रही और उसी अनुभूत ज्ञान को उन्होंने प्रमाण भी माना । ज्ञान की प्राप्ति को परम पुरुषार्थ कोटि में रखने पर भी शास्त्र विमुखता कुछ विस्मयजनक लगती है किन्तु सत्य का संधान शास्त्राध्ययन मात्र से नही होता यह भी पूर्ण सत्य है । कबीर दास ने आत्मा को वेला शब्द से अभिहित किया है । वे मानते हैं कि भौतिक प्रपंच ज्यों-ज्यों नष्ट होते जाते हैं त्यों-त्यों आत्म ज्ञान का उदय होता जाता है । शास्त्र कहीं बीच में नहीं आता । जैसे-जैसे अध्यास का निरसन होता जाता है, वैसे ही आत्म ज्ञान प्रखर होकर बंधनों से मुक्ति का द्वार खोलता जाता है । इस आत्म ज्ञान में संत लोग गुरु कृपा को ही सहायक मानते हैं । सुन्दरदास ने इस तथ्य को अपनी वाणी में बड़े सहज रूप में कहा है । तुलना करने पर उनकी वाणी शंकर अद्वैत के पूरे मेल में लक्षित होती है—

ब्रह्म ज्ञान विचारि करि क्यों होइ ब्रह्म-स्वरूप रे।
सकल भ्रम तम जाय मिटि उचित मान अनूप रे।
यह दूसरे करि जबहि देखे दूसरो तव होइ रे।
फेरि अपनी दृष्टि ही को दूसरो नहिं कोइ रे।
दिवि दृष्टि करि जब देखि ये सब सकल ब्रह्म विलास रे।
अज्ञान ते संसार भासे कहै सुन्दर दास रे॥

मोक्ष का आनन्द अनिर्वचनीय है। वह आनन्द केवल आत्मज्ञान से सुफल होता है। कबीर आदि संतों ने मुक्ति के आनन्द के विषय में उपनिषदों में वर्णित आनन्द के समान ही माना है। वह केवल अन्तःकरण से ही जाना जा सकता है। समाधि दशा में ब्रह्मवेत्ता को जिस आनन्द का अनुभव होता है वह समाधि अवस्था की आनन्दानुभूति के समान ही अवर्णनीय है। उपनिषदों में कहा गया है कि समाधि का सुख शब्दातीत है :

'समाधि निधूत मलस्य चेतसो निर्मशितस्यात्मिति यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयंतदन्तः करणेन गृह्य ते॥

संत कवियों ने मुमुक्षा की इच्छा रखते हुए जागतिक सम्बन्धों के परिहार की बात बार-बार दुहरायी है। चरणदास आत्मज्ञान को साधना का अन्तिम लक्ष्य मानते हैं। इस साधना से ही मोक्ष का द्वार खुलता है। सहजोबाई ने सत्य के साक्षात्कार को मोक्ष का द्वार माना है। संत दयाबाई ब्रह्म भाव में लीन होकर मोक्ष की कामना को जीवन का ध्येय समझती है।

काम क्रोध मद लोभ नहिं खट विकार करि हीन।
पन्थ कुपन्थ न जानहीं ब्रह्मभाव रस लीन॥ (दयाबाई)

शंकराचार्य ने मोक्ष का स्वरूप पुरुषार्थ में व्यक्त किया है। 'अथ त्रिविध दुखात्यन्त निवृत्ति अत्यन्त पुरुषार्थः।' त्रिताप से आत्यन्तिकी निवृत्ति का नाम ही पुरुषार्थ है और यही मोक्ष है। सन्त कवियों में ब्रह्मलीन होने की स्थिति को सर्वोच्च सुख माना है। ब्रह्मलीन होना, ईश्वर प्राप्ति या राम में समा जाने का ही दूसरा रूप है। सन्तों ने मोक्ष की विविध दशाओं का वर्णन नहीं किया। मोक्ष के भेद भी उनके यहाँ नहीं है।

श्री शंकराचार्य के मत में मुमुक्षुओं के भेद हैं। विवेकचूड़ामणि में तीन प्रकार के मुमुक्षु और वेदान्त परिचय के अनुसार चार प्रकार के मुमुक्षुओं का वर्णन मिलता है। सन्तों ने इस विभाजन पर ध्यान नहीं दिया। मोक्ष प्राप्ति के लिए षट-साधन-सम्पत्ति का वर्णन सन्तों ने उसी शैली को स्वीकार किया है जो शंकराचार्य को मान्य थी।

साधना के क्षेत्र में षट्-साधन-सम्पत्ति, उपासना और भक्ति, कर्म का स्वरूप आदि विषयों में प्रायः समानता है किन्तु कर्म और भक्ति की वरेण्यता पर मतभेद भी लक्षित होता है। सन्त लोग कर्म शब्द से लौकिक कर्म तथा यज्ञ, तप, दान, तीर्थ स्नान आदि को ही ग्रहण करते हैं किन्तु शांकर वेदान्त में कर्म व्यापक, गूढ़-गम्भीर अर्थ में प्रयुक्त है अतः सन्तों से मतभेद स्वाभाविक है। वेद-श्रुति का प्रामाण्य सन्त स्वीकार नहीं करते। शंकर के मत में वेद स्वतः प्रमाण हैं। वेद विहित विधान भी स्वीकार्य है। यह तात्विक मतभेद है। वैदिक विधि-निषेध का भी सन्त खण्डन करते हैं। ज्ञान मार्ग में श्रुति का अध्ययन सहायक है। वर्णाश्रम व्यवस्था में भी सन्तों को आस्था नहीं। सन्तगण इस व्यवस्था को सामाजिक वैषम्य का मूल कारण मानते हैं। इसीलिए कर्म या करणी उनकी दृष्टि में ज्ञानोपलब्धि में सहायक नहीं है। निर्गुण धारा के सन्तों ने वेद-शास्त्र आदि का अध्ययन नहीं किया था अतः उन्हें यह भ्रम रहा कि शास्त्रों में कर्मकाण्डपरक विधि विधान ही है इसलिए वे स्वीकार्य नहीं हो सकते। कर्म को सीमित अर्थ में ग्रहण करने के कारण सन्तों ने कर्म को भवबन्धन का कारण मान लिया। सुन्दरदास एक ऐसे सन्त कवि हैं जो वेदोक्त कर्म में निष्ठा रखते हैं किन्तु कर्म फल में

आसक्ति का विरोध करते हैं। सम्भवतः यह गीता का प्रभाव है। चरनदास और पलटू साहब भी निष्काम कर्म को सन्त तन कर्म मानते हैं। फलासक्ति विहीन कर्म करना गीता का उपदेश है। कर्म में कौशल प्राप्त करना योगशास्त्र का मत है।

यदि कर्म की बाह्याचरण से पृथकता मान ली जाय तो वेद विहित पुण्य कर्मों से सन्तों का विरोध न रहे किन्तु वेद के नाम से शास्त्र भी आता है जो सन्तों को स्वीकार्य नहीं। यही मतभेद का कारण भी है। यहीं ज्ञान मार्ग में षट साधन सम्पत्ति को सन्त लोग स्वीकार करते हैं तो कर्म की एक प्रेरणा इनमें देखी जा सकती है। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान का विधान शंकराचार्य के अद्वैत मार्ग में भी है और सन्तों ने भी इसे अपनी विचारधारा के अनुसार स्वीकार किया है।

निर्गुणधारा के भक्त साधकों ने षट्-सम्पत्ति साधन को व्यावहारिक जीवन में पूरी तरह उतारने का प्रयास किया है। शम का अर्थ है मनोनिग्रह अर्थात् एक विषय की पूरी एकाग्रता तथा विषय वासना से विरत होना। इस संसार को मिथ्या मानने के साथ उसके प्रति वैराग्यभाव रखना भी शम का ही रूप है। कबीरदास ने अपनी वाणी में संसार की असारता और क्षणभंगुरता की बात तो अनेक बार कही है। दम का अर्थ इन्द्रियों की निग्रह या दमन करना है। यह शम की अपेक्षा कठोर साधना सापेक्ष्य है, इन्द्रियों पर अंकुश रखना इसका लक्ष्य है। उपरति शब्द का अर्थ है पदार्थ जगत् से वैराग्य। दम साधन सिद्ध हो जाने पर उपरति स्वयं वैराग्य की ओर उन्मुख कर देती है। चित्त की वृत्तियों की विषयों में आसक्ति नहीं रहती। तितिक्षा का अर्थ है सांसारिक सुख-दुखादि से उत्पन्न हर्ष-विषाद को सहन करने की शक्ति। उपरति हो जाने से तितिक्षा का मार्ग प्रशस्त होता है। श्रद्धा का अर्थ है—सत्य बुद्धि द्वारा आत्म ज्ञान के पथ पर आरूढ़ होना। श्रद्धा के प्रसंग में सन्तों ने गुरु को प्रमुख स्थान दिया है। अद्वैत दर्शन में श्रद्धा का आधान शास्त्र वचन हैं। यही मुख्य अन्तर है। समाधान शब्द का शंकराचार्य के मत में अर्थ है बुद्धि को शुद्ध ब्रह्म में पूर्णतया स्थिर रखना। चित्त की एकाग्रता-स्थिरता ही समाधान है जो ज्ञानमार्गी के लिए अनिवार्य है। इस षट साधन-सम्पत्ति का वर्णन प्राय सभी सन्तों की वाणी में उपलब्ध है। कुछ साम्य मूलक उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

संसार की असारता का वर्णन कबीर के सैंकड़ों पद में मिलता है—

> कबीर कहा गरवियौ देही देखि सुरंग।
> बीछड़ियाँ मिलिबौ नहीं ज्यू का चली भुजंग॥
> यहु ऐसा संसार है, जैसा सेंवल फूल।
> दिन दस के व्यौहार कौं, झूठे रंगिन भूल॥ —कबीर ग्रन्थावली

दादू दयाल की वाणी—

> दादू जनम गया सब देखतां, झूठी के संग लाग।
> साचै प्रीतम को मिलै, भागि सकें तौ भागि॥
> यह तन काँचा जल भर्‍या, बिन सत नाहीं वार।
> यह घट फूटा जल गया, समझत नहीं गँवार॥

गरीबदास ने इसी तथ्य को अपनी शैली में कहा है—

> इस मांटी के महल में, मगन भया क्यों मूढ़।
> कर साहब की बन्दगी, उस साईं को ढूंढ़॥

पलटू साहब—

> जस कागद कै कलई, हो पाका फल डार।
> सपनै कै सुख सम्पति, हो ऐसा संसार॥

तितिक्षा के सम्बन्ध में सभी सन्तों ने कष्ट सहन को स्वीकारा है—

जो रोऊँ तो बल घटे, हँसौं तो राम रिसाय।
मन ही माँहि विसूरणाँ ज्यूँ घुन काठहि खाय।। —कबीर

सूरा तबहीं परखिये लड़ै धनी के हेत,
पुरजा पुरजा ह्वै पड़े तऊ न छाँड़े खेत। —कबीर

रहूँ भरोसे राम के वन में कबहूँ न जांन।
दास मलूका यों कहै हरि विदकै मैं खांन।। —मलूकदास

सन्त कवियों ने सतगुरु को पूरी श्रद्धा-भक्ति के साथ अपनी रचनाओं में स्थान दिया है। गुरु महिमा-वर्णन प्रायः सभी सन्तों की वाणी में मिलता है। अद्वैत वेदान्त में गुरु महिमा का ऐसा विशद वर्णन नहीं है। शास्त्र ज्ञान का आधार स्वीकार करने पर शंकर ने गुरु महिमा को सर्वोच्च स्थान नहीं दिया। कबीर ने तो गुरु कृपा को ही अपने जीवन के उद्धार में एकमात्र सहायक माना है। गुरु की कृपा से ही गोविन्द का उन्हें दर्शन होता है। सद्गुरु की कृपा की आत्म ज्ञान में कारण बनता है। सन्त ज्ञान का आश्रय वेद या शास्त्र को न मानकर केवल गुरु को ही मानते हैं। यही शांकर मत से भिन्नता है।

कबीर ने गुरु की महिमा का गान करते हुए यह माना है कि गुरु ही ज्ञान चक्षु खोलकर मनुष्य को आत्मज्ञान के मार्ग पर ले जाता है। उसके ज्ञान-प्रकार से अज्ञानान्धकार मिट जाता है

सद्गुरु की महिमा अनन्त अनंत किया उपकार।
लोचन अनंत उघाड़िया अनंत दिखावण हार।।

ठीक यही भाव सुन्दरदास ने व्यक्त किया है—

सद्गुरुप शब्द सुनाइकरि दीया ज्ञान विचार।
सुन्दर रूप प्रकासियौ मेट्या सब अँधियार।।

गुरु भक्ति या गुरु के प्रति श्रद्धाभाव सन्त साहित्य का एक अनिवार्य तत्व है। शास्त्र या ग्रन्थ के स्थान पर सन्तों ने गुरु को ही स्थापित किया है।

सन्तों ने भक्ति और उपासना के क्षेत्र में किसी अवतारी विष्णु या ईश्वर को स्वीकार नहीं किया। कबीर ने निर्गुण राम की भक्ति का आग्रह व्यक्त किया किन्तु राम को विष्णु का अवतार या दशरथ पुत्र नहीं माना। राम नाम का मर्म अवतारी राम से भिन्न है। यह ठीक है कि सन्तों का झुकाव यदि अद्वैत सिद्धान्त से हटकर कहीं और था तो वह वैष्णव भक्ति की ओर ही था। वैष्णव भक्ति सगुण साकार ईश्वर भक्ति है इसलिए निर्गुण विचारधारा के सन्त उसका पूरे मन से तो समर्थन नहीं कर सकते थे किन्तु भक्ति भाव के सगुणोपासना की तरफ झुक जाते हैं। सन्तों की भक्ति पद्धति पर हम आगे विचार करेंगे।

संक्षेप में, हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा का मूल स्रोत किस दार्शनिक विचारधारा अथवा साम्प्रदायिक मतवाद में अन्तर्मुक्त है, यह निर्णय करना सरल नहीं है। निर्गुण भक्ति साहित्य के अध्येताओं ने कबीर आदि निर्गुण सन्त कवियों की रचनाओं में इस्लामी एकेश्वरवाद, बौद्धों का शून्यवाद, शंकराचार्य का अद्वैतवाद, शैवों का शैवाद्वैतवाद, रामानन्दी विशिष्टाद्वैतवाद, सूफियों की प्रेम साधनामूलक रहस्यवाद, वैष्णव भक्ति का प्रपत्तिवाद, योग प्रतिपादित हठ साधना मार्ग, आगमों में निरूपित तन्त्रवाद आदि विविध तत्वों का सन्धान किया है। यह तो निर्विवाद स्वीकृत तथ्य है कि निर्गुण काव्य धारा के भक्त कवियों ने अपनी वाणी में दार्शनिक स्तर पर अद्वैत दृष्टि को प्रमुख स्थान दिया है। साधना पक्ष में उनकी दृष्टि योग, आगम, तन्त्र आदि पर भी गयी है किन्तु मूलदर्शन की रीढ़ अद्वैत दृष्टि ही है। यदि शांकर वेदान्त में प्रतिपादित अद्वैत दृष्टि ही सन्त काव्य का मेरुदण्ड है तो उसका पर्यवसान ज्ञान में स्वीकार करना होगा। शंकराचार्य के मत में 'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः' की

बात सबसे पहले आगे आती है। ज्ञान प्राप्ति के जो साधन और उपाय शंकराचार्य स्वीकार करते हैं उनमें शास्त्र ज्ञान भी एक है जो सन्तों को स्वीकार्य नहीं। शंकराचार्य ने अद्वैत सिद्धि का जो मार्ग अपनाया तथा ब्रह्म, जीव, आत्मा, जगत्, माया, मोक्ष आदि के विषय में जो सिद्धान्त स्थापित किये उनके साथ सन्तों का किस सीमा तक साम्य मूलक सम्बन्ध रहा यह हम सन्तों की विचारधारा के प्रतिपादन में स्पष्ट कर चुके हैं। हमने निर्गुण धारा के प्राय: सभी प्रमुख भक्तों की वाणी से प्रचुर मात्रा में उदाहरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सन्तों की वाणी शांकर अद्वैत का अनुसरण, अनुमोदन, अनुवाद और अनुकृति पर आधृत है।

श्री शंकराचार्य ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादनार्थ प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखने के अतिरिक्त कुछ ग्रन्थ लिखे जिनमें विवेकचूड़ामणि का प्रमुख स्थान है। विवेकचूड़ामणि में ब्रह्म का स्वरूप निरूपण निम्नलिखित श्लोक में हुआ हैं। इसका अनुकरण और अनुवाद कबीर आदि निर्गुणधारा के कवियों ने किया है—

अत: परं ब्रह्म सदद्वितीयं विशुद्ध विज्ञानघनं निरंजनम्।
प्रशान्तमाद्यन्त विहीनमक्रियं निरन्तरानन्द रस स्वरूपम्॥
निरस्तमायाकृत सर्वभेदं नित्यं सुखं निष्कलम प्रमेयम्।
अरूपमव्यक्तमनाख्यं ज्योति: स्वयं किंचदिदं चकास्ति॥
जन्मवृद्धि परिणत्यपक्षयं व्याधि नाश विहीनमव्ययम्।
विश्व सृष्ट्यवनधात कारणं ब्रह्म तत्वमसि भावयात्मनि॥

—विवेकचूड़ामणि

ब्रह्म के स्वरूप का यह स्पष्ट वर्णन कबीर को अभीष्ट था और इसी को आधार मानकर उन्होंने अपने ईश्वर या राम का निरूपण किया है। कबीर का ब्रह्म अरूप, अव्यक्त, अनाम, अक्षय स्वरूप और स्वयं प्रकाश्य है। ब्रह्म का जन्म, मरण, व्याधि, अपक्षय और नाश आदि विकार नहीं होते। कबीर कहते हैं—

अजरा अमर कहै सब कोई अलख न कथ्यां जाई।
जाति सरूप वरण नहि जाके घट घट रह्यो समाई॥

— — —

अलख निरंजन लखै न कोई निरभै निराकार है सोई।
मुनि अस्थूल रूप नहि रेखा, दिष्ट अदिष्ट छिप्यो नहि पेखा।

माया, जीव, जगत्, अविद्या आदि विषयों में इन सन्तों की समता पर हम पहले विचार कर चुके हैं। कबीर ने माया को देवताओं तक को पथभ्रष्ट करनेवाली कहा है। माया ही भेद बुद्धि उत्पन्न करने का मुख्य कारण है। ब्रह्म और जीव की अद्वैतरूपता जिस प्रकार शंकराचार्य ने प्रतिपादित की है उन्हीं उदाहरणों द्वारा सन्त कवियों ने भी की है। यह साम्य स्पष्ट करता है कि इन बहुश्रुत सन्त कवियों ने अद्वैत दर्शन को मात्र सुना ही नहीं, पूरी तरह समझा और अपनी वाणी में गाया है। शंकराचार्य ज्ञान मार्ग से ब्रह्म की प्राप्ति मानते हैं, सन्तों के मत में भक्ति और गुरु कृपा से आत्म ज्ञान होकर भ्रम टूटता है। भ्रमोच्छेद के लिए ईश्वर भक्ति का मार्ग सन्तों ने स्वीकार किया है। भक्ति मार्ग पर चलने के लिए षट-साधन-सम्पत्ति की आवश्यकता सन्त भी मानते हैं। वैराग्य और संसार की असारता इनका मुख्य ध्येय रहा है। इन्द्रियों के आस्वाद में फँसा व्यक्ति इस भव-बन्धन को काट नहीं पाता। दृष्टान्त शैली से कबीर ने कहा है, यह शरीर कागज की नाव है, संसार पानी है, पाँच इन्द्रियों का भँवर साथ है फिर किस प्रकार इस संसार सागर से तैरकर पार जाऊँ।

सन्त और भक्त कवियों में कबीर ने अपनी रचनाओं में योग दर्शन, तन्त्र, आगम और शैवागमों का यत्र-तत्र संकेत दिया है। शैवाद्वैत और प्रत्याभिज्ञा दर्शन के गूढ़-गम्भीर सिद्धान्तों को शास्त्र ज्ञान विहीन संतों ने समझा होगा और उसके द्वारा अपना ज्ञानपथ और भक्तिपथ बनाया होगा, यह कहना कठिन है। शाक्य मत

की हिंसामूलक क्रियाओं में भी इनकी आस्था रही होगी, ऐसा किसी प्रमाण से नहीं जाना जा सकता। यह ठीक है कि इनकी रचनाओं में हठयोग तथा साधनापरक योग मुद्राओं का छिटपुट रूप में वर्णन मिलता है। तन्त्र-शास्त्र के चारों पाद भी कमोबेश रूप में कुछ सन्तों की वाणी में लक्षित किये जा सकते हैं। विशेष रूप से कुण्डलिनी योग, मन्त्र प्रभाव, गुरु पूजा, देवता, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना आदि नाड़ियों का वर्णन यह भ्रम पैदा करता है कि कबीर आदि सन्तों की सम्पूर्ण साधना आगमाश्रित एवं तन्त्राश्रित थी। वास्तव में यह भ्रम ही है जो योग क्रियाओं के वर्णन से उत्पन्न हो जाता है।

आगमों का यदि सन्त कवि पूर्णतया अनुसरण करते तो उनके सामने आगमों की विस्तृत परम्परा खड़ी हो जाती और उसका अनुगमन करना शास्त्रज्ञान विहीन सन्तों के लिए कठिन हो जाता। शाक्त सम्प्रदाय में भी तीन भेद हैं—कौल आगम, मिश्र आगम और समय आगम। कौल आगम बहिर्मुखी पूजा पर बल देते हैं जिसे सन्त कवि बाह्याडम्बर मानकर भी कभी स्वीकार नहीं कर सकते। फलतः हम कह सकते हैं कि निर्गुण धारा के सन्त आगम और तन्त्र साहित्य से यत्किंचित् परिचित होने पर उनके अनुयायी नहीं हैं। उनका मार्ग अद्वैत सिद्धान्त के राजपथ से जाता है और नश्वर संसार को समझ कर आत्मज्ञान की ओर मुड़ता है। पाशुपत भैरव, सोम, नाकुलीय, कपाल आदि आगमों में जिस प्रकार की साधना एवं क्रियाओं का विधान है उन्हें सन्त और भक्त अहिंसक कवियों ने कभी स्वीकार नहीं किया। उनका मार्ग भक्ति और ज्ञान के अद्वैतपरक राजपथ से ही जाता है।

निर्गुण भक्त कवियों की भक्ति-भावना

निर्गुणधारा के सन्तों ने जिस भक्ति का प्रतिपादन किया है उसका मूलाधार खोजने के लिए तत्कालीन विविध धर्म-सम्प्रदायों, दार्शनिक मतवादों एवं उपासना-पद्धतियों पर विचार करना आवश्यक है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कबीर आदि सन्तों का काल धार्मिक एवं राजनीतिक दृष्टि से अशान्ति और उथल-पुथल का काल था। शंकराचार्य तथा उनके बाद के वैष्णवों आचार्यों के प्रभाव से अद्वैत दृष्टि का दार्शनिक क्षेत्र में प्रसार हो गया और शैव तथा शाक्त मतावलम्बी भी अपने पूर्ण वर्चस्व के साथ अपनी अद्वैत भावना तथा पूजा-उपासना का प्रचार कर रहे थे। बौद्ध मत तो ह्रासोन्मुख था किन्तु सिद्धों और नाथों की साधना का समाज में प्रचलन था। दक्षिण भारत में आलवार भक्तों के उदय से भक्ति का नया रूप उदीयमान था। संक्षेप में, यह युग उपासना, साधना और भक्ति के क्षेत्र में नाना प्रकार की विचार धाराओं के योग से इन सन्तों को प्रभावित करने में समर्थ था।

निर्गुणधारा के सन्त कवियों ने जिस निराकार, निरंजन, अव्यक्त, अगोचर, सर्वव्यापक ईश्वर की आराधना, उपासना या भक्ति का उपदेश दिया वह शुद्ध या सर्वथा अनाविल न रहकर उपर्युक्त धर्म सम्प्रदायों तथा दार्शनिक मतवादों से अवश्यमेव प्रभावित थी। सन्तों का ईश्वर निर्गुण निराकार रहने पर भी सगुणता के उन लक्षणों से रहित नहीं था जो दया-दाक्षिण्य आदि से उसे दयालु और रक्षक बनाते हैं। ब्रह्म, ईश्वर या राम का स्वरूप नित्य, व्यापक और सर्वशक्तिमान है किन्तु वह अवतारी नहीं है। संसार के आवागमन से मुक्त होने के लिए ईश्वर भक्ति या भगवत्कृपा की आवश्यकता है। सन्तों की भक्ति-साधना में अष्टांग योग का भी पुट है किन्तु वह पुट शास्त्रीय जड़ता से परिपूर्ण न होकर यम नियम, आसन प्राणायाम और समाधि तक है। आचारनिष्ठा और मनोनिग्रह ही इसका उद्देश्य है। यह योग इन सन्तों को नाथ पन्थियों से परम्परा में मिला होगा। अतः जितना भक्ति के साथ समन्वयकारी बना उतना इन सन्तों ने भी स्वीकार किया। इसी योग-साधना के सन्दर्भ में कुण्डलिनी योग का भी यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। चक्र-कमल, मुद्रा, ध्यान, सुरति, निरति आदि की चर्चा भी इसी प्रकरण में मिलती है।

सन्तों की इस भक्ति का झुकाव यदि कहीं था तो वह वैष्णव-भक्ति की ओर ही था। उसमें अद्वैत भी बन जाता था और भक्ति-भावना भी। किन्तु इसका तात्पर्य यह न समझा जाये कि वे लोग विष्णु के उपासक थे, या अवतारी ईश्वर की भक्ति करते थे। कबीर ने यद्यपि वैष्णवजन को राम के समकक्ष रखकर कहा है—

मेरे संगी दोइ जणां, एक वैष्णो एक राम।
वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नाम॥

सन्त कवियों ने अपनी भक्ति के लिए वैराग्य भावना पर अधिक बल दिया है। वैराग्य का तात्पर्य है सांसारिक विषयों की व्यर्थता तथा जगत् की नश्वरता के साथ उदासीनता। योग के मार्ग में भी वैराग्य साधन है और भक्ति मार्ग में भी। सन्त दोनों मार्गों पर आरूढ़ थे अतः वैराग्य उनका अभीष्ट था। भक्ति का शास्त्रीय पक्ष गीता, भागवत, नारद भक्तिसूत्र आदि ग्रन्थों में वर्णित है। उसका विस्तार वैष्णव और शैवागमों में है। इन सन्तों ने प्रेम भगति, भाव भगति, नारदी भगति का उल्लेख कर यह स्पष्ट नहीं तो भासित अवश्य कर दिया है कि सन्तों के निराकार, निरंजन, अलख राम भी प्रेम से द्रवित होकर भक्त जन पर कृपा करते हैं। इसीलिए कबीर के राम को उसके पूर्ण एवं व्यापक परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए भक्ति-तत्व को समझना होगा तभी कबीर का राम अपने पूर्ण सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक रूप में प्रकाशित हो सकेगा।

यदि सन्तों की भक्ति-भावना का आकलन किया जाये तो उसमें नवधा भक्ति का स्वरूप सहज ही में प्रस्तुत किया जा सकता है। नाम स्मरण, विनय, शरणागति, गुरु सेवा, सन्त सेवा आदि बातें भी भक्ति के भीतर ही हैं। परम विरहासक्ति से भक्त को जो वेदना होती है उसका भी इन सन्तों ने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। अनुग्रह, प्रपत्ति, शरणागति आदि का भक्ति-सन्दर्भ में सन्तों ने खुलकर प्रतिपादन किया है। कबीर ने राम नाम की महिमा गाते समय राम भक्ति का विधान अपनी निजी मान्यता से किया है। उसमें राम नाम का जप भी शामिल है जो शैव, वैष्णव और शाक्त सभी उपासनाओं में गृहीत हुआ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सन्तों की भक्ति का विवेचन करते हुए लिखा है कि 'सारांश यह है कि ईश्वर-पूजा की उन भिन्न-भिन्न बाह्य विधियों पर से ध्यान हटाकर, जिनके कारण धर्म में भेदभाव फैला हुआ था, ये शुद्ध ईश्वर प्रेम और सात्विकता का प्रचार करना चाहते थे।' दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि सन्तों की भक्ति विषयक धारणा निर्गुणोपासना पर आधृत होने पर भी समन्वयमूलक थी। कर्मकाण्ड का पाखण्ड उसमें नहीं था, बाह्याडम्बर नहीं था, व्रत, पूजा, तीर्थ का बाह्य विधान नहीं थी किन्तु ईश्वर के सामीप्य लाभ के लिए जिस उदात्त, अवदात और निर्मल चरित्र तथा परिष्कृत मनोभूति की आवश्यकता है वह इस भक्ति का मेरुदण्ड था। ऐसी भक्ति सहज भी थी और साधन-निरपेक्ष होने से सुसाध्य भी।

सन्तों की विचारधारा, योग-साधना, भक्ति-भावना और दार्शनिक चिन्तन पर विचार करने के उपरान्त हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सन्तों की इस विशाल परम्परा में कबीर, नानक, रैदास, दादू, मलूकदास का कोई साम्प्रदायिक संकीर्ण मताग्रह नहीं था। तत्कालीन समाज में व्याप्त दम्भ और पाखण्ड के प्रति इनके मन में वितृष्णा का भाव था। इस वितृष्णा को इन सन्तों ने दो शैलियों से व्यक्त किया है। कबीर ऐसे स्पष्टवादी उग्र स्वभाव के सन्त हैं जो पाखण्ड खण्डन के लिए मात्र निषेध से काम नहीं लेते वरन् उनके विरोध में अपनी वाणी का प्रखर स्वर विशेष रूप से मुखरित करते हैं। उनकी ओजस्वी वाणी में निर्भीकता के साथ जो वर्चस्व गुंजना है वह श्रोता को चकित और आतंकित करता है। समाज में व्याप्त रूढ़ियों, अन्धविश्वासों और बाह्याडम्बरों के विरोध में कबीर ने बड़ी भाषा का कठोर प्रयोग किया है। दूसरी कोटि के सन्त रैदास और नानक हैं जो कर्मकाण्ड के मिथ्याडम्बर के त्याग और निषेध की बात बड़ी संयत भाषा में कहते हैं। खंडन नहीं करते—मिथ्याडम्बर का निषेध-भर करते हैं। इन लोगों ने ईश्वर प्राप्ति के लिए भक्ति, सत्य, प्रेम, समता आदि भावों पर विशेष बल दिया है।

निर्गुण सन्तों की साधना समन्वयमूलक थी। धर्म, दर्शन, उपासना, आचार और विचार सबमें समन्वय द्वारा ये सन्त ऐसे मार्ग का संधान करते रहे जो मानवमात्र के लिए कल्याणकारी होने के साथ स्वीकार्य हो सके। कबीर, नानक, दादू आदि सभी सन्त मानवतावादी दृष्टि सम्पन्न महात्मा थे। इनकी दृष्टि में हिन्दू-मुसलमान का भेद नहीं था। इन्होंने मनुष्य-मनुष्य के बीच जाति, वर्ग धर्म सम्प्रदाय की कोई दीवार खड़ी नहीं की। जिस सर्व-धर्म समभाव की बात आज हम बड़े उत्साह से राजनीति के क्षेत्र में करते हैं, वह बात इन संतों ने आज से पाँच सौ वर्ष पहले बड़े आग्रह और विचार पूर्वक कही थी। यही कारण है कि दर्शन के क्षेत्र में शैवाद्वैत और शांकर अद्वैत को इन्होंने स्वीकार किया। नाथ और सिद्धों की वाणी से भी उन तत्वों को ग्रहण किया जो किसी संकीर्ण मतवाद या विचारधारा से बँधे नहीं थे। सन्तों की मानवतावादी दृष्टि के मूल में स्वतन्त्र चिन्तन, स्वानुभव और आचरित सत्य ही प्रमुख थे। आस्तिकता, सच्चरित्रता, परदुःख कातरता, करुणा प्रेम, भक्ति और विनय उनके आदर्श थे। प्रायः सभी सन्त सद्गृहस्थ थे किन्तु स्वकीय परिवार के भरण-पोषण की सीमा में इन्होंने अपना मानवीय दृष्टिकोण संकीर्ण नहीं बनाया था।

उत्तर भारत में भक्ति को सर्वसाधारण तक पहुँचाने का सर्वप्रथम श्रेय स्वामी रामानन्द को तदनन्तर उनके शिष्यों में कबीर को है। भक्त कबीर ने यह अनुभव किया था कि शास्त्रनिष्ठा के साथ सम्प्रदाय की संकीर्णता अनायास ही जुड़ जाती है और शास्त्र तथा सम्प्रदाय की सीमाओं में बँधकर भक्ति का पथ सर्वसुलभ नहीं रह पाता। भक्ति पथ के दो बड़े अवरोध हैं शास्त्र और सम्प्रदाय, जो भक्ति-भावना का आविल भले ही रखते हों किन्तु सहज और सरल नहीं रहने देते। कबीर ने भक्ति को जाति, वर्ण, धर्म, सम्प्रदाय और मतवाद की शृंखलाओं से छुड़ाकर व्यक्ति साधना के साथ समष्टि-हित में प्रयोज्य बनाया। सन्तों का व्यवसाय धर्मोपदेष्टा का नहीं था। अपनी जीविका के लिए प्रायः सभी सन्त अपने पारस्परिक व्यवसायों में मस्त थे। कबीर जुलाहे का कार्य करते थे, रैदास जूते गाँठते थे, नामदेव दर्जी थे। इन व्यवसायों के प्रति इन सन्तों के मन में कोई हीन भावना नहीं थी वरन् ये सदा स्वाभिमान पूर्वक अपने पेशे का उल्लेख करते हैं। वस्तुतः धार्मिक समन्वयवाद मानव कल्याण के लिए मानववाद, जीवन में सच्चरित्रता का आदर्शवाद और स्वानुभूति पर आश्रित सत्य का प्रचार ही इनका जीवन ध्येय था। सन्तों का सत्य मानवमात्र का सत्य है, शाश्वत सत्य है, ऐसा सत्य है जिसे स्वीकार कर मनुष्य दम्भ और पाखण्ड से मुक्त होकर आस्तिक भावना से परमानन्द का सुख प्राप्त कर सकता है।

उपसंहार

निर्गुणधारा के सन्त एवं भक्त कवियों की वाणी के अनुशीलन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि प्रायः सभी संत अपनी आन्तरिक प्रेरणा से स्वानुभूत सत्य को उजागर करने में यावज्जीवन लगे रहे। वह सत्य क्या था और उसका आधार क्या था यह उनकी वाणी से ही जाना जा सकता है। इन निर्गुण सन्तों ने ब्रह्म या ईश्वर के विषय में पारमार्थिक दृष्टि से चिन्तन किया था। इस चिन्तन में उन्हें समस्त संसार में एक ही शक्ति, एक ही ज्योति, एक ही आत्मा और एक ही अरूप-अव्यक्त सत्ता का आभास हुआ। इस परमात्म-सत्ता को प्रायः सभी सन्तों ने निराकार, निरंजन, नित्य, शुद्ध मुक्त रूप देखा और उसी सत्ता को जगत् के स्थावर-जंगम सभी स्थलों में चैतन्य के साथ तादात्म्य रूप में पाया। यह तादात्म्य अद्वैत दृष्टि के कारण ही सम्पन्न हो सका। अद्वैत सिद्धान्त सन्तों को किसी शास्त्र या ग्रन्थ से उपलब्ध नहीं हुआ था। यह उस समय भारत के दार्शनिक वातावरण में आचार्य शंकर के व्यापक प्रचार तथा चार धामों की स्थापना से सर्वत्र व्याप्त था। आचार्य शंकर के बाद दार्शनिक चिन्तन करने वाले जो प्रसिद्ध आचार्य हुए उन्होंने भी अद्वैतमूलक को ही अपनी चिन्ता का आधार बनाया। विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत और द्वैत विषयक दार्शनिक मतों में प्रयुक्त विशिष्ट, शुद्ध

आदि विशेषण शांकर वेदान्त से भिन्नत्व के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं। निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना करने वाले सन्तों ने इसी कारण अपनी चिन्तन सरणि को शंकराचार्य के अनुकूल रखने में सुविधा का अनुभव किया। अद्वैत सिद्धि के लिए आचार्य शंकर ने जो तर्क-प्रमाण और उदाहरण प्रस्तुत किये थे उनको भी निर्गुण धारा के सन्तों ने यथावत् ग्रहण कर लिया। वेद को प्रमाण न मानने पर भी अद्वैतः सिद्धि में युक्ति-तर्क का क्रम प्राय: वही रखा जो शंकराचार्य को अभिप्रेत था। अद्वैत वेदान्त तत्कालीन दार्शनिक चिन्तन की मूल धारणा थी, उससे पृथक् होकर पाखण्ड और बाह्यडम्बर को प्रश्रय देने से न तो शुद्ध भक्ति पथ प्रशस्त हो सकता था और न ईश्वरीय सत्ता का पारमार्थिक चिन्तन ही सम्भव था। निर्गुण धारा के कबीर, नानक, दादू, दरिया साहब, रैदास, धरमदास, सुन्दरदास, जगजीवन दास, मलूकदास आदि सन्तों ने इस तथ्य को भली-भाँति समझ कर ही श्री शंकराचार्य प्रतिपादित अद्वैत-दर्शन का अनुसरण किया। यही कारण है कि उनकी तत्व चिन्ता का प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव शांकर अद्वैत वेदान्त का अनुवर्ती है।

शांकरावेदान्त और मुस्लिम मराठी सन्त कवि

डा० प्रभाकर माचवे

ईसा की पन्द्रहवीं-सोलहवीं सदियों के पचास मुस्लिम सन्त-कवियों ने मराठी में सुन्दर दार्शनिक पद्य रचना की, वेदान्तपरक ग्रन्थ लिखे और भक्ति की निर्गुण-सगुण अभिव्यक्ति को एकाकार बनाया। हिन्दू मुस्लिम एकता का और दोनों के साम्प्रदायिकतावादी कट्टरपन से मुक्त मानवतावादी एकात्मकता का प्रचार उनकी रचनाओं में मिलता है। इन सन्त कवियों का साहित्य पद, अभंग स्फुट रचनाओं के रूप में बिखरा हुआ है, और उनकी कविता आध्यात्मिक है। उस समय महाराष्ट्र में जो भक्तिरस की धारा उमड़ पड़ी थी, उसमें ये सन्तकवि एकाकार हो गये थे।

इन मुसलमान सन्त कवियों में ग्रन्थकार के नाते शहामुनोजी उर्फ मृत्युंजय, हुसेन, अम्बरखान, शेख मुहम्मद और शहामुनी बहुत प्रख्यात हुए। इनके ग्रन्थों में भी तीन विशेषतः महत्वपूर्ण हैं।

1. हुसेन, अम्बरखान की गीता टीका,
2. शेख महम्मद का योग संग्राम,
3. शहामुनी का सिद्धान्तबोध।

इन मुस्लिम सन्त कवियों की रचनाओं में कविता से ईश्वर भक्ति प्रधान है। इन सभी ने सद्गुरु की महिमा गायी हैं। ये सभी रूढ़िवादी आडम्बर के विरोधी हैं। इन्हें कट्टर ब्राह्मण और कट्टर मुसलमान दोनों का विरोध सहना पड़ा। प्रा० अ० का० प्रियोलकर ने 'मराठी संशोधन पत्रिका' के जनवरी 1963 के अंक में 'मुसलमानों की पुरानी मराठी कविता' शीर्षक से एक टिप्पणी लिखी थी और उसमें लोकमान्य तिलक ने एक लेख 'महाराष्ट्र भाषेची वाढ' (मराठी भाषा की वृद्धि) में ये माननीय वाक्य उद्धृत किये थे।

"दक्षिण में आज जो मुसलमान लोग हैं, वे शुद्ध पाठन, मुगल या तुर्क वंशों के नहीं हैं। बल्कि मुस्लिम सत्ता के पूर्व जो हिन्दू थे उनमें से जिन्होंने लोभ से या भय से अन्य धर्म स्वीकार किया, उनके ये वंशज हैं। दक्षिण के मुसलमान और दक्षिण के मराठा आदि के शरीरों में एक ही रक्त है। किसी कारण से धर्म भिन्न हुआ हो, पिण्ड से एक दूसरे के बन्धु हैं।

हमें नहीं भूलना चाहिए कि 1920 में तिलक महाराज की अन्त्ययात्रा में उनकी अरथी को कन्धा देने श्री जिन्ना दौड़े हुए आये थे। अस्तु।

मराठी मुस्लिम सन्तकवियों ने मराठी के साथ-साथ हिन्दुस्तानी में भी पद लिखे। कबीर और नानक की तरह ये सन्तकवि बार-बार जोर देकर कहते हैं कि हिन्दू-मुसलमान का भेद व्यर्थ है। शेख मुहम्मद लिखते हैं—

> सच्चा पीर कहे मुसलमान।
> मर्हाटे म्हणती सद्गुरु पूर्ण॥

परी दोहीत नाही भिन्नपण।
परी आँखे खोल देखो भाई ॥

यह विचार गीता के श्लोक "अहमात्मा गुडाकेश सर्वताभूताशयस्थितः, अहमादिश्चय मध्यं च भूतानामन्त एवच" की याद दिलाता है।

अब हम कुछ कवियों का विशेष परिचय देते हैं।

मृत्युंजय सोलहवीं सदी के थे शाहामुंतोजी ब्राह्मणी, शहा मुहम्मद बमणी, शान्त ब्राह्मणी, बेदर का बहमनी पादशहा' शहा मुतबजी कादरी, मूर्तजाकादरी, ज्ञान सागरानन्द ये सब उन्हीं के अलग-अलग नाम थे। ल० रा० पांगारकर उनका काल 1518 से 1558 ई० और रा० चि० ढेरे 1575 से 1650 ई० बताते हैं। उनके बारे में कथा है कि पहले वे बीदर के सुल्तान थे। एक दिन उन्होंने केले खाकर छिलके खिड़की से बाहर फेंके। एक भिखारी वे छिलके उठाकर खाने लगा। सुलतान ने उसे भीतर बुलाकर सिपाहियों को उसे कोड़े मारने की सजा दी। भिखारी फकीर था और कोड़े खाकर हँसने लगा। उसने कहा, "अगर छिलके खाने की यह सजा है, तो केले खानेवाले को कितनी बड़ी सजा ऊपर का बादशाह देगा।"

यह सुनकर सुलतान को विरक्ति हो गयी। पंढरपुर जाकर वे तीन दिन भूखे-प्यासे विट्ठल के चरणों में पड़े रहे। तीसरे दिन उन्हें 'विवेकसिन्धु' ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति मिली। कल्याणी के सहजानन्द को गुरु बनाकर वे ज्ञानसागरानन्द बन गये। मुस्लिम अग्निपरीक्षा .नी पड़ी। नाम 'मृत्युंजय' पड़ा। ब्राह्मणों से तर्क किया। वे उसे ब्राह्मण नहीं बनाना चाहते थ। मुस्लिम समाज उन्हें 'शहा मुतबजी कादरी' कहने लगा। वे नारायणपुर में रहने लगे। उनके नाम से कई चमत्कार 'भक्तिविजय' ग्रन्थ में दिये हैं। नाभादास के 'भक्तमाल' की तरह मराठी में श्रीधर का 'भक्तिविजय' सन्त चरित्र-संग्रह काव्य है। मृत्युंजय के चमत्कार से, भोजन की पंक्ति में बैठे जंगमों के गले में लटके शिवलिंग गायब हो गये। मृत्युंजय ने कहा "वेदान्त सिद्धान्त दोघे जण, आमुचे घरी आहेत श्वान" (वेदान्त और सिद्धान्त ये जने हमारे घर की रखवाली करनेवाले कुत्ते हैं) मृत्युंजय ने ये ग्रन्थ लिखे—1. सिद्ध संकेत प्रबन्ध (2,000 ओवियाँ), 2. अनुभवसार, जो 'ज्ञानामृत' नाम से भी मिलता है (42 ओवी छन्द), 3. अद्वैतसार (500 ओवियाँ), 4. प्रकाश दीप (399 ओवियाँ), 5. स्वरूप समाधान (394 ओवियाँ), 6. आत्मानुभाव (300 ओवियाँ), 7. पंचीकरण (संस्कृत-फारसी कोश), 8. जीवोद्धारण (1,200 ओवियाँ), उनकी रचनाओं पर 'विवेक सिन्धु' और ज्ञानेश्वर के 'अमृतानुभव' का गहरा प्रभार है।

हुसेन अम्बरनाथ अपने को 'ब्रह्म ज्ञानियों का मुकुटमणि' कहते हैं। उन्होंने 1653 ई० में 'गीता-टीका' लिखी, जिसमें वे कहते हैं—

भाष्य शंकराचार्यंचे।
आणि व्याख्यान श्रीधरस्वामीचे।
पाहोनिया टीका भगवद्गीतेची।
महाराष्ट्र भावेन कीजे।

(शंकराचार्य का भाष्य और श्रीधर स्वामी का व्याख्यान देखकर भगवतद्गीता की टीमा महाराष्ट्र भाषा में कीजिए)

आलमखान के एक पद में वेदान्त की झलक इस तरह से मिलती है—

द्रष्टा दृश्य दर्शन एक झाले
मीतूपण सहज भावकले ॥

खिन्न झाली त्रिपुरी जया ठायीं।
तेंचि भरलें दिसे अन्तर्बाहियी।।

शेख सुलतान की 'सती अनुसूया', 'गणपति जन्म', 'हनुमन्त जन्म', 'शिवरात्रि कथा' ये पोथियाँ उपलब्ध हैं। उनकी हिन्दी पद-रचना में अध्यात्म का गहरा रंग है। शेख दाजी इन्हीं के छोटे भाई थे। वे कभी अपने भाई की तरह उत्तम कीर्तनकार थे।

इनमें सबसे अच्छे कवि शेख मुहम्मद थे। उन्हें महाराष्ट्र का कबीर कहा जाता है। 1530 से 1660 ई० में सूफी कादरी पन्थ के सन्तकवि ने सन्त बोधला (या बोधना) से दीक्षा ली। देवगिरि के पास उनकी समाधि दरगाह के रूप में है। वेदान्त से गहराई से प्रभावित एक उनका पद देखिए—

ज्यासी रूप नाही रेखा।।
तो अव्यक्त मांझा सखा।
भावभक्तीचि सुखा।
साकारला।।
चौदा भुवन हे गोकुल।
आणि पन्नास गोवाल।।
मांडियेला खेल।
चराचरीं।।

आगे वे लिखते हैं, "वहाँ उन्मनी आखर (अक्षर और आखिरी या अन्तिम) हैं। नीलाम्बर तरुवर है। (यानी वह जिसकी जड़ आकाश में हैं ऐसा ऊर्ध्वमूल अधःशाख वृक्ष है।) वहाँ स्वानुभव का 'सुर' लगाया है।" (पानी में गोता खाने को भी मराठी में सुर लगाना कहते हैं।)

वही शेख मुहम्मद कहते हैं, हम ब्रह्मपुर के 'तुरुक' (तुर्क) हैं। सारा द्वैत खा डाला है, एक बन गये हैं। अहं की सूखी रोटी का भक्षण करके, निज प्रेम का प्याला हमने पिया है। हमने आचार-विचार छोड़ दिये हैं। कोई भला कहे या बुरा कहे।"

'निष्कलंक प्रबोध' ग्रन्थ में शेख मुहम्मद ने धर्म के नाम पर चलनेवाले ढोंग धतूरे और पाखण्ड की खूब भर्त्सना की है। 'पवनविजय' संस्कृत के 'शिवस्वरोदय' (शिव-कार्तिकेय संवाद) का अनुवाद है। शेख मुहम्मद की सबसे महत्वपूर्ण रचना 'योगसंग्राम' है। इसमें 2, 319 ओवियाँ है। उसका एक अंश है—

मग येणें जाणें खंडलें।
आन पासणेंही पारुषलें।
मी मजमाजी बिबलें।
उदकीं भानु न्यायें।
मग जिणें मरणें दोन्हीं नाही।
स्वयंभू सदोदित पाही।
या साक्षीचा दरुपणी साहीं।
कोणी विरला असे।
तेथे भी पुरुष या स्त्री।
घरबारी ना बालब्रह्मचारी।
काले गोरे सावले विचारी।
स्वरूप नाही माझे।

तेथे भजला पाठी ना पोट।
मध्य ना दिसे शेवट।
अवघाचि ब्रह्माचा निघोट।
असोन न दिसे।

वेदान्त की छाया का और क्या उदाहरण चाहिए?

'सिद्धान्तबोध' के लेखक शहामुनी ई० 1748 में जन्मे थे। उन्होंने मुस्लिम कट्टरवादियों की भी निन्दा की। वे महानुभाव पन्थ में भी पूजे जाते हैं। उन्होंने अपने जीवन के पूर्वार्ध में द्वैतवादी दर्शन का समर्थन किया था, परन्तु बाद में वे अद्वैतवादी हो गये। वे स्पष्टतः लिखते हैं—

अद्वय बोधीं सन्तोषिजे।
या सिद्धान्ती 'मी ब्रह्म'॥
अद्वैतबोधी समाधि सुख।
ज्यांत निमग्न सनकादिक॥

पर क्या कभी किसी ने सोचा है कि इन सूफी सन्तों के मानवतावादी सन्देश को आज प्रचारित-प्रसारित करना कितना आवश्यक है? महाराष्ट्र में जहाँ-तहाँ साम्प्रदायिक दंगे हुए, तब किसी को इनकी सुध क्यों नहीं आयी? किसी ने इन पर चित्रपट या टी० वी० सीरियल क्यों नहीं बनाये? क्या इसलिए कि इनके जीवन हिंसात्मक और नाट्यपूर्ण प्रसंग विशेष नहीं है? या इसलिए कि आज के व्यापारी माहौल में हमारे लेखकों-पाठकों-दर्शकों में इनके विषय में शुद्ध अज्ञान है?

इस वर्ष के साहित्य अकादमी पुरस्कार विजेता श्री रा० चि० ढेरे की पुस्तक 'मुसलमानी मराठी सन्त-कवि' (मराठी) इसी विषय पर है, जो एक दशक पहले प्रकाशित हुई थी। महाराष्ट्र सरकार को इसका हिन्दी अनुवाद करवाकर सस्ते दामों में उन सब स्थानों में बाँटना चाहिए। जहाँ साम्प्रदायिक तनाव की शंका हो।

आचार्य शंकर और सांख्य योग

डा० विजयपाल शास्त्री

वेदान्त दर्शन के विपुल इतिहास में आचार्य शंकर ही सबसे प्रथम ऐसे कालजयी महामनीषी हुए हैं जिन्होंने प्रस्थानत्रयी पर अद्वैत-सिद्धान्तपरक अनुपम भाष्यों का प्रणयन करके विविध अवैदिक और अनार्ष विचारधारा का विखण्डन कर चिर-पावन आर्यावर्तीय संस्कृति के ज्योतिः-पुन्ज को पुनः विश्व-क्षितिज पर मण्डित किया। श्रीमद्भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र और उपनिषद् इन तीनों प्रस्थानों के भाष्यों में आचार्य शंकर ने प्रमुख रूप से तीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। ये तीन सिद्धान्त हैं- 1. ब्रह्मसत्यत्व, 2. जगन्मिथ्यात्व और जीवो ब्रह्मैव।[1] प्रस्थानत्रयी के प्रतिपाद्य इसी सिद्धान्तत्रय का समर्थन आचार्य नृसिंह सरस्वती ने भी अपने वेदान्त-डिण्डिम नामक ग्रन्थ में किया है।[2] उक्त तीनों सिद्धान्तों को सिद्ध करने के लिए विवर्तवाद का प्रतिपादन अनिवार्य है, किन्तु जगन्मिथ्यात्व और विवर्तवाद भी तब तक सिद्ध नहीं हो सकता जब तक सांख्यों का द्वैतवाद और गुण परिणामवाद विद्यमान है। विद्वज्जगत् में "नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम्" इस कथन के रूप में सांख्यों के ज्ञान की सर्वातिशयिता प्रख्यात है। जब तक सांख्यों के इस द्वैतवाद के तमस को निश्शेष न कर लिया जाये तब तक अद्वैतवाद का निर्मल आलोक निरापद रूप से प्रसृत नहीं हो सकता। आचार्य शंकर इस बात को जानते थे। इसलिए उन्होंने अपने भाष्यों में सांख्य दर्शन की तीव्र आलोचना की।

आचार्य शंकर ने सांख्यदर्शन के जिन सिद्धान्तों का निराकरण किया है वे हैं—प्रधानकारणवाद, पुरुष और प्रकृति का भेद, आत्मनानात्व और प्रकृति का सर्वज्ञत्व और कर्तृत्व। वस्तुतः आचार्य शंकर के तर्क इतने प्रखर और पूर्णांग हैं कि उनके सम्मुख सांख्य मत सारहीन हो रह गया है। उनके भाष्य का यह अनन्य लक्ष्य वैशिष्ट्य है कि जहां कहीं भी अद्वैत पर आंच आयी है या उसकी हानि की सम्भावना बनी है वहां बड़ी सफाई से शंकराचार्य उसे बचा ले गये हैं। आइये देखते हैं कि शंकराचार्य ने प्रलयंकर बनकर किस प्रकार सांख्यों के सुरम्य द्वैत-भवन को धूलिसात् किया है।

1. श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
   ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नारदः॥
   —ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य पर सत्यानन्द सरस्वती द्वारा
   रचित हिन्दी टीका की भूमिका में उद्धृत।
2. यदस्त्यादौ यदस्त्यन्ते यन्मध्ये भाति तत्स्वयम्।
   ब्रह्मैवेकमिदं सत्यमिति वेदान्त डिण्डिमः॥
   यन्नादौ यच्च नास्त्यन्ते तन्मध्ये भातमप्यसत्।
   अतो मिथ्या जगत्सर्वमिति वेदान्त डिण्डिमः॥

प्रधान कारणवाद का निराकरण

अद्वैत वेदान्त के अनुसार सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान ब्रह्म जगत् का अभिन्न-निमित्तोपादान-कारण है। क्योंकि यह जगत् जो नाम और रूप से अभिव्यक्त है, प्रतिनियत देश काल और निमित्त से क्रिया एवं उसके फल का आश्रय है, जिसकी विचित्र रचना मन से भी अचिन्त्य है, ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य कारण से उत्पन्न हो ही नहीं सकता। उसी सर्वज्ञ ब्रह्म से यह जगत् जन्म धारण करता है, उसी में स्थिति है और प्रलय काल में उसी में लीन हो जाता है।[1] न तो यह सांख्याभिमत प्रधान से न नैयायिक सम्मत परमाणुओं से न शून्यवादियों के अभाव से और न ही किसी संसारी जीवात्मा से उत्पन्न हो सकता है।[2]

> यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन
> जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशान्ति।
> तद्विजिज्ञासस्व। तैत्तिरीयोपनिषद् 3/1

यह श्रुति ब्रह्म के अभिन्न निमित्तोपादानकरणत्व में प्रमाण है।

सांख्यमतानुयायी दार्शनिक अचेतन प्रकृति को जगत् का उपादान कारण मानते हैं।[3] तथा प्रकृति-पुरुष के संयोग को निमित्त कारण स्वीकारते हैं।[4]

आचार्य शंकर को यह प्रधानकारणवाद कथमपि स्वीकार्य नहीं। क्योंकि संसार के कर्ता को सर्वज्ञ होना जिसमें ईक्षण का सामर्थ्य हो - प्रधान अचेतन है उसमें ईक्षण कतृत्व उपपन्न नहीं होता।

शंकराचार्य ने सांख्यों के मत को पूर्व-पक्ष के रूप में इस प्रकार उद्धृत किया है

सांख्यों का आक्षेप सांख्य कहते हैं—

"यानि वेदान्त-वाक्यानि सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं प्रदर्शयन्ति, इत्यवोचंस्तानि प्रधान कारणपक्षे पि योजयितूं शक्यन्ते। सर्वशक्तित्वं तावत्प्रधानस्यापि स्वविकारविषयमुपपद्यते। एवं सर्वज्ञ त्वम प्युपपद्यते"।[5]

जिन वाक्यों से तुम सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ब्रह्म को जगत् का कारण सिद्ध करते उनको तो प्रधान-करणवाद के पक्ष में भी लगाया जा सकता है। स्वीकार्य की अपेक्षा प्रधान में भी सर्वशक्तिमत्व उत्पन्न है। इसी प्रकार सर्वज्ञत्व भी उसमें सिद्ध है।

> यत्तु ज्ञानं मन्यसे स सत्वधर्मः
> सत्वात् संजायते ज्ञानमिति स्मृतेः।

सांख्यों का तर्क यह है कि जिसे तुम ज्ञान कहते हो वह तो प्रकृति के सत्वगुण का धर्म है। गीता में कहा गया है

1. "अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियत-देश-काल-निमित्त-क्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद् भवति तद ब्रह्म।" —ब्रह्मसूत्र-शांकर भाष्य 1-1-2
2. न यथोक्तविशेषणस्य जगतो यथोक्त विशेषणमीश्वरं मुक्त्वान्यतः प्रधानादचेतनात् अणुभ्योऽभावात्, संसारिणो वा उत्पत्यादि सम्भावयितुं शक्यम्—तदेव
3. कारणमस्त्यव्यक्तम्—सांख्यकारिका—ईश्वरकृष्ण—16
4. पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य। पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः—सांख्यकारिका 21
5. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य—1-1-5

सत्व से ज्ञान उत्पन्न होता है।4/17 यद्यपि प्रकृति जड़ है फिर भी उपचार से उसको सर्वज्ञ कहा गया है।[1]

आचार्य शंकर ने सांख्यों के उक्त सिद्धान्त का जोरदार खण्डन किया है। वे कहते हैं कि सांख्य परिकल्पित अचेतन प्रधान जगत् का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह वेद-विरुद्ध है।[2] श्रुति का वचन है कि जो कारण है वह ईक्षिता होता हैं।[3] प्रधान में अचेतनत्व के कारण ईक्षितृत्व सम्भव नहीं। चेतन ही ईक्षिता हो सकता है। अतः ब्रह्म ही जगत् का कारण है। यही मत वेद-विहित है।

"ज्ञान सत्व गुण का धर्म है", सांख्य की यह मान्यता समीचीन नहीं। प्रकृति की मूल अवस्था में जब तीनों गुणों का साम्य रहता है, उस समय सत्व से ज्ञान कैसे उत्पन्न होगा?[4] यदि गुणों की साम्यावस्था में सत्व गुण के आश्रय से प्रधान को सर्वज्ञ माना जायेगा तो रजो गुण और तमोगुण के आश्रय से उसे किंचिज्ज्ञ भी मानना पड़ेगा।[5] क्योंकि रजस् और तमस् ज्ञान के प्रतिबन्धक हैं। यदि यह मान भी लिया जाये कि सत्व गुण से ज्ञान उत्पन्न होता है तो भी साक्षी-रहित सत्व-वृत्ति का ज्ञा धातु से अभिधान नहीं किया जा सकता। अचेतन प्रधान साक्षी हो नहीं सकता। अतः यह सर्वज्ञ भी नहीं हो सकता।[7]

सांख्यों का तर्क

यहाँ पर सांख्यों ने आक्षेप किया है कि अद्वैत वेदान्तियों ने जो ब्रह्म को सर्वज्ञ कहा है तो वे यह बतायें कि उस ब्रह्म का वह ज्ञान नित्य है या अनित्य? यदि नित्य है तो ज्ञान क्रिया के प्रति ब्रह्म की स्वतन्त्रता नष्ट हो जायेगी क्योंकि उसका ज्ञान बदलेगा नहीं और यदि अनित्य मानते हो तो ब्रह्म ज्ञान-क्रिया से कभी उपरत भी अवश्य होगा। इसलिये यही मानना उचित है कि ब्रह्म की सर्वज्ञता से सर्व-ज्ञान-शक्ति ही अभिप्रेत है। यह ज्ञान-शक्ति प्रधान का ही गुण है।[6]

पूर्वोक्त तर्क का निराकरण

उपर्युक्त तर्क का उत्तर आचार्य शंकर ने जिस सीमित और सारगर्भित हेतु से दिया है वह वस्तुतः अनुपम है। वे कहते हैं—यह बड़े आश्चर्य की बात है कि सांख्यों ने ज्ञान के नित्यत्व पक्ष में ब्रह्म को असर्वज्ञ सिद्ध कर दिया। जिस ब्रह्म का समस्त विषयों का आवभासक ज्ञान नित्य है वह असर्वज्ञ होगा यह तो परस्पर विरुद्ध कथन है। ज्ञान को अनित्य मानने पर तो ब्रह्म की असर्वज्ञता आपतित हो सकती है किन्तु ज्ञान के नित्यत्व पक्ष में यह दोष

1. प्रधानस्याचेतनस्यैव सतः सर्वज्ञत्वमुपचर्यते वेदान्तवाक्येषु—तदेव
2. न सांख्य-परिकल्पितमचेतनं प्रधानं जगतः कारणं शक्यं वेदान्तेष्वाश्रयितुम्।
   अशब्दं हि तत्। —ब्र० सू० शां० भा० 1-1-5
3. तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत—छान्दोग्य 6-2-3
4. नहि प्रधानावस्थायां गुणसाम्यात् सत्वधर्मेण ज्ञानं सम्भवति—ब्र० सू० शांकर भाष्य 1-1-5
5. यदि गुणसाम्ये सति सत्वव्यपाश्रयां ज्ञान-शक्तिमाश्रित्य सर्वज्ञं प्रधानमुच्येत कामं रजस्तमोव्यपाश्रयामपि ज्ञान-प्रतिबन्धकशक्तिमाश्रित्य किंचिज्ज्ञमुच्येत—तदेव
6. अपि च नासाक्षिका सत्ववृत्तिर्जानातिनाऽभिधीयते। न चाचेतनस्य प्रधानस्य साक्षित्वमस्ति—तदेव
7. ज्ञानस्य नित्यत्वे ज्ञान क्रियां प्रति स्वातन्त्र्यं ब्रह्मणो हीयेत। अथानित्यं तदिति ज्ञानक्रियाया उपरमेतापि ब्रह्म। तदा सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वेनैव सर्वज्ञत्वमापतति—तदेव

नहीं आ सकता।[1] यह जो आपने कहा था कि ईश्वर के ज्ञान को नित्य मानने पर उसका ज्ञान विषयक स्वातन्त्र्य व्याहत होगा तो आपका यह कहना अविचारित-रमणीय है। सूर्य की उष्णता और प्रकाश निरन्तर है फिर भी कहा जाता है कि "सूर्य जलाता है, प्रकाश करता है।[2]"

सांख्यानुयायी कह सकते हैं कि तुम्हारा सूर्य का दृष्टान्त उचित नहीं क्योंकि दाह्य या प्रकाश्य वस्तु का सूर्य के साथ संयोग होने पर ही यह कहा जाता है कि सूर्य जलाता है, प्रकाश करता है किन्तु जगत् की उत्पत्ति के पहले तो ब्रह्म का ज्ञान-कर्म के साथ संयोग था ही नहीं। फिर ब्रह्म का सर्वज्ञत्व नित्य कहाँ रहा?[3]

इस आक्षेप के उत्तर में आचार्य शंकर का तर्क सचमुच उनकी लोकोत्तर प्रज्ञा का परिचय देता है। उनका कहना है कि यह आवश्यक नहीं कि कर्त्ता बिना कर्म के न हो सके। कर्म के न होने पर भी "सविता प्रकाशते" ऐसा कर्तृत्व का व्यपदेश पाया जाता है। इसी प्रकार ज्ञान-कर्म के संयोग के बिना ब्रह्म में भी ईक्षण-कर्तृत्व रहता है। इसमें दृष्टान्त-वैषम्य कहाँ है?[4]

सृष्टि के आरम्भ में यदि कर्म की अपेक्षा की जाये तब तो ईक्षण का कथन करने वाली श्रुतियाँ और भी अच्छी तरह संगत हो सकती हैं। अब यदि यह जानने की इच्छा हो कि वह कर्म क्या है जो जगत् की उत्पत्ति से पहले ईश्वर के ज्ञान का विषय है तो इसका उत्तर यह है कि नाम और रूप ये दो ही विषय हैं जिन्हें न तो तत्व कह सकते हैं और न अतत्व, जो व्यक्त नहीं है किन्तु व्यक्त होने वाले हैं।[5]

एक बात और भी है—संसारी जीवों को ही ज्ञान के लिए शरीरादि साधनों की अपेक्षा होती है। किन्तु ईश्वर ज्ञान-प्रतिबन्धक कारणों से रहित है। अतः उसे साधनों की अपेक्षा नहीं।[6] निम्न श्रुति वाक्य ईश्वर की साधनापेक्षा का खण्डन करते हैं—

> न तस्य कार्यकारणं च विद्यते।
> न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
> पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते,
> स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

श्वेताश्वतर 6/8

1. यस्य हि सर्व-विषयावभासन-क्षमं ज्ञान न्नित्यमस्ति सोऽसर्वज्ञ इति विप्रतिषिद्धम्। अनित्यत्वे हि ज्ञानस्य कदाचिज्जानाति कदाचिन्न जानातीति असर्वज्ञत्वमपि स्यात्। नासौ ज्ञाननित्यत्वे दोषोस्ति
—ब्र० सू० शां० भा० 1-1-5
2. ज्ञाननित्यत्वे ज्ञानविषयः स्वातन्त्र्यव्यपदेशो नोपपद्यत इति चेन्न। प्रततौष्ण्य प्रकाशोऽपि सवितरि दहति प्रकाशयतीति स्वातन्त्र्यव्यपदेशदर्शनात्—तदेव
3. ननु सवितुर्दाह्यप्रकाश्यसंयोगे सति दहति प्रकाशयतीति व्यपदेशः स्यात् न तु ब्रह्मणः प्रागुत्पत्तेर्ज्ञानकर्म संयोगोऽस्तीति विषमो दृष्टान्तः—तदेव
4. न, असत्यपि कर्मणि सविता प्रकाशात इति कर्तृत्वव्यपदेशदर्शनात्। एवमसत्यपि ज्ञानकर्मणि ब्रह्मणः 'तदैक्षतः' इति कर्तृत्व व्यदेशोपपत्तेर्न वैषम्यम्—तदेव
5. कर्मापेक्षायां तु ब्रह्मणीक्षितृत्व श्रुतयः सुतरामुपपन्नाः। किं पुनस्तत्कर्म यत्प्रागुत्पत्तेरीश्वरः ज्ञानस्य विषयो भवतीति? तत्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये नामरूपे अव्याकृते व्याचिकीर्षिते इति ब्रूमः—तदेव
7. अपि चा विद्यादिमतः संसारिणः शरीराद्यपेक्षा ज्ञानोत्पत्तिः स्यात् न ज्ञानप्रतिबन्धकारणरहिस्येश्वरस्य
—तदेव

अपाणिपादो जवनो
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥

श्वताश्वतर 3-19

यदि सांख्य कहें कि अद्वैत-मत में ईश्वर से भिन्न संसारी आत्मा तो कुछ होता ही नहीं फिर आप यह कैसे कहते हैं कि संसारी जीव को ही ज्ञान के लिए शरीरादि साधनों की अपेक्षा है ईश्वर को नहीं ।[1]

तो तर्कशास्त्र-विचक्षण भगवान् शंकराचार्य के पास इस प्रश्न का भी उत्तर है । वे कहते हैं कि यह ठीक है कि ईश्वर से भिन्न कोई संसारी नहीं है, फिर भी देहादि संघात के साथ ईश्वर का औपाधिक सम्बन्ध तो हम को इष्ट ही है ।[2] जैसे आकाश से अभिन्न होने पर भी उपाधि सम्बन्धकृत घटाकाश करकाकाश आदि शब्द व्यवहार और ज्ञान व्यवहार लोक में देखे गये हैं वैसे ही देहादि-संघात-रूप उपाधि के साथ सम्बन्ध के अविवेक से उत्पन्न होने वाली ईश्वर और संसारी जीवों की भेद-रूप मिथ्या-बुद्धि लोक में देखी गयी है । इस प्रकार जब संसारित्व सिद्ध हो गया तब उसमें देहादि साधनों की अपेक्षा करने वाला ईक्षितृत्व सुतरां उपपन्न है ।[3] इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि प्रधान में ईक्षितृत्व नहीं है अतः वह जगत् का कारण नहीं हो सकता ।[4]

आचार्य शंकर ने प्रधान कारणवाद के निराकरण के लिए उपनिषद्मूलक कुछ अन्य हेतु भी उपन्यस्त किये हैं । वे इस प्रकार हैं—

प्रधान के गौण ईक्षितृत्व का खण्डन

प्रधान में मुख्य ईक्षितृत्व की अनुपपत्ति देखकर प्रधान कारणवादी सांख्य कह सकता है कि मुख्य न सही गौण ईक्षितृत्व तो सिद्ध हो सकता है । "कूलं पिपतिषति" इस वाक्य में अचेतन कूल में चेतन का सा गौण व्यवहार देखने में आता है वैसे ही अचेतन प्रधान भी नियम से महदादि के आकार में प्रवृत्त होता है । इसलिए उसमें चेतन का सा औपचारिक व्यवहार किया जाता है ?[5] इसलिये "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" में सत् शब्द का वाच्य प्रधान ही है ।

उक्त मत को दूषित करते हुए भाष्यकार शंकर कहते हैं कि यह कथन यथार्थ नहीं है । छान्दोग्योपनिषद् में सृष्टिकर्ता का सत् शब्द से व्यपदेश किया गया है ।[6] पुनः उसमें ईक्षण क्रिया बतायी गयी है ।[7] उसके

1. ननु नास्ति तवज्ज्ञान-प्रतिबन्धकारणवानीश्वरादन्यः संसारी । नत्र किमिदमुच्यते संसारिणः शरीराद्यपेक्षा ज्ञानोत्पत्तिर्नेश्वरस्येति—तदेव
2. सत्यम्, नेश्वरादन्यः संसारी, तथापि देहादिसंघातोपाधिसम्बन्ध इष्यत एव—तदेव
3. घट-करक-गिरि-गुहाद्युपाधि-सम्बन्ध इव व्योम्नः । तत्कृतश्च शब्द-प्रत्यय-व्यवहारो लोकस्य दृष्टो घटच्छिद्रं करकादिच्छिद्रमित्यादिराकाशाव्यतिरेकेऽपि, तत्कृता चाकाशे घटाकाशादि-भेदमिथ्या-बुद्धिः । तथेहापि देहादिसंघातोपाधिसम्बन्धा विवेक कृतेश्वर-संसारिभेदमिथ्याबुद्धिः ।—तदेव
4. सति चैवं संसारित्वे देहाद्यपेक्षमीक्षितृत्वमुपपन्नं संसारिणः—तदेव
5. अचेतनेऽपि चेतनवदुपचारदर्शनात् ।···अचेतने ऽपि कूले चेतनवदुपचारो इष्टः । तद्वद् चेतनेऽपि प्रधाने प्रत्यासन्नसर्गे चेतनवदुपचारो भविष्यति "तदैक्षत" इति—ब्र० सू० शां० भा० 1-1-6 की अवतरणिका
6. सदेव सौम्येदमग्र आसीत् - छान्दोग्य 6-2-1
7. तदैक्षत तत्तेजोऽसृजत्—छान्दोग्य 6-2-3

पश्चात् यह कहा गया है—

सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता।
अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे
व्याकरवाणि ।

छान्दोग्य 6-3-2

अर्थात् "उस सच्छब्द वाच्य देवता ने ईक्षुण किया कि मैं तेज जल और अन्न इन तीन देवताओं में जीवात्म रूप से प्रविष्ट होकर नाम रूप की अभिव्यक्ति करूँ।"

विचारणीय बात यह है कि यदि सत् शब्द से प्रधान का ग्रहण किया जाये तो "सेयं देवता" इस श्रुति में देवता पद से भी प्रधान का ही ग्रहण किया जायेगा। किन्तु अचेतन प्रधान का स्वरूप चेतन जीवात्मा कैसे हो सकता है ?[1] चेतन ब्रह्म को मुख्य ईक्षिता माना जाये तब तो चेतन जीवात्मा उसका स्वरूप हो सकता है। इसमें कोई दोष नहीं आता।[2]

दूसरी बात यह है कि "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्"[3] इस श्रुति में सबको आत्मस्वरूप बताया गया है। क्या अचेतन प्रधान सबका आत्म स्वरूप बन सकता है ? नहीं। इसलिए अचेतन प्रधान में गौण ईक्षितृत्व भी उत्पन्न नहीं होता।

प्रकृतिनिष्ठ के लिए मोक्षोपदेश का अनौचित्य

छान्दोग्य में ब्रह्मनिष्ठ श्वेतकेतु के लिए "तत्वमसि" ऐसा मोक्षोपदेश किया गया है प्रकृतिनिष्ठ के लिए नहीं। श्वेतकेतु सन्निष्ठ जिज्ञासु है। यदि सत् शब्द से अचेतन प्रधान का ग्रहण किया जाये तो "तत्वमसि" का अर्थ यह होगा कि "हे श्वेत केतो ! तू अचेतन प्रधान है।" अब यदि आचार्य अपने शिष्य को जो कि चेतन है, उसे अचेतन आत्मस्वरूप का ग्रहण करायेगा तो शिष्य श्रद्धालु होने के कारण उस उपदेश को यथार्थ मानकर ग्रहण कर लेगा। इससे शास्त्र भी अप्रामाणिक सिद्ध होगा और श्वेत केतु भी परम-पुरुषार्थ से भ्रष्ट होकर अनर्थ को ही प्राप्त करेगा।[4] इसलिए अचेतन प्रधान सत् शब्द का वाच्य नहीं है। चेतन ब्रह्म ही सत् है। श्वेतकेतु की सन्निष्ठा को देखकर ही आचार्य उसे आचार्यवान् पुरुषो वेद, तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये थ सम्पत्स्ये"। ऐसा मोक्षोपदेश करता है। यह मोक्षोपदेश अचेतननिष्ठ के लिए नहीं किया जा सकता।

सत् के हेयत्व का अवचन

आचार्य शंकर के अनुसार प्रधान इस कारण भी सत् शब्द का वाच्य नहीं है क्योंकि उपनिषदों में कहीं भी सत् को हेय नहीं बताया गया। यदि प्रधान सत् शब्द का वाच्य होता तो आचार्य अपने शिष्य को अनात्म-निष्ठ होने

1. तत्र यदि प्रधानमचेतनं गुणवृत्येक्षितृ कल्प्येत, तदेव प्रकृतत्वात् सेयं देवतेति परामृश्येत। न तदा देवता जीमात्मशब्देनाभिदध्यात्—ब्र० सू० शां० भा० 1-1-6
2. अथ तु चेतनं ब्रह्म मुख्यमीक्षितृ परिगृह्यते तस्य जीवविषय आत्मशब्द प्रयोग उपपद्यते—तदेव
3. छान्दोग्य 6-14-3
4. यदि ह्यचेतनं प्रधानं सच्छब्दवाच्यं तदसीति ग्राह्येन्मुमुक्षुं चेतनं सन्तमचेतनो सीति, तदा विपरीतवादि शास्त्रं पुरुषस्यानर्थायेत्य प्रमाणं स्यात्। न तु निर्दोषं शास्त्रमप्रमाणं कल्पयितुं शक्यम्। यदि चाज्ञस्य सतो मुमुक्षोरचेतनमनात्मानमात्मेत्युपदिशेत् प्रमाणभूतं शास्त्रम्। स श्रद्दधानतयान्धगोलांङलन्यायेन तदात्मदृष्टिं न परित्यजेत्…तथा सति पुरुषार्थाद् विहन्येतानर्थं च ऋच्छेत्—ब्र० सू० शां० भा० 1-1-7

से बचाने के लिए उसके हेयत्व का कथन अवश्य करता, किन्तु कथन नहीं किया गया। इससे प्रतिपादित होता है कि सत शब्द से ब्रह्म का ही ग्रहण किया गया है ।वही ब्रह्म जगत् का कारण है ।[1]

सुषुप्ति में जीव का आत्मा में लय

श्रुति में कहा गया है कि—

> यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सौम्य तदा
> सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं
> स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति।
>
> छान्दोग्य 6-8-1

अर्थात् "जब यह पुरुष सोता है तब वह अपने सत्-स्वरूप में लीन होता है। इसीलिए उसे "स्वपिति" कहा जाता है।"

यदि सत् का वाच्य प्रधान होगा तो इसका अर्थ यह हुआ कि पुरुष गुणादि अवस्था में अचेतन स्वरूप को प्राप्त करेगा। किन्तु चेतन आत्मा अचेतन प्रधान को स्वरूपत्वेन प्राप्त नहीं कर सकता ।[2]

समान कारणावगति

समस्त उपनिषदों में सर्वत्र आत्मकारणता समान रूप से प्रतिपादित है ।[3] ऐसा नहीं है कि कहीं ब्रह्म को कारण कह दिया गया हो और कहीं प्रधान को कारण कह दिया गया हो। श्वेताश्वतरोपनिषद् का वचन तो स्पष्ट रूप से ब्रह्म को कारणों का कारण सिद्ध कर रहा है ।[4]

इस प्रकार उपर्युक्त हेतुओं से शंकर ने सांख्यों के प्रधान कारणवाद को निःशेष करके रख दिया। शांकर तर्कों के सम्मुख सांख्य सिद्धान्त निस्तेज होकर रह गये हैं।

सांख्यों के आनुमानिकत्व का प्रत्याख्यान

आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में अनुमान शब्द ले प्रधान अर्थ का ग्रहण किया है? इसका कारण सम्भवतः यह हो सकता है कि सांख्यों ने प्रधान को अनुमानगम्य माना है। प्रधान स्वयं अव्यक्त है। उसके कार्य से ही उसकी उपलब्धि होती है। प्रत्यक्षतः नहीं ।[5] नानुमानमतच्छब्दात्" । (1-3-3) सूत्र में आचार्य शंकर कहते हैं कि सांख्यपरिकल्पित अनुमानगम्य प्रधान द्युलोक और भूलोक आदि का आयतन नहीं हो सकता। क्योंकि

1. यद्यनात्मैव प्रधानं सच्छब्दवाच्यं "स आत्मा तत्त्वमसि" इतीहोपदिष्टं स्यात्, स तदुपदेशश्रवणात् अनात्मज्ञतया तन्निष्ठो मा भूदिति मुख्यमात्मानमुपदिदिक्षुस्तस्य हेयत्वं ब्रूयात। न चैवमवोचत्।
   —ब्र० सू० शां० भा० 1-1-8
2. न च चेतन आत्मचेतनं प्रधानं स्वरूपत्वेन प्रतिपद्येत। यदि पुनः प्रधानमेवात्मीयत्वात् स्वशब्देनैवोच्येत एवमपि चेतनोऽचेतनमप्येतीति विरुद्धमापद्येत।
3. समानैव हि सर्वेषु वेदान्तेषु चेतन कारणावगतिः। ब्र० सू० शां० भा० 1-1-10
4. स्वशब्देनैव च सर्वज्ञ ईश्वरो जगतः कारणमिति, श्रूयते श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि सर्वज्ञमीश्वरंप्रकृत्य —"स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः। ब्र० सू० शां० भा० 1-1-11
5. सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः।
   महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपं च ॥—सांख्यकारिका 8

अचेतन प्रधान का प्रतिपादक कोई शब्द नहीं है।[1]

उपर्युक्त कथन से यह प्रतिपादित किया गया है कि प्रत्यक्ष से तो प्रधान-कारणवाद सिद्ध होता ही नहीं। अनुमान से भी उसकी सिद्धि नहीं की जा सकती। इस प्रकार सांख्य मत से शंकर की बड़ी अरुचि प्रकट होती है। सांख्यों की ओर से जितने भी आक्षेप और तर्क दिये जा सकते हैं उन सबकी पूर्वतः परिकल्पना करके आचार्य शंकर ने निज शाब्दमूलक युक्तियों से उनको सर्वथा उच्छिन्न करने का प्रयास किया है और सांख्य-सिद्धान्त को आगमविरुद्ध प्रतिपादित किया है।

सांख्य कहते हैं—कि यह आप कैसे कह सकते हैं कि सांख्य प्रतिपादित प्रधान अनागममूलक है?[2] काठक संहिता में कहा गया है—

"महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः"

यहाँ अव्यक्त पद से स्मृति-प्रसिद्ध प्रधान कहा गया है? इस वाक्य से सांख्यमत आगम-मूलक सिद्ध होता है।

उक्त मत को दूषित करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि उक्त आगम-वाक्य में अव्यक्त पद से त्रिगुण प्रधान अभीष्ट नहीं है। अव्यक्त यौगिक शब्द है। जो व्यक्त न हो वह अव्यक्त है। कोई सूक्ष्म और सुदुर्लक्ष्य वस्तु भी अव्यक्त हो सकती है।[3]

"प्रधानवादियों ने जो अव्यक्त को प्रधान अर्थ में रूढ़ि बना लिया है यह उन्हीं की परिभाषा है। वेदार्थ के निरूपण में उसका बिल्कुल उपयोग नहीं है। क्रम मात्र की समानता से तो अर्थ की समानता नहीं होती। अश्व के स्थान में यदि गाय को बाँध दिया जाये तो कोई भी बुद्धिमान् उसको अश्व नहीं मान सकता।"[4]

इस प्रकार प्रखर युक्ति से सांख्यमत को ध्वस्त करके अब शंकराचार्य अव्यक्त शब्द का अर्थ करते हैं कि उक्त काठक वाक्य में रथ का रूपक बाँधने में अव्यक्त शब्द से शरीर अर्थ का ग्रहण किया गया है।[5] यद्यपि स्थूल शरीर को अव्यक्त शब्द से नहीं कह सकते हैं किन्तु स्थूल शरीर का आरम्भिक सूक्ष्म शरीर अव्यक्त शब्द से अभिहित किया जा सकता है। विकार अर्थ में प्रकृति शब्द का प्रयोग देखा जाता है। ऋग्वेद में गौ के दूध के अर्थ में गौ शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार अव्यक्त से उत्पन्न हुआ सूक्ष्म शरीर अव्यक्त शब्द का अर्थ हो सकता है। इसलिए 'महतः' परमव्यक्तम् में अव्यक्त का वास्तविक अर्थ यहाँ सूक्ष्म शरीर ही है।[6]

इस प्रकार निष्कृष्ट तथ्य यह हुआ कि प्रधान अशब्द होने से जगत् का कारण नहीं कहा जा सकता।

1. नानुमानिकं सांख्यस्मृतिपरिकल्पितं प्रधानमिह द्युभ्वाद्यायतनत्वेन प्रमिपत्तव्यम्। कस्मात्? अतच्छब्दात। ...नह्यत्राचेतनस्य प्रतिपादकः कश्चिच्छब्दोऽस्ति।—ब्र० सू० शां०भा० 1-3-3
2. यदुक्तं प्रधानस्याशब्दत्वं तदसिद्धम्।...काठके हि पठ्यते-महतः परमव्यक्तम् स्मृति प्रसिद्धं प्रधानमभिधीयते।—ब्र० सू० शां० भा० 1-4-1
3. नह्यत्र यादृशं स्मृति प्रसिद्धं स्वतन्त्रं कारणं त्रिगुणं प्रधानं तादृशं प्रत्यभिज्ञायते।...स च शब्दो न व्यक्तमव्यक्तमिति यौगिकत्वादन्यस्मिन्नपि सूक्ष्मे सुदुर्लक्ष्ये च प्रयुज्यते।—तदेव
4. या तु प्रधानवादिनां रूढिः सा तेषामेव पारिभाषिकी सती न वेदार्थ-निरूपणे कारणमात्रं प्रतिपद्यते। न च क्रममात्र-सामान्यात् समानार्थप्रतिपत्तिर्भवत्यसति तद्रूप प्रत्यभिज्ञाने। न ह्यश्वस्थाने गां पश्यन्नश्वोऽयमित्यमूढोऽध्यवस्यति—तदेव
5. शरीरं ह्यत्र रथरूपकविन्यस्तमव्यक्तशब्देन परिगृह्यते—तदेव
6. यद्यपि स्थूलमिदं शरीरं न स्वयमव्यक्त शब्दमर्हति, तथापि तस्य त्वारम्भकं भूतसूक्ष्ममव्यक्तशब्दमर्हति। प्रकृतिशब्दश्च विकारे दृष्टः। यथा गोभिः श्रीणीत मत्सरम् (ऋग्वेद 9-46-4)
—ब्र० सू० शां० भा० 1-4-2

अव्यक्त या प्रधान को यदि कारण स्वीकार भी किया जाय तो वह परमेश्वर के अधीन होकर बन सकता है, स्वतन्त्र नहीं।[1]

अजा विषयक शंकर-सांख्य-विरोध

श्वेताश्वतर उपनिषद् में एक वाक्य इस प्रकार आया है—

> अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां,
> बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
> अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते,
> जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥—4-5

इस वाक्य में अजा शब्द को लेकर आचार्य शंकर और सांख्याचार्यों की व्याख्या में मतभेद है। सांख्याचार्यों का कथन यह है कि इस मन्त्र में अजा शब्द का अर्थ प्रकृति है। "न जायते इत्यजा" अर्थात् जो उत्पन्न न हो किन्तु सबको उत्पन्न करे वह मूल प्रकृति अजा कहलाती है।

उक्त मन्त्र में जो लोहित शुक्ल और कृष्ण शब्द हैं वे रजस् सत्व और तमस् इन तीन गुणों के वाचक हैं।[2] इस त्रिगुणात्मक अजा शब्दव्यपदेश्य प्रधान से सकल जगत् उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार इस मन्त्र से प्रधान की श्रुतिमूलकता सिद्ध होती है।[3]

आचार्य शंकर अजा शब्द के उपर्युक्त अर्थ से सहमति नहीं रखते, क्योंकि अजा और अज शब्द के उपर्युक्त अर्थ को मानने पर द्वैतापत्ति होती है। वे कहते हैं कि "उक्त मन्त्र से सांख्यों का श्रुतिमूलकत्व सिद्ध नहीं होता। उक्त मन्त्र स्वतन्त्र रूप से किसी वाद का समर्थन नहीं करता। अजात्व तो किसी न किसी प्रकार सभी वादों में लग जाता है।[4] अजा को यहाँ तीन भूतों के लक्षण वाली मानना चाहिए न कि तीन गुणों वाली। क्योंकि एक शाखा वाले तेज जल और अन्न की परमेश्वर से उत्पत्ति मानते हैं और कहते हैं कि अग्नि में, जो लालिमा है वह तेज की, जो शुक्लता है वह जलों की और जो कृष्णता है वह अन्न की है।"[5]

आचार्य शंकर का मत है कि उक्त मन्त्र में अजा शब्द न तो आकृतिनिमित्तक है और न यौगिक है किन्तु रूपक मात्र है। यह शब्द तेज जल अन्न लक्षण वाली चराचर योनि को बताता है। जैसे लोक में कोई लाल श्वेत और काले रंग की बकरी हो। उससे कोई कामी बकरा प्रसंग करे और कोई दूसरा बकरा उसको भुक्तभोगा समझकर छोड़ देता है, उसी प्रकार तेज जल अन्न वाली भूत प्रकृति तीन रंग वाली है वह चराचर

1. परमेश्वराधीना त्वियमस्माभिः प्रागवस्था जगतोऽभ्युपगम्यते न स्वतन्त्रा।...ब्र० सू० शां० भा० 1-4-3
2. अत्र हि मन्त्रे लोहित-शुक्ल-कृष्णशब्दैरजः सत्वतमांस्यभिधीयन्ते। लोहितं रजः रंजनात्मकत्वात्। शुक्लं सत्वं, प्रकाशात्मकत्वात्। कृष्णं तमः आवरणात्मकत्वात्। तेषां साम्यावस्था वयवधर्मैर्व्यपदिश्यते लोहित शुक्लकृष्णेति। न जायते इति चाजा स्यात्, "मूलप्रकृतिरविकृतिः" इत्यभ्युपगमात्...
   —ब्र० सू० शां०भा० 1-4-8
3. तस्माच्छ्रुतिमूलैव प्रधानादि कल्पना कापिलानामिति—ब्र० सू० शां० भा० 1-4-8
4. नानेन मन्त्रेण श्रुतिमत्वं सांख्यवादस्य शक्यमाश्रयितुम्। न ह्ययं मन्त्रः स्वातन्त्र्येण कंचिदपि वादं समर्थयितुमुत्सहते। सर्वत्रापि यया कयाचित्कल्पनयाऽजात्वादि सम्पादनोपपत्तेः—तदेव
5. भूतत्रय लक्षणैवेयमजा विज्ञेया न गुणत्रयलक्षणा। कस्मात्? तथा ह्येके शाखिनस्तेजोऽबन्नानां परमेश्वरादुत्पत्तिमाम्नाय तेषामेव रोहितादिरूपतामामनन्ति। "यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य" ।—तदेव

लक्षण वाले रूपवान् विकार समूह को उत्पन्न करती है। अविद्वान् क्षेत्रज्ञ उसे भोगता है और विद्वान् क्षेत्रज्ञ छोड़ देता है।[1]

अभिप्राय यह हुआ कि उक्त मन्त्र का अभिप्राय क्षेत्रज्ञ के भेद को दिखाने का नहीं है अपितु बन्धन और मोक्ष की व्यवस्था करना है। यह व्यवस्था भेद को मानकर ही बन सकती है, किन्तु यह भेद उपाधिनिमित्तक मिथ्या ज्ञान है पारमार्थिक नहीं।[2]

इस प्रकार भाष्यकार ने अजा और अज शब्द को लेकर जो द्वैत आ रहा था उसे बड़ी युक्ति से दूर करके अद्वैत की रक्षा कर ली।

(पन्च पन्च जनाः विषयक)

(शंकर—सांख्य-विरोध)

यस्मिन् पञ्च पञ्च जना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्॥ —बृहदारण्यक 4-4-17

इस श्रुतिवाक्य का अवलम्ब लेकर सांख्यवादी कह सकता है कि सांख्यमत श्रुतिमूलक है क्योंकि उक्त मन्त्र में "पन्च पन्च जना:" का अर्थ है 5×5=25 तत्व। अर्थात् पच्चीस तत्वों का आधारभूत प्रकृति है। अतः श्रुति सांख्यमत को स्वीकार करती है।

उक्त पूर्वपक्ष को उत्थापित कर आचार्य शंकर इसका प्रत्याख्यान करते हैं कि संख्या के संग्रह से भी प्रधानादि श्रुति-प्रतिपादित नहीं है क्योंकि ये पच्चीस तत्व नाना हैं। इनमें प्रत्येक पन्चक का साधारण धर्म नहीं है जिससे कि पच्चीस संख्या के बीच में दूसरी पाँच-पाँच संख्याएँ अन्तर्भूत हों।[3] इसलिए पन्च पन्च जनाः यह प्रयोग पच्चीस तत्वों के अभिप्राय से युक्त नहीं है किन्तु कोई अन्य ही अभिप्राय है। संख्या के अभिप्राय से यह वाक्य प्रयुक्त होता तो संख्या तो सत्ताईस बैठ रही है, क्योंकि उक्त श्रुति में आकाश और आत्मा इन दोनों तत्वों को "पन्च पन्च जनाः से अतिरिक्त कहा गया है।[4]

प्रश्न हो सकता है कि "पञ्च पञ्च जनाः" का अभिप्राय पच्चीस संख्या वाले तत्वों से नहीं है तो किससे है? तो इसका उत्तर आचार्य शंकर सूत्रमुख से यह देते हैं कि पाँच प्राणों का निर्देश उक्त वाक्य के द्वारा किया गया है क्योंकि ब्रह्म-स्वरूप के निरूपण में वे ही सन्निहित हैं।[5]

1. नायमजाऽकृतिनिमित्तो जा शब्दः। नापि यौगिकः किं तर्हि कल्पनोपदेशोऽयम्। यथाहि लोके यदृच्छया काचिदजा लोहितशुक्लकृष्णवर्णा स्याद्'''एवमियमपि तेजोऽबन्नलक्षणा भूतप्रकृतिस्त्रिवर्णा'''अविदुषा च क्षेत्रज्ञेनोपभुज्यते विदुषा च परित्यज्यत इति। —ब्र० सू० शां० भा० 1-4-10
2. नहीयं क्षेत्रज्ञ भेदप्रतिपिपादयिषा किन्तु बन्धमोक्ष व्यवस्था प्रतिपिपादयिषा त्वेषा।'''भेदस्तूपाधिनिमित्तो मिथ्याज्ञानकल्पितो न पारमार्थिक—तदेव
3. क. न संख्योपसंग्रहादपि नाना भावादतिरेकाच्च...ब्र० सू० 1-4-11
   ख. न संख्योपसंग्रहादपि प्रधानादीनां श्रुतिमत्वं प्रत्याशा कर्तव्या। कस्मात्? नानाभावात्। नाना ह्येतानि पन्चविंशतिस्तत्वानि। नैषां पञ्चशः पञ्चशः साधारणो धर्मोऽस्ति, येन पञ्च विंशतेरन्तराले पराः पञ्च पञ्च संख्या निविशेरन्।—ब्र० सू० शां० भा० 1-4-11
4. तस्मात् पञ्च पञ्च जना इति न पन्चविंशतितत्वाभिप्राणम्। अतिरेकाच्च न पञ्चविंशति तत्वाभिप्रायम्। अतिरेको हि भवत्यात्माकाशाभ्यां पञ्च विंशति संख्यायाः। —ब्र० सू० शां० भा० 1-4-11
5. यस्मिन् पञ्च पञ्चजना इत्यत उत्तरस्मिन् मन्त्रे ब्रह्मस्वरूप-निरूपणाय प्राणादयः पञ्च निर्दिष्टाः।''' तेऽत्र वाक्य शेषगताः सन्निधानात् पञ्चजना विवक्ष्यन्ते। —ब्र० सू० शां० भा० 1-4-12

स्मृति विरोध

महामनीषी भाष्यकार आचार्य शंकर ने न केवल अशब्दत्व रूप श्रुति-विरोध के दोष से सांख्यों के प्रधानवाद को निराकृत किया है अपितु उसे स्मृत्यनवकाश रूप दूषण से भी सदोष सिद्ध किया है।

सांख्याचार्य कह सकते हैं कि परमर्षि कपिल-प्रणीत-सांख्य सूत्र रूप स्मृति में तो प्रधान स्वतन्त्र रूप से जगत् का कारण उपनिबद्ध है। सांख्य-स्मृति शिष्ट जनों से परिगृहीत है एवं तदनुसारिणी अन्य स्मृतियां भी हैं। श्वेताश्वतर श्रुति भी कपिल के महत्व को यह कहकर स्वीकार कर रही है—

"ऋषि प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे
ज्ञानै बिभर्ति जायमानं च पश्येत्"—5-2

तो फिर आप ब्रह्म को जगत् का कारण कहकर कपिल मत को अयथार्थ सिद्ध क्यों कर रहे हैं ?

उपर्युक्त आक्षेप का उत्तर आचार्य शंकर एक सावधान मल्ल की रीति का अनुसरण करते हुए देते हैं कि—"स्मृतिबलेन प्रत्यवतिष्ठमानस्य स्मृतिबलेमैवोत्तरं वक्ष्यामि"[1]—यदि आपने स्मृति के बल पर प्रधानकारण-वाद को सिद्ध करने का उपक्रम किया है तो उसका उत्तर मैं भी स्मृति-बल से ही दूंगा।"

यदि कपिल मत को यथार्थ मानकर प्रधान कारणवाद को कथंचित् सत्य मान लिया जाये तो जिन मनुस्मृति, गीता, धर्मसूत्र, पुराण आदि स्मृति ग्रन्थों में ईश्वर को ही जगत् का उपादान और निमित्त कारण बताया गया है, उनकी क्या गति होगी ?

विभिन्न स्मृतियों में ब्रह्म जगत्कारण रूप में उपनिबद्ध है। जैसे—

"यत्तत्सूक्ष्ममविज्ञेयम्"
"स ह्यन्तरात्मा भूतानां क्षेत्रज्ञश्चेति कथ्यते"
"अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निर्गुणे सम्प्रलीयते"।[2]

भगवद्गीता में परमेश्वर को जगत् का प्रभव और प्रलय-स्थान कहा गया है—

"अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा"—7-6

धर्मसूत्र में उपनिबद्ध है कि उस परमेश्वर से ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब, पर्यन्त समस्त शरीर उत्पन्न हुए हैं। वह सबका उपादान है कूटस्थ और नित्य है।[3]

मनु की दृष्टि में भी कपिल मत दोषयुक्त है। वे कहते हैं—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
संपश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति ॥—मनुस्मृति 12-91

अर्थात् सब भूतों में स्वयं को और स्वयं में सब भूतों को देखता हुआ आत्मयाजी स्वराज्य अर्थात् ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेता है।

इससे सिद्ध होता है कि मनु ने सर्वात्मत्व दर्शन की प्रशंसा करते हुए कापिल मत की निन्दा की है। क्योंकि कपिल सर्वात्मत्व को स्वीकार नहीं करते।[4]

1. ब्र० सू० शां० भा० 2-1-1
2. तदेव
3. तदेव
4. इति सर्वात्मत्वदर्शनं प्रशंसता कापिलं मतं निन्द्यते इति गम्यते।
   कापिलो हि न सर्वात्मदर्शनमनुमन्यते।—तदेव

वैदिक विद्वानों का यह मत है कि जब दो स्मृतियों में परस्पर विरोध उपस्थित हो, तथा एक का ग्रहण और अन्य का परित्याग अवश्य करना पड़े तो श्रुत्यनुसारी स्मृति का ही ग्रहण करना चाहिए।[1] महर्षि जैमिनि का यही अभिमत सिद्धान्त है—"

"विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्"—जैमिनि सूत्र 1-3-3

इस प्रकार आचार्य शंकर की दृष्टि में अशब्दत्व और स्मृत्यनवकाश रूप दोषों से दूषित होने के कारण सांख्य मत कथमपि ग्रह्य नहीं है। श्रुतियों और स्मृतियों का निष्कृष्ट अभिप्राय ब्रह्मकारणवाद एवं अभिन्न निमित्तोपादानकत्व में ही पर्यवसित है। प्रधानकारणवाद में नहीं।

योगदर्शन के विषय में आचार्य शंकर का दृष्टिकोण

जीव ब्रह्मैक्यरूप अद्वैत में प्रतिष्ठित आचार्य शंकर जिस प्रकार सांख्य-स्मृति-परिकल्पित प्रधान कारणवाद एवं गुण-परिणामवाद में घोर अरुचि रखते हैं, उसी प्रकार सांख्य के समान-तन्त्र योगदर्शन के कतिपय द्वैतवासनानुवासित सिद्धान्तों में भी उनकी तीव्र अनास्था है।

योगदर्शन के दो पहलू हैं—तत्व-विवेचन एवं प्रयोगात्मक। उसके प्रयोगात्मक पक्ष से किसी को विमति नहीं हो सकती। जहाँ तक अभ्यास-वैराग्यात्मक राजयोग[2] ईश्वर-प्रणिधान रूप भक्तियोग[3] तप-स्वाध्याय-ईश्वर-प्रणिधान-युक्त क्रियायोग[4] एवं यमनियमादि रूप अष्टांग योग[5] आदि योग पद्धतियों की निःश्रेयसोपयोगिता का प्रश्न है। उसे सभी दार्शनिक एक स्वर से अंगीकार करते हैं, चाहे वे श्रौत दार्शनिक हों, स्मार्त हों, अवैदिक हों या आगममूलक तान्त्रिक साधक हों।

आचार्य शंकर ने भी उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता और पातंजल योग-सूत्र के भाष्य में योग के महत्व को मुक्तकण्ठ से प्रशंसित किया है। "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च" बृहदारण्यक (2/4/5) के इस वाक्य में निदिध्यासन शब्द से योग का ही अंगीकार है।

"त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्"—श्वेताश्वतर 2/8

"तत्कारणं सांख्य योगाभिपन्नं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः—श्वेताश्वतर 6/13

इत्यादि श्वेताश्वतर वाक्यों में योगदर्शन को तत्व दर्शन का अभ्युपाय भाष्यकार ने स्वीकृत किया है।

आचार्य शंकर को योगदर्शन के तत्वमीमांसीय पक्ष से ही अरुचि है। अपनी इसी विप्रतिपत्ति को उन्होंने "एतेन योगः प्रत्युक्तः" (ब्र.सू. 2/1/2) इस सूत्र के भाष्य में अभिव्यक्त किया है। उनका कथन है कि सांख्य और योग दोनों ही द्वैतवादी दर्शन हैं।[6] जीव और ब्रह्म की एकता इनको मान्य नहीं है। किन्तु सांख्य और योग की हेयता उतने ही अंशों में है जितने अंशों में इनका श्रुति से विरोध है। जिस अंश में विरोध नहीं है

1. विप्रतिपत्तौ च स्मृतीनामवश्य कर्तव्ये न्यतरपरिग्रहे न्यतरपरित्यागे च श्रुत्यनुसारिण्यः स्मृतयः प्रमाणम्। अनपेक्ष्या इतराः।—तदेव
2. अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः—पातंजल योगसूत्र 1-12
3. ईश्वरप्रणिधानाच्च—पातंजल योगसूत्र 1-23
4. तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः—तदेव 2-1
5. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान समाधयोऽष्टावंगानि।—तदेव 2-28
6. द्वैतिनो हि ते सांख्या योगाश्च नात्मैकत्वदर्शिनः।—शां. भा. 2-1-1.

उतने अंश में तो उनकी प्रामाणिकता इष्ट ही है।[1]

सांख्यदर्शन पुरुष को असंग कहता है।[2] बृहदारण्यक में भी असंगों ह्ययं पुरुष (4.3.161) कहकर आत्मा की विशुद्धता स्वीकार की गयी है जाबालोपनिषद् में—

"अथ परिव्राड् विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः"

इत्यादि वचनों से संन्यास योग का निवृत्ति मार्गत्व स्थापित किया गया है।[3] अतः अद्वैत-प्रतिपादक योग के इस प्रयोगात्मक पक्ष से तो किसी मुमुक्ष का विरोध हो ही नहीं सकता। परमपुरुषार्थ के साधनभूत सांख्य-योग लोक में प्रसिद्ध हैं और शिष्ट जनों से परिगृहीत हैं। सांख्य के साथ योग का जो निराकरण करना पड़ा वह तो इसलिये करना पड़ा क्योंकि वह वेद निरपेक्ष द्वैत-ज्ञान से निःश्रेयस कहलाता है।"[4] जबकि श्रुति स्पष्टतया निर्देश करती है कि—

"तमेव विदित्वा ति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यते यनाय" ।—श्वेत. 3/9

अर्थात् उस परम पुरुष को जानकर ही यह जीवात्मा मृत्यु को पार करता है। इसके अतिरिक्त मोक्ष-प्राप्ति का कोई मार्ग नहीं है।

इतने स्पष्ट श्रुति-निर्देश के होते हुए भी यदि सांख्य-योग प्रकृति-पुरुष के विवेक ज्ञान रूप द्वैत-विज्ञान से कैवल्य की प्राप्ति कहते हैं तो निश्चित ही यह वेद विरुद्ध मत है और इसीलिये निराकरणीय है। आचार्य शंकर ने यम-नियमादि अष्टांग योग का प्रत्याख्यान कहीं नहीं किया अपितु उसे "अथ तत्वदर्शनोपायो योगः" कहकर सम्यग्दर्शन का उपाय घोषित किया है। "आसीनः सम्भवात्" (ब्र. सू. 4/1/7) सूत्र के भाष्य में भगवान् भाष्यकार ने आसन का महत्व स्वीकार किया है। वे कहते हैं कि बैठकर ही उपासना करनी चाहिये। क्योंकि उपासना चलते हुए अथवा दौड़ते हुए सम्भव नहीं है।[5] ध्यान भी आसीन होकर ही सम्भव है।[6] गीता में भी कहा गया है कि पवित्र देश में स्थिर आसन पर स्वयं को स्थापित कर आत्मचिन्तन करें।[7] चित्त की एकाग्रता के लिये भी योग परमावश्यक हैं।[8] परकाय प्रवेशरूपी ऐश्वर्य योग से ही सम्भव है ऐसा आचार्य शंकर ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है—

"यथा प्रदीप एकोऽनेक प्रदीपभाव—
मापद्यते विकार शक्तियोगात् ।—एवमेकोऽपि
सन् विद्वानैश्वर्य योगादनेकभाव—
मपद्य सर्वाणि शरीराण्याविशति"—तदेव 4/4/15.

1. येन त्वंशेन न विरुध्येते तेनेष्टमेव सांख्ययोगस्मृत्योः सावकाशत्वव्—तदेव
2. सांख्यसूत्र—1-15
3. इत्येवमादि श्रुति प्रसिद्धमेव निवृत्तिनिष्ठत्वं प्रव्रज्याद्युपदेशेनानुगम्यते।—तदेव
4. सांख्ययोगो हि······निःश्रेयसमधिगम्यते—तदेव
5. आसीन एवोपासीतेति। कुतः? सम्भवात्। उपासनं······न गच्छतो धावतो वा सम्भवति—तदेव 4-1-7
6. ब्र. सू. शां.भा.—4-1-8
7. शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः—गीता 6-11
8. यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्—ब्र० सू० 4-1-11

अर्थात् "जिस प्रकार एक दीपक विकार-शक्ति के योग से अनेकभाव को प्राप्त होता है, वैसे ही विद्वान् एक होता हुआ भी ऐश्वर्य योग से अनेक भाव प्राप्त कर सब शरीरों में प्रवेश करता है।"

सूक्ष्मेक्षिका से विचार कर यदि देखा जाये तो योगदर्शन की तत्वमीमांसा भी जगन्मिथ्यात्व का खण्डन नहीं करती। पातंजल योगसूत्र में कहा गया है—

"कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्य साधारणत्वात्"—2/22.

इस सूत्र में ग्रन्थकार का निगूढ़ आशय यह है कि यह प्रकृति और प्राकृतिक जगत् मुक्त-पुरुष की अपेक्षा से नष्ट है और उससे इतर की अपेक्षा से विद्यमान है। इसका अर्थ यह हुआ कि पुरुष-विशेष की अपेक्षा से ही जगत् का अभाव और सद्भाव है। पुरुष-विशेष की अपेक्षा करके वस्तु का सद्भाव और अभाव शुक्तिरूप्य में देखा गया है। काच कामलादि दोषों से दूषित नेत्र वाला पुरुष शुक्ति में रूप्य का सद्भाव ग्रहण करता है, और उससे भिन्न पुरुष शुक्ति स्वरूप को जानता हुआ वहां रूप्याभाव को जानता है। पारमार्थिक वस्तु युगपत् पुरुषविशेष के प्रति सद्भाव और असद्भाव को प्राप्त नहीं कर सकती। इस प्रकार प्रपंच-मिथ्यात्व वेदान्तियों के समान सांख्ययोग मत में भी अविशेष रूप से मान्य है।[1]

"परमार्थमार्गसाधनमारभ्याप्राप्य योगमपि नाम।
सुरलोकभोगभोगी मुदितमना मोदते सुचिरम्।"

पतंजलि के रूप में अवतीर्ण भगवान् शेष प्रणीत परमार्थ सार नामक ग्रन्थ से उद्धृत उपर्युक्त पद्य में परमार्थ-रूप ब्रह्म-प्राप्ति के मार्गभूत सम्यग्ज्ञान का साधन योग ही स्वीकार किया गया है।

आचार्य शंकर ने स्वयं पातंजल योग सूत्र के व्यासभाष्य पर 'विवरण' नामक भाष्य लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि योगदर्शन के प्रयोगात्मक पक्ष का सर्वातिशायित्व उन्हें अविकल रूप में स्वीकृत है। वस्तुतः सांख्य और योग एक ही शास्त्र के दो पक्ष हैं। इन दोनों में जितना तत्वमीमांसीय नित्यत्ववादी द्वैत पक्ष है वह सब वेद-निरपेक्ष होने के कारण अग्राह्य है और जितना भी प्रयोगात्मक निदिध्यासन पक्ष है वह सब सेवनीय है।

एक आत्मतत्व ही परमार्थ तत्व है। यही निगमागममूलक सत्य सिद्धान्त है। इसका ग्रहीता और ग्राहयिता दोनों ही विरल हैं। परमेश्वर के अनुग्रह से ही यह अद्वैतभाव प्राप्त होता है। श्री हर्ष का यह वचन निश्चित ही चिरन्तन सत्य का उद्घाटक है—

ईश्वरानुग्रहादेषा पुंसामद्वैतवासना।
महाभयकृतत्राणा द्वित्राणां यदि जायते॥

(खण्डन खण्ड खाद्य)

1. पातंजल योगसूत्र भाष्य विवरणम् की भूमिका—श्रीराम शास्त्री

आचार्य शंकर एवं विश्व के प्रमुख दार्शनिक

डा० उमरावसिंह विष्ट

युग प्रचेताओं से प्रेरणा तथा उनके अक्षुण्ण श्रोतों से नवीन उत्साह ग्रहण करने वाले महान दार्शनिक प्रत्येक युग में मानव-पथ प्रदर्शनार्थ अवतरित होते रहे हैं। इन महान विभूतियों द्वारा अर्जित ज्ञान, इनकी 'मानसिक धरोहर' के रूप में आज भी दर्शनशास्त्र में सुरक्षित है।

प्रस्तुत लेख के माध्यम से मैं वेदान्त के सूर्य आचार्य शंकर के अद्वैतवेदान्त तथा विश्व के कुछ प्रमुख दार्शनिकों जैसे—देकार्त्त, स्पिनोजा, लाइब्निज, बर्कले, हीगल, काण्ट तथा ब्रेडले के दार्शनिक सिद्धान्तों की संक्षिप्त चर्चा करूँगा। विश्व के इन दार्शनिकों का चयन इसलिये किया गया है कि इनके दार्शनिक विचार आँशिक या अधिक रूप से आचार्य शंकर के अद्वैत-वेदान्त से मेल खाते से प्रतीत होते हैं। मैं तो प्रयास ही कर सकता हूँ। विषय के मर्मज्ञ ही निश्चित करेंगे कि उक्त पाश्चात्य विचारकों के विचार कहाँ तक शंकराचार्य के अद्वैतवादी विचारों से साम्य रखते हैं। हाँ, यूनानी दार्शनिकों को मैं इस लेख में सम्मिलित नहीं कर सकूंगा, जिसके लिये पाठक मुझे क्षमा करेंगे।

वेदान्त दर्शन भारतीय दर्शन में अग्रतम है। यही कारण है कि भारतीय दार्शनिक चिन्तन इस दर्शन के अभाव में अपंगु है।

'वेदान्त' शब्द के अर्थ को लेकर भारतीय दार्शनिक एक मत नहीं है। वेदान्त सार में सदानन्द योगी जी ने "वेदन्तो नामोपनिषत् प्रमाम्"[1] कहकर इस शब्द की परिभाषा की है।
श्रीयुत् बलदेव उपाध्याय ने 'वेदान्त' में प्रयुक्त 'अन्त' शब्द का अर्थ 'रहस्य' या 'सिद्धान्त' बताया है।[2] यही कारण है कि उन्होंने वेदान्त का अर्थ 'वेद का मन्तव्य' 'वेद का प्रतिपाद्य सिद्धान्त' बताया है। अधिकांश विद्वानों ने 'वेदान्त' शब्द का अर्थ 'वेद की अन्तिम कड़ी' अर्थात् उपनिषदों से लिया है। श्वेताश्वेतरोपनिषद् तथा मुण्डकोपनिषद् में भी क्रमशः 'वेदान्ते परम् गुह्य' तथा 'वेदान्त विज्ञान—सुनिश्चितार्थाः' द्वारा 'वेदान्त' शब्द का अर्थ 'उपनिषद' ही है, ऐसा निश्चित होता है।

उपनिषदों को युक्ति संगत बनाने तथा उनका प्रतिपाद्य विषय सुनिश्चित करने के अथक प्रयास द्वारा ब्रह्मसूत्रों ने अपनी मीमांसा पद्धति द्वारा समस्त श्रुति वाक्यों का 'अद्वैतवाद' में समन्वय कर दिया; तथा यह घोषणा की कि (वेदान्त का) उपनिषदों का प्रतिपाद्य 'अद्वैतवाद' है। द्रष्टव्य है कि इस मन्तव्य द्वारा वेदान्त का अर्थ 'अद्वैतवाद' हो गया। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि अद्वैतवाद का उचित पोषण उपनिषदकाल में

1. वे०सा०—सं० योगी—पे० 4
2. वही

ही हुआ। "नेह नानास्ति किञ्चन"[1] आदि उपनिषद वाक्य भी इस बात की पुष्टि करते हैं। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि वेदों में अद्वैत का उल्लेख नहीं मिलता; अपितु यह है कि जो अद्वैतवाद वेदों में 'बीज' रूप में स्थित था वह उपनिषदों में जब तरुण अवस्था को प्राप्त कर रहा था तो उस समय अन्य विचारधारा के दार्शनिकों ने अपने-अपने युक्ति-प्रहारों से 'अद्वैतवाद' को बहुत क्षति पहुँचाई।

इस क्षति से अद्वैतवाद लड़खड़ाने लगा। कहने का तात्पर्य यह है कि अद्वैतवाद के आलोचक दार्शनिक वेदों में प्रयुक्त 'अद्वैत' शब्द को ही अपने-अपने ढंग से परिभाषित करने लगे। इससे पहले कि मैं युक्ति-युक्ति अद्वैतवाद के प्रणेता आचार्य शंकर का उल्लेख करूँ, यह उचित होगा कि उन संदर्भों का किंचित उल्लेख भी करूं जहाँ-जहाँ वेदों में 'अद्वैत' शब्द का प्रयोग हुआ है।

ऋग्वेद में 'प्रजापति' को अद्वितीय, अधीश्वर एवं अखिल जगत् का स्रष्टा कहा गया है।[2] इसी प्रकार षड लोकों को धारण करने वाले को अजन्मा एवं एक बताया गया है।[3] पुनः ऋग्वेद में ही 'एकंसद् विप्रा बहुधा वदन्ति' वाक्य अद्वैतवाद की पुष्टि द्रष्टव्य है।

यजुर्वेद में भी 'एक ब्रह्म' का उल्लेख है।[4]

सामवेद में बताया गया है कि ब्रह्म ही एकमात्र सत्यरूप वाला है।[5]

अथर्वेद संहिता में—"यत्र यस्मिन् अधिष्ठान रूपे ब्रह्मणि विश्वम् आरोपितम् कृत्सनम् जगत एक रूपम् एकाकारम् भवति, आरोपितस्य अधिष्ठानेः; व्यतिरेकेण सत्वोभावात्" प्रकार से परब्रह्म का वर्णन मिलता है।[6]

उपरोक्त संदर्भों के माध्यम से मैं यह कहना चाहता हूँ कि वेदों का ब्रह्माद्वैतवाद अध्यात्म-पिपासुओं एवं संसार-संतप्त मनीषियों को एकान्तिक, आत्यान्तिक एवं आध्यात्मिक शान्ति तो अवश्य प्रदान करता था, लेकिन बुद्धिवादी एवं तार्किक दार्शनिकों के सूक्ष्म-तार्किक प्रश्नों का उत्तर देने के लिये ब्रह्माद्वैतवाद को पैनी धार नहीं दे सका। एक ही ब्रह्म सगुण होते हुए भी निर्गुण कैसे हो सकता है? यदि जगत्, कारण-स्वरूप ब्रह्म का ही विकार है, तो विकार की उत्पत्ति होने के पश्चात् भी ब्रह्म 'अविकृत-स्वरूप वाला' कैसे रह सकता है? इत्यादि अनेकानेक प्रश्न थे जिनके माध्यम से नैयायिक, बौद्ध, सांख्यकार एवं अन्य दार्शनिक 'ब्रह्माद्वैतवाद' की कठोर आलोचना करने लगे। इन्हीं आलोचनाओं से बचने के लिये विभिन्न आचार्यों ने ब्रह्मवाद की युक्ति-युक्त व्याख्यायें आवश्यक समझीं; क्योंकि इन व्याख्याओं के अभाव में औपनिषद्कालिक तरुण लेकिन प्रहारों से पीड़ित ब्रह्माद्वैतवाद को जीवन-रक्षक औषधि नहीं मिल सकती थी।

लड़खड़ाते हुए 'ब्रह्मवाद' के लिए संजीवनी औषधि रूप आचार्य शंकर अल्प वर्षों के लिए, मालावार प्रान्त के नम्बूदरी परिवार में सन् 788 ई० में अवतरित हुए। आठ वर्ष की आयु में ही इस महान व्यक्तित्व को चारों वेदों के ज्ञान से प्रकाशित होने का असाधारण गौरव प्राप्त हुआ। सोलह वर्ष की में ही आप भाष्य लिखने लगे। इस प्रकार अद्वैतवाद नामक दिव्य-सन्देश को जन-जन तक पहुँचाते हुए तथा अद्वैतवाद के आलोचकों को अपने पैने तर्कों से आश्वस्त करते हुए युग-पुरुष शंकर मात्र बत्तीस वर्ष की आयु में ब्रह्मभाव को प्राप्त हो गये।

---

1. ब्रह० उप० 4-4-19
2. ऋग्वेद संहिता—10-121-1-10
3. ऋग्वेद संहिता
4. यजुर्वेद—32-10
5. सामवेद—6-3-4-10
6. अथर्वेद संहिता, सा० भा०—2-1-1-1

सृष्टि की समस्त विविधता के पीछे एकता है । जिससे इसकी उत्पत्ति हुई है उसी में इसे समा जाना है—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" 'परमार्थ तत्व' ही एकमात्र सत् है, वह माया के माध्यम से विभिन्न रूपों को अपना लेता है । कहने का तात्पर्य यह है कि अद्वैतवेदान्त मायाशक्तिविशिष्ट परमात्मा से प्रपंचमय जगत की सृष्टि को सिद्ध करता है । मायोपहित यही परमात्मा 'अद्वैतवेदान्त में ईश्वर नाम से जाना जाता है । जगत की कार्य-कारणता का स्पष्टीकरण शंकर रज्जु-सर्प के उदाहरण से देते हैं, अर्थात् जिस प्रकार अविद्या के कारण हम रस्सी में सर्प का मिथ्या अनुभव करते हैं उसी प्रकार अविद्या के कारण ही परमात्मा में प्रपंचात्मक जगत के नानात्व का आभास होता है । जिस प्रकार भ्रान्ति-जन्य सर्प 'रस्सी' का विकार नहीं होता, उसी प्रकार जगत् भी ब्रह्म का विकार नहीं है । यही कारण है कि शंकर ने 'विकार' को न अपनाकर विवर्त्त-वाद' की स्थापना की ।

वेदान्त परिभाषा में विवर्त्त की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—

विवर्त्तो नाम उपादानविषमसत्ताककार्यापत्तिः ।[1]

अर्थात् उपादान कारण से विषम कार्य की सत्ता को विवर्त्त कहते हैं, जैसे—शुक्ति, रजत शुक्ति का विवर्त्त है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शंकर के अनुसार जगत् ब्रह्म का वास्तविक परिणाम न होकर विवर्त्त परिणाम है । यहाँ यह उल्लेखनीय है कि विवर्त्तवाद के अनुसार कार्य की सत्ता कारण से पृथक नहीं होती ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि दो सत्ताओं के पृथक् महत्व को अस्वीकार करने के कारण ही शंकर सिद्धान्त 'अद्वैत सिद्धान्त' या अद्वैतवाद के नाम से जाना जाता है । इस सिद्धान्त के मूल में शंकर के गहन विचारों का जो सार है उससे सारा संसार परिचित है—"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या ।" जगत् को मिथ्या सिद्ध करने के लिए ही आचार्य शंकर ने 'मायावाद' की स्थापना की । अपने मायावाद के आधार पर ही शंकर ब्रह्म एवं जगत् के सम्बन्ध की पहेली को सुलझाने में समर्थ हुए । 'माया' शब्द का प्रयोग शंकर ने प्रायः मिथ्यात्व के प्रतिपादक इन्द्रजाल के अर्थ में किया है । उन्होंने बताया कि जिसप्रकार इन्द्रजाल की सत्यता केवल द्रष्टाओं के लिए ही होती है उसी प्रकार नाम-रूपात्मक जगत् की सत्यता केवल अज्ञानी के लिए ही होती है । उल्लेखनीय है कि शंकर अविद्या एवं माया को पर्यायवाची मानते हैं ।[2] प्रत्यक्ष जगत् का मिथ्यात्व प्रतिपादन ही शंकराचार्य की अद्भुत प्रहेलिका है । जगत् की सत्ता को मिथ्या कहने का अभिप्राय यह है कि वह (जगत्) त्रिकाल में नहीं रहती । जगत् के व्यवहारों की 'सत्यता' तभी तक अस्तित्व में होती है जब तक 'ब्रह्मात्मा' का ज्ञान नहीं होता है—

सर्वं व्यवहाराणामेवप्राग्ब्रह्मात्मताविज्ञानात् सत्यत्वोपपत्त
स्वप्न व्यवहारस्येव प्राक् प्रबोधात् ।[3]

अतः शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त का आधार 'माया' मायावी ईश्वर की शक्ति, सत् एवं असत् से विलक्षण[4] होने के कारण अनिर्वचनीय है—'सदसद्भ्यामनिर्वचनीम्' । पुनः, मायावी ईश्वर की शक्ति होने से इस माया का ईश्वर से अभेद है और इसीलिए द्वैत (भेद) की सम्भावना का निराकरण भी स्वयं हो जाता है ।

1. वेदा० परि०—1 (प्रत्यक्ष परिच्छेद)
2. ब्र० सू० शां० भा०—1/4/3
3. वही, 2/1/14
4. वेदान्तसार, स० यो० पे० 73

शंकराचार्य एवं पाश्चात्य दार्शनिक

भारतीय दर्शन ज्ञान की वह गंगा है जिसने भारत के ही नहीं बल्कि पाश्चात्य जगत् के ज्ञानानुरागियों की ज्ञान-पिपासा को भी शान्त करने में कोई कमी नहीं की। मुझे यह कहते हुए कोई संकोच नहीं होता कि भारतीय दर्शन ने समस्त यूनानी एवं पाश्चात्य दर्शन को जितना प्रभावित किया, शायद दुनिया के अन्य किसी दर्शन ने नहीं किया है। मैक्समूलर तथा डायसन जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय दर्शन का सांगोपांग अध्ययन किया है। यही कारण है कि आधुनिक समय में भी कतिपय भारतीय दार्शनिक मैक्समूलर तथा डायसन के विचारों को उद्धरित किये बिना अपने विचारों की पुष्टि नहीं कर सकते।

एक तत्ववादी, द्वितत्ववादी एवं बहुतत्ववादी अर्थात् तत्ववादी पा० दार्शनिकों में बहुत से ऐसे दार्शनिक हैं जिनके विचारों की तुलना यदा-कदा शंकराचार्य के अद्वैतवाद से की जाती है। प्रस्तुत लेख में मेरा प्रयास देकार्त्त, स्पिनोजा, लाइब्निज, हीगल, कान्ट एवं ब्रैडले के दार्शनिक विचारों तथा शंकराचार्य के अद्वैतवादी विचारधारा का संक्षिप्त उल्लेख मात्र होगा। जैसा कि सर्वविदित है, दर्शनशास्त्र बहुत कठिन विषय है। मनुष्य कहाँ से आया, किस तत्व से बना, मृत्यु क्या है, मृत्यु के पश्चात मनुष्य का अस्तित्व रहता है या नहीं या यों कहूँ कि यह जगत् कैसे अस्तित्व में आया, किसने बनाया, ईश्वर क्या है, है भी या नहीं कतिपय ज्ञान की ऐसी प्रहेलिकाएँ हैं, जिनके उत्तर का प्रयास ही जगत् के समस्त दार्शनिकों की प्रमुख समस्या रही है।

आचार्य शंकर ने बड़े ही गहन एवं महत्वपूर्ण तरीके से 'अद्वैतवाद' नामक अपने सिद्धान्त में, जीव, आत्मा एवं परमात्मा माया तथा ईश्वर आदि वैदिक प्रत्ययों की विस्तृत जानकारी देते हुए यह प्रतिपादित किया कि 'परमात्मा' (ब्रह्म) ही एकमात्र सत् है, आत्मा ही परमात्मा है तथा यह दृश्यमान जगत् 'ब्रह्म' का ही विवर्त्त है।

शंकराचार्य एवं देकार्त्त

रेने देकार्त्त : महान गणितज्ञ एवं दार्शनिक देकार्त्त फ्रांस के तुरेन नगर में पैदा हुए। गणितज्ञ होने के कारण इन्होंने असाक्षात् रूप से स्वयंसिद्धों की स्थापना करके निगमनात्मक विधि से सारगर्भित निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया। इन्होंने अपनी विधि को 'अन्वेषण विधि' कहा है। अपनी सुविधा के लिए तथा 'असंदिग्ध सत्य' को प्राप्त करने के लिए आपने चार नियम बनाये—

(i) जब तक हम किसी बात को स्पष्ट रूप से न जान लें तब तक हमें उसे 'सत्य' नहीं समझना चाहिए। (ii) हमें अपनी कठिनाइयों को यथासम्भव 'सरल-टुकड़ों' में विभक्त कर देना चाहिए। (iii) सरलतम टुकड़ों या अवयवों से क्रमशः जटिल (complex) अवयवों की ओर बढ़ना चाहिए। (iv) अपनी परिगणना (Enumeration) को इतना पूर्ण कर लेना चाहिए कि किसी भी अवयव की अनदेखी न हो।

देकार्त्त ने इन्हीं नियमों के आधार पर घोषणा की—(i) इन्द्रिय-ज्ञान सन्देहयुक्त है। (ii) वैज्ञानिक ज्ञान भी सन्देह मुक्त नहीं है। अर्थात् देकार्त्त सभी प्रकार के ज्ञान पर सन्देह करते हैं। यहीं पर उन्हें अपने सिद्धान्त का मूल-मन्त्र प्राप्त होता है—

"That I doubt can not be doubted," इसका तात्पर्य यह है कि देकार्त्त 'सन्देही' के सन्देह को 'असंदिग्ध सत्य' मानते हैं। उनका यह प्रत्यय 'cogito ergo sum' के नाम से विख्यात है, अंग्रेजी में इसका अर्थ ("I think therefore I am")[1] है, अर्थात् 'मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ'। यहाँ यह जानना महत्वपूर्ण है कि देकार्त्त 'सोचने' तथा 'सोचनेवाले' में अनिवार्य सम्बन्ध बताते हैं। यहाँ यह भी सुस्पष्ट है कि 'ज्ञाता'

1. Principles of Philosophy; Descartes; Pt. I; Princip VII

(knower) ज्ञेय (known or object) से पहले है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि भले ही देकार्त ज्ञाता एवं ज्ञेय (mind and matter) दोनों को सत् मानते हैं, फिर भी उनका दार्शनिक प्रत्यय 'मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ' शंकराचार्य के अद्वैत-वेदान्त के बहुत नजदीक प्रतीत होता है : नहि कश्चित् सन्दिग्धो नाहमस्मीति ।'[1]

वेनेडिक्ट स्पिनोजा

हालेण्ड के ऐम्स्टर्डम में जन्मे स्पिनोजा सर्वेश्वरवादी दार्शनिक हैं। इनके दर्शन में एकता या अद्वैतवाद का प्रमुख स्थान है। इनके अनुसार ईश्वर से सभी सत्यता इसलिए प्रवाहित होती है कि वह (सत्यता) शाश्वत् है। ईश्वर बुद्धिमय है। इसलिए विश्वकी उत्पत्ति बौद्धिक अनिवार्यता (Intellectual necessity) के साथ उसी प्रकार होती है जिस प्रकार से किसी भी त्रिभुज के तीनों अन्तःकोणों का योग दो समकोण के ही बराबर होता है। यहाँ हमें पूर्वीय एवं पाश्चात्य दर्शन का अद्भुत एवं बेमिसाल संगम दिखाई देता है। स्पिनोजा ने सत् को समझाने के लिए ज्यामितिक युक्तियों को ही समीचीन बताया है, क्योंकि इन युक्तियों से निःस्वार्थ या पक्षपात रहित ज्ञान प्रवाहित होता है। यदि कोई जान-बूझकर भी त्रिभुज की रेखाओं को मिटा दे तो त्रिभुज का लोप तो हो जायेगा लेकिन त्रिभुज का 'मूल देश' सर्वथा अस्तित्ववान ही रहेगा। इसीलिए स्पिनोजा बताते हैं कि संसार की समस्त वस्तुओं के नष्ट हो जाने पर भी 'परम-पदार्थ' ईश्वर तो नित्य अस्तित्ववान है। रूप, आकार तथा प्रकार को स्पिनोजा मूलतत्त्व के गुण मानते हैं(Qualifications of determination)वस्तुतः मूल तत्त्व को पाने के लिए सभी गुणों को हटाना पड़ेगा। यही कारण है कि स्पिनोजा ने परम-तत्त्व ईश्वरको निर्गुणी निराकार एवं शुद्ध सत् कहा है। उनका यह भी विचार है 'परम तत्त्व' में गुणों का आरोपण 'परम-तत्त्व' को सीमित बना देता है। उनकी इस मान्यता के कारण उनकी उक्ति 'Every determinatiom is negation' जगत् प्रसिद्ध है।

संक्षेप में, मैं इतना ही कहूँगा कि स्पिनोजा सरूप एवं साकार ईश्वर को न मानकर निराकार एवं निर्गुण सत् को मानने के कारण ही आचार्य शंकर की तरह शुद्ध अद्वैतवादी हैं। यह परम सत् स्वतन्त्र है।[2]

लाइब्निज एवं शंकर

जर्मनी के लिपजिग नगर में जन्मे लाइब्निज को अरस्तू के बाद सबसे अधिक प्रतिभा सम्पन्न दार्शनिक के रूप में याद किया जाता हे। जर्मनी की दार्शनिक प्रगति का मुख्य श्रेय भी आपको ही प्राप्त है।

लाइब्निज के दर्शन में निरन्तरता का सिद्धान्त (Principle of continuity), व्यक्ति विशेष का सिद्धान्त (Principle of individuality) तथा पूर्व स्थापित सामंजस्य (Principle of pre-established harmony) का सिद्धान्त, विशेष उल्लेखनीय हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि लाइब्निज के ये दार्शनिक सिद्धान्त क्रमशः विश्व के क्रम-बद्ध विकास, विश्व की प्रत्येक वस्तु की सत्यता तथा विश्व की एकता तथा नियमबद्धता का प्रतिपादन करते हैं।

लाइब्निज के अनुसार 'विशेष' ही परम तत्त्व हैं। इन विशेषों को ये चिद्बिन्दु (Monads) कहते हैं। निम्न, उच्च उच्चतर एवं उच्चतम श्रेणियों में विभक्त इन चिद्बिन्दुओं की संख्या को लाइब्निज असंख्य मानते हैं। क्योंकि इनके अनुसार विश्व की विविधता की व्याख्या के लिए अनेक चिद्बिन्दु आवश्यक हैं। ये अनेक

1. भा० द० : ब० उपाध्याय, पृ० 628
2. The Ethics of Spinoza, 1930, p. VII

चिद्बिन्दु परमतत्व, आध्यात्मिक परमाणु आदि अनन्त और नित्य हैं। निःअवयव, अविभाज्य एवं चेतन होने के साथ-साथ प्रत्येक चिद्बिन्दु व्यक्तिगत सत्ता रखता है तथा विशिष्ट है। ये किसी विश्व-शक्ति की अंश या छाया मात्र नहीं हैं। प्रत्येक चिद्बिन्दु अपने अस्तित्व के लिए अन्य चिद्बिन्दुओं पर निर्भर नहीं करता। इन चिद्-बिन्दुओं के मध्य किसी प्रकार का आदान-प्रदान भी नहीं होता। इसीलिए लाइब्निज इन्हें 'गवाक्षहीन' कहता है।

ईश्वर को लाइब्निज सर्वोच्च चिद्बिन्दु मानता है। उसे वह परम-द्रव्य एवं परिपूर्ण मानता है, तात्पर्य है कि ईश्वर के अस्तित्व में इन्हें बिलकुल सन्देह नहीं है। "There is no doubt in the possibility and existence of God."[1] इनके अनुसार ईश्वर ने सभी चिद्बिन्दुओं को इस प्रकार सोपान-क्रम में व्यव-स्थित किया है कि जैसे ही एक चिद्बिन्दु में कुछ परिवर्तन होता है, वैसे ही अन्य चिद्बिन्दुओं में यथोचित परिवर्तन स्वयं ही होता रहता है। लाइब्निज ने यह भी बताया है कि ईश्वर मंगलकारी एवं प्रेममय है।[2] लाइ-ब्निज की केवल यही विचार धारा हमें अद्वैत वेदान्त के समीप प्रतीत होती है। क्योंकि अद्वैत में भी ब्रह्म को 'आनन्द-स्वरूप' कहा गया है।

बर्कले एवं शंकर

जार्ज बर्कले आयरलैण्ड के निवासी थे। विज्ञान के प्रभाव से प्रभावित बर्कले को लगा कि भौतिकवाद और नास्तिकवाद की जड़ें गहरी हो रही हैं। आपको भौतिकवाद पसन्द नहीं था। यह बात इनके अध्यात्मवादी होने की पुष्टि करती हैं। इन्होंने इस दार्शनिक विचारधारा को प्रतिपादित किया कि 'जो कुछ भी हमारे अनुभव में आता है वह सब मनाश्रित या मानसिक है। अर्थात सभी ज्ञान सत्ताएँ मानसिक हैं। इनका विचार है कि किसी भी वस्तु का सार या उसकी वास्तविकता मग की प्रतीति (प्रत्यय) पर निर्भर करती है। इनकी प्रसिद्ध दार्श-निक उक्ति "ESSE EST PERCIPI" इनकी इसी विचारधारा की पोषक है। सरल शब्दों में "**दृष्टि ही सृष्टि है**" वर्कले की दार्शनिक सूझ है।

जिस वस्तु को किसी ने देखा न हो, सुना न हो वह वस्तु प्रत्यय के रूप में सम्भव ही नहीं हो सकती। बर्कले मानते हैं कि 'आत्मा' ही एकमात्र पदार्थ है, अन्य सभी प्रत्ययों का अस्तित्व 'आत्मा' पर ही निर्भर करता है। 'आत्मा' की सत्ता Percipt (प्रत्यक्ष होने में, दृष्ट) में न होकर क्रिया (Perceiving or Perci-pere) में है। क्रिया से यहाँ बर्कले का अभिप्राय सक्रियता से है। "But besides all that endless variety of ideas or objects of knowledge there is likewise something which knows or perceives them and exercises diverse operations, as willing, imagining and remembering about them. This perceiving, active being is that I call mind, spirit, soul or myself."[3]

सरल शब्दों में कहा जा सकता है कि बर्कले के अनुसार 'सत्ता' अनुभव मूलक है। दूसरे शब्दों में अस्तित्व अनुभवात्मक है। ESSE (होना), PERCIPI (प्रत्यक्ष होना) बर्कले की इसी प्रकार की मान्यता के आधार स्तम्भ हैं। ऐसी सत्ता हो ही नहीं सकती जिसका हमें अनुभव या प्रत्यक्ष न हो। बर्कले ने स्पष्ट माना है कि ज्ञेय वस्तु की ही 'सत्ता' है, इस ज्ञेय वस्तु के अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं है। आत्मा को बर्कले ज्ञाता कहते हैं। आत्मा का ज्ञान बर्कले के अनुसार बुद्धि से होता है, अतः आत्मा की सत्ता है।

1. The Monodology-Leibnitz—Tr. Dr. Robert Latter, p. 275
2. Principles of Nature and Grace—Leibnitz, p. 422
1. Principles of Human Knowledge—Berkeiey

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि दार्शनिक बर्कले विज्ञानेतर सभी वस्तुओं को असत् मानते हैं। आचार्य शंकर भी बताते हैं कि जिस वस्तु का ज्ञान नहीं होता उस वस्तु की बाह्य सत्ता भी नहीं होती। जैसा-जैसा जो पदार्थ जाना जाता है वैसा-वैसा ही जाना हुआ होने के कारण उस पदार्थ का स्वरूप होता है। इसी बात को आचार्य शंकर ने निम्न पंक्तियों से स्पष्ट किया है—

"यथा-यथा यो यः पदार्थो विज्ञायते तथा-तथा ज्ञायमानत्वादेव तस्य तस्य चैतन्यस्याव्यभिचारित्वं वस्तुत्वं भवति। किंचिन्न ज्ञायत इति चानुपपन्नम्। (शां० भा० 6/2)[1]

हीगल एवं शंकराचार्य

जर्मन दार्शनिकों में हीगल अपने विश्व-दर्शन (Universal Philosophy) के लिए प्रसिद्ध हैं। "What Hegel proposes to give is no novel, or special doctrine, but the Universal Philosophy which has passed on from age to age, here narrowed and widened, but still essentially the same. It is conscious of it's continuity and proud of it's identity with the teachings of Plato and Aristotle."[2]

हीगल विश्व को ईश्वर-रूप ही देखता है। जगत् और ईश्वर के मध्य भेद व्यवस्था को वह काल्पनिक कहता है। इनका परम तत्त्व सक्रिय है। यह प्रपंचात्मक जगत् परमात्मा का ही व्यक्तीकरण है।

हीगल का दर्शन तर्क प्रधान है। अतः हीगल के विचार में परम-तत्त्व के निर्धारण में हमें कारण की नहीं अपितु व्याख्या की आवश्यकता होती है।

अभिप्राय यह है कि हीगल के अनुसार परम-तत्त्व का तार्किक स्वरूप सम्भव है। विश्व का परम-तत्त्व कोई कारण न होकर तर्क है। विश्व इस परम-तत्त्व का कार्य नहीं अपितु निष्कर्ष है। यह तो सर्वविदित है कि तर्कशास्त्र में कारण-कार्य की अपेक्षा आधार-वाक्य एवं निष्कर्ष पर ही अधिक विचार किया जाता है। कोई भी निष्कर्ष तभी सत्य होता है जब आधार-वाक्य सत्य हों। यही कारण है कि हीगल के विचार में विश्व एवं परम-तत्त्व दोनों की व्याख्या तर्क से ही सम्भव है। तर्क का कोई तर्क नहीं होता। यहाँ हीगल यह बताना चाहते हैं कि परम-तत्त्व एवं विश्व के बीच अनिवार्य सम्बन्ध हैं। जिस प्रकार तार्किक अनिवार्यता का निषेध नहीं होता उसी प्रकार परम-तत्त्व एवं विश्व के सम्बन्ध का निराकरण भी सम्भव नहीं हो सकता। विश्व में अनेक वस्तुएँ हैं। ये वस्तुएँ अनित्य एवं परिणामी हैं। इनके लिए देश-काल की आवश्यकता होती है। इसके विपरीत परम-तत्त्व विज्ञान है, अतः देश काल की सीमा से परे है। जैसे 'व्यक्ति' मरणशील है, लेकिन व्यक्ति का विज्ञान (विचार) अर्थात् 'जाति' नित्य है। 'विज्ञान' को स्वतः साध्य बताते हुए हीगल ने यह स्वीकार किया है कि विज्ञान का ज्ञान इन्द्रियों से नही वरन् बुद्धि द्वारा होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हीगल एवं शंकर के दर्शन में बहुत अधिक समानता है। शंकर के अनुसार आत्मा सत् एवं असत् दोनों रूपों वाला है। असत् रूप को आचार्य शंकर अविद्याजन्य मानते हैं।[3] हीगल के विचार में असीम (परम तत्त्व) सत् एवं असत् की ही एकरूपता है।

1. अद्वैतवेदान्त—रा० मू० शर्मा, पेज 72
2. Hegel's Phil. of mind, Wallace, p. 14
3. शां० भा० माण्डूक्योपनिषद—1/7

शंकराचार्य ने आत्मा को ही ब्रह्म रूप है कहा—'अयं आत्मा ब्रह्म:।' हीगल ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि बाह्य जगत् की निवृत्ति के बाद आत्मा, परमात्मा में ही एकाकार हो जाती है। पुन: अद्वैत-वेदान्त में जिस प्रकार माया का सिद्धान्त आवश्यक है ठीक उसी प्रकार 'ब्रह्म' को हीगल ने भी परम सत् के सन्दर्भ में अनिवार्य बताया है। विशेष अन्तर यह है कि शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में आत्मा शुद्ध सत् रूप है जबकि हीगल का परम तत्त्व सदसत् रूपों वाला है। इसी प्रकार शंकराचार्य के अनुसार जगत ब्रह्म का विवत है कि हीगल के मत में सम्पूर्ण जगत चेतना का विकास है।

शंकराचार्य एवं काण्ट

आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखने वाले इन दार्शनिक महोदय का जन्म जर्मनी के कोनिग्सबर्ग नगर में हुआ था। इनकी प्रमुख रचनाओं में (i) Critique of Pure Reason (ii) Critique of Practical Reason तथा (iii) Critique of Judgement हैं।

'Critique of Pure Reason' के अन्त में काण्ट अपने दर्शन के तीन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का उल्लेख करते हैं:

(i) मैं क्या जान सकता हूँ?
(ii) मुझे क्या कहना चाहिए?
(iii) मैं क्या आशा कर सकता हूँ?

संक्षेपेण, इन सभी प्रश्नों के उत्तर में काण्ट कहते है कि परम तत्त्व (Things in themselves) अज्ञेय हैं, क्योंकि वह बुद्धि का विषय हो ही नहीं सकता। इनका यह भी विचार है कि अ० इन्द्रियानुभाविक या अनुभव निरपेक्ष ज्ञान केवल गणित-शास्त्र तथा प्राकृतिक शास्त्रों में ही सम्भव है, सत्ता-शास्त्रों या अभौतिक शास्त्रों में नहीं। काण्ट के अनुसार 'मात्र शुभ इच्छा (Goodwill) ही एक ऐसी वस्तु है जो बिना किसी विशेषण या प्रतिबन्ध के 'शुभ' होती है। 'शुभ-इच्छा' निरपेक्ष(Absolute)एवं अनानुबंधित (Unconditioned)) शुभ है।

अपने दूसरे प्रश्न के उत्तरस्वरूप कान्ट कहते है कि "इस प्रकार कार्य करो कि तुम्हारे कार्य का सूत्र तुम्हारी इच्छा के जरिये, प्रकृति का एक सर्वव्यापी नियम बन सके।" इसी प्रकार तीसरे प्रश्न के लिए उन्होंने बताया कि मानव बुद्धि मात्र वैज्ञानिक उपलब्धियों तक सीमित है। परम तत्त्व बुद्धि का विषय हो ही नहीं सकता क्योंकि उनके अनुसार हमारी बुद्धि सीमित होती है, फिर यह असीमित को कैसे जान सकती है।[1]

वास्तव में कान्ट 'ज्ञान के प्रारम्भिक बिन्दु के रूप में अनुभव को स्वीकार करते हैं तथा 'ज्ञान के स्वरूप' के लिए 'बुद्धि' को आवश्यक बताते हैं इसीलिए कहा जाता है कि कान्ट ने अनुभववाद तथा बुद्धिवाद के मध्य पुल (Bridge) का कार्य किया है। स्मरणीय है कि 'अनुभव' से कान्ट ज्ञान की उत्पत्ति नहीं मात्र प्रारम्भ मानता है।

कान्ट के अनुसार 'परम तत्त्व' है लेकिन 'अज्ञेय' है। क्योंकि परम तत्त्व की संवेदनायें हमे प्राप्त नहीं होती। अभिप्राय यह है कि कान्ट के विचार मैं जो वस्तुयें बुद्धि विकल्वों से परे हैं वे स्वलक्ष (Things in themselves) होती है। अत: 'परम तत्त्व' स्वलक्षण (Thing in itself) है।

मानव ज्ञान को कान्ट 'व्यवहार' तक सीमित बताते हैं। पुन: कहते हैं कि मानव-मन में कुछ 'जन्म-जात प्रवृत्तियाँ होती हैं, जो हमसे व्यवहार की सीमा का उलंघन करवाती हैं। इस उलंघन का कारण 'परम तत्त्व' को जानने की जिज्ञासा है। इसी जिज्ञासा को कान्ट अनुभव-निरपेक्ष 'भ्रम' (Transcendental illusion) का कारण मानते हैं। भ्रम से ईश्वर आत्मा तथा सृष्टि सम्बन्धी शास्त्रों की उत्पत्ति होती है। लेकिन कान्ट की

1. Seminar Papers, Calcetta, Madras, 1974

मान्यता है कि जीव जगत तथा ईश्वर मात्र प्रत्यय हैं। इसके बारे में (प्रत्ययों के बारे में) मात्र ज्ञानभास हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि कान्ट 'परम तत्त्व' को स्वीकार तो करते हैं लेकिन अतीन्द्रय होने के कारण उसको 'अज्ञेय' (un-knowledge) अर्थात् बुद्धि के परे बनाते हैं। ऐसा भी प्रतीत होता ह कि केवल नैतिक जीवन के लिये ही शुद्ध संकल्प की आवश्यकता महसूस करते हैं। क्योंकि बिना ईश्वरके अस्तित्व के, नैतिकता निराधार हो जायेगी, ऐस कान्ट की मान्यता है।

सरल शब्दों में, निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि शंकराचार्य एवं कान्ट दोनों के अनुसार ईश्वर ही जगताधार है। दोनों दार्शनिक आत्मा के स्वरूप के बारे में भी समान विचार रखते हैं। लेकिन शंकर ब्रह्म (परम तत्त्व(को ज्ञान स्वरूप मानते हैं तथा बताते हैं कि अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर 'ब्रह्म-ज्ञान' स्वयं ही हो जाता है, जब कि काण्ट का परम तत्त्व (Noumena) अज्ञेय होने के कारण कभी भी प्राप्त नहीं किया जा सकता।

शंकराचार्य एवं ब्रैडले:

ब्रितानी आदर्शवादियों में एफ० एच० ब्रैडले निश्चित ही अग्रगण्य हैं। ब्रिडले द्वन्द्वात्मक (dilectical) तर्क प्रणाली मेंविश्वास करते थे। उनकी यह प्रणाली पारमेनिडीज एवं जैनों की द्वन्द्वात्मक प्रणाली से प्रभावित है।

एपियरेन्स एण्ड रियलिटी (आभास एवं सत्) में ब्रैडले ने मूल रूप से विचार एवं सत्य के सम्बन्ध, पर ही विचार किया है। इन्होंने बताया कि 'सत्य होने' तथा 'विचार की अवस्था में होने में' बहुत अन्तर है। आस्तित्व एवं विचार को एक मानना उतना ही काल्पनिक है जितना सूक्ष्म भौतिकवाद।

ब्रैडले की तत्वमीमांसा तत्कालिक अनुभव की समस्या को लेकर शुरू होती है। उनके ये विचार कि "हमें ऐसे अनुभव भी मिलते हैं जहाँ मेरे बोध और 'बोध की उस अवस्था में' जिसको मेरी चेतना कर रही ह, कोई अन्तर नहीं हैं, शंकराचार्य के अद्वैतवादी विचारों से बहुत अधिक साम्य रखती है। बोध की उस अवस्था को इन्होंने शुद्ध बताया है। यह बोध न तो किसी की अनुभूति है न किसी वस्तु के बारे में अनुभूति। शंकर के शब्दों में हम कह सकते हैं कि यह 'ब्रह्मज्ञान' या ब्रह्म बोध की अवस्था है। बाह्य जगत को ब्रैडले सत् का आभास मात्र (appearances) कहते हैं। यही शंकर का मत भी है।

आभास एवं सत् नामक अपनी पुस्तक के तीसरे अध्याय को स्वयं ब्रैडले बहुत महत्त्वपूर्ण बनाते हैं। इस अध्याय में वे इस निष्कर्ष तक पहुंचते हैं कि सापेक्षिक तौर पर किया गया विचार जगत् के मायात्मक रूप को ही प्रस्तुत करता है।[1]

ब्रैडले ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "आत्मा" सापेक्ष स्थितियों को उजागर करती है, इसका भूत इसके वर्तमान से जुड़ा हुआ है। 'परमात्म' का कोई व्यक्तित्व नहीं होता, ईश्वर मात्र एक अवस्था है अर्थात् परमात्मा का ही सगुणात्मक रूप है।"[1] इसका अर्थ यह है कि ब्रैडले शंकराचार्य की तरह ही एकत्व में ही अनेकत्व को निमंत्रण देता है। पुन: उन्होंने हीगल के संदेश के साथ ही कि 'आत्मा से परे कोई सत्य न तो है, न ही हो सकता है, अपनी बात समाप्त की है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि आचार्य शंकराचार्य का अद्वैतवेदान्त अपने आप में अदभुत है। विभिन्न सम्प्रदायों एवं भिन्न बुद्धि वाले दार्शनिकों के तीव्र आलोचनात्मक प्रहारों से पीड़ित 'ब्रह्मात्मवाद' को शुद्ध अद्वैतवाद नामक कवच पहनाकर आचार्य ने ऐसा उपकार किया है जिसको दर्शन जगत भुला नहीं सकता। मायावाद विवर्त्तवाद आदि के माध्यम से ब्रह्म एवं विश्व को तार्तिक जामा पहनाने में भी शंकराचार्य को दुर्लभ सफलता मिली थी।

1. Appearance & Reality : Chapt. III
2. ब्रैडलेज व्यू ऑफ़ द सेल्फ़; एस० जे० मेकन्जी (माइण्ड : 1894)

विश्व के उच्च कोटि के दार्शनिकों के अद्वैतवादी विचार, या तो शंकराचार्य प्रणति है, या फिर शुद्धता एवं परिपूर्णता की कसौटी पर तार्तिक रूप में भी खरे होने के कारण शंकराचार्य के विचारों के तुल्य हैं। कतिपय भिन्नताओं को बढ़ा-चढ़ाकर न देखा जाय तो यह मानने में संकोच नहीं होना चाहिए कि विश्व के बहुत से उच्चकोटि के दार्शनिकों के विचार आचार्य शंकराचार्य के विचारों से बहुत समानता रखते हैं।

अन्त में, मैं अपनी अल्पज्ञता एवं की भी अल्प जानकारी से लिखे गये उन विचारों प्रति जिनसे कतिपय विद्वानों को कष्ट पहुंचा हो, क्षमा चाहता हूँ। प्रस्तुत लेख में प्रत्येक दार्शनिक का संक्षिप्त विवेचन लेख के अधिक विस्तृत तो जाने के ही भय से है। इस संक्षिप्त विवेचन से में कितना कह पाया हूँ यह तो विद्वानों के परख का विषय है। जैसा कि मैं प्रारम्भ में ही लिख चुका है, दर्शन बहुत कठिन विषय है। किसी भी दार्शनिक के विचरों को 'तद्रूप' समझने का दर्शन तो और भी कठिन है। तपः पूत ब्रह्मज्ञ आचार्य शंकर का दर्शन सर्व गुण सम्पन्न है इसको समझाना अपने आप में बहुत महत्वपूर्ण है। इन्हीं शब्दों के साथ मैं लेख को समाप्त करता हूँ।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

ऋग्वेदसंहिता, वैदिक संशोधन मण्डल; पूना, 1946 ई०
ईशावास्योपनिषद्
छान्दोग्योपनिषद्
कठोपनिषद्
मुण्डकोपनिषद्, शां० भा०, गीता प्रेस
ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, निर्णयसागर प्रेस, 1917 ई०
वेदान्त परिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र; अनु० विद्यानन्द
वेदान्तसार, सदानन्द योगी
ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य (चतुःसूत्री); त्रिपाठी, रमाकान्त
भारतीय दर्शन; उपाध्याय, बलदेव
अद्वैत वेदान्त, शर्मा रा० मू०
अद्वैत एवं द्वैताद्वैत की तत्त्वमीमांसा; अभेदानन्द
पा० आ० दर्शन की समीक्षात्मक व्याख्या; मसीह याकूब।
IMMANUEL KANT; SEMINARS; CAL. MAD. 1974
MORAL LAWS; PATON H. J.
HISTORY OF WESTERN PHILOSOPHY; RUSSELL, B.
A HISTORY OF PHILOSOPHY; THILLY, F.
MEDTATION II; DESCARTES.
HISTORY OF MODERN PHILOSOPHY FALCKENBERG R.
THE PRINCIPLES; BERKELEY.
HEGEL'S PHILOSOPHY OF MIND; WALLACE.

शंकराचार्य और समकालीन भारतीय दार्शनिक

—डा० विभा गौड़

वेदान्त दर्शन में ब्रह्म सूत्र एक विशिष्ट स्थान रखता है। इसकी रचना का श्रेय बादरायण को जाता है। दार्शनिक दृष्टिकोण से इनके 'ब्रह्म सूत्र' संक्षिप्त लेकिन सारगर्भित माने जाते हैं। इतिहास से पता चलता है कि बादरायण के ब्रह्मसूत्र सभी उपनिषदों में मतैक्य स्थापित करने का प्रयास हैं। आचार्य शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र की व्याख्या में एक ऐसा अद्भुत भाष्य लिखा जिसको दर्शन जगत् 'अद्वैत वेदान्त' के नाम से जानता है। कहने का तात्पर्य यह है कि आचार्य शंकर का ब्रह्मसूत्र—भाष्य भारतीय दर्शन में ही नहीं अपितु पाश्चात्य दर्शन में भी विशेष आदर के साथ देखा जाता है।

वेदान्त के विकास को प्राचीन युग, मध्य युग तथा अन्तिम प्राचीन युग प्रकार से तीन भागों में बांटा जाता है। ब्रह्मसूत्र को मध्य युग का प्रमुख वेदान्त साहित्य माना जाता है। चूंकि बादरायण कृत ब्रह्मसूत्र बहुत ही संक्षिप्त था अत: विभिन्न दार्शनिक इसकी व्याख्या में विभिन्न विचारों को जोड़ते चले गये। फलस्वरूप अद्वैतवाद, भेदाभेदवाद, विशिष्टा द्वैतवाद, द्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद तथा शुद्धाद्वैतवाद आदि सम्प्रदायों अथवा दार्शनिक विचारधाराओं का अविर्भाव हुआ।

ब्रह्मसूत्र के भाष्यकारों में आचार्य शंकर का स्थान सर्वोपरि है। इनके मत को सम्पूर्ण दार्शनिक जगत् अद्वैतवाद के नाम से जानता है। यही कारण है कि अद्वैतवाद ही अद्वैतवेदान्त के नाम से प्रसिद्ध है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से प्रमाणों के आधार पर विद्वान् लोग बादरि, आत्रेय, जैमिनी, काश्यप तथा असित को शंकराचार्य के पूर्ववर्ती एवं गौड़पाद को शंकराचार्य का गुरू बताते हैं। गौड़ को आचार्य शंकर का गुरू मानना इसलिए भी समीचीन है क्योंकि अद्वैत वेदान्त सम्बन्धी इनके ग्रन्थ में शिष्य शंकर के विचारों का भी यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। गौड़पाद ने मांडुक्य कारिका के वैतथ्य एवं अलातशान्ति प्रकरण के अन्तर्गत जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन स्वप्नसिद्धान्त के आधार पर किया है अपने गुरू के स्वप्न एवं जाग्रत अवस्थाओं के साम्य के प्रतिपादक कथन पर नैयायिक शैली में भाष्य करते हुए कहा है कि 'जाग्रत जगत् में देखी गई वस्तु में मिथ्या हैं', 'जाग्रद्दृश्यानां भावनी वैतथ्यम्'—प्रतिज्ञा का निगमन बताया है।

अद्वैत वेदान्त के प्रवर्तक आचार्य शंकर का समय विभिन्न प्रमाणों के आधार पर आठवीं शताब्दी में लगभग 756-788 ई० माना जाता है। कुछ अन्य दार्शनिक इस समय को 638-720 ई० भी बताते हैं। जो कुछ भी हो यह तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि आचार्य शंकर मालावार प्रान्त के नम्बूदरी परिवार में आठवीं सदी में पैदा हुए तथा 32 वर्ष की अल्प आयु में ही उत्तर-प्रदेश को तीर्थस्थली केदारनाथ में ब्रह्मभाव को प्राप्त हुये।

अपने अद्वैत वेदान्त के प्रतिपादन में आचार्य शंकर ने जगत् माया, विवर्तवाद, ब्रह्म, ईश्वर, आत्मा तथा मोक्ष प्रत्ययों पर गहन मनन किया तथा सरल रूप में तार्किक युक्तियों के आधार पर जनमानस के लिए एक सुखद एवं सार्थक मार्ग का निर्माण किया।

शंकराचार्य ने ब्रह्म को अद्वैत तत्त्व मानकर ही अद्वैतवाद सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। ब्रह्म सत् चित् एवं आनन्द स्वरूप है। ब्रह्म का अस्तित्व स्वत: सिद्ध है। शून्यवाद सिद्धान्त को सर्वथा अनुपन्न बताते हुए शंकराचार्य ने कहा है—"दिग्देशगुणगीताफल भेद शून्यं हि परमार्थसद् अद्वयं ब्रह्म मन्दबुद्धीनामसद्

इवप्रतिभाति ।"[1] यहां यह उल्लेख मात्र करना ही प्रांसगिक होगा कि शंकराचार्य ब्रह्म को अद्वैत मानते हुए इसकी व्याख्या सगुण एवं निर्गुण ब्रह्म के रूप में करते हैं। निर्गुण ब्रह्म को जहां नेति-नेतिवाद की सहायता से समझाया गया है वहीं सगुण ब्रह्म को माया शक्ति सम्पन्न बताया गया है सगुण ब्रह्म में सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्त्व एवं सर्वव्यापकत्व जैसे गुण बताये गये हैं। शंकराचार्य के ही शब्दों में—"निरतिशयोपाधि-सम्पन्नश्चेश्वरो विहीनोपाधि सम्पन्नोऽजीवान् प्रशास्तीति न किंचिद् त्रिप्रतिषिध्यते ।"[2]

शंकराचार्य के अनुसार प्रत्येक जीव का मूल स्वरूप आत्मा है और यह आत्मा प्रत्येक जीव में ब्रह्म रूप है। जीव स्वभावतः आत्मा ही है। जीव अविद्याजन्य विभिन्न उपाधियों से आवृत्त है अविद्या अथवा अज्ञान की निवृत्ति होने पर ही जीव आत्मरूपता को प्राप्त होता है। यह स्थिति 'अहं ब्रह्मास्मि' की है।

शंकराचार्य के दर्शन में मायावाद के महत्त्व का अत्यधिक गहराई से उल्लेख किया गया है। माया को सगुण ब्रह्म (ईश्वर) की शक्ति कहा गया है। ईश्वर की यही शक्ति सृष्टि का कारण है। शंकराचार्य ने जगत् और ब्रह्म की द्वैत बुद्धि का हेतु अविद्या को ही बताया है। अविद्या का ही अपार नामधेय माया है। इन्होंने आवरण और विक्षेप को माया की दो शक्तियां माना है। आवरण शक्ति से आच्छन्न आत्म की कर्तृता भोक्तृता सांसारिक सुख-दुखात्मक भावनायें भी रस्सी में सर्प होने की सम्भावना के समान आरोपित होती हैं। विक्षेप शक्ति अज्ञानावृत आत्मा में ही आकाशादि प्रपंच की उद्भावना कराता है।

जगत विचार करते समय आचार्य शंकर ने स्पष्ट घोषणा की—ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है तथा सम्पूर्ण जगत मिथ्या है। आचार्य के इस कथन को कतिपय लोग गलत प्रकार से समझाते हैं। मैं यहां यह स्पष्ट कर देना चाहती हूँ कि आचार्य शंकर ने जगत् की व्यावहारिक दृष्टिकोण से सत् एवं पारमार्थिक दृष्टिकोण से ही असत् बतलाया है। कुछ आलोचकों का विचार है कि ईश्वर की सृष्टि के रूप में यह जगत् असत् नहीं होना चाहिए। इस सम्बन्ध में शंकराचार्य का विचार है कि जगत ब्रह्म का परिणाम न होकर मात्र विवर्त्त है ज्ञान ही ब्रह्म है। पूर्ण ज्ञान की अवस्था में ही ब्रह्म के स्वरूप को जाना जा सकता है। इस स्थिति में सत्य जान पड़ने वाला व्यावहारिक जगत् भी असत् या मिथ्या जान पड़ता है।

जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन शंकराचार्य ने अध्यास के आधार पर किया है। ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य में शंकर ने अध्यास की परिभाषा इस प्रकार दी है—'अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद् बुद्धिः'। अर्थात् वस्तु में अवस्तु की सत्ता स्वीकार करना पुनः जिस वस्तु में जो वस्तु नहीं है, उस वस्तु में उस अवर्तमान वस्तु की सत्ता स्वीकार करना अध्यास है। उदाहरण के लिए शूक्ति में रजत् की सत्यता का आभास ही अध्यास है। शंकर अज्ञान को ही अध्यास का मूल कारण बताते हैं। इस संदर्भ में शंकराचार्य का यह कथन कि 'बंध्या स्त्री को मिथ्या पुत्र की जननी नहीं कहा जाता' स्पष्ट एवं तर्क संगत है।

अद्वैत ब्रह्म सगुण तथा निर्गुण दो रूपों में क्यूं दिखाई पड़ता है, इसके लिए शंकर ने जिस युक्ति का सहारा लिया है उसका आधार है विवर्त्तवाद। वेदान्तसार में—"अतत्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीरितः ॥" प्रकार से विवर्त्त की ही परिभाषा देते हुए वेदान्त परिभाषा में बताया गया है कि उपादान कारण से विषम कार्य की सत्ता को विवर्त्त कहते हैं। इस प्रकार सत् ब्रह्म से मिथ्या जगत् की सत्ता विषम होने के कारण जगत ब्रह्म का विवर्त्त है। उल्लेखनीय है कि अपने रूप को त्यागकर जब वस्तु अन्य रूप ग्रहण कर लेती है—जैसे दूध अपना रूप त्याग कर दही का रूप ग्रहण कर लेता है तो दही को दूध का विकार कहा जाता है। अपने रूप के परित्याग के बिना दूसरी वस्तु के रूप में आभासित होना विवर्त्त कहलाताता है। दूसरे शब्दों में उपादान से

1. शांकर भाष्य, छान्दोग्य उपनिषद् 8/1/1
2. ब्रह्म सूत्र, शांकर भाष्य, 2/3/45

विषम कार्य की सत्ता का नाम है तथा परिणाम उपादान के समान कार्य की सत्ता को कहते हैं।

शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म ही संसार का परम तत्त्व है। वस्तुओं में जो रूप परिवर्तन (change in form) हम देखते हैं उसे शंकर भ्रम (illusion) बताते हुए माया विरचित कहते हैं। माया के आवरण और विक्षेप शक्तियोंके द्वारा ही हम ब्रह्म को संसार के रूप में देखते हैं। वस्तुत: संसार तो मिथ्या है। ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से ब्रह्म सगुण (ईश्वर) तथा परमार्थिक दृष्टि से निर्गुण है।

विशुद्ध भारतीय दृष्टिकोण को परिपक्व दर्शन के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय सभी भारतीय आध्यात्मिक दार्शनिकों को है लेकिन प्रस्तुत निबन्ध तथा अपनी सीमाओं में रहते हुए मैं मात्र सही अर्थ में समकालीन भारतीय दार्शनिक कहे जाने वाले श्री रामकृष्णदेव, स्वामी विवेकानन्द, महात्मागांधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, इकबाल, राधाकृष्णन् एवं श्री अरविन्द के विचारों का ही उल्लेख कर रही हूं। ऐसा करने में मुझे दो बातों ने प्रेरित किया—(i) पाश्चात्य दर्शन के प्रति भारतीय दर्शनों की प्रतिक्रिया। (ii) प्राचीन भारतीय दर्शन के प्रति आधुनिक भारतीय दर्शन की प्रक्रिया।

मेरा यह निश्चित मत है कि आधुनिक भारतीय दर्शन विशुद्धवाद है। हां, इस का अर्थ कदापि नहीं कि मैं अनुभव को बुद्धि से किसी भी प्रकार कम आंकती हूँ।

अपने गूढ़ अनुभव एवं दार्शनिक विभूतियों से प्रभावित जब मैं उपरोक्त दार्शनिकों पर ध्यान केन्द्रित करती हूँ तो स्वयं ही मेरा ध्यान आठवीं सदी में उदित सूर्य की ओर चला जाता है जो विश्व के आकाश से नित्य चमकता हुआ जन-जन तक अपनी दार्शनिक सूझ-बूझ की किरणों से सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करता रहेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि इस निबन्ध की सीमा में आने वाले दर्शनिक जिनका मैं उल्लेख करने जा रही हूं वे किसी न किसी प्रकार से जगत् गुरु शंकराचार्य से प्रभावित हुए हैं। ये दार्शनिक प्राचीन भारतीय दर्शन के प्रति तटस्थता और ऐतिहासिक दृष्टिकोण को रखते हैं साथ ही साथ यह भी सत्य है कि इन विद्वानों का दृष्टिकोण कुछ अन्तर लिए हुए नवीन विचारों को भी प्रस्तुत करता है। लेकिन इनके विचारों में शंकर प्रतिपादित ब्रह्म, आत्मा, जीव, जगत, माया नामक प्रत्यय स्पष्ट देदीप्यमान हैं।

श्री रामकृष्णदेव का जन्म 18 फरवरी सन् 1836 ई० में हुआ था निर्धन ब्राह्मण परिवार में पोषित श्री देव ने अपनी जीविकोपार्जन के लिये कलकत्ते के समीप 'काली मन्दिर' में पुजारी का कार्य किया। कहा जाता है कि श्री देव को अपने पूर्वजन्म का पूर्ण स्मरण था। इनका विचार था कि 'परम तत्त्व' अनुभवगम्य है। तर्क-वितर्क से 'तत्त्व प्राप्ति' असम्भव है। किसी भी बात की सत्यता उसकी प्रत्यक्ष उपब्धि पर निर्भर करती है।

आचार्य श्री रामकृष्ण 'तत्त्व' सिद्धान्तों के विरोधी थे क्योंकि व्यवहार को वह प्रत्यक्ष सत् समझते थे आचार्य शंकर की तरह आप भी 'अद्वैतवादी' ही थे। उन्होंने बताया कि 'परमार्थ-तत्त्व' एक है लेकिन भिन्न रूपों वाला प्रतीत होता है। 'ब्रह्म' को आपने 'अपौरूषेय एवं निरपेक्ष तत्त्व' कहा है। वाणी से वर्णन न किये जा सकने वाले 'ब्रह्म' को श्रीदेव निर्गुण, अगतिशील एवं अचल बताते हैं। शुभ-अशुभ, सुख-दुःख, पाप-पुण्य से सदा अप्रभावित 'ब्रह्म' को आप ज्ञान-अज्ञान, धर्म-अधर्म, मन-वाणी, सत्-असत् धारणाओं से 'परे' मानते हैं। अपने एक उपदेश में आपने कहा है कि 'ब्रह्म उस वायुमण्डल के समान है जो सभी गन्धों से युक्त होते हुये भी उनसे दूषित नहीं होता। अपौरूषेय निरपेक्ष तत्त्व के रूप में श्री देव ब्रह्म को ही एकमात्र 'तत्त्व' मानते हैं। जीव एवं जगत् को आपने ब्रह्म की अभिव्यक्ति मात्र बताये हुए असद् कहा है!

शंकर के समान ही श्रीदेव भी ब्रह्म को सगुण और निर्गुण दोनो रूपों में मानते हैं। जैसे एक व्यक्ति एक ही समय में वस्त्रधारी और निर्वस्त्र रूप में दिखायी देता है उसी प्रकार एक ही तत्त्व 'ब्रह्म' दोनों रूपों में

दिखाई देता है । श्रीदेव के अनुसार शक्ति सहित ब्रह्म सगुण ब्रह्म है और शक्ति रहित ब्रह्म (निष्क्रिय ब्रह्म) को निर्गुण ब्रह्म कहा जाता है । निराकार और साकार का सम्बन्ध जल और बर्फ के सम्बन्ध के समान है।

श्रीदेव ने माया को 'ईश्वरीय शक्ति' कहा है ! पुनः अपने विभिन्न व्याख्यानों में आप माया की तीन शक्तियों का उल्लेख करते हैं । माया को इन्होंने ईश्वर की ब्रह्माण्डीय शक्ति माना ब्रह्म और माया में तदात्म्य सम्बन्ध हैं जैसे अग्नि को ज्वलनशक्ति से भिन्न नहीं किया जा सकता। क्योंकि दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध है । श्रीदेव ने अविद्या को माया का दूसरा रूप माना है ! माया विषय वासना के द्वारा जीव में भ्रान्ति उत्पन्न करके आत्मा के वास्तविक स्वरूप को ढक लेती है जैसे पानी के ऊपर जमी हुई काई पानी के वास्तविक स्वरूप को ढक लेती है । तीसरा रूप उन्होंने अविद्या माया और विद्या माया है जो ईश्वर में निवास करती है । विद्या माया के द्वारा ही ब्रह्म को जाना जा सकता है जिसके विभिन्न रूप ज्ञान, भक्ति, वैराग्य एवं अनुकम्पा है ! परन्तु अविद्या माया जीव को 'ब्रह्म' से दूर कर देती है । श्री देव के विचारों से ऐसा प्रतीत होता है कि वह शंकर वेदान्त पूर्ण रूप से प्रभावित थे !

स्वामी विवेकानन्दजी के बचपन का नाम नरेन्द्रनाथ था । आपका जन्म 12 जनवरी सन् 1863 में कलकत्ता के दत्त परिवार में हुआ था । ब्रह्म समाज द्वारा बहुदेवतावाद एवं मूर्तिपूजा के खण्डन से आप बहुत प्रभावित हुए यही कारण है कि वह जातिवाद एवं अवतारवाद के विरोधी हो गये । लेकिन ब्रह्म समाज भी आपको पूर्ण सन्तुष्टि प्रदान न कर सका क्यकि 'ब्रह्म साक्षात्कार' को आपने अपना ध्येय बना लिया था । इस अभीष्ट के लिए आपने बंगाल के महात्मा श्री रामकृष्ण देव को भी अपना गुरू स्वीकार कर लिया तथा उनके अद्वैतवाद को अपनाया । मुझे यह लिखते हुए भी कोई संकोच नहीं होता कि स्वामी विवेकानन्द पर आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त का अमिट प्रभाव पड़ा ।

विवेकानन्द विशुद्ध अद्वैत वेदान्ती थे । उन्होंने वेदान्त के इस महत्वपूर्ण तथ्य को स्वीकार किया कि ब्रह्म या आत्मा ही एकमात्र परम तत्त्व है । नाना रूपात्मक जगत् मिथ्या है जिसे माया या स्वप्न के समान बताया गया है । जीव और ब्रह्म में किसी भी प्रकार से कोई अन्तर नहीं है । जब जीव को ब्रह्म ज्ञान या ब्रह्म साक्षात्कार हो जाता है तब जीव और जगत् की निस्सारता उसी प्रकार प्रतीत होने लगती है जिस प्रकार रस्सी का ज्ञान होने पर साँप का निराकरण स्वयं हो जाता है । मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र साधन ज्ञान है । कर्म तो हमें सांसारिकता की ओर ले जाता है । स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त के इन सभी सिद्धांतों को सहर्ष स्वीकार किया । ये हो सकता है कि इन्होंने व्याख्या करते हुए कहीं-कहीं पर वेदान्त के सिद्धांतों से अन्तर कर दिया हो । परन्तु यह सत्य है कि इनके विचारों में शंकराचार्य का पूर्ण प्रभाव था ।

मैं निष्कर्ष रूप में कह सकती हूं कि स्वामी विवेकानन्द 'सत्ता के सातत्य' में विश्वास करते थे । इनकी मान्यता थी कि ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है और जगत् ब्रह्म को अभिव्यक्ति है । वेदान्त का मूल मन्त्र 'बहुत्व में एकत्व' है । तत्व केवल एक है । जीवन मात्र स्पंदन है । ब्रह्म नित्य, असीम एवं अनन्त सत्ता है, अतः उसे बाह्य जगत् में नहीं खोजा जा सकता । ब्रह्म आत्म रूप हैं ।

महात्मा गाँधी

पारिभाषिक अर्थ में गाँधीजी को दार्शनिक नहीं, अपितु एक साधक या योगी कहना मुझे तर्क-संगत प्रतीत होता है । उनका 'परम-शुभ' 'सत्य' है । इस परम-शुभ की खोज में 'अहिंसा' जैसे मूल्यों का प्रयोग ही गाँधी जी को साधारण मनुष्य से असाधारण मनुष्य बनाता है।

आचार्य शंकर ने बड़े ही गहन एवं महत्वपूर्ण तरीके से आत्मा एवं परमात्मा के बारे में बताते हुए यह प्रतिपादित किया है कि आत्मा ही परमात्मा है । ठीक इसी प्रकार गांधीजी ने अपनी आत्मकथा के अन्त

में स्पष्ट किया है—"अद्वैती स्थिति की प्राप्ति आत्मशुद्धि के बिना सम्भव नहीं है। बिना आत्मशुद्धि के अहिंसाका अभ्यास एक स्वप्न है। पूर्ण शुद्धताके लिए मनसा, वाचा एवं कर्मणा राग रहित होना पड़ता है।"

गाँधीजी के उपरोक्त विचारों से स्पष्ट है कि शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित आत्मतत्व ही एकमात्र पूर्ण एवं नित्य तत्व है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गाँधीजी के विचारों में जगत् गुरू शंकराचार्य के विचारों की अभिव्यक्ति स्पष्ट परिलक्षित होती है। मनुस्मृति के अध्ययन के साथ-साथ अन्य कतिपय धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन भी गाँधीजी ने किया। परन्तु ध्यानपूर्वक विचार करने से पता चलता है कि उन पर इन धार्मिक ग्रंथों का प्रभाव लगभग नहीं के बराबर ही पड़ा। उनका सत्य तो शंकराचार्यके अद्वैत ब्रह्म की ही तरह है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि गाँधी के सर्वोदय का समाज दर्शन साध्य रूप से ईश्वर आस्था की भावना पर ही आधारित है। गाँधीजी का सत्य ही एकमात्र सत्य है तथा इसी का साक्षात्कार जीवन का परम शुभ है। अपनी आत्मकथा में उन्होंने स्वयं लिखा है—"अपने विकास में मुझे ईश्वर का—परम सत्य का धूमिल आभास भी हुआ है। मेरे विचार से इस संसार में सबकुछ असत्य एवं अनिश्चित तथा क्षणिक है। लेकिन इन सब में परम सत्य, सत्य के रूप में छिपा हुआ है। मानवीय भाषा ईश्वर को व्यक्त करने में असमर्थ है।' 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' जैसे उपनिषदिक् कथनों का गाँधीजी पर स्पष्ट प्रभाव लगता है। यही कारण है कि वह भी ईश्वर को अनिवर्चनीय कहते हैं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

भारतीय समन्वयवादिता का उत्कृष्ट प्रतिनिधित्व रवीन्द्रनाथ ठाकुर के द्वारा किया गया है। इस अर्थ में अगर उन्हें भारतीय आत्मा का सजग प्रहरी कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। 'साधना' में वह कहते हैं कि हमारे उपनिषदों में मानवीय जीवन का परम लक्ष्य प्रशान्तत्व एवं आत्मैकत्व बताया गया है जिसका अर्थ होता है कि ऐसे लोग मनुष्य एवं प्रकृति में पूर्ण सामंजस्य में रहते हैं। इसीलिए वे निर्विघ्न ईश्वर के सम्पर्क में रहते हैं। दर्शन की विभिन्न समस्याओं का चाहे सात्त्विक हों या नैतिक हों, रवीन्द्र की इस समन्यवादी प्रकृति के द्वारा सही मूल्यांकन हो सकता है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ईश्वर एवं जीव की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ये दोनों सत्ताएं उच्च एवं निम्नस्तरीय हैं। इस प्रकार वह सत्ता के तारतम्य सिद्धान्त में अपने विश्वास को प्रकट करते हैं। उनके अनुसार जगत ईश्वर का आभास मात्र है किन्तु आभास को सर्वथा मिथ्या नहीं कहा जा सकता। इन्होंने आगे कहा कि शांकर वेदान्त भी जगत् को वंध्यापुत्र के मिथ्यात्व के अर्थ में मिथ्या नहीं मानता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार जगत् की व्यावहारिक सत्ता है। अद्वैत वेदान्त की आधारभूमि उपनिषद् भी जगत् की सत्ता का निषेध नहीं करता है। जो मात्र संसार में अविद्या में लिप्त हैं वे तो अन्धकार में रहते ही हैं किन्तु वे जो अपने आपको ब्रह्म का अधिकारी व विद्या का अधिकारी समझ बैठे हैं वे ज्यादा अन्धकार में डूबे हुए हैं।

"अन्धं तमः प्रविशऽन्ति येऽविद्यामुपासते।
यतो भूय इव ते तमो य उ विद्यायांरताः।" (साधना पृ० 7)

इस प्रकार शंकर के समान ही रवीन्द्र भी ईश्वर जीव एवं जगत् तीनों की सत्ता में विश्वास करते हैं। जीव एवं जगत् में रवीन्द्र एक ही सत्ता का आभास पाते हैं इस तरह से ईश्वर चिद्चिद् दोनों में ही व्याप्त है। यहाँ पर हमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर का "सर्वंखलुमिदंब्रह्म" सर्वात्मवादी दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है जिसमें जीव एवं जगत् में भेद तो है पर विरोध नहीं है। जीव एवं जगत् में विरोध कली एवं सुविकसित पुष्प के विरोध के समान है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने दार्शनिक ग्रन्थों में ब्रह्म ईश्वर व परमपुरुष शब्द का प्रयोग किया है।

इनका ये जीवन देवता ईश्वर का ही पर्यायवाची शब्द है समस्त जीवों में ईश्वर अर्थात् जीवन देवता को देखकर रवीन्द्र का मन विभोर हो जाता है। रवीन्द्र के प्रकृतिदर्शन में औपनिषदिक सर्वात्मवाद की स्पष्ट झलक दिखायी देती है। शंकर ने भी समस्त जीवों में ब्रह्म के स्वरूप को माना है इसीलिये उन्होंने जीव को ब्रह्म ही मानकर 'ब्रह्म जीव एव न, अपरः' कहा है। यह तब ही ज्ञात होता है जब अविद्या व अज्ञान का अन्धकार दूर हो जाता है। रवीन्द्र के अनुसार हमारी सत्ता निरर्थक है यदि हम यह आशा भी छोड़ दें कि हम पूर्णता की प्राप्ति कर सकते हैं। जैसे ही हमारी आत्मा ब्रह्म से साक्षात्कार कर लेती है, उसकी हर क्रिया को परम उद्देश्य की प्राप्ति हो जाती है। 'यतो वाचो निर्वतन्ते अप्राप्य मनसा सह आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान न विभेति कुतश्चन' (साधना पृ० 159)—मनसहित वाणी ब्रह्म के स्वरूप को नहीं जान पाती है परन्तु जो विद्वत्जन ब्रह्म के उस आनन्द की प्राप्ति कर लेता है, वह अभय हो जाता है। पूर्णता में किसी स्तर की आवश्यकता नहीं है। ब्रह्म में अधिकाधिक होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। वह 'एकमेवा द्वितीयम् है। ऐसा ब्रह्म हमारी उपासना एवं ध्यान के दैनिक पाठों में सत्तात्मक भेदों की सारी बाधाओं से रहित अद्वैत परम तत्व, जो कि अनन्त है, उसको साक्षात्कार करने का लक्षण है।" (साधना पृ० 59)। रविन्द्रनाथ ने अनन्त का लक्षण इस प्रकार दिया हैं "अनन्त का गुण परिमाण का विस्तार नहीं है, वह इसके अद्वैत में है, जो एकता का रहस्य है।" (क्रिएटिव यूनिटी पृ० 4) इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कुछ विशेष स्थलों को छोड़कर रवीन्द्र शंकर के अद्वैत सिद्धान्त से पूर्णरूपेण प्रभावित रहे हैं।

इकबाल का जन्म 22 फरवरी 1873 को स्यालकोट में हुआ था। इनके पूर्वज कश्मीरी ब्राह्मण थे इकबाल के विचारों में हमें जर्मन साहित्य एवं दर्शन की स्पष्ट झलक दिखायी देती है, विशेष रूप से नीत्शे की।

इकबाल ने सर्वेश्वरवाद का खण्डन करते हुए आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट किया है। शंकर के समान ही इकबाल भी अनुभूति को अपने दर्शन का प्रस्थान विन्दु मानते हैं। ईश्वर के अस्तित्व को आत्मानुभूति के द्वारा ही समझा जा सकता है। इकबाल की तत्वमीमांसा का आधार भी यही आत्मानुभूति है।

शंकर के समान ही इकबाल ने ब्रह्म अर्थात् ईश्वर को 'सम्पूर्ण सत्ता' माना है जो आध्यात्मिक है दूसरे शब्दों में वह आत्मा एवं व्यक्ति है, शंकर भी आत्मा और ब्रह्म को एक ही मानते हैं 'अस आत्मा ब्रह्मः इसी तरह इकबाल ईश्वर को मानवीय आत्मा की तरह ईश्वर को अनुभवों की इकाई मानता है। अतः उसे आत्मा ही कहा जा सकता है। वास्तव में देखा जाए तो ईश्वर पूर्ण अथवा परम आत्मा है। सब वस्तुएं ईश्वर में ही हैं। उसके बाहर किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है।

ईश्वर की अन्य बुद्धि ग्राह्य विशेषताएं इकबाल के अनुसार सृजनशीलता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता एवं शाश्वता है, साधारण आत्मा के लिए प्रकृति निश्चय ही 'अन्य तत्व' है परन्तु ईश्वर के लिए 'अन्य' नहीं है। इसका कारण है कि प्रकृति ईश्वर की सतत क्रियाशीलता की स्पष्ट अभिव्यक्ति है। यह ऐसी क्रिया या प्रवाह है जिसके क्रम में कोई व्यवधान या बाधा नहीं है। अबाधित है, क्रम व्यवधान एवं पृथकता के केवल मनुष्यकी बुद्धिको ही आभास होते हैं। ईश्वरकी क्रिया दैशिक काल में न होकर केवल शुद्धकाल में होती है।

डॉ० राधाकृष्णन का जन्म भारत में 1888 में हुआ। 1952 से 1962 तक वे भारत के उप-राष्ट्रपति और 1962 में राष्ट्रपति बने। डॉ० राधाकृष्णन का धर्म एवं दर्शन के प्रति भावात्मक दृष्टिकोण रहा। आपने बहुत सी पुस्तकें लिखी जिसमें द फिलासफी आफ रवीन्द्रनाथ टैगोर, द हिन्दू व्यू आफ लाइफ एन आइडियालिस्ट व्यू आफ लाइफ, ईस्ट एण्ड वेस्ट इन रिलीजन आदि में आपके दार्शनिक विचारों की स्पष्ट झलक दिखायी देती है।

राधाकृष्णन के विचार में जिसे तत्वमीमांसीय दृष्टि से आध्यात्मिक सत् कहा जाता है वही धार्मिक

चेतना की दृष्टि से 'ईश्वर' कहलाता है । इन्होंने ईश्वर के सविशेष एवं निर्विशेष दो प्रकार के स्वरूप माने हैं साथ-ही-साथ इनका मत है कि ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणों के माध्यम से सिद्ध नहीं किया जा सकता । अनुमिति के आधार पर उसके अस्तित्व का जब ज्ञान हो जाता है तथा प्रमाणों के माध्यम से हम उसके अस्तित्व को सरलता से प्रमाणित कर सकते हैं ।

शांकर वेदांत ईश्वर की सविशेष स्वरूप की प्रज्ञा स्तर पर सापेक्षता को स्वीकार करता है । व्यावहारिक दृष्टि से हमारी चेतना विश्व के वैविध्य को यथार्थ रूप में स्वीकार करती है परन्तु जैसे ही हम व्यावहारिक दृष्टिकोण को छोड़कर पारमार्थिक दृष्टिकोण को अपना लेते है । तब हमें विश्व का स्ववर्ती रूप एक भ्रममात्र लगता है और ब्रह्म की एकमात्र सत्यता का बोध होने लगता है । शंकर ने भी 'ब्रह्म सत्यं जगत मिथ्या' कहकर इस बात की पुष्टि की है । परन्तु यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि न तो शंकर ने जगत् को पूर्णरूपेण मिथ्या बताया है और न ईश्वर को आभास । यही मत राधाकृष्णन के विचारों में हमें दिखायी देता है । एक की सत्ता व्यावहारिक दृष्टिकोण से सत् है तो दूसरे की सत्ता पारमार्थिक दृष्टिकोण से सत् है । राधाकृष्णन ने वेदान्त में शंकराचार्य के दर्शन को प्रस्तुत करते हुए इस बात को स्वीकार किया है । परन्तु वह कहते हैं कि अद्वैत मत विश्व और ब्रह्म के अद्वैत का समर्थक है । वास्तविक रूप से देखा जाय तो 'कारणता' के वैज्ञानिक नियम में तथा 'अनन्यत्व' के दार्शनिक प्रत्यय में अन्तर स्पष्ट है यह विचार शंकराचार्य ने भी स्वीकार किया है ।[1] राधाकृष्णन स्वयं इस अन्तर को स्वीकार करते हैं कि शांकर वेदान्त का मत उनके वेदांत मत से भिन्न है ।

'आइडियलिस्ट व्यू आफ लाइफ' में डा0 राधाकृष्णन के अनुसार अन्त: प्रज्ञात्मक अनुभूति का अर्थ है परम सत् से तादात्मय की अनुभूति । उन्होंने ईश्वर के निर्विशेष रूप की चर्चा करते हुए 'माया' एवं 'अनिर्वचनीय' शब्दों का प्रयोग किया है ठीक इसी प्रकार से ब्रह्म की सत्ता को स्थापित करते हुए और जगत् की निस्सारता को व्यक्त करते हुए शंकराचार्य ने 'माया' एवं 'अनिवर्चनीय' शब्दों का प्रयोग किया है । हम व्यावहारिक स्तर पर इस भौतिक जगत् को सत्य मानने लगते हैं जिसका कारण अज्ञान है । ठीक उसी प्रकार से जैसे अन्धकार में हम रस्सी को साँप समझने लगते हैं ।

श्री अरविन्द

15 अगस्त 1872 ईस्वी में जन्मे श्री अरविन्द स्वदेशी आन्दोलन के सक्रिय क्रान्तिकारी के रूप में सन् 1908 में कारागार की सलाखों में अंग्रेजी सरकार के द्वारा कैद कर लिये गये । यही कारागार इनके आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भिक विन्दु है । स्वतन्त्रता संग्राम में गांधीजी के आदर्शों का अनुकरण करते हुए श्री अरविन्द पाण्डिचेरी चले गये । पाण्डिचेरी में इन्होंने अपने आध्यात्मिक जीवन को गति दी तथा उपनिषदों एवं गीता का गहन अध्ययन किया । कतिपय काव्यो एवं महाकाव्यों की स्थापना करते हुए सन् 1926 में आपको सिद्धि प्राप्त हुई तथा सन् 1950 में आप महासमाधि को प्राप्त हुए ।

1. for Shankara the question is an illegitimate one and so impossible of answer. It is because we shift our stand point in the course of our argeement that the problem arises. For an imaginary difficulty there cannot be any real solution···Again a relation presupposes two distincts, and if Brahman and World are to be related, they should be regarded as distinct, but the Advaita holds that the world is no other than Brahman. The Vedanta, p. 131-132

समकालीन भारतीय दार्शनिकों में श्री अरविन्द अग्रगण्य हैं। विशुद्ध दार्शनिक दृष्टि से श्री अरविन्द मूलतः वेदांत दर्शन के समर्थक हैं लेकिन शांकर वेदांत का वह पूर्णरूपेण समर्थन नहीं करते। 'माया' के सन्दर्भ में आपका मत है कि यह सर्वव्यापी ज्ञान की माया तथा अज्ञान की माया नाम से दो प्रकार की है (Cosmic Maya of knowledge & cosmic Maya of Ignorance)। श्री अरविन्द सत्य शब्द को अतिप्राज्ञ अर्थ में प्रयुक्त करते हुए कहते हैं कि इस स्तर पर तार्किक 'संगति' या 'प्रामाणिकता' से सम्बन्धित प्रश्नों का कोई महत्व नहीं होता। विवर्तवाद एवं शून्यवाद की तुलना करते हुए वह कहते हैं कि विवर्तवाद शून्यवाद की अपेक्षा अधिक सन्तोषपूर्ण है क्योंकि इसमें जगत की व्यावहारिकता सत्ता को स्वीकार किया गया है।

श्री अरविन्द के अनुसार परम सत् में एक ऐसी शक्ति विद्यमान है जो नानात्व के आविर्भाव का स्रोत है। यह शक्ति जिस विश्व का सृजन करती है वह न मिथ्या है और न असत्। परम सत् की परिपूर्णता पर विशेष बल देते हुए उन्होंने कहा कि जीवन के स्थिर और गतिशील दोनों ही पक्षों का समुचित आधार परम सत ही है। अर्थात् जीवन के स्थिर और गतिशील दोनों ही पक्ष वस्तुतः दो न होकर सत के एकत्व में पूर्णतः समन्वित है।

श्री अरविन्द यह स्वीकार करते हैं कि बोध के अन्तिम आयाम में व्यावहारिक सत अपनी परिपूर्णता प्राप्त करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि विवर्तवाद से अरविन्द का विरोध वास्तविक न होकर केवल इस उद्देश्य से प्रेरित है कि विवर्तवाद के विरोध में ब्रह्म परिणामवाद को अधिक स्पष्ट किया जाय। यहाँ यह जानना अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि विवर्तवाद न तो विश्व की उत्पत्ति की चर्चा करता है और न ही परम सत् में एक असत् विश्व को सम्भव बनानेवाली सृजनशक्ति को ही स्वीकार करता है। विवर्तवाद तो स्पष्ट रूप यह घोषणा करता है कि ब्रह्म तथा जगत् के बीच भावात्मक अथवा अभावात्मक दोनों ही प्रकार के सम्बन्धों सम्बन्धों की कल्पना भ्रामक है। अतः विवर्तवाद को यह कहकर आलोचना करना कि इसमें विश्व का सम्पूर्ण निषेध किया गया है अत्यन्त भ्रामक है। इस प्रकार श्री अरविन्द यह कहकर शंकराचार्य से अपना भेद रखते हैं कि यह जगत् ब्रह्म का विवर्तमात्र न होकर ब्रह्म की मुक्त सृजनात्मक अभिव्यक्ति है। ब्रह्म के प्रारूपों की चर्चा करते हुए श्री अरविन्द ने स्पष्ट कहा है—"You can become *Para bramhn,* you cannot know 'Para bramhan."[1]

1. अरविन्द बर्थ सेंटेनरी लाइब्रेरी—पॉंडिचेरी, वाल्यूम 17

सौंदर्य लहरी में प्रतिपादित शक्ति स्वरूप

डा० प्रेमलता पालीवाल

आदौ गजाननं नत्वा नत्वा जगद्गुरुं शिवम् ।
आचार्यं शंकरं नत्वा भजे त्रिपुरसुन्दरीम् ।।

भूतभावन भगवान शंकर के अवतार आदिगुरु शंकराचार्य द्वारा विरचित सौन्दर्य लहरी एक ऐसा अलौकिक ग्रन्थ है जो अशेष ब्रह्माण्ड की अधिष्ठात्री देवी, स्थूलरूपेण संस्थिता विराट अधिभूता भागवती शक्ति के अप्रतिम सौन्दर्य का आद्योपान्त निरूपण करता है। इसका वैशिष्ट्य इस तथ्य में सन्निहित है कि शक्ति-स्वरूप के प्रतिपादनार्थ श्री चक्रस्थ श्री विद्या की अधिष्ठात्री देवी महात्रिपुर सुन्दरी अधिदेवता रूपेण, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की स्थावर जंगात्मक वैश्वमयी अधिभूता शक्ति अधिभौतिक रूपेण, व निर्गुण ब्रह्म की सत् चित् आनन्दात्मक चिन्मयी चितिशक्ति आध्यात्मिक रूपेण समन्वित कर अद्वैतवाद का ही प्रतिपादन किया गया है। सगुण उपासना के दिव्य स्वरूप को दिग्दर्शित करते हुए केनोपनिषद की अतिशोभनी हैमवती उमा अथवा पुराणोक्त पर्वत नन्दिनी पार्वती के स्त्रीस्वरूप को निर्गुणी निराकारी ब्राह्मी शक्ति से संयुक्त कर पूज्य चरण श्री शंकराचार्य ने सगुणोपासना का समाहार वस्तुतः निर्गुण उपासना में ही किया है जो अद्वैतवाद की संसद्धि का द्योतक है।

उपासनात्मक दृष्टि से व्यक्तित्व भावनासृष्टि का निर्वचन होना स्वभाविक है किन्तु सभी उच्च-कोटिक साधकों, सिद्धों, सन्तों व दार्शनिकों का निजी अनुभव है कि अन्तिम चरण में सगुण उपासना की परिसमाप्ति निर्गुण उपासना में ही होती है। इस अनुभूति परक भाव को भगवान कृष्ण स्वयं समर्थन कर श्रीमद्भगवद् गीता में उद्घोषित करते हैं—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।।

(गीता 7, 24)

अर्थात् बुद्धिहीन मनुष्य मुझ अव्यक्त को व्यक्तिमापन्न मानते हैं क्योंकि वे मेरे उत्तम अव्यय परं भाव को नहीं जानते—

अतः यह निर्विवाद सत्य है कि सौन्दर्य लहरी के व्याज से आचार्य शकर ने परब्रह्मात्मा पराम्बा परमेश्वरी शक्ति के सगुणात्मक सौन्दर्य के माध्यम से 'एकं सद विप्रा बहुधा वदन्ति' अथवा 'एकमेव द्वितीयो नाऽस्ति सिद्धान्त को ही महिमान्वित किया है।

अत्र सौन्दर्य लहरियों में निमज्जन करने से पूर्व ग्रंथ के अनुबन्ध चतुष्टय समझना अभीष्ट है। जैसा कि सर्वतः निगदित है—

विषयो विषयश्चैव सम्बन्धश्च प्रयोजनम् ।
विनानुबन्धं ग्रन्थादौ मंगलं नैव सश्यते

प्रत्येक ग्रन्थ के चार अंग होते हैं—विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध व अधिकारी । 'सौन्दर्य लहरी' का विषय परास्बा का अनुपम, अलौकिक, अप्रतिम सौन्दर्य है जिसका प्रयोजन स्पष्टतः तत्त्वज्ञान की अपरोक्षानुभूति ही है । इसमें सौन्दर्य के पिपासुओं अथवा जिज्ञासुओं के लिए बोध्य व बोधक भाव का सम्बन्ध स्पष्ट किया गया है । इसमें अधिकारी है वह जन्म-मरण रूपी अग्नि से संतप्त व आतुर प्राणी जो परब्रह्म स्वरूपिणी त्रिपुर सुन्दरी के रूपशैत्य-उर्मियों में निमग्न होने के लिए ऐसे उन्मत्त हो जैसे कोई दीप्त शिरा अगम जलराशि की ओर भाग रहा हो अपना सर्वाङ्ग डुबो देने के लिए ।

श्रुति कहती हैं—'यो वै भूमा तत् सुखम—नाल्पे सुखमस्ति'—भूमा अर्थात् ब्रह्म में ही सुख है, अल्प में सुख नहीं । भक्ति विषयक मूर्धन्य पुराण श्रीमद्भागवत एवं पूर्व पुराणों से लेकर आचार्य शंकर तक भक्तिधारा में प्रवाहित सभी सन्तों व भक्तिमार्गियों ने इस 'भूमा' तत्त्व को भगवान्' शब्द से निर्वचन किया है जिसमें श्री, ऐश्वर्य, वैराग्य, धर्म, मोक्ष व यशगानादि छः लक्षण घटित किये हैं—इस प्रकार सभी सन्तों व भक्तों ने भगवान या भगवती को अपना उपास्य मानकर सगुण उपासना में ही सौन्दर्य की अनुभूति की है ।

श्री शंकराचार्य ने अपनी तात्त्विक दृष्टि से सौन्दर्य की मूल चेतना में झांककर अनुभव किया कि सौन्दर्य एक ऐसा अद्भुत तत्त्व है जो प्रबुद्ध अबुद्ध सभी को आकृष्ट करता है—उन्होंने तात्कालिक परिस्थितियों पर दृष्टिपात कर अनुभव किया कि काल के प्रभाववश जन-जन सगुण-सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट हैं—कलाकारों, मूर्तिनिर्माताओं की चेतना दिव्य सौन्दर्य को कलाकृतियों में भरने के लिए आतुर है—तभी तो भगवान् बुद्ध के तपःपूत क्षीणकाय रूप को त्यागकर कलाकारों ने ऐसी बुद्ध मूर्तियों निर्मित की जो आज संग्रहालयों का शृंगार बन गई हैं । यहां तक कि जैन तीर्थंकरों, शाक्तों, वाममार्गियों व चार्वाक के अनुयायी कलाकारों ने भी सौन्दर्य के प्रति अवनत होकर दिव्य रूपमाधुरी को ही प्रतिबिम्बित किया है ।

ब्रह्मज्ञानी भगवन् शंकराचार्य ने इस सत्य को हृदयंगम कर विचार किया कि क्या निर्गुण में भी सौन्दर्य की स्थापना की जा सकती है ? जिस 'तत्त्व' के विषय में श्रुति 'नेति नेति' उद्घोषित कर मौन हो जाती है, उस तत्त्व को क्या किसी सौन्दर्य-बोध के माध्यम से मुखरित किया जा सकता है ?

आचार्य चरण की महती अभीप्सा तीव्र अनुभव में परिणत हुई और लोक कल्याण हेतु आपने ब्रह्म तत्त्व की अद्वैतानुभूति के उपरान्त आद्याशक्ति त्रिपुर सुन्दरी के सर्वाङ्गीण सौन्दर्य को अनुभव करने की तीव्र जिज्ञासा प्रकट की ऐसा प्रतीत होता है जैसे श्री व्यासदेव समस्त पुराण लिखने के उपरान्त श्रीमदभागवत् भक्तिपरक रचना के बाद ही परितुष्ट हुए, वैसे ही भगवान् शंकर 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' के उपरान्त 'अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा' ने ही आत्मरत हुए । इस प्रकार जैसे श्री व्यास भगवान् ने लौकिक प्रेम को अलौकिक प्रेम में परिपुष्ट किया, वैसे ही आचार्य शंकर ने लौकिक सौन्दर्य को अलौकिक सौन्दर्य में प्रतिबिम्बित किया । क्यों न हो ? शतदल कमल कितना सुन्दर है—सगुण है—स्वरूपवान है—तभी तो भ्रमर भी उस पर मंडराता है और साथ ही जन-जन के नयन चषक उसके मधु को अपने में भरने के लिए लालायित रहते हैं—विचारणीय विषय हैं कि इस शतदल का सौन्दर्य सृष्टा का सौन्दर्य है—यदि कमल इतना सुन्दर है तो इसका सृष्टा कितना सुन्दर होगा ? यदि कमल में इतनी स्निग्धता, पवित्रता, सौम्यता है, तो इसके सृष्टा में गुणों के अतिरिक्त अन्य कितने गुण होंगे ?

आचार्य चरण शंकर ने इस अपूर्व भागवती सौन्दर्य का अनुभव किया और अपनी ललित लेखनी से सौन्दर्य लहरी का विरचन कर भारतीय संस्कृति को महिमान्वित किया ।

निर्विवादरूपेण सौन्दर्य की उपासना तभी होती है जब वह सत्य हो और शिव भी हो। अलीक सौन्दर्योपासना एक प्रपंच है और अशिव की उपासना सभी सुधिजनों को अग्राह्य है। इस शक्त शिव में 'इकार' का ही तो सौन्दर्य है जिससे युक्त होकर ही तो वह शिव है, श्रेयस्कर है। इस शक्ति 'इकार' के सौन्दर्य को यदि शिव से पृथक कर दें तो शिव भी शव मात्र रह जायगा जो अशक्त सिद्ध होगा। ऐसे ईश में स्पन्दन भी असम्भव है। और यदि 'शक्त' में 'इकार' युक्त कर दें तो वह शक्ति बन जावेगा—और तब शक्ति से शक्तियुक्त अर्थात् शक्तिमान होकर 'दिव्य' की क्रीड़ा स्फुरित हो जाएगी—इस 'दिव्य-क्रीड़ा हेतु ही हम सूक्ष्म शक्ति का आह्वान करते हैं जो अलक्षित अव्यक्त होकर भी अशेष ब्रह्माण्ड का अभ्युदय, पोषण व विलय करती हैं और उसी प्रकार एक बिन्दु में समाहित रहती हैं जैसे वटवृक्ष एक बीज में प्रतिपादित है—

सा जयति शक्तिराद्या निजसुखमयनित्यनिरूपमाकारा,
भाविचराचर बीजं शिवरूपविमर्श निर्मलादर्शः।

अर्थात जो अपने ही सुख में आसीन हैं? अनन्त हैं, चराचर जगत् का बीजरूप हैं, शुद्ध आदर्श हैं जिसमें शिव (अहंकार) अपना स्वरूप देखते हैं, उनकी सदा जय हो—वे परब्रह्म हैं—सत् हैं। वे ही प्राणारूपेण हमारी श्वास प्रश्वास में बसी हुई हैं।

जाने अनजाने हम अपने श्वास प्रश्वास में नित्य शक्ति संयुक्त शिव का 'अजपा' नाम गायत्री द्वारा नैसर्गिक जप करते रहते रहते हैं। एक स्वस्थ मानव 216000 अजपा श्वास प्रश्वास जप करते हुए अहोरात्र में भगवती शक्ति संयुक्त शिव का ही जाप करता है। श्वास लेते हुए 'सो' और छोड़ते हुए 'हम्'—इस प्रकार बिना जपे ही 'सोऽहम्' का वह प्राणायाम द्वारा अजपा गायत्री का जप होता है=यथा

'हंकारेण बहिर्याति सोकारेण विशेत्पुनः।
हंसो हंसेति जीवोऽयं मंत्रं जपति सर्वदा॥

शास्त्रानुसार विज्ञानमय कोष ज्ञान का मनोमय कोष इच्छा का तथा प्राणामय कोष क्रिया का द्योतक है—इस प्रकार ज्ञान इच्छा और क्रिया—ये ही शिव में स्थित शक्ति के तीन रूप हैं जो विराट विश्व की कार्यकारणभूता रूपेण विराजमान होकर अखिल प्रपंच का सृजन पोषण व तिरोधान करती हैं। 'सोऽहं' में विपरीत क्रम से 'हंसः' पढ़ा जा सकता है। अत्र हं जिसमें आकार आश्लिष्ट है अहंकार का वाचक है जिसके देवता शिव हैं। सः परोक्ष सत्ता को इंगित करता है। अहम तो सभी के द्वारा अनुभूति सिद्ध है तभी तो समस्त प्राणी 'अहमस्मि' का ही अनुभव करते हैं। इस अनुभव में ज्ञान, क्रिया और इच्छा शक्ति युक्त सः (सा) का सहयोग ही शिव कों परम शिव बनाता है। शिव से परम शिव अथवा परम तत्त्व का ज्ञान मार्ग एवं उसके निर्गुण तत्त्व की प्राप्ति भी अभिलषित है और शक्ति से शुद्ध विद्या उस परम तत्त्व की प्राप्ति के उपाय स्वरूप महाविद्या समझा जा सकता है। 'स' शब्द का मूल तत् है। 'सोऽहं' में स तथा ह के स्तोभ को हटाकर केवल ओ३म् शेष रह जाता है जैसा कि शास्त्र में निगदित है—

'अस्तोभमनवद्य च सूत्रं सूत्रविदोविदुः।'

अर्थात स्तोभरहित, अनिन्द्यसूच शिवशक्ति सायुज्य का "सोऽहम्" द्वार ओ३म् है। इसमें हम् की स्वीकृति सत्पदार्थ की ही है। जब तत् की उपलब्धि हो जाती है तो सांसारिक समस्त आशा तृष्णारूपी पूतना का वध सुनिश्चित है। अथवा त्रिगुणात्मक त्रिपुरासुर के वधोपरान्त :

"त्रैगुण्यविषयावेदाः निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्य सत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

गीतोक्ति के अनुसार निर्गुण निर्द्वन्द्व आत्मनिष्ठ अवस्था में स्थित भगवती त्रिपुरसुन्दरी की उपलब्धि होती है। अतएव "ॐ तत् सदिति निर्देशः ब्रह्मणस्त्रिविधः" श्लोक द्वारा श्री भगवान 'ॐ तत् सत्' का निरू-

पण कर तत् पद की प्राप्ति होने पर निरभिलाष होने की ब्राह्मी स्थिति का निर्देश करते हैं—इनमें 'ऊं तत् सत्' पद भगवती त्रिपुर सुन्दरी की क्रिया, इच्छा व ज्ञानशक्ति के वाच्य हैं। ऊंकार द्वारा परान्बा ललिता के सौन्दर्य की प्रथम लहरी क्रिया रूप में उठती है। यद्यपि ऊं निर्गुण अक्षर ब्रह्म वाचक है, हंस जीव वाचक है और 'सोऽहम्' ब्रह्मात्यैक्य पद है। ह स दोनों हादि विद्या के प्रथम दो अक्षर हैं—एतदर्थ सौन्दर्यलहरी के प्रथम मंगलाचरण श्लोक में स्पन्दन अर्थात आनन्द लहरी के माध्यम से श्रीविद्या का ही संकेत किया गया है—

शिव शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं,
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरञ्चादिभिरपि
प्रशन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति॥

अर्थात यदि शिव, शक्ति से युक्त होकर ही सृष्टि करने को शक्तिमान होता है और यदि ऐसा न होता तो वह ईश्वर स्पन्दित होने के भी योग्य न था—इसलिए तुझ हरि व ब्रह्मा की भी आराध्या की स्तुति करने में कोई कैसे समर्थ हो सकता है।

इसमें शिव 'हं' वाच्य व शक्ति 'स' वाच्य है—अतः हंस मंत्र सिद्ध होता हैं जो जीव की श्वास में सदैव उपस्थित रहता है।

इस प्रकार उच्छ्वास व निःश्वास कृत सः हं (सोऽहम) का जोड़ा शिव शक्ति का संयोग वाचक है जो आदि शक्ति की सर्वशक्तिमत्ता का परिचायक होकर ब्रह्मा विष्णु महेश के आराध्य भाव का द्योतक है—अतः भगवती त्रिपुर सुन्दरी की आराधना, उनके सौन्दर्य-रस की उपासना रस-योगियों के लिए सर्वदा अभीष्ट है।

सौन्दर्य लहरी का सौन्दर्य स्पन्दन भाव से ओत प्रोत है—वह अद्वितीय अनुपम सौन्दर्य विश्व के कण कण में लहरिया बनकर समाया हुआ है—यहाँ पर कठिनाई यह है कि ब्रह्म देश काल से अतीत है, उसमें आकाश के ओत प्रोत होने की भावना मात्र होने से माया के अस्तित्व का व्यंजक होता है—किन्तु स्पन्दन क्रिया ब्रह्म में सम्भव नहीं देशकालातीत होने के कारण—स्पन्दन तो केवल आकाश में ही सम्भव है क्योंकि वहां देश व काल की सीमा है—क्रिया शक्ति के माध्यम से भगवान शंकराचार्य ने ब्रह्म में आकाश, आकाश में स्पन्दन, स्पन्दन शक्ति में और शक्ति में ब्रह्म तेज को द्युति, सबका समन्वय और अद्भुत रूप लावण्य सृष्ट किया है। श्रुति कहती है—

'एतस्मिन्नु खल्वरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च'

(बृहदा० 3, 8, 11)

अर्थात इस ब्रह्म में निश्चय, हे गार्गि! आकाश ओत प्रोत है समन्वय भाव से कहा गया है—'शिवः शक्तया युक्तो भवति शक्तः प्रभवितुय अर्थात शक्ति से युक्त शिव प्रभव करने में शक्त होता है। इसी भाव को मन्त्र शास्त्र माया बीज उदघोषित करता है—हकार आकाश का द्योतक, रकार स्पन्द का, ईकार शक्ति का और अनुस्वार ब्रह्म के प्रतिबिम्बित तेज का। ब्रह्म में माया का तम तमोमय है किन्तु वह हिरण्यमय कान्तियुक्त होता है—तभी तो उसे हिरण्यगर्भ भी कहते हैं—श्रुति कहती है—

'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।'

अर्थात् सत्य का मुख हिरण्यमय पात्र से ढका हैं। मानो आकाश में श्री प्रभा बस गई हो अर्थात् हकार शकार में परिणत हो गया हो—हकार व शकार दोनों आकाश वाचक हैं। हकार के स्थान पर शकार रख देने से मायाबीज ही लक्ष्मी बन जाता है। रकार अग्नि का बीज है—अग्नि स्वयं शक्तिस्वरूप है और उसका वर्ण हिरण्यमय तेजोमय है—किन्तु यह कान्ति उसकी अपनी नही, ब्रह्मशक्ति की है जैसा कि

श्रुति कहती है—

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'

तभी तो शंकराचार्य भी कहते हैं—'न चेदेवं देवो न खलुकुशल: स्पन्दितुमपि ।'

अर्थात् यदि ब्रह्म शक्ति युक्त न होता तो उसमें स्पन्दन न होता । ब्रह्म की इसी निर्गुणी व सगुणी शक्ति के स्वरूप में भगवती त्रिपुर सुन्दरी के सौन्दर्य का माधुर्य पान किया गया है—यही ब्रह्मविद्या है—यही श्री विद्या है जो तांत्रिक व वेदान्तिक अर्थात् आगम निगम सिद्धान्तों से सिद्ध होकर समूची भारतीय विचार धारा का मंडन व मंथन करती है—यही श्री विद्या श्री गौडपादाचार्य श्री शंकराचार्य प्रभृति की इष्ट रूप में विराजमान वेदों में प्रतिपाद्य 'एकमेक द्वितीयो नाऽस्ति' तत्व है—इन्हीं के लिए ब्रह्म सूत्र उद्गान करता है :

'जन्माद्यस्य यत:'

(ब्रह्मसूत्र 1, 1, 2)

यह सर्वविदित है कि श्रीविद्या का सर्वाङ्ग सौन्दर्य रूपी स्थूल शरीर श्री चक्रस्थ है जिसमें भगवती त्रिपुरसुन्दरी अपनी निःशेष शक्तियों सहित सुशोभित हैं'—इस प्रकार श्री चक्र ब्रह्माण्ड का प्रतीक है—'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' उक्ति के अनुसार मानव देह भी एक श्री चक्र है जिसमें आदि शक्ति भगवती त्रिपुर सुन्री अपनी सम्पूर्ण शक्ति व सौन्दर्य स्वरूप सहित विद्यमान हैं—

श्री चक्र के अनुपम सौन्दर्य का रस पान करने हेतु निम्न श्लोक दृष्टव्य है जिसमें श्री चक्रस्थ चार शिव कोण व पांच शक्ति कोण अपने ऐश्वर्य व माधुर्य का सर्वाङ्ग गुणगान कर रहे हैं—

चतुर्भि: श्रीकण्ठै: शिवयुवतिभि: पंचभिरपि: ।
प्रभिन्नाभि: शम्भोर्नवभिरपि मूलप्रकृतिभि: ।

त्रयश्चत्वारिंशद्वसुदलाश्च (कलाश्च) त्रिवलय—
त्रिरेखाभि: सार्धं तव शरण (भवन) कोणा: परिणता: ।।

अर्थात् चार श्री कंठ व पांच शिव युवतियों से युक्त नौ मूल प्रकृतियों से भगवती के निवास हेतु 43 त्रिकोण निर्मित होते हैं जो शम्भु के बिन्दुस्थान से भिन्न है । वे तीन वृत्तों व तीन रेखाओं सहित आठ और सोलह दलों से युक्त है ।

इस श्लोक में श्रीचक्र के प्रारूप में पराम्बा ललिता त्रिपुर सुन्दरी के स्थूल यांत्रिक स्वरूप के विराट शक्ति युक्त सौन्दर्य का वर्णन निरूपित है जो अपनी विविध यांत्रिक रूपों के द्वारा विश्वविमोहन कर क्षण-क्षण में नवीनता प्रतिपाद्य करता है—यही सौन्दर्य सौष्ठव है—

क्षणे क्षणे यद् नवतां विधत्ते तदेव रूपं रमणीयताया: ।

इस श्री चक्र के माध्यम से भगवत् पाद श्री शंकर ने ब्रमाण्ड व पिंड के ऐक्य को सौन्दर्यपुष्ट कर वस्तुत: ब्रह्म व जीव की एकता का ही सौदर्यगान किया है—इस रहस्योद्घाटन की शुभ वेला में यह जानना अभीष्ट है कि श्री चक्र रूपी बहिर्याग हमें भगवती के अखिल सौन्दर्य को अपने अन्तर में अनुभव करने की दिशा में अभिप्रेरित करता है—तभी तो सन्त कबीर कहते हैं—

हमारे तरीथ कौन करे ।
मन में ही गंगा मन में ही जमुना मन स्नान करे ।
× ×
कहत कबीर सुनो भई साधो भटकत कौन फिरे ।

श्री चक्र की रचना चार श्री कंठ अर्थात् शिव-त्रिकोण व पांच शिव युवति अर्थात् शक्ति त्रिकोणों से सम्पन्न होती है। शिव शक्ति त्रिकोण विपरीत दिशा में बनते हैं जैसे △▽ सृष्टि क्रम में पांच शक्ति त्रिकोण ऊर्ध्वमुखी और चार शिव त्रिकोण अधोमुखी व विलय क्रम में शक्ति त्रिकोण अधोमुखी व शिव त्रिकोण ऊर्ध्वमुखी और होते हैं। प्रथम केन्द्रीय त्रिकोण को छोड़कर शेष त्रिकोणों की संख्या 42 है। प्रथम मध्य त्रिकोण के बाहर चारों ओर दूसरे नम्बर पर आठ कोण बनते हैं, फिर तीसरे व चौथे स्तर पर दश-दश बनाए जाते हैं। उनके अन्तर्दशार व बहिर्दशार कहते हैं—उनके ऊपर 14 कोण बनते हैं—उनको चतुर्दशार कहते हैं। मध्यम केन्द्रीय बिन्दु आदि शक्ति—शम्भु का स्थान है जो प्रकृति स्वरूप 9 त्रिकोणों के योग से चित। पूरे चक्र से अलग या असंगरूपेण स्थित है। 43 कोणों के चक्र के बाह्य प्रथम वृत्त पर अष्टदल पद्म और दूसरे वृत्त पर षोडशदल पद्म स्थित है। यह षोडशदल पद्म तीन वृतों से घिरा है—सबसे बाहर तीन रेखाओं का चतुष्कोण है जिसे भूगृह कहते हैं—भूगृह की चारों भुजाएं बराबर हैं और चारों और दिशाओं में चार द्वार होते हैं। 36 तत्त्व तथा सात धातुओं को मिलाकर 43 तत्त्व निगदित हैं। अष्टधा प्रकृति इत्यादि मिलाकर सत् बुद्धि चित्त अहंकार को संयुक्त कर 36 तत्त्व कहे जाते हैं—रक्त, मांस, मेदा; स्नायु, अस्थि, मज्जा व शुक्र के भेद से सप्त धातु कही जाती हैं। शक्ति, शुद्ध विद्या अर्थात् परा, माया, कला और अशुद्ध विद्या अर्थात् अपरा नाम से पांच शिव युवतियां भणित हैं और सदाख्य, महेश्वर, महत्तत्त्व और पुरुष (जीव) अथवा पुरुष; अव्यक्त, महत् और अहंकार चार श्री कंठ हैं जिनका सामुच्य पंच तन्मात्राओं से इंगित किया जा सकता है।

तत् पद से भगवती त्रिपुरसुन्दरी की इच्छा शक्ति के सौन्दर्य का निरूपण किया गया है—इच्छा शक्ति के अप्रतिम मदन मोदनाख्य भाव के मादकतत्व को आस्वादन करने की दिशा में आचार्य शंकर ने भगवती की इच्छा शक्ति से शारीरक कल्प का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।

वेदान्त की दृष्टि से जीवब्रह्मैक्य भाव के कारण मनुष्य में शैशव यौवनादि अवस्थाओं का निरसन किया गया है। जीव में विविध अवस्थाएं देश कालादि का परिणाम है—शंकर निश्चयरूपेण विवर्तवाद के पोषक हैं परन्तु उपासना के क्षेत्र में उन्हें भी परिणाम वाद का आश्रय लेना अभीष्ट है यथा ब्रह्मसूत्र के 2/1/14 के भाष्य में उनकी यह अन्तिम उक्ति दृष्टव्य है "अप्रत्याख्यायैण कार्य प्रपंच परिणाम प्रक्रियां चाश्रयति सगुणेषु उपासनेषुपयोक्ष्यते इति" कार्य प्रपंच की सिद्धि हेतु तो विवर्तवाद ही निश्चित सिद्धान्त है किन्तु सगुण उपासना में परिणामवाद उपयोगी है। पुनः ब्रह्मसूत्र के उपसंहार पर श्री शंकराचार्य स्पष्ट करते हैं—

तस्मादेकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगात् क्षीरादिवत् विचित्र परिणाम उपपद्यते।

अतः चित्रविचित्र शक्ति के संयोग से एकमात्र ब्रह्म में भी दुग्ध से दधि, आतञ्चन (कलाई), नवनीत आदि की भान्ति विचित्र परिणाम होते हैं। इसी चित्रविचित्र रूपात्मिका अभिनव अभ्युदय युक्त शक्ति सौन्दर्य का रसपान कर नव नवायमान होते हुए भगवत पाद शंकराचार्य ने भागवती का रूप मोहिनी के द्वारा शारीरिक कल्प का स्तवन प्रस्तुत कर हमें कृतार्थ किया है। यही उनका 'मदनमोहनाख्य' भाव है जिसमें वे उद्गान करते हैं—

नरं वर्षीयांसं नयनविरसं नर्मसु जडं
तवापाङ्गालोके पतितमनुधावन्ति शतशः।
गलद्वेणीबंधाः कुचकलशविस्रस्त सिचया
हठात्त्रुट्यत्कांच्यो विगलितदुकूला युवतयः॥

अर्थात् वयोवृद्ध, कुरूप, जड़ मनुष्य भी तेरी दृष्टि पड़ने मात्र से ऐसा रमणीय हो जाता है कि सहस्त्रों स्त्रियां उसके पीछे भागने लगती हैं, जिनकी वेणी के बन्ध खुल गए हैं, कुच कलशों से चोली फट गई है, जिनकी मेखला हटात् टूट गई है और जिनकी साड़ी शरीर से उतरी जा रही है।

यहां काम कला 'ई' अर्थात् इच्छा शक्ति का विलास स्पष्ट किया गया है—साथ ही वैष्णव तंत्र का 'मदनाख्य' व 'मदनाख्य' भाव समाहित कर यह भी कहा जा सकता है कि जीव रूपी जो मदन अपने अप्रतिम सौन्दर्य से कभी कोटि-कोटि युवती जनों के मन हरण करने में समर्थ था, वही अपनी समर्पण अवस्था में 'मोहनाख्य' भाव के प्रति समर्पित हो जाता है—यही जीव की ब्रह्म के प्रति शरणागति है—इस 'इच्छा लहरी' के माध्यम से कुंडलिनी शक्ति जागरण द्वारा काय—विभूति प्राप्ति का रहस्य ही उद्घाटित किया गया है जिसमें षटचक्र वेधनक्रिया द्वारा 'पंचमहाभूत जय' का महामंत्र अभिप्रेरित है।

योग दर्शन के अनुसार रूप, लावण्य, बल और शरीर का वज्रवत् संगठित होना काय संपत् कहा गया है। पंचभूत विजय प्राप्त कर मनुष्य अणिमादि सिद्धियां प्राप्त कर सकता है। सिद्धियों का स्थान बहिर्मुख होने से श्रीचक्र के बाह्य चतुष् कोण पर इन्हें प्रदर्शित किया जाता है—अतः सिद्धियां साधक के लिए गौण ही बताई गई हैं। काय सम्पत् का वास्तविक अर्थ है जीव की प्रत्येक नाड़ी में अमृत संचरण होना जो केवल दिव्य देह में ही प्राप्तव्य है—अमृत संचरण का साक्षात् फल है कि मनुष्य ऊर्ध्वरेता होकर भगवती के विश्वविमोहन सौन्दर्य से तादात्म्य स्थापित कर लेता है—इसी स्थिति को सन्तों ने इस प्रकार कहा है—

'बिन्दु में सिन्धु समाय को कापै अचरज करै'

यद्यपि शक्ति शक्तिमान् से पृथक् नहीं है तथापि वह इच्छा के रूप में परमेश्वर के ही अधीन कार्य करती है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में यह प्रश्न हुआ कि हम किससे और कहां से उत्पन्न हुए एवं किसके अधीन जीवन मरण और सुख-दुःख भोगते हैं? कौनसा और किसका वह अटल नियम है? ध्यान योग से देखने पर उन्हें उस देवशक्ति का बोध हुआ जो चिन्मयी शक्ति है और सब पर शासन करती है। "देवात्म शक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्' ऐसी उस शक्ति को 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्।' शक्तिमान इस इच्छाशक्ति की इस इच्छा शक्ति को ब्रह्म सूत्र में भी 'तदधीनत्वात् तदर्थवत्' 1/4/3 सूत्र पर भगवान् शंकर कहते हैं: 'परमेश्वराधीनात्वियमस्मा सृष्दृत्वं सिद्धयति। शक्तिरहितस्य तस्य प्रवृत्यनुपपत्तेः।' जगत् की पूर्वावस्था परमेश्वर के अधीन है, ऐसा निश्चित मत है। वह स्वतंत्र नहीं। एवं उसके बिना परमेश्वर का सृजन कार्य सिद्ध नहीं होता क्योंकि बिना इच्छा शक्ति के प्रवृत्ति ही उत्पन्न नहीं होती।

'सौन्दर्य लहरी स्तोत्र' के दो भाग हैं—पूर्वार्द्ध आनन्द लहरी तथा उत्तरार्द्ध सौन्दर्य लहरी के नाम से विश्रुत है। सत्+चित्=ब्रह्म की सत् शक्ति के आधार पर भौतिक सृजन एवं चित् शक्ति से चेतन जगत् का प्रादुर्भाव हुआ है। ब्रह्म शक्ति स्वयं आनन्द स्वरूप होने से सत् में प्रियत्व अर्थात् सौन्दर्य-भाव उत्पन्न करती है और चित् में चित् के चेतन स्तर को उदीप्त कर आत्मानन्द का अनुभव प्रदान करती है। यहां पाश्चात्य दर्शन का Doctrine of Self Love or NARCISSISM—

अर्थात् 'आत्माराम भाव'

प्रतिपादित किया गया है—मधुरिमा इस भावसराणि में है कि स्वयम् स्वयम् पर न्योछावर है—स्वयम् ही स्वयम् का भाग्य है—स्वयम् ही स्वयम् का भोक्ता है—स्वयम् ही स्वयम् का प्रेरिता है यही आत्मरमण भावाञ्जलि 'सौन्दर्य लहरी' के सर्वाङ्ग सौन्दर्य का सार है—

इस प्रकार 'आनन्दं ब्रह्मणे विद्वान्न विभेति कदाचन' श्रुत्यानुसार इन आनन्द लहरियों का रसयोग केवल रसिक विद्वान् ही कर सकते हैं।

भारतीय वाङ्मय में त्रिपुरसुन्दरी-शक्ति का वाचक प्राण तत्त्व भी उद्घोषित किया गया है तभी

तो उपनिषद् एक स्वर में उद्गान करते हैं—

'यदिदं किञ्चजगद् सर्वं प्राण एजति निःसृतम्'

(कठो० 6/2)

तथा 'स प्राणानसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्'

(प्रश्नो 6/4)

तथा स ईक्षां चक्रे स प्राणामसृजत'

(प्रश्न० 6/3)

तात्पर्य समस्त जगत् आदि शक्ति प्राण के स्पन्दन का ही परिणाम है। सम्भवतः आधुनिक लहर सिद्धान्त (Ware Theory) भी इसी प्राण तत्त्व को ही निरूपित करता है।

अमल कमल बदना भगवती के अनुपम विराट विग्रह का निरूपण करने के उपरान्त आचार्य शंकर उनके चरण कमलों की वन्दना हेतु व्यापक व्याप्त भावेन स्तवन करते हैं—

क्षितौ षट्पंचाशाद्विसमधिकेपंचाशदुदके,
हुताशे द्वाषष्टिश्चतुरधिकपंचाशदनिले।
दिवि द्विषट्त्रिशन्मनसि च चतुषष्टिरिति ये
मयूखास्तेषामप्युपरि तव पादाम्बुजयुगम्॥

अर्थात् पृथ्वी में 56 में जल 52 में 52, अग्नि में 62, वायु में 54, आकाश में 72 और मन में 64 मयूखा के ऊपर, हे देवि! तेरे दोनों चरण कमल विराजमान हैं।

उक्त किरणों का सम्बन्ध मनुष्य पिंड के अन्दर स्थित षट्चक्रों से हैं और भगवती के चरण कमल आज्ञा चक्र के रूप में सर्वोपरि विराजमान हैं। शिवशक्त्यात्मक भाव की परिपुष्टि हेतु उक्त किरणों में आधी शिवात्मिका व आधी शक्त्यात्मिका बताई गई हैं—तात्पर्य यह है कि दो दो के जोड़े से पृथ्वी में 28, जल में 26, अग्नि में 31, वायु में 17, आकाश में 36 और मन में 32 किरणों के जोड़े हैं। सब का योग 360 होने से चान्द्र वर्षानुसार एक वर्ष की 360 तिथियों से इंगित किया गया है। श्रीचक्रस्थ षोडश दल की गुप्तचर योगिनियाँ नित्या कहलाती हैं जो प्रत्येक पक्ष की 15 तिथियों की वाचक हैं।

'सौन्दर्य लहरी' स्तोत्र के नवम् श्लोक में वर्णित चक्र-वेधन के साथ ही तत्त्व बोधन प्रक्रिया भी इंगित की गई है जिससे तत्त्वों पर जय प्राप्त कर साधक योगदर्शनानुसार भूतजय, मनोजय व प्रकृतिजय प्राप्त करता है।

अत्र इडा से सम्बन्धित किरणों चन्द्रमा अर्थात् शक्ति की किरणों तथा सूर्य सम्बन्धी पिंगल किरणें सूर्य अथवा शिव की किरणें हैं। सुषुम्ना नाड़ी में चन्द्र सूर्य दोनों का योग होता है। कार्य कारणभूता श्रीभगवती के पादारविन्दों तक अर्थात् आज्ञाचक्र तक पहुंचने का एकमात्र उपाय है कार्य को कारण में लीन करते हुए षट्चक्रों का भेदन करते हुए सुषुम्ना मार्ग से सहस्त्रार तक की वेधन प्रक्रिया का रहस्योद्घाटन जो भगवती की अहर्निश सौन्दर्योपासना के माध्यम से कृपालब्ध साधकों को प्राप्त होता है—

पराम्बा त्रिपुरसुन्दरी की दिव्यमूर्ति से उत्कीर्ण 'किरण-तंत्र' का ज्ञान, होने पर ही साधक कृतकृत्य हो पाता है। यह 'किरण-तन्त्र' इस विराट प्रपंच के पंचभूतात्मक तत्त्वों से घनीभूतेन आश्लिष्ट है जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व आकाश में व्यूखाओं के माथ व्यष्टि-समष्टि व्यवस्था को प्रकाशान्वित करता है। पंच तत्त्वों के भेद से किरणों की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

पृथ्वी की 56 किरणें—5 महाभूत, 5 तन्मात्रा, 5 कर्मेन्द्रियां, 5 ज्ञानेन्द्रियां, 4 अन्तःकरण चतुष्टय, कला, प्रकृति, महत् और पुरुष। इनका योग 28 है और शिवशक्ति भेद से 56 है।

जल की किरणें—5 महाभूत, 10 इन्द्रियां, 10 उनके कार्य और मन, इनका योग 26 और शिव शक्ति भेद से 52।

अग्नि की किरणें—5 महाभूत, 5 तन्मात्राएं, 10 इन्द्रियां, उनके कार्य और मन सबका योग 31 है। शिवशक्ति योग से 62।

वायु की किरणें—5 महाभूत, 5 तन्मात्रा, 5 कर्मेन्द्रियां, ज्ञानेन्द्रियां, 5 ज्ञानेन्द्रियां, 4 अन्तःकरण चतुष्टय, कला, प्रकृति और पुरुष। इनका योग 27 है—शिवशक्ति भेद से 54।

आकाश की किरणें—सब 36 तत्त्व, शिवशक्ति भेद से 72।

इसके अतिरिक्त मन की किरणों का निरूपण इस प्रकार किया गया है—प्रथम 4 शुद्ध तत्त्व अर्थात् शिव, शक्ति सदाख्य और महेश्वर को छोड़कर शेष 32। शिवशक्ति भेद से 64।

सौन्दर्य लहरी टीका
श्री 108 स्वामी विष्णु तीर्थ पृ० 123

इस समूचे प्रपंच के प्रसार में नाम और रूप अथवा वाचक और वाच्य भाव से दो स्तर किये गये हैं—इन्हीं को शब्द और अर्थ अर्थात् 'शब्दार्थ संप्रक्तौ' भी कहा गया है। अर्थभेदानुसार 5 कलाएं, 36 तत्त्व और 14 भुवन हैं जबकि शब्दभेदानुसार 51 वर्ण, 81 और 11 मन्त्र से अखिल विश्व का प्रसार माना गया है। शास्त्रों ने लिंग (स्त्री, पुरुष, नपुंसक), 3 पुरुष (उत्तम: मध्यम व अन्य), 3 वचन (एक, द्वि और बहु) और 3 काल के परस्पर योग से 3×3×3×3 को गुणाकर 81 प्रकार के पद बताए हैं। 5 कर्मेन्द्रियां, 5 ज्ञानेन्द्रियां और अन्तःकरण के ग्यारह व्यापारों की सिद्धि हेतु 11 प्रकार के बन्त्र बताए हैं। उनके 11 देवता 11 रुद्र हैं। इस प्रकार 360 किरणों का वर्णमाला अर्थात् मातृका से सीधा सम्बन्ध है और प्रत्येक किरण का पृथक् पृथक् देवता है।

मातृकाओं का सीधा सम्बन्ध पंचभौसिक किरण तत्त्वों से इस प्रकार है—

1. पृथ्वी—56 किरणें = 50 मातृका × ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः
2. जल—52 किरणें = 50 मातृका × सौं श्रीं
3. अग्नि—62 किरणें = 50 मातृका × औ 4 बार, हंसः 4 बार
4. वायु—54 किरणें = 50 मातृका × यं रं क्षं वं
5. आकाश—72 किरणें = अ 5 बार—औ 5 बार = 14 × 5 = 70 × ऐं ह्रीं

मन—थ4 किरणें = अ वर्ग 4 बार = 16 × 4 = 64

अर्चनीया भगवती त्रिपुरसुन्दरी की ज्ञान शक्ति उस ज्ञान लहरी का उद्दीपन करती है जिसके प्रवाह मात्र से साधक को वाक् सिद्धि प्राप्त हो जाती है। योग शिखोपनिषद् के अनुसार मन्त्र, वेद, शास्त्र, पुराण और काव्य, विविध भाषाएं और सातों स्वर नाद से हीं उत्पन्न होते हैं। नादरूपा भगवती भारती अर्थात् माँ सरस्वती समस्त प्राणियों की बुद्धिरूपी गुहा में रहती हैं। इस नादरूपी बैखरी शक्ति का ध्यान करने वाले योगी को सरस्वती के प्रसाद से वाक् सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

यह ज्ञातव्य है कि कुण्डलिनी शक्ति के जागरण का प्रसाद चार रूपों में प्रकट होता है—क्रियावती, कलावती, वर्णमयी व वेधमयी। इनमें शारीरिक कंपनादि क्रियाएं, मुद्राएं आदि क्रियावती का रूप है, जब कि 36 तत्त्वों के प्रसार में कलावती गुंजित होती हैं। वर्णमयी सरस्वती मन्त्रमयी है और षट्चक्र वेधन क्रिया वेधमयी है। वर्णात्मिका सरस्वती हीं समस्त शब्दमय जगत् को परा, पश्यन्ति, मध्यमा व बैखरी स्तरों पर धारण किए हुए हैं जैसा कि ऋग्वेद में उद्घोषित किया गया है—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेगयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥
(ऋक्—मं० 1, अ० 22, सू० 164, मं० 45)

अर्थात् वाचा चार पाद वाली होती है, उनको बुद्धिमान् ब्राह्मण ही जानते हैं। उनमें से तीन तो गुहा में निहित हैं—वे अपने स्थानों से नहीं हिलती—चौथी बैखरी को मनुष्य बोलते हैं।

वाक् सिद्धि हेतु आचार्य चरण शंकर ने सारस्वत प्रयोग का ध्यान बताकर भगवती के अनुपम सौंदर्य का मंथन कर हम जीवों का कल्याण किया है। पराम्बा का शरदोत्फुल्लमल्लिका युक्त सौन्दर्य से विभूषित अभयद वकद मुद्राएं इतनी प्रभावशाली हैं कि एक बार इस मनमोहिनी मूर्ति को हृदयंगम कर व्यक्ति सुकवि की पदवी धारण कर लेता है जैसाकि आचार्य कहते हैं—

शरज्ज्योत्स्नाशुभ्रां शशियुतजटाजूटमुकुटां
वरत्रासत्राण स्फटिकघुटि (णि) का पुस्तक कराम् ।
सकृन्न त्वां नत्वा कथमिव सतां सन्निदधते
मधुक्षीरद्राक्षामधुरिमधुरिणा भणितयः ॥

अर्थात् शरत् पूर्णिमा की चांदनी के सदृश शुभ्रवर्णा द्वितीया के चन्द्रमायुक्त जटाजूटरूपी मुकुट धारण किए हुए, हाथों से अभयद, वरद मुद्राओं से युक्त और दो हाथों में स्फटिक मणियों की माला और पुस्तक धारण किए हुए तुझको एक बार भी नमन न करने वाला व्यक्ति किस प्रकार सत्कवि की भाँति मधु, दूध व द्राक्षा की मधुरता से युक्त मधुर कविता कर सकता है—अर्थात् नहीं कर सकता है।

जगदम्बा त्रिपुरसुन्दरी के अनिन्द्य सौन्दर्य का महिमा मंडित गान करते हुए आचार्य शंकर उस सिद्ध बिन्दु पर पहुंचते हैं जहाँ वे अखिल लोक माता भुवनेश्वरी की रूप-माधुरी के ध्यान से 'मधुमती भूमिका' की सिद्धि उद्घोषित करते हैं। स्पष्टतः 'मधुमती भूमिका' ज्ञान योग की वह दिव्य स्थिति है जहां ब्रह्मज्ञानी को 'सर्वं खल्विदम ब्रह्म' के अनुसार सर्वत्र ब्रह्म के ही दर्शन होते हैं—इस ब्राह्मी स्थिति में देवाङ्गनाएं साधक को पथभ्रष्ट करने का प्रयास करती है—अथवा यूं भी कहा जा सकता है कि योगदर्शन के विभूतिके अनुसार विभिन्न विभूतियों को ऋतम्भरा प्रज्ञा के उदय होने पर वासित करती हैं। इस शुद्ध सत्त्वगुण प्रधान भूमिका में योगी को सर्वत्र शक्ति का प्रकाश, भगवती की अरुणा कान्ति छाया ही उद्भाषित हाती है—अतः यहा प्रलोभनों में सतर्क रहने के लिए उद्बोधन करते हुए आचार्य शंकर भगवती के प्रसादी स्वरूप द्वारा मधुमती भूमिका-सिद्धि हेतु उद्गान करते हैं—

तनूच्छायाभिस्ते तरुणतरणिश्री ध(स)रणिभि—
दिवं सर्वामुर्वीमरुणिमनिमग्नां स्मरति यः ।
भवन्त्यस्य त्रस्यद्वनहरिणशालीननयना:
सहोर्वश्या वश्याः कतिकतिन गीर्वाणगणिकाः ॥

अर्थात् तरुण सूर्य की कान्ति धारण करने वाले तेरे शरीर की छाया आकाश और समस्त पृथ्वी को अपनी अरुणिमा में निमग्न करती हुई तेरी छवि का जो स्मरण करता है, घबराई हुई वन की हरिणियों जैसे चंचल नयनों वाली उर्वशी सहित कितनी ही की अप्सराएं उसके वश में हो जाती हैं।

भागवती सौन्दर्य की अनुपमा अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंचती है जब आचार्य चरण भगवान शंकर जगदम्बा के मुख को बिन्दु रूपेण स्मरण कर काम कला बीज का ध्यान-मन्त्र प्रदान कर सकते हैं—

मुखं बिन्दुं कृत्वा कुचयुगमधस्तस्य तदधो
ह (का) रार्धं ध्यायेद्यो हरमहिषि ते मन्मथकलाम् ।

स सद्यः संक्षोभं नयति वनिता इत्यतिलघु
त्रिलोकीमप्याशु भ्रमयति रवीन्दुस्तनयुगाम् ॥

अर्थात् मुख को बिन्दु बनाकर दोनों स्तनों को उसके नीचे दो और बिन्दु बनाना चाहिए। उसके नीचे (का) र के अर्धभाग का ध्यान करना चाहिए। हे हरमहिषि ! इस प्रकार जो तेरी काम कला का ध्यान करता है वह तुरन्त स्त्रियों के चित्त में क्षोभ पैदा करता है। यही नहीं, वह सूर्य और चन्द्ररूपी दो स्तनवाली त्रिलोकी को भ्रमा सकता है।

आचार्य शंकर ने अपने एक सौ तीन श्लोकों से युक्त अपने इस अद्भुत सौन्दर्य लहरी ग्रन्थ में भगवती का नख-शिख वर्णन कर एक अनुपम लावण्ययुक्त उपासना का सौन्दर्यलोक प्रस्तुत किया है जिसमें काव्य की संवित् संधिनी और आह्लादिनी शक्ति के साथ-साथ वेदान्त-सार व आगमपरक अनुभव सिद्ध कर दिया है। शक्ति ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण ब्रह्म ही है, अन्य नहीं। जड़ चेतन इसके दोनों ही रूप हैं। आपने सौन्दर्य लहरी के प्रथम श्लोक में शिव शक्ति की एकरूपता, दूसरे में सत्कारणवाद, तीसरे श्लोक में उपासना द्वारा मोक्ष प्राप्ति कर 6वें 7वें श्लोकों में बहिर्ध्यान और 8वें में भगवती के अभ्यन्तर ध्यान सहित 9वें 10वें श्लोकों में षट्चक्रवेधन क्रिया की ओर इंगित किया है—तदुपरान्त बहिरूपासना हेतु ब्रह्माण्ड के प्रतीक स्वरूप यन्त्र का वर्णन कर भगवती की अनुपम सौन्दर्य साधना द्वारा वाक् सिद्धि, काय सम्पत, मधुमती भूमिका सिद्धि, काम कला ध्यान आदि उद्घोषित करते हुए किरीट से लेकर चरण कमल ध्यान तक समस्त साधनों का उपसंहार 'तत् सत् सोऽहम् में किया है।

अन्त में अवशेष समर्पण करते हुए श्री शंकराचार्य अपनी वाणी को विराम देते हैं—

निधे नित्यस्मेरे निरवधिगुणे नीतिनिपुणे
निराधाटज्ञाने नियमपरचित्तैकनिलये।
नियत्यानिर्मुक्ते निखिलनिगमान्तस्तुतपदे
निरातंके नित्ये निगमय ममापि स्तुतिमिमाम् ॥

हे सदा हंसमुखि, असीम गुणनिधे, नीतिनिपुणो, निरतिशयज्ञानवति, नियमपरायण भक्तों के चित्त में स्थान पाने वाली, नियति से निर्मुक्त, सर्वशास्त्रवन्द्य अभये धां ! सनातनि ! मेरी इस स्तुति को स्वीकार कर अपने निगमों में स्थान दो—

प्रदीप्त ज्वालाभिर्दिवस नीराजनविधिः
सुधासेतुश्चन्द्रोपलजललवैरर्घ्य रचना।
स्वकीयै रम्भोभिः सलिलनिधि सौहित्यकरणं
त्वदीयाभिर्वाग्भिस्तव जननि वाचां स्तुतिरियम् ॥

हे जननि ! तेरी प्रदान की हुई वाक्शक्ति से की गई इस स्तुति के शब्द इस प्रकार हैं जैसे दीपक की ज्वालाओं से सूर्य की आरती उतारना अथवा चन्द्रकान्त मणि से टपकते हुए जल कणों से चन्द्र को अर्घ्य देना अथवा समुद्र का सत्कार उसी के जल से करना।

आइए ! हम और आप भी जगद्गुरु आचार्य शंकर को हार्दिक भावाञ्जलि अर्पित करते हुए पराम्बा त्रिपुरसुन्दरी के प्रति प्रणत हो उनकी अहैतुकी कृपा प्राप्त करें।

श्री मण्डन मिश्र तथा स्वामी श्री सुरेश्वराचार्य

डा० श्री मुरलीधर पाण्डेय (राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित)

भगवत्पाद आद्य श्री शंकराचार्य के प्रमुख शिष्यों में इन दो के नाम बड़े समादर के साथ लिये जाते हैं—आचार्य श्री मण्डन मिश्र तथा स्वामी श्री सुरेश्वराचार्य जी। भगवत्पाद आचार्य श्री शंकर का आविर्भाव काल 788-820 ई० माना जाता है।[1] आचार्य श्री मण्डन मिश्र का काल आचार्य शंकर से लगभग 100 वर्ष पूर्व माना जाता है।[2] यह भी प्रसिद्ध है कि भगवत्पाद शंकर के साथ श्री मण्डन मिश्र जी का शास्त्रार्थ हुआ था तथा बाद में श्री मण्डन मिश्र ही सन्यास ग्रहण करने पर चतुर्थ आश्रम में श्री सुरेश्वराचार्य नाम से प्रसिद्ध हुए। ये दोनों एक ही व्यक्ति है या दो हैं इस विषय पर ब्रह्मसिद्धि की भूमिका में श्री कुप्पुस्वामी शास्त्री ने बड़े ऊहापोह के साथ विवेचन किया है। अन्त में उन्होंने यह निर्णय किया है कि ये दोनों परस्पर भिन्न व्यक्ति है एक नहीं हैं। इन दोनों के सिद्धान्तों में अनेक भेद हैं, जिनमें एक प्रसंख्यान वाद भी है। आचार्य मण्डन मिश्र प्रसंख्यान को मानते हैं तथा आचार्य सुरेश्वर प्रसंख्यान को नहीं मानते हैं।

श्री मण्डन मिश्र का कहना है कि—'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वति' (बृ० आ० उप० 4/4/21) इस श्रुति में प्रज्ञापद उपासना परक है। इस प्रकार इस श्रुति का अर्थ है कि 'तत्त्वमसि-प्रज्ञानं ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि, सोऽयमात्मा ब्रह्म इत्यादि महा वाक्यों के श्रवण से ब्रह्म का विज्ञान होता है और प्रज्ञा अर्थात् उपासना से ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। श्री मण्डन मिश्र ने ब्रह्मसिद्धि में इसको इस प्रकार कहा है—'तथा च विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वति इत्यात्मतत्त्वविज्ञानस्य सिद्धतां दर्शयति'''दृष्टा च ज्ञानाभ्यासस्य सम्यग्ज्ञानप्रसाद हेतुता लोके। भावना विशेषाद्धि अभूतमप्यनुभवमापद्यते किं पुनर्भूतम्। (ब्रह्मसिद्धि नि० का० 182 का०) इसके अनुसार ब्रह्म साक्षात्कार के लिए ब्रह्मज्ञान का अभ्यास करना जरूरी है। इस अभ्यास को आचार्य मण्डन मिश्र ध्यान, भावना और उपासना शब्द से अभिहित करते हैं। उन्होंने लिखा है कि—तिस्रश्च प्रतिपत्तयो ब्रह्मणि-प्रथमा तावच्छब्दात् अन्या साक्षात् प्रतिपद्य तत् सन्तानवर्ती ध्यानभावनोपासनादिशब्दवाच्या, अन्या ततो लब्धनिष्पत्ति-

1. द्रष्टव्य (क) इण्डियन फिलासफी, श्री राधाकृष्णन् भाग 2 षष्ठ संस्करण पृष्ठ-448।
   (ख) श्री पी० बी० काणे, जर्नल बाम्बे ब्रांच रायल एसियाटिक सोसायटी, भाग-3 (न्यू सीरीज) पृ० 289-293।
   (ग) दास गुप्त, ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी भाग-2 पृ० 47।
   (घ) ब्रह्मसिद्धि की भूमिका—श्री कुप्पुस्वामी शास्त्री, पृ० 58।
2. श्री पी० बी० काणे, जर्नल बाम्बे ब्रांच रायल एसियाटिक सोसायटी भाग-3 (न्यू सीरीज) पृ० 289-293। ब्रह्मसिद्धि की भूमिकायें श्री कुप्पुस्वामी शास्त्री ने आचार्य मण्डन मिश्र का समय 615 से 695 ई० माना है।

विगलितनिखिलविकल्पा साक्षात्काररूपा ।

(ब्र० सि० नि० का० प्रारम्भे पृ० 741)

इसी भावनाविशेष उपासना को प्रसंख्यान कहा जाता है । श्री मण्डन के इस उपासना को खण्डन करने में प्रवृत्त श्री सुरेश्वराचार्यजी ने नैकर्म्यसिद्धि में प्रसंख्यान के लिए कहा है—

प्रसंख्यानं नाम तत्त्वमस्यादि शब्दार्थान्वय व्यतिरेकयुक्ति विषयबुद्धयाम्रेडनमुच्यते ।

(नै० सि० 3/90)

श्री सुरेश्वराचार्यजी ने बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य वार्तिक में भी ऐसा कहा है—'आवृत्तिश्च प्रसंख्यानम् ।'

(बृ० आ० उप० भा० वा० स० वा०—790)

ब्रह्मसिद्धि के सिद्धिकाण्ड की ग्यारहवीं कारिका की व्याख्या में शंखपाणि लिखते हैं—'एवं तर्हि शब्दात् प्रमिते ब्रह्मणि तत्साक्षात् करणायोपासनादि प्रवृत्तेः ।'

(ब्र० सि० सि० का० 11 का०)

इस प्रसंख्यान को श्रीवादरायण ने—'अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' (ब्र० सू० 2/4/24) इस सूत्र के द्वारा मान्यता दी है । यहां संराधन का अर्थ आराधना किया जाता है । श्री वाचास्पति मिश्र तथा श्री अमलानन्द जी भी प्रसंख्यान को मानते हैं श्री अमलानन्दजी ने—'प्राणस्तथानुगमात्' (ब्र० सू० 1/1/28) इस सूत्र की अपनी कल्पतरु व्याख्या में अपने तथा श्री वाचस्पति मिश्र के मत को इस प्रकार लिखा है—

अपि संराधने साक्षाच्छास्त्रार्थप्रमजा प्रमा ।
शास्त्रदृष्टिर्मता तां तु वेत्ति वाचस्पतिः परम् ॥

श्री मधुसूदन सरस्वती जी तो श्रीमद्भगवत्गीता की व्याख्या में स्थल-स्थल पर उपासना की महिमा गाते नहीं थकते । वे लिखते हैं—

कालिन्दी पुलिनोदरे किमपि तन्नीलं महो धावति ॥

(गीता अ० 13 के प्रारम्भ में)

कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

(गीता अ० 15 तथा 18 के अन्त में)

किन्तु आचार्य सुरेश्वर प्रसंख्यान के प्रबल विरोधी हैं । वे श्री मण्डन मिश्र के प्रसंख्यान को बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य वार्तिक में तथा नैष्कर्म्यसिद्धि में बड़े जोरदार शब्दों में खण्डन करते हैं । वे श्री मण्डन मिश्र को पण्डितंमन्य कहते हैं और श्री मिश्र के कथन को असत् कहते हैं—

अन्ये तु पण्डितमन्या सम्प्रदायानुसारतः ।
विज्ञायेति वचः श्रौतमिदं व्याचक्षतेऽन्यथा ॥

(बृ० आ० उप० भा० वा० 4/4/796)

श्री आनन्दगिरि ने स्पष्ट किया है कि "अन्ये" से यहां तात्पर्य श्री मण्डन मिश्र से है । इसी प्रकार नैष्कर्म्य सिद्धि में भी प्रसंख्यान का खण्डन किया गया है—

निराकुर्यात् प्रसंख्यानं दुःखित्वं चेत्स्वनुष्ठितम् ।
प्रत्यक्षादिविरुद्धत्वात् कथमुत्पादयेत् प्रमाम् ॥

(नै० सि० 3/89)

इस प्रकार आचार्य श्री सुरेश्वर ने बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिक ग्रन्थ में बीसों वार्तिकों में

तथा नैष्कर्म्य सिद्धि के दशों श्लोकों में प्रसंख्यान पक्ष का खण्डन किया है और पण्डितमन्या (बृ० आ० उ० भा० वा० 4/4/796) गम्भीरन्याय वेदिनः (वही 4/4/10) तथा महामीमांसकाः (वहीं 4/4/891) कहकर श्री मण्डन का उपहास किया है।

अद्य श्री शंकराचार्य जी भी प्रसंख्यान के विरोधी हैं वे कहते हैं कि प्रसंख्यान की कोई जरूरत नहीं है। केवल ज्ञान से मुक्ति होती है—"विद्यायाश्च स्वातन्त्र्यात्। स्वतन्त्रा हि ब्रह्मविद्यासहकारि-साधनान्तरनिरपेक्षा पुरुषार्थं साधनेति च।"

(बृ० आ० उप० भा० 4/3/1)

ऐसी स्थिति में गृहस्थाश्रम के श्री मण्डन चतुर्थाश्रम में सुरेश्वर हो गये और दोनों एक ही है ऐसा मानना बड़ा कठिन है। एक तो दोनों के समय में लगभग 100 वर्षों का अन्तर तथा सिद्धान्तों में इतना भेद है कि दोनों को एक मानना असंभव है। आश्रम भेद से सिद्धान्त भेद का समर्थन किया भी जाय तो समय के अन्तर को भूला नहीं जा सकता। सिद्धान्त भेद होने पर भी एक व्यक्ति होने पर इतना गम्भीर उपहास नहीं किया जा सकता। अतः आचार्य श्री मण्डन तथा आचार्य श्री सुरेश्वर यो दोनों दो व्यक्ति है, एक नहीं हो सकते।

इति शिवम्।

मलयालम साहित्य पर अचार्य शंकर का प्रभाव

डा० जे० रामचन्द्रन नायर

भारत मां के दक्षिणांचल में स्थित केरल महान विभूतियों के जन्म से पवित्र है। केरल के दार्शनिकों में मध्य केरल कालाटी में जन्मे जगद्गुरु, श्री शंकराचार्य का नाम प्रातः स्मरणीय है। आचार्य का दर्शन-अद्वैत सिद्धांत सारे दार्शनिक जगत में विख्यात है। परन्तु यह बात स्मरण करने लायक है कि आचार्य ने अपनी ओर से किसी नए सिद्धांत का आविष्कार नहीं किया था। वेदों और उपनिषदों का सार ही प्रस्तुत करते हुए लिखा था वही सार वास्तव में उद्वैत संज्ञा से प्रख्यात है। यही दार्शनिक सिद्धांत समूचे साहित्यिक-सांस्कृतिक जगत को प्रभावित करता आ रहा है।

"मलयालम साहित्य" में कहीं कहीं शंकर दर्शन की झलक प्राप्त है। अतः हम यहां "मलयालम साहित्य में श्री शंकर का प्रभाव" पर एक विहंगम दृष्टि डालने का प्रयत्न करेंगे। इस प्रयत्न से पूर्व शंकर दर्शन के बारे में संक्षिप्त विचार करना चाहूंगा। पूर्व कथन के अनुसार आचार्य ने वेद और उपनिषदों मंथन करके अपने दार्शनिक सिद्धांत की पुष्टि की है।

"श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभीः,
ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः"

अर्थात् करोड़ों ग्रन्थों में जो बातें बताई गई है उस का सार प्रस्तुत सूत्र में है। ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है—वास्तव में जीव ब्रह्म है—दूसरा इस दुनिया में नहीं है। इस सत्य को पहचानना हर मानव का परम एवं पुनीत धर्म होगा। जगत्, जो हमारे सामने दृष्टिगोचर है वह तो मिथ्या है। यही तत्व शंकरोत्तर मलयालम् साहित्य में कहीं कहीं दिखाई देता है।

जगद्गुरु शंकराचार्य केएक महान विभूति होने के बावजूद भी मलयालम भाषा या साहित्य में उनका प्रभाव जितना होना चाहिए था उतना प्राप्त नहीं है। अर्थात् उनके विचारों को स्वीकारने में मलयालम साहित्य ने अधिक प्रयत्न नहीं किया है। फिर भी मलयालम कविता के क्षेत्र में कहीं कहीं आचार्य दर्शन के स्फुरण मौजूद है। असली बात तो यह है कि वेद और उपनिषदों का का या शंकर अद्वैत का मलयालम साहित्य पर उतना सीधा प्रभाव नहीं पड़ा जितना पुराण और इतिहासों का।

मलयालम साहित्य के इतिहास के अनुसार केरल में श्री जगद्गुरु शंकराचार्य के पश्चात् ही मलयालम भाषा और साहित्य का विकास हुआ है। 12 वीं या 13 वीं शताब्दि के श्रीराम कवि के रामचरित से लेकर श्री बालचन्द्रन चुळिक्काट की अतिआधुनिक कविता या नई कविता तक मलयालम कविता पहुंच गई है।

12 वीं शताब्दी से लेकर 20 वीं शताब्दी तक के सुदीर्घ विकासमान साहित्य में शंकर दर्शन के प्रभाव का लेखा-जोखा तैयार करना क्षिप्रसाध्य नहीं है। फिर भी प्रस्तुत लेख में शंकर दर्शन से प्रभावित लेखकों तथा उनकी रचनाओं का परिचय कराना हमारा उद्देश्य है।

मलयालम में भक्ति का साहित्य समृद्ध है। भक्ति द्वारा नवजागरण का शंखनाद सुनाने वाले कविगण है चेरुशेरी नम्पूतिरी और तुञ्चत्तु रामानुजन एषुत्तच्छन।

चेरुशेरी की कृष्णगाथा में निर्मल भक्ति प्रकट है तो एषुत्तच्छन के अध्यात्मरामायण किलिप्पाट्टु में दार्शनिकता तथा वेदों का सार अनुरणित है।

अध्यात्म रामायण किलिप्पाट्टु और महाभारतम् किलिप्पाट्टु एषुत्तच्छन के ऐसे दो ग्रन्थ हैं जो मलयालम साहित्य के अमोल रत्न हैं। ये दोनों पुण्य ग्रन्थ एषुत्तच्छन के पश्चात कवियों को प्रभावित करते आ रहे हैं। अध्यात्म रामायण किलिप्पाट्टु संस्कृत के अध्यात्मरामायण का और महाभारतम् किलिप्पाट्टु महाभारत का अनुवादन होते हुए भी स्वतंत्र कृति के रूप में जान पड़ते हैं।

तुञ्चत्तु रामानुजन एषुत्तच्छन ने अपनी रचनाओं में आवाश्यक परिवर्तनऔर संग्रह किए हैं। दार्शनिक तत्वों को यथास्थान विस्तार देते हुए इन महान कवियों ने संसार की अनित्यता, मानव जीवन की क्षणिकता, सांसारिक सुख भोगों की असारता आदि के प्रति पाठकों को सजग किया है। यह स्पष्ट है कि एषुत्तच्छन शंकराचार्य के मायावाद से प्रभावित थे और उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा लोगों को माया के प्रभाव से दूर रहने का उपदेश दिया है।

शंकर दर्शन का सीधा प्रभाव एषुत्तच्छन कृत हरिनामकीर्त्तनम् में बड़े पैमाने में दृष्टिगोचर हैं।

उदाहरण : ओन्नाय निन्नेइह रण्डेन्नु कण्टलविलु
उण्टायोरिण्टल बत मिन्टावतल्ल मम
पण्टेकणक्कु वरुवान निन कृपावलिकल
उण्टाइवरेणमिह नारायण नमः

अर्थात् "तू" एक ही है। उसे दो रूपों में देखने के कारण मुझे जो दुःख का अनुभव हो रहा है उसे बताया नहीं जा सकता। तुम्हारी ही कृपा से पूर्व स्थिति में 'तुम्हें' समझने की शक्ति मुझे मिले। "एक" को दो रूपों में समझने के कारण जो दुख हो रहा है—अवर्णनीय है। तात्पर्य यह है कि आत्मा और परमात्मा की भिन्नता का आभास होना मेरे दुःख का कारण है।

प्रस्तुत रचना में भक्त कवि एषुत्तच्छन ने शंकराद्वैत की सुन्दर व्याख्या की है। आत्मा-परमात्मा दोनों अभिन्न है। लेकिन माया के कारण "दो" का भ्रम होता है और यह भ्रम समस्त दुःखों का कारण है। भक्त कवि होने के कारण भगवान से प्रार्थना है कि कृपा से माया का यह भ्रम दूर हो जाएं और अद्वैत की अनुभूति पुनः प्राप्त हो। 'हरिनाम कीर्तनम्' को श्री कृष्ण पिल्लै ने "कैरलियुटे कथा" में बताया है कि 'हरिनामकीर्त्तनम् मलयालम का उपनिषद है ईश्वर नाम से लेकर अद्वैत तक का अनुभव इस के द्वारा प्राप्त है।

उदाहरण : तन्तौ मणिप्रकर भेदङ्ङल पोले (मलयालम) सूत्रे मणिगणाइवः

इस में विविधता के एकत्व का वर्णन है।

इस के बावजूद कुछ अमोल प्रयोग भी दृष्टिगोचर है।

अखिलम् आनित्—इदं सर्वं यदन्यमात्मा:
कण्णिनु कण्णु—चक्षुषश्चक्षुः।
छिन्नत्वमानंकनल—योगमायासमावृता।
इतेल्लामत्—सर्वं खल्विदम् ब्रह्म।
मलप्राणनुम् परनुमोन्न्—जीवो ब्रह्मैव नापरः

विख्यात है कि प्रज्ञानं ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि, तत्वमसि और अयमात्मा ब्रह्म : ये महावाक्य है। सचमुच

इन महावाक्यों का सारांश ही अद्वैत हैं। इन तत्वों का योग 'हरिनाम कीर्तनम्' में दृष्टिगोचर है।

श्री शंकर दर्शन का सीधा प्रभाव स्वामी विल्वमंगलम में दृष्टिगोचर है। वे भक्ति और वैराग्य दोनों में निष्ठावान थे।" श्री कृष्ण कर्णामृत" संज्ञक सुन्दर काव्य इनके द्वारा प्रणीत है। इन के बाद श्री स्वामी कृष्णानन्द ने भागवत ग्रन्थ का प्रचार केरल में किया और उन्होंने उस ग्रन्थ की व्याख्या 'कृष्णपति' नाम से की कृष्ण भक्त कवि पून्तानम् नम्पूतिरी, भक्त कवि मेलपत्तूर नारायण भट्टतिरी ये दोनों अपने अपने भक्ति काव्य का अमृत पिलाकर केरलीय जनमानस को शान्तशीतल करते रहते हैं। प्रसिद्ध भक्त भवि पून्तानम् के "ज्ञानपाना" नामक काव्य में शंकर दर्शन का प्रभाव मौजूद है।

एषुत्तच्छनके बाद श्री परम भट्टारक विद्याधिराज तीर्थपादका नाम आता है। वे श्री चट्टम्बी स्वामिकल नाम से प्रसिद्ध है। श्री चट्टम्बी स्वामिकल केरल के एक महान योगी और समाज सुधारक संत थे। भारत के इने गिने सिद्ध पुरुषों में उन का भी नाम लिया जाना चाहिए। मलयालम के प्रसिद्ध अलोचक पद्म श्री डॉ॰ शूरनात कुंजन पिल्लैने परम भट्टारक श्री विद्याधिराज चट्टम्बि स्वामिकल को श्री शंकर का अवतार तक माना है। उनकी रचनाओं में प्राचीन मलयालम, जीवकारुण्य निरूपणम, वेदाधिकार निरूपणम्, क्रिस्तुमत छेदनम् (ईसाई धर्म का खण्डन), अद्वैत चिन्ता पद्धति आदि इतिहास प्रसिद्ध है। उनके प्रमुख शिष्यों में समाज सुधारक संत श्री नारायण गुरु का नाम प्रसिद्ध है। चट्टम्बि स्वामिकल की शिष्य परम्परा में नीलकण्ठ तीर्थपादस्वामी और श्री तीर्थपाद परमहंस स्वामी का नाम विख्यात है।

श्री चट्टम्बि स्वामिकल का परम शिष्य श्री नारायण गुरु ने गुरुदेव की समाधि सुनकर निम्नलिखित श्लोक लिखे—

सर्वज्ञ ऋषि रुत्क्रान्त
सद्‌गुरु शुकवर्मना।
आभाति परमव्योम्नि
परिपूर्ण कलानिधि ॥
लीलया कालमधिकं
नीत्वान्ते स महाप्रभुः।
निस्वं वपुस्समुत्सृज्य
स्वब्रह्मवपुरास्थितः ॥

श्री नारायण गुरु के अनुसार श्री विद्याधिराज महाराज सर्वज्ञ, सर्वकला-वल्लभ और अत्यन्त प्रतिभावना थे। उनका योगपरक ज्ञान एव अवधारण अरविद दर्शन को भी कहीं कहीं जीतने वाला रहा है। वेदान्त तत्वों का विश्लेषण एवं व्याख्या करने में वे जगद्‌गुरु शंकर के ही बराबर थे।

श्री शंकर दर्शन का प्रभाव स्वामी जी के अद्वैत चिन्ता पद्धति में ही अधिक दृष्टिगोचर है। वैदान्तिक तत्वों को सामान्य जनता के सामने प्रस्तुत करना उनका लक्ष्य रहा। इस दृष्टि से अद्वैत चिन्ता पद्धति की रचना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस रचना में प्रकृति के साथ ब्रह्म के सामीप्य से त्रिगुणादि की उत्पत्ति, जीवात्मा, पंचभूत, स्थूल-सूक्ष्म शरीर का उद्‌भव, प्रलय, प्रपंच की सृष्टि, तत्वमसि इत्यादि का वर्णन मिलता है। अद्वैत चिन्ता पद्यति में विद्याधिराज ने जगत् के मिथ्यात्व तथा ब्रह्म साक्षात्कार पर गम्भी विचार प्रस्तुत किया है। इस रचना में स्वामी जी ने बताया है कि सत् वही है जो कालातीत है। तीनों कालों में अस्तित्व सत् का लक्षण है। प्रपंच इसलिए असत है कि उसकी उत्पत्ति और नाश होने के कारण उसका चिरन्तन अस्तित्व नहीं होता। इस असत् का नाम मिथ्या है।

अद्वैत सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए विद्याधिराज कहते हैं कि ब्रह्म और प्रपंच पृथक नहीं है।

दार्शनिकों ने ब्रह्म और प्रपंच को एक सिद्ध किया है। ब्रह्म का विवर्त और अविद्या का परिणाम ही यह प्रपंच है। व्यावहारिक दृष्टि से वेदान्तशास्त्र ने ब्रह्म को कारण और प्रपंच को कार्य स्वीकार किया है। अज्ञान तथा उससे उत्पन्न कार्य ज्ञान से ही दूर होते हैं। ब्रह्म ज्ञान के उदय के साथ ही आरोपित प्रपंच ब्रह्म में विलीन हो जाना है। अविद्या से उत्पन्न माया मिथ्या है। उनके अनुसार मायाब्रह्म से उत्पन्न नहीं होती क्योंकि ब्रह्म निस्संग सत्ता है। माया किसी वस्तु से उत्पन्न नहीं, इसलिए वह अनादि कही जाती है।

'अहं ब्रह्मास्मि' यजुर्वेदान्तर्गत बृहदारण्यकोपनिषद का है। तत्वमसी छांदोग्योपनिषद् का वाक्य है। उद्दालक मुनि श्वेतकेतु को समझाते हैं कि नामरूपात्मक यह प्रपंच पहले एक और अद्वितीय ब्रह्म मात्र था। इस जगत के लिए कारणभूत जो तत्त्व है वही इस इस जगत के रूप में भासमान है। वही सत्य है, वही आत्मा है, वही ब्रह्म है। इसलिए हे श्वेतकेतु, तू आत्मा है। तत् का अर्थ ईश्वर तथा त्वं का अर्थ जीवन है। सर्वज्ञ ईश्वर तथा तुच्छ ज्ञानवान जीव को एक मानना भ्रम है। इसलिए इन शब्दों का लक्ष्यार्थ ब्रह्म समझना चाहिए। ये दोनों एक ही हैं यही 'असि' पद का संकेत है। इस प्रकार अद्वैत चिन्तापद्धति में श्री शंकर का प्रभाव पूर्ण रूपेण दृष्टिगोचर है।

श्री परम भट्टारक चट्टम्बि स्वामी की एक विशिष्ट रचना है—'निजानन्दविलासम्'। यह कोई साहित्यिक अथवा इतिहास ग्रन्थ तो नहीं है। इसमें वेदान्तपरक संहिताओं और औपनिषदिक रहस्यों का का पुनः प्रवचन है। इसमें अनुभव का जो वर्णन है वे स्वच्छ तथा स्फटिक जैसे निर्मल है और अनन्तकाल तक सत्यान्वेषी महापुरुषों को पथ प्रदर्शन देने वाले होते हैं। इसमें शिष्य का प्रश्न और गुरु का उत्तर, इस क्रम में प्रतिपादित है। निजानन्द का अर्थ है अनुभूत आत्मानन्द। इस अनुभव को सुवेद्य बनाने वाला है 'निजानन्द बिलासम्। 'निजानन्द विलासम्' ग्रन्थ नौ प्रकरणों में विभक्त है—

1. अवस्थात्रय शोधना सम्प्रदाय प्रकरणम्।
2. गुणाधिम्यजन्य आरोपसूक्ष्म निरूपण-प्रकरणम्।
3. ब्रह्मेराजीव जगद्विशेषण निरूपण प्रकरणम्।
4. मायालक्षण निरूपण प्रकरणम्।
5. सदनुभव निरूपण प्रकरणम्।
6. चिदनुभव निरूपण प्रकरणम्।
7. आनन्दानुभव निरूपण प्रकरणम्।
8. मनोनाश मार्ग निरूपण प्रकरणम्।
9. आवरणविक्षेप निवृत्ति प्रकरणम्।

प्रथम प्रकरण में स्वामी ने इस प्रकार उत्तर दिया कि शरीर, इन्द्रियों और उनकी तीन प्रकार की अवस्थाओं और उनमें प्रतिबिंबित होने वाली चेतन सत्ता को विवेक के साथ पहचानकर उनके आधार स्वरूप विराजमान अन्तर्यामी ब्रह्म तत्त्व को परमात्मा के रूप में जानना ही परम गति है।

दूसरे और तीसरे प्रकरण में ब्रह्म, ईश, जीवन, प्रपंच और माया के लक्षण बताए गए हैं। प्रकृति-पुरुष, प्रपंचोत्पत्ति, विराट पुरुष, सृष्टि स्थितिलय, सर्वसाक्षीत्व, अन्तर्यामी, प्राज्ञ, सर्वज्ञ इन सबको ज्ञान कराकर स्वामी जी शिष्य से कहते है कि यह सारा ब्रह्म-ईश-जगत तुम्हीं हो।

चतुर्थ प्रकरण में जगत का कारण स्वरूप जो माया है उसका अवबोधन कराया जाता है। पांचवां प्रकरण सदनुभव निरूपण है। जड़ और अजड़ रूपों में जो कार्य कारण प्रपंच दिखाई दिया वह मिथ्या है। स्वाभिकल घड़ा, पट और मठ के उदाहरणों से प्रमाणित कर अनुभववेद्य कर देते हैं कि घट और घटाभाव

तथा उनके अन्तराल के द्वारा भावाहंकार रहित निर्विकार सत्ता का तत्त्व मानकर उनका अनुभव कर लें। इसके समर्थन में स्वामिकल्व परा, पश्यन्ति, मध्यमा, वैखरी-नाद ब्रह्म के चारों भेदों को संवेदित कर देते हैं।

षष्ठ प्रकरण में मन के सब स्वरूप विच्छेदित होकर उत्पत्ति नाश के वशीभूत न रहने का अनुभव कराया गया है। सातवें प्रकरण में आनन्दानुभव कराया जाता है। इहं से परं तक के प्रपंच ब्रह्माण्ड में आनन्द की अवस्थिति हैं। आठवें और नवें प्रकरण में मनोनाड़ा की अन्तिम अवस्था और आवरण-विक्षेप निवृत्ति का अनुभव है। ये दोनों प्रकरण स्वयं सम्पूर्ण हैं। अपने से निर्मित प्रपंच को मिथ्या मानकर उसमें भी स्वयं "मैं" का बोध कर लेना आवरण विक्षेप निवृत्ति है। यही अवस्था "अहं ब्रह्मास्मि" है।

परम भट्टारक श्री विद्याधिराज चट्टम्बि स्वामिकल के प्रिय शिष्य नारायण गुरु थे। श्री नारायण गुरु की रचनाओं में 'विज्ञान चिन्तन, देवचिन्तन, विनायक शतकम्, गुहाष्ठकम्, भद्रकाली अष्टकम्, वैराग्य-देशिकम् इत्यादि महत्त्वपूर्ण है। अरुविप्पुरम में रहते हुए श्री नारायण गुरु ने 'आत्मोपदेशशतकम्' नामक रचना का निर्माण किया था। श्री शंकर का प्रभाव बड़े पैमाने में श्री नारायण गुरु की रचनाओं में मौजूद है।

श्री नारायण गुरु के काव्यों का परम तथ्य ब्रह्म विचार है। श्री शंकराचार्य जैसे व्याख्याकारों के अनुसार ब्रह्म की व्याख्या उनमें है। भारतीय संस्कृति और विचारों की आधुनिक कड़ी के रूप में उनको लिया जा सकता है 'सर्वं खलिवदं ब्रह्म' 'लोका समस्ता सुखिनो भवन्तु' इत्यादि अत्यन्त पावन चिन्तन आपके विचारों एवं उपदेशों की आधारशिला है। एक सन्दर्भ में श्री नारायण गुरु का क्रान्तिनाद इस प्रकार मुखरित हुआ—

"एक जाति, एक धर्म, एक ईश्वर मानव के,
एक योनि, एक आकार नहीं भेद कदापि इसमें।"

वे हमेशा अद्वैत के बारे में चर्चा करते रहे। जाति, धर्म आदि के खिलाफ गुरु ने प्रयत्न किया है; इसके लिए उन्होंने अद्वैत का सहारा ले लिया। जिस सन्दर्भ में जाति रूपी सलीब लेकर घूमा फिरा था तब उन्हें अद्वैत रूपी मणि प्राप्त हुआ। 'आत्मोपदेश शतकम्' में शंकर दर्शन का प्रभाव ही मौजूद है। प्रस्तुत शतक के 24वें श्लोक इसके लिए उदाहरण हैं।

अवनिवनेन्नरिथुन्न तोक्के योरत्ता-
लवनियिलादिममायोरात्मरूपम्
अवरवात्मसुखत्तिनाचरिक्कु-
न्नवयपरन्नु सुखत्तिन्नाइ वरेणम्।
(आत्मोपदेश शतकम्—गुरु)

अर्थात् सब धर्मों की आधारशिला आत्मसत्य की एकता है। आत्मसुख परसुख के लिए विनाश-कारी कदापि नहीं होना चाहिए। इस धरती में 'वह' वास्तव में "मैं" ही हूं। अपने ही सुख के लिए जो काम हम करेंगे वह दूसरों के सुख के लिए भी लायक होना चाहिए। अद्वैत बोध की प्राप्ति के लिए उस स्थिति तक हमें पहुंचना चाहिए। उसके बारे में श्री नारायण गुरु कहते हैं कि सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म मात्र सत्य है, बाकी सब मिथ्या है। जब हम "मोहनिद्रा' से जाग उठेंगे तब मात्र हम ब्रह्म के बारे में समझने के अधिकारी बनेंगे।

"जीवन मुक्त" स्थिति के बारे में नारायण गुरु का अपना एक सिद्धान्त है। 'जीवन मुक्त' को जगन्मिथ्या की जानकारी होते हुए भी उसके लिए यह संसार इन्द्रिय वेद्य हो सकता है। यही नारायण गुरु

की धारणा है। श्री नारायण गुरु की पंक्तियां इस प्रकार हैं—

विश्वम विवेकंदशयित्कलषिजु सर्व-,
वस्वस्थ माकिलु मितिन्द्रियदृश्यमाकुम्,
दिक्किंन भ्रम् विङ्ङकिलुम् चिरमिङ्ङवन्टे,
दृक्किनु दिक्कु पुनरङ्ङितन्ने काणाम् ।
सत्यत्तिलिल्लयुलकम्, सकलम् विवेक
विध्वस्थमाय पिरकुम् विलसुन्नु मुनपोल
निस्तर्कमाय मरुविलिल्लिहे नीरमेन्नु,
सिद्धिक्किलुम् विलसिडुन्नित् मुनप्रकारम् ।

अर्थात् जीवन मुक्त को संसार की मिथ्यता के बारे में भली-भांति जानकारी है, फिर भी संसार इन्द्रियवेद्य हो सकता है। माया में भ्रमित मानव के समान जीवन मुक्त भी संसार को देखता है। इसमें शैव सिद्धान्त की झलक प्राप्त हैं। इस सन्दर्भ में मलयालम के महाकवि कुमारन आशान में यह सिद्धान्त दृष्टिगोचर नहीं है।

मुक्तावस्था को निर्विकल्प समाधि या असंप्रज्ञात समाधि भी कहा जाता है। मुक्तावस्था तक पहुंचने के लिए योग का भी प्रयोग कर सकते हैं। अद्वैत तथा योग का प्रभाव नारायण गुरु में है। विशेष रूप में श्री नारायण गुरु का कुण्डलिनि पाट्ट, अखि, आत्मोपदेशशतकम्, दर्शनमाला, अद्वैतदीपिका, ब्रह्मविद्या पंचकम् आदि इसके लिए उदाहरण स्वरूप पेश कर सकते हैं।

श्री नारायण गुरु ने अद्वैत दर्शन को अति सुन्दर शैली में प्रस्तुत किया है—

आरायकिलीयुलकमिल्ली, तविद्य, तत्व-
मोरातिवरलितुलकाय विलसुम् भ्रमत्ताल,
आरान विलक्केरिकिली पिशाचितान्ध-
कारम्, भयन्नवनिरुट्टु पिशाचुपोलाम् ।"

(अद्वैतदीपिका—नारायण गुरु)

अर्थात् अगर हम ध्यान से देखें तो पता चलेगा कि यह संसार मिथ्या है। अविद्या के कारण भ्रमित लोगों के लिए यह संसार वास्तविकता है। जैसे कि रोशनी के अभाव में अन्धकार अनुभव होना। श्री नारायण गुरु की रचनाओं में अनुभव की तीव्रता दृष्टिगोचर है।

कुण्डलिनी पाट्ट' में लोकगीत की शैली में श्री नारायण गुरु ने आत्मविस्मृति के साथ अद्वैतवाद का पटाक्षेप किया है।

उदाहरण—

आडुपाम्पे, पुनम् तेडु पाम्पे चरु-
लानन्दक्कूत्तु कण्डाडु पाम्पे,
तिन्कलुम्, कोन्नयुम् चूडुमीशन पद
पन्कजम् चरनु निन्नाडु पाम्पे,
वेण्णीरणिज्जु विल्लंम् तिरुमेनी
कणीरोषुक कण्डाडु पाम्पे,
आयिरम् कोडिनन्दन नीयानन-
मायिरवुम् तुरन्नाडु पाम्पे,

ओमेन्नु नोट्टोरु कोटि मन्त्रपोरुल,
नामेन्नरिञ्जु कोण्डाडु पाम्पे ।

इसमें प्रणव मन्त्र-ब्रह्म, विष्णु, महेश्वर की ध्वनि अतीव ललित शैली में गंज रही हैं। तत्वमसी का रहस्य इसमें दिखाई देता है। उनके अनुसार भक्त सगुणोपासक है। बल्कि जब हम दार्शनिकता को अपनाएंगे तब निर्गुण के रूप में भी ईश्वर का संकल्प सम्भव है। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण रचनाओं में शंकर दर्शन का प्रभाव दृष्टिगोचर है।

श्री नीलकंठ तीर्थपाद स्वामी की प्रसिद्ध रचनाएं हैं, वेदस्तुति, अकारादि कीर्त्तनमाला आदि। उनकी उनकी प्रकाशित रचनाओं में वेदान्तमणिविलक्कु, अद्वैत पारिजात, योगामृत तरंगिणी और हठयोग प्रदीपिका में शंकर दर्शन की झलके है। अपने शिष्यों की आध्यात्मिक उन्नति को लक्ष्य मानकर श्री नीलकण्ठ तीर्थपाद ने गोविन्द स्थानेश्वर के मठ में 'अद्वैत सभा' की स्थापना की।

उपर्युक्त महान दार्शनिक समाज सुधारकों के पश्चात कहीं शंकर दर्शन की झलक देखना है तो 'कवित्रय' तक पहुंचना है। उल्लूर एस० परमेश्वर अय्यर, वल्लत्तोल नारायण मेनन और कुमारन आशान ये कवित्रय नाम से विख्यात है। श्री नारायण गुरु के शिष्य होने के नाते महाकवि कुमारन आशान में शंकर अद्वैत का गहरा प्रभाव दिखाई देता है। महाकवि कुमारन आशान के कलकण्ठगीत, निजानन्द विलासम्, निजानन्दस्तुति इत्यादि में श्री शंकर दर्शन का प्रभाव अधिक मात्रा में उपस्थित है। लीला, नलिनी आदि खण्डकाव्यों के अन्तिम भाग अद्वैत दर्शन की पराकाष्ठा तक पहुंच गयी हैं। लीला और मदनन्, नलिनी और दिवाकर में जीवात्मा-परमात्मा का सम्बन्ध-शंकर दर्शन की याद दिलाता है। आशान के प्रथम खण्डकाव्य 'वीणपूव' में शंकर दर्शन का पूर्ण रूपेण प्रभाव है। उदाहरण—

शेषिप्पतु बोधमयन शिवनाम्
शेषं ङ्ङलवन्टे विभूतिकलाम्
शेषिक्कयुमिल्लिव चिन्मयनिल
भाषाजित पूमधुवाँ कुयिले ।

अर्थात इस दुनियां में जो बाकी होगा वह बोधमयी शिवमात्र है। बाकी सब भ्रम है।
आगे बढ़कर कवि ने कहा है कि—

सचेतना चेतनमीप्रपञ्चम्
सर्वम् विलकुन्न केडाविक्के
समस्त भव्यङ्ङलुमुल्लिलाषत्तुम्
स्नेह प्परप्पिन कड़ले तोषुन्नेन् ।

इस स्तुति में कुमारन आशान ने विश्वनिर्माता परंब्रह्म का वर्णन किया है। इस प्रपंच का मूलाधार स्नेहमिति, परम कारुणिक ईश्वर की शक्ति का वर्णन यहां दृष्टिगोचर है। अद्वैतवादियों के अनुसार कवि ने यहां ईश्वर का वर्णन किया है।

कवित्रय के एक विख्यात महाकवि उल्लूर एस० परमेश्वर अय्यर पुराण और वेदेतिहासों से वे अधिक प्रभावित थे। उल्लूर कविता के मूल में शंकर अद्वैत का प्रभाव ही मुख्य है। उल्लूर के प्रेम-संगीत में शंकर दर्शन अन्तःसलिला के समान आद्यंत अभिव्याप्त है उनके "प्रेमसंगीत" में श्री शंकर दर्शन "ब्रह्मम् सत्यं जगन्मिथ्या" ही सारी कविताओं का मूल है। प्यार और सेवा की महत्ता की उद्घोषणा करने वाली प्रस्तुत पंक्तियों में अद्वैत का दर्शन है।

अड्डुतु निल्पोरनुजने नोक्का-
नक्षिकलिल्लान्नोरक्करूपनीङ्ङा-
नदृश्यनीयालतिलेन्नाश्चर्यम्
अहो जयिष्णू जगदाधारमोरद्भुत
दिव्य महस्सखण्डमद्वय मचिन्त्य
वैभवमनादि मध्यान्नम् ।

अर्थात् ज्ञान का मूल कारण, परिपूर्ण, जो 'दो' नहीं है, जो हमारी चिन्ताओं के भी परे हैं, जिसका आदि, मध्य या अन्त नहीं है—उसी ब्रह्म की जय हो।

उल्लूर की "विदुरभिक्षा" में अद्वैत दर्शन की अधिकाधिक झलक प्राप्त है। महाभारत की एक उप-कथा के आधार पर ही उल्लूर ने 'विदुर भिक्षा' की रचना की है। भगवान कृष्ण के भक्त-वात्सल्य को केन्द्रबिन्दु बनाकर इस खण्डकाव्य का निर्माण किया गया है।

इस प्रपंच का मूल कारण परब्रह्म है। इसका समर्थन श्री शंकर ने किया है। ब्रह्म ही कारण है। सर्वज्ञ और परिपूर्ण के द्वारा ही इस प्रपंच का निर्माण हो सकता है। परमब्रह्म के अलावा यहां अन्य किसी वस्तु का जन्म नहीं हुआ। ब्रह्म सूत्र के इसी आशय को उल्लूर ने अपने विदुर भिक्षा में प्रकट किया है।

भावलकमल्लाते एन्तुण्टिव्पारन्नटिट्टल,
स्थावर जंगम सञ्जयत्तिल ?
आदित्यङ्ङे कत्तिक्कुम् पोलत्तिरी
वारतिन्कल माणपेषुम् मन्दहासम्;
तारङ्ङलानन्दक्कण्णुनीरन्तुल्लिक—
लीरेषुलोकवुम् क्रीड़वस्तु ।

ब्रह्म और ब्रह्म में अधीनस्थ जगत को अलग-अलग न देख, एक ही साथ देखना ही अद्वैत दर्शन है। कवि पूछते हैं कि हे ईश्वर, इस दुनिया में ऐसी कौन-सी वस्तु है जिसमें आपका अधिकार नहीं है। आपके द्वारा जलाया गया दीप है सूरज। एक सुन्दर मन्दहास के समान चन्द्रमा सुशोभित है। तारागण आपके आनन्दाश्रु हैं चौदहों लोक तो आपका क्रीड़ा स्थान है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में एक और उदाहरण देना उचित होगा।

अंगए मात्रमे काणुन्नतुल्लु आ—
नेङ्ङने येंगोट्टु नोक्कियालुम्,
काणिप्पतुण्टु तान काणुन्नतङ्ङुतान,
काषचयुमंतान कारणात्मन ।
एनोरु मणतरी वैकुण्टमल्लङ्ङे-
क्केतोरु नीर्तुल्ली याषियल्ल ?
एतोरु नालिलिल्लेतोरु नाटिलि-
ल्लेतोरु वस्तुविलेन पुराने ?

अर्थात् जहां मैं भी में देखूंगा सब जगह आप (ब्रह्म) मात्र दिखाई देता है। दिखाना, देखना सब कुछ आप ही हैं। रेत भी आपके लिए बैकुण्ठ है। एक ही बूंद समुद्र के समान है। दुनिया भर की सब चीजों में आपका अस्तित्व है।

ब्रह्म ही सत्य है। प्रपंच का सब कुछ, पूरा का पूरा ब्रह्म है। यही दार्शनिक सिद्धान्त 'विदुर भिक्षा' में है।

अहं ब्रह्मास्मि, तत्वमसि, अयमात्मा ब्रह्मः, प्रज्ञानं ब्रह्मः आदि उपनिषद वाक्य ही अद्वैत दर्शन की आधारशिला है। मैं ब्रह्म हूं, तुम भी वही हो इन उपनिषद वाक्यों से स्पष्ट है कि परमात्मा और जीवात्मा एक है—यही तत्व ही श्री शंकर का है। परमात्मा (ब्रह्म) ही अपनी अद्भुत माया शक्ति के द्वारा बहुरूपों में मानवात्मा के रूप में भी प्रकट हुआ है।

महाकवि उल्लूर की पंक्तियां देखिए—

> अङ्ङए एन्निलुम अङ्ङयिलेन्निलुम-
> मङ्ङे ककण्पोन कण्णयि कण्डुनिल्के,
> आनेन्नोन्नङ्ङ पिरिल्ल ञान, अल्लाते,
> आनेन्नोन्नुण्डेन्किल आन तानङ्ङम्,
> अङ्ङए ञानेन्नु चोल्वतिल चेर्चयि,
> लल्ङ्ङल्ल आनल्ल, अङ्ङन्नल्ल।
> ओक्कथुम् तीर्क्कुन्न तोक्केयुम काक्कुन्न-
> तोक्केयुम मयक्कुन्नतोप्पमेतो?

अर्थात आप में मुझे और मुझ में आपको देख रहा हूं। अगर आप नहीं है तो मेरा अस्तित्व ही नहीं है। आपको "मैं" कहना तो ठीक नहीं है। आप—मैं, इन संज्ञाओं में कोई भेद-भाव नहीं है। संसार के स्रष्टा, पालक और संहारक आप ही हैं।

विदुर भिक्षा में विदुर श्री कृष्ण से जो बातें कहते हैं और उसके जवाब के सन्दर्भ में अद्वैत दर्शन दृष्टिगत है।

> अङ्ङमी आनुमायल्पवुम् भेदमि-
> लल्ङ्ङ आन तन्नेः आनङ्ङम् तन्ने
> अङ्ङयिल वाष्वूञा, नङ्ङितिल, पिन्नेयी-
> तेङ्ङिने एन्मणि मेडयल्ले ?

सारांश यह है कि आप (जीवात्मा) और मुझ में (परमात्मा) थोड़ा भी फरक नहीं है। आप मुझ में और मैं आप में विराजमान है। यहां भी अद्वैत का शुद्ध रूप दर्शाया गया है। श्री शंकर दर्शन में परमात्मा ईश्वर और जीवात्मा मनुष्य में अटूट सम्बन्ध है। इसके अलावा उल्लूर के भक्ति दीपिका में भी शंकर दर्शन का स्फुरण विद्यमान है।

कवित्रय के बाद के स्वच्छन्दतावादी कवियों में महाकवि जी शंकर कुरुप का नाम आता है। मलयालम् के मिस्टिक कवियों में इनका प्रमुख स्थान है। वे सर्वप्रथम ज्ञानपीठ विजेता है। स्व० शंकर कुरूप की राय में उच्च स्तरीय अनुभव ही सत्य है। ब्रह्म के साथ एकता प्राप्त करने की अनुभूति को परमार्थ स्थिति कहा जाता है। यही परमार्थ अनुभव या दर्शन को मिस्टिक अनुभव या मिस्टिक दर्शन कहा जाता है। महाकवि शंकर कुरुप की कविताओं में यही दर्शन दिखाई देता है। परमार्थ की स्थिति में या मिस्टिक अनुभूति के सन्दर्भ में अपने व्यक्तित्व या बाह्य जगत के प्रति मिस्टिक मौन है। परमार्थ स्थिति में परब्रह्म का सीधा अनुभव करना तथा मानव में स्थित ईश्वर का साक्षात्कार करना यही लक्ष्य होता है।

> आ महाप्रभावन्ते योन्नेत्तिनोक्कि पूर्ण-
> कामनाओलम आनी गोपुर द्वारत्तिन्कल,

एन्तुडे हृदन्तमामुडुक्कुम कोट्टिट प्पाड़ी,
निन्नु कल्वुवानेनिक्कनुज्ञ लभिच्चेन्निल।

महाकवि द्वारा लिखित 'विश्वदर्शन' का लक्ष्य भी यही है। प्रस्तुत कविता का आरम्भ ही विश्व के कारणभूत ब्रह्म की स्तुति के साथ है। प्रतिपल विकासमान इस सुन्दर प्रपंच के मूलकारण स्वरूप सनातन चैतन्य श्रोत ब्रह्म शक्ति की आदर के साथ कवि स्तुति करते हैं।

वन्दनम् सनातनानुक्षण विकस्वर
सुन्दर प्रपंचादि कन्दमां प्रभावमे
निन्निल जी कुरुक्कुन्नु निन्नल जी विडरुन्नु
निन निसर्गाविष्कार कौतुकम् अनाद्यन्तम्

उपर्युक्त विख्यात कवियों की रचनाओं में शंकर दर्शन का प्रभाव दृष्टिगोचर है। इन कवियों के अलावा महाकवि एम०पी० अप्पन, ओट्टूर उण्णिनम्पूतिरिप्पाडु आदि विख्यात कवियों की रचनाओं में भी कहीं-कहीं अद्वैत दर्शन मौजूद हैं।

आचार्य शंकर का सर्व कर्म संन्यास

—इन्दिरा मोहन

लगभग बारह सौ वर्ष पूर्व जब, हमारी वैदिक विरासत संकीर्ण सम्प्रदायों, संकुचित मतों के प्रहारों से संकट ग्रस्त थी—तब विश्वनाथ की पुण्य नगरी वाराणसी में एक तेजोमय, तपोमय दंड कमण्डलु धारी मुंडित मस्तक प्रज्ञावान तरुण का अवतरण हुआ जिसकी दिव्य गूंज ने भारत की चारों दिशाओं को फिर से एक ब्रह्म-एक सत्य के सूत्र में बांध, वेदों की ओर उन्मुख किया—यही थे भारत के शीर्षस्थ आचार्य एवं विचारक आद्य शंकराचार्य। उन्होंने साधना द्वारा शरीर को इतना शुद्ध कर लिया था कि वह ईश्वरत्व का निर्मल यन्त्र हो गया आकृति में दमकती हुई कांति, हृदय में अदम्य उत्साह कर्म चेष्टता की विपुलता एवं अनुपम उद्वेलित शक्ति। दर्शन विषय को लेकर जितनी व्यापक चर्चा इस देव पुरुष की हुई अपनी कदाचित बादरायण व्यास को छोड़कर अन्य किसी लेखक अथवा तत्वज्ञानी की नहीं हुई। उनका व्यक्तित्व एवं कृतित्व दोनों अतीत की घटनायें हैं परन्तु वे केवल इतिहास का विषय नहीं वरन् राष्ट्रीय अध्यात्मिक चेतना का आधार हैं जिसने समय-समय पर सनातन धर्म को नियंत्रित भी किया, प्रकाशित भी किया।

आचार्य शंकर का प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ जब राजाश्रय के उन्माद में बौद्धधर्म अपनी गरिमा खोने लगा था, विदेशी आक्रमण आरम्भ हो रहे थे। इतिहास साक्षी है जिन भयंकर आक्रान्तओं के द्वारा मिस्र, सीरिया, बैबोलान जैसी संस्कृतियाँ सर्वथा नेस्तनाबूद हो गई भारत आज भी अपनी पहचान बनाए रख सका है—हमारी सांस्कृतिक धरोहर को आचार्य जैसे ऋषियों-संतों ने ही प्राण फूंककर पुनः प्रतिष्ठित किया। 788 ई० में शंकर केरल के कालटी ग्राम में, एक शिवभक्त नम्बूदरी वंश में जन्मे थे। 23 वर्ष की अल्पआयु में सारे भारत की तीन बार प्रक्रिमा कर केदार नाथ में 820 ई० को ब्रह्मलीन हो गये। परवर्ती आचार्य एवं प्रचारकों की भांति उनमें एक देशीयता, संकीर्णता अथवा असम्पूर्णता नहीं थी सुदूर दक्षिण केरल में जन्म लेकर वे पूरे भारत के हो गये थे, क्षेत्रीय भाषा की अपेक्षा संस्कृत भाषा में अपनी सारी रचनायें की। वे तो वास्तव में सनातन धर्म की विशाल विश्वव्यापी महानता के उदार प्रतिनिधि थे।

आचार्य के जीवन में एक विलक्षणता विशेष रूप से मिलती है—उन्होंने अपने ग्रंथों में बार-बार संसार के प्रति वैराग्य भाव को श्रेष्ठ माना जबकि स्वयं सन्यासी होकर निरन्तर कर्मरत रहे। आठ वर्ष के भीतर चार वेद प्रमुख दर्शन तथा अनेक शास्त्रों का अध्ययन 12 वर्ष के भीतर योगसिद्धि एवं सर्वशास्त्र ज्ञान, 16 वर्ष में प्रमुख ग्रन्थों की भाष्य रचना—आचार्य ने चार वर्ष बद्रीनाथ के निकट व्यास गुफा में बिताए—इसी एकान्त तपोभूमि में गीता ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् आदि ग्रन्थों पर अपना प्रामाणिक भाष्य लिखा। यही पर आचार्य ने अपने शिष्यों को पढ़ाना आरम्भ किया। उस युग की कल्पना कीजिए जब न आने जाने के द्रुतगामी साधन थे, न आज जैसी सुविधा सेना का लाव लश्कर भी उनके साथ न था। हाँ ईश्वर भक्ति एवं आत्मबल के सहारे वे एकाकी चल रहे थे - साथ थे अनेक आस्थावान श्रद्धालु शिष्य जो वेद-चर्चा, मंत्रोच्चारण, देव-देवियों की वन्दना से दिशा में स्पंदित करते जा रहे थे। कुछ लोग चाहे उन्हें निवृत्ति प्रधान अथवा मायावादी क्यों न समझे पर उनके जीवन में धर्म का आदर्श और कर्म की प्रेरणा ही दिखाई पड़ती है। उनका यह धर्म राग द्वेष रहित, इन्द्रियों अपने वश में कर समष्टि विराट के प्रति था—यही है शंकर का सर्व-कर्म सन्यास।

शंकर के अनुसार उत्कृष्ट कोटि का धर्म परायण जीवन एक ऐसा जीवन है जिनमें कर्म की ओजमय स्त्रोतस्विनी बहती है किन्तु वह कर्म उसे बाँधता नहीं क्योंकि इस तरह के कर्म में स्वार्थ के स्थान पर

संसार के कल्याण की आधारभूत भावना होती है। गीता कर्म फल के त्याग को सात्विक त्याग कहती है, शंकर एक कदम आगे हैं— कर्म को ही नहीं छोड़ना वरन् उसकी वासना का भी परिहार करना है। आचार्य ने कर्म की आवश्यकता वस्तुतः दो प्रकार से मानी है—लोक संग्रह के लिए और चित्त शुद्धि के लिए।

सामान्य धारणा है कि पहुंचे हुए ज्ञानी को कर्म शोभा नहीं देता उसे कर्म के गोरख धंधे में नहीं पड़ना चाहिए पर सच्ची बात यह है कि ज्ञान प्राप्ति के बाद ही वास्तविक कर्म शुरू होता है। इससे पूर्व तो हम कर्म के नाम पर अकर्म, कर्त्तव्य के नाम पर अकर्त्तव्य और परोपकार के नाम पर अहं की पुष्टि करते हैं। ज्ञान प्राप्ति के बाद यदि कर्म समाप्त हो जाता तो तो 'गीता' सुनने के बाद अर्जुन अन्याय और अनीति के दमन हेतु युद्ध न करते, योगेश्वर श्री कृष्ण पशु चारण, जूठी पत्तल उठाने और रथ हांकने का काम न करते। यदि कर्म घटिया साधन होता तो भक्त शिरोमणि रैदास जूते न सीते, परम ज्ञानी संत कबीर ताना-बाना न बुनते, विवेकानन्द देश विदेश घूम कर आध्यात्मक की अलख न जगाते। वस्तुतः यदि ज्ञानी, ध्यानी तत्ववेत्ता सन्त लोक संग्रह की भावना से शास्त्रानुकूल कर्म न करते वो आज संसार को आदर्श जीवन जीने की प्रेरणा कहां से मिलती। जिस जीवन में सेवा भावना, यज्ञ, आत्मत्याग की प्रचुरता है उसी के माध्यम से आध्यात्मिक शक्तियों की अभिव्यक्ति होती है। वर्षों की एकान्त साधना के बाद बुद्ध को बुद्धत्व की प्राप्ति हुई किन्तु बुद्ध का शेष जीवन सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यों में ही व्यतीत हुआ। मनुष्य के लिए कर्म करना आवश्यक है।

आचार्य का सर्व धर्म संन्यास व्यवहार और परमार्थ दोनों का साधक है उन्होंने राग द्वेष रहित निष्काम कर्म का सन्देश मानव समाज के श्रेय के लिए प्रस्तुत किया। राग द्वेष रहित विषय दुख का कारण नहीं होता—सीढ़ी को जानने वाला प्रकाश के बिना भी ऐसे चढ़ता है मानो दीख रही है। इसी प्रकान ज्ञान में स्थिति व्यक्ति अभ्यास के कारण संसार में पदार्थों में निर्लिप्त रहकर 'सर्वभूत हिते रताः' व्यवहार करता है। इस दर्शन का निचोड़ नैतिकता के पालन में है। बोये गये बीज के लिए जल जो महत्व रखता है वही कर्म के लिए नैतिकता का है। अपने भीतर जितनी पवित्रता होगी उतना ही ईश्वर समीप मालूम देगा।

जिस प्रकार समुद्र से भाप बन जल बरस कर नदियों नालों के माध्यम से अंत में समुद्र में ही गिरता है अथवा मिट्टी से पैदा हुआ पौधा मिट्टी को ही पुष्ट करता है उसी प्रकार संसार में से उन्नत भाव को प्राप्त कर, ब्रह्मभाव में स्थित हो पुनः संसार को ही रसमय बनाता है—हृदय का आनन्द चारों ओर छलकने को आतुर रहता है। आचार्य का स्वयं का जीवन इस सत्य का प्रमाण है—

अपनी दिग्विजय यात्रा में उन्होंने अनेकों कष्ट सहे, ताप-शीत झेली, विभिन्न मत-मन्तरों को सहा, तांत्रिकों के कोप-भाजन हुए पर स्वयं सदा निरासत्य-निर्विकार। शंकर को हिन्दू, बौद्ध तथा जैन मत के लगभग 80 प्रधान संप्रदायों के साथ शास्त्रार्थ करना पड़ा। कर्म काण्डी मण्डन मिश्र के साथ आचार्य का शास्त्रार्थ कहते हैं 7 दिन तक चला। उन्होंने अनेक ग्रन्थों; प्रस्थानत्रयी की रचना की। देवी देवताओं की स्तुति में अनेक लालित्यपूर्ण मधुर स्त्रोत लिखे जिनकी सरलता शंकर की भक्ति और श्रद्धा का प्रतीक है। उन्होंने अनेक मन्दिरों का पुनरुद्धार किया। देश की धार्मिक व्यवस्था को एक भावना सूत्र में पिरोने की दृष्टि से प्रमुखतीर्थ क्षेत्रों में विख्यात मठों तथा उपपीठों की स्थापना की पूर्व में जगन्नाथपुरी में गोवर्धनमठ, उत्तर में बदरिकाश्रम में ज्योर्ति मठ, पश्चिम में द्वारिकापुरी में शारदा मठ, दक्षिण में शृंगेरी मठ। प्रहरी के समान चारों पीठ आज भी राष्ट्रीय एकता की वैजन्ती फहरा रहे हैं। उपनिषदों के आधार पर आचार्य ने उद्घोषणा की कि ब्रह्म सत्य है, संसार और उनके पदार्थ मिथ्या हैं, जीव ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं—

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः

वही सत्य ज्ञान स्वरूप है, सृष्टि रूप है, विश्व रूप है—जैसे सोने का जेवर बना होने पर भी सोना

होता है टूट जाने पर भी सोना होता है। ठीक इसी प्रकार यह संसार ब्रह्म से समुदभूत है और ब्रह्म में ही विलीन हो जाता है। अतः भेदभाव कैसा, छुआछूत कैसी एक बार काशी में आचार्य शिष्यों सहित स्नान करने जा रहे थे—चांडाल सामने से आया। शिष्यों ने उससे दूर हटने कहा। चांडाल ने उत्तर दिया, "किसे दूर हटने को कह रहे हो, देह को या आत्मा को ? देह हमारी और आपकी समान तत्वों से बनी है। आत्मा व्यापक है निर्लेप है, छूने से कैसे अपवित्र हो सकती है। "आचार्य को समझते देर न लगी कि ब्रह्म से चींटी पर्यन्त एक ही ब्रह्म है जिसने इसको समझ लिया, वह मेरा गुरु है। सूर्य की छाया चाहे गंगा में पड़े या नाले में मैली नहीं होती।'

कुछ लोग समझते हैं कि शंकर दर्शन में कर्म निरर्थक माना गया है। वे सकाम और निष्काम कर्म को एक मानकर ऐसी धारणा करते है। यह सत्य है कि शंकर ने कर्म को मुक्ति में बाधक माना है—इसका तात्पर्य कर्म की निरर्थकता से कदापि नहीं। गीता भाष्य में आचार्य ने कहा है कि कर्म नहीं जाता जो जिस भावना कार्य करता है उसका वैसा ही फल पाता है। कर्म मन को शुद्ध करता है। वासनाओं का दूर हो जाना ही मोक्ष है—

ममताभिमान शून्यो विषयेषु पराङ्मुखः पुरुषः।
तिष्ठन्नपि निजसदने न बध्यते कर्मभिः क्वापि॥

कहीं भागने की जरूरत नहीं जिसके मन में ममता अहंकार नहीं वह अपने घर में दैनिक काम करते हुए मुक्त पुरुष सा है। शंकर ने मनुष्य को ललकारा—स्वयं को पहचानो—तुम्हारे अन्दर उद्दाम उत्कृष्ट सम्भावनायें हैं जिनके द्वारा सब कुछ पाया जा सकता है—

न धर्मो न चार्थो न कामो न मोक्ष—
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्

ब्रह्म तुम्हारा स्वरूप है—संसार क्षणभंगुर है—नेह नानास्ति किंचन—नश्वर के प्रति मोह छोड़ो—तुम केवल इन्द्रिय, सच्चिदानन्द स्वरूप हो। आनन्द पदार्थों में नहीं तुम्हारे भीतर है जितना अंतर्मुखी होगे उतना ही आनन्द बढ़ेगा।

शंकर के अनुसार चेतना को समझना एवं तदनुरूप कर्म करना धर्म है। न जीवन को धर्मनिरपेक्ष कह सकते हैं न धर्म को जीवन निरपेक्ष। दोनो सह अस्तित्व की अभिन्न ईकाई हैं सत्य-ज्ञान के लिए दूसरों पर शासन करने से ज्यादा जरूरी है आत्म शासक होना। सम्पूर्ण के प्रति सम्पूर्ण का अर्थ है सम्पूर्णता की सेवा करना। मानवता की सुख-समृद्धि के लिए जो विकास-योजना, सुसंगठन, सुव्यवस्था को आवश्यक बताते हैं वे भूल जाते हैं कि यह सब पहले आंतरिक जीवन के निर्माण के लिए जरूरी है। जब तक हम अपने स्वार्थ लोभ ओर काम की वासनाओं पर विजयी नहीं होंगे उसकी बाहरी विजय व्यवस्थायें योजनायें आंतरिक बर्बरता के प्रयोग के लिए उपादान मात्रा रहेगी।

"जिस प्रकार कुम्भकार चक्र चलाकर उसे छोड़ देता है परन्तु चक्र और वेग से निरन्तर घूमता रहता है। उसी प्रकार कर्मों के संस्कार वश ज्ञानी हो जाने पर भी क्रियायें करता रहता है। यद्यपि मोक्ष के लिए ज्ञान अकेला ही समर्थ है।"

—आचार्य शंकर

"मनुष्य तभी तक मनुष्य है जब तक उसका अन्तःकरण कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य के विवेक योग्य है। जब उसमें वह योग्यता नहीं रहती, तो उसे मनुष्य रूप से नष्ट ही समझना चाहिए, क्योंकि वह पुरुषार्थ के अयोग्य हो जाता है।"

आचार्य शंकर